भारतीय दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्परा के सन्दर्भ में वीरशैवमत का पर्यालोचन

(Bhāratīya Dārśanika evaṃ Sāṃskṛtika Paramparā ke Sandarbha mein Vīraśaivamata kā Paryālocana)

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की पीएच. डी. शोध-उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

शोध-निर्देशक

डॉ. राम नाथ झा

शोधार्थी

प्रवीण कुमार द्विवेदी

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-११००६७
भारत

२०१६

विशिष्टसंस्कृताध्ययनकेन्द्रम्
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - ११००६७

SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI – 110067

July 11th, 2016

DECLARATION

I declare that the Thesis entitled **Bhāratīya Dārśanika evaṃ Saṃskṛtika Paramparā ke Sandarbha mein Vīraśaivamata kā Paryālocana** submitted by me for the award of degree of Doctorate of Philosophy is an original research work and has not been previously submitted for any other degree or diploma in any other institution/University.

Praveen Kumar Dwivedy 11/07/16

(PRAVEEN KUMAR DWIVEDY)

CERTIFICATE

The Thesis entitled **Bhāratīya Dārśanika evaṃ Saṃskṛtika Paramparā ke Sandarbha mein Vīraśaivamata kā Paryālocana** submitted by Praveen Kumar Dwivedy to Special Centre for Sanskrit Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi – 110067 for the award of degree of Doctorate of Philosophy is an original research work and has not been submitted so far, in part or full, for any other degree or diploma in any University. This may be placed before the examiners for evaluation.

Dr. Girish Nath Jha
(Chairperson)

11/07/2016

Dr. Ram Nath Jha
(Supervisor)

Dr. Ram Nath Jha
Associate Professor
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi - 110067

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च ।
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

(यजुर्वेद १६/४१)

आत्मनिवेदन

सर्वप्रथम मैं अपने कुलदेवता अनन्त बलवन्त सन्त श्री हनुमन्त लाल जी के चरणों में प्रणाम निवेदित करता हूँ, जिन्होंने मेरे आत्मविश्वास का सदैव वर्धन किया। मैं अपने पितामह स्व. दीनानाथ द्विवेदी के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझमें संस्कृत पढ़ने के लिये अद्भुत प्रेरणा का सञ्चार किया। बाल्यावस्था में मुझसे संस्कृत श्लोकों को सुनकर वे आह्लादित होते थे। संस्कृत महाविद्यालय में नामाङ्कन से पूर्व ही उनका देहान्त हो गया किन्तु उनके सङ्कल्प ने मेरे जीवन को धन्य कर दिया। मेरी स्व. पितामही (लालमती देवी) ने भी मुझे सदैव सत्पथ पर चलने की प्रेरणा दी, अत: उनके चरणों में भी मैं प्रणाम करता हूँ। मेरे मातामह स्व. सुदामा पाठक मेरे लिये सदैव प्रेरणा स्त्रोत रहे हैं, अत: उनके चरणारविन्द में मैं प्रणाम निवेदित करता हूँ। मेरी स्व. मातामही (शान्ति देवी) का भी सदैव पुत्रवत् स्नेह मुझपर रहा, अत: उनके चरण-कमल भी मेरे लिये वन्दनीय हैं। देवतुल्य मेरे पिताजी गायक श्री बलिराम द्विवेदी "अनमोल" ने जो मेरे लिये किया है, उनको भावनायें ही अनुभूत कर सकती हैं, लेखनी नही। मेरे पिताजी ने मुझे प्रत्येक सुविधा प्रदान की, जिससे मेरी शिक्षा में किसी प्रकार की बाधा कदापि नही आयी। मेरी शिक्षा के लिये आवश्यकतानुसार उन्होंने ऋण भी लिया। उनके प्रत्येक उपदेशों का मैं स्मरण करता रहता हूँ, जिससे मुझे शक्ति प्राप्त होती है। उनके सदुपदेश के कारण ही मैं शाकाहारी बन पाया। "अपने ऊपर किसी का एहसान नही लेना चाहिये" पिताजी के इस उपदेश ने मुझमें स्वाभिमानी बनने की प्रेरणा प्रदान की। अत: उन चरण-कमलों का मैं बारम्बार अभिनन्दन करता हूँ। मेरी माताजी ने मेरी उच्च शिक्षा की भावनाओं को सदैव ही प्रबल किया। उन्होंने मुझे नौकरी न करने का परामर्श दिया और सदैव अपने अध्ययन पर ध्यान देने के लिये प्रेरित किया। उन मातृशक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ, जिनके स्मरणमात्र से ही मेरी सम्पूर्ण चिन्तायें पलायित हो जाती हैं। मैं अपनी धर्मपत्नी वन्दना द्विवेदी का आभारी हूँ, जो मेरी मानसिक शान्ति और ध्यान केन्द्रीकरण की प्रमुख प्रेरणा हैं। मेरे जीवन में उनके पदार्पण के पश्चात् प्रसन्नता का ही समावेश हुआ है। मैं अपनी पुत्री स्वस्ति-प्रवीण (जन्मदिवस ०२.०८.२०१२) तथा नवजात पुत्र शाश्वत द्विवेदी (जन्मदिवस १६.११.२०१५) को भी स्नेह समर्पित करता हूँ। प्रेम और स्नेह की प्रतिमूर्ति मेरे ज्येष्ठ भ्राता गायक श्री अरविन्द द्विवेदी "अलबेला" ने भी मुझे उच्च शिक्षा के लिये सदैव प्रेरित किया, अत: उनका मैं कृतज्ञ हूँ। मेरे वरिष्ठ भ्राता अनिल द्विवेदी ने मेरा सदैव सहयोग किया है, अत: उनका भी मैं आभारी हूँ। मैं अपनी दोनों भ्रातृजायाओं (श्रीमती रिन्कू देवी एवं श्रीमती अनीता देवी) के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मुझे पुत्रवत् स्नेह प्रदान किया। साथ ही भ्रातृपुत्र-पुत्रियों निर्मल, आकृति, ऋतु, आर्यन, अञ्जलि एवं छोटे बाबू को भी साधुवाद देता हूँ, जिनको देखकर मैं सदैव प्रसन्नचित्त रहता हूँ।

श्री कन्हैयानन्द उपाध्याय, श्री विजयानन्द उपाध्याय, श्रीमती आरती देवी के चरणों में भी मैं प्रणाम निवेदित करता हूँ, जिन्होंने मुझे पुत्रवत् स्नेह प्रदान किया। श्री अवधेशानन्द उपाध्याय, श्री विवेकानन्द उपाध्याय, श्री अजयानन्द उपाध्यय, श्री दयानन्द उपाध्याय एवं श्री सत्यानन्द उपाध्याय के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ। पुष्पलता, पुष्पाञ्जलि, निशान्त नीरज, घनश्याम, दीपक, अनुज, प्रीताञ्जलि, रवि, मोहित, अविनाश, हँसमुख, नुपूर एवं महक के

साथ ही वेदप्रकाश राय आदि भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके अपूर्व स्नेह के कारण मुझे सदैव अध्ययन क्षेत्र में अग्रसर होने की प्रेरणा प्राप्त होती रही ।

श्री नवनाथ पाठक, श्रीमती मालती देवी, श्री राजू पाठक, श्री राजेश पाठक, श्री देवता त्रिपाठी, श्रीमती शान्ति देवी, श्री दीपू त्रिपाठी, श्री सुबाष पाठक, श्रीमती श्रीकान्ति देवी, श्री सुरेश पाठक, श्री कपिलदेव पाठक, श्री राकेश पाठक, श्री सतीशजी, गुड़िया पाठक, श्री जगदीश त्रिपाठी, श्रीमती बसन्ती देवी, स्व. रामनारायण मिश्र, मोहनजी, श्री प्रभुनाथ मिश्र, स्व. रघुनाथ उपाध्याय के चरण कमलों में मैं प्रणाम निवेदित करता हूँ, जिनके प्रति उद्भूत श्रद्धा ने अन्यान्य कार्यों में सदैव मेरा सहयोग किया । सन्दीपजी, बबली, आशाजी, दीपक, सानू, पलक, आदित्य, राजन, अनामिका, सोनू एवं खुशी आदि भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके स्नेह से मैं सदैव आह्लादित रहा हूँ ।

मैं अपने प्राथमिक पाठशाला के शिक्षक श्री सूर्यदेव दूबे के चरणों में प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने मेरे जीवन का प्रथम संस्कृत श्लोक मुझे स्मरण करवाया था । डॉ. शरदिन्दु त्रिपाठी (सहायक आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) एवं डॉ. जितेन्द्र द्विवेदी (व्याख्याता, कमला महाविद्यालय, गोपालगंज, बिहार) के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने संस्कृत अध्ययन के लिये मुझे सदैव प्रोत्साहित किया । साथ ही स्वग्राम के स्व. अक्षयवट मिश्र, श्री बब्बन मिश्र, श्री विन्ध्यवासिनी प्रसाद श्रीवास्तव, श्री वैद्यनाथ मिश्र, श्री अचलदेव त्रिपाठी, श्री भानुदेव त्रिपाठी, श्री नागेन्द्र त्रिपाठी, श्री अवधेश पाण्डेय, श्री सत्यदेव पाण्डेय, श्री हरिशङ्कर द्विवेदी, श्री नन्दकुमार द्विवेदी, श्री सुनिल द्विवेदी, श्री देवेन्द्र द्विवेदी, श्री विजय त्रिपाठी, श्री सोमनाथ पाण्डेय, श्री लक्ष्मण उपाध्याय, श्री मिथिलेश त्रिपाठी, श्री मार्कण्डेय मिश्र, श्री प्रमोद मिश्र, श्री मुनिशङ्कर मिश्र, श्री प्रत्युष त्रिपाठी, श्री शशिकान्त त्रिपाठी, श्री पङ्कज त्रिपाठी एवं श्री मृत्युञ्जय मिश्र का भी आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मेरी प्रतिभा को सदैव प्रोत्साहित किया । ग्रामीण मित्रों में मैं विमलेन्दु त्रिपाठी, शशिकांत त्रिपाठी, अमोद शाही, विन्ध्यवासिनी शाही, कमेंन्द्र मिश्र, सुशान्त शाही, उदयशङ्कर पाण्डेय, सुवीर त्रिपाठी, दयानन्द त्रिपाठी, दयानन्द उपाध्याय, शिवचन्द्र सिंह, राजेश शर्मा, दीपू त्रिपाठी, अमलेन्दु त्रिपाठी एवं अमृतेश मिश्र का भी आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने सदैव शिक्षा को प्राथमिकता देते हुये अपने सद्विचारों से मुझे प्रेरित किया । साथ ही पवन, विकास, सन्नी, शशि, अम्बुज, सतीश, शैलेश, दीपू, रविकान्त, श्रीकान्त, पूर्णिमा, अनु, राजू, रितेश, लक्ष्मण, गणेश, पूजा, दीपक, छोटन, अनुराधा, दीपू, नीपू, मनीषा, सन्दीप, आनन्द, ऋषिकेश, दिलीप, एवं गुञ्जन आदि भी स्नेह के कारण धन्यवाद के पात्र हैं ।

श्रीच्छत्रधारि संस्कृत महाविद्यालय, हथुआ, गोपालगंज का मैं आजीवन ऋणी रहूँगा, जिसने मुझमें अवबोध क्षमता के साथ ही शिक्षा के प्रति निष्ठा प्रदान की । एतदर्थ डॉ. शारदानन्द मिश्र (भूतपूर्व प्राचार्य) श्री बी. के. त्रिपाठी (सम्प्रति प्राचार्य), श्रीमती तृप्ति कुमारी पाण्डेय (साहित्य विभागाध्यक्षा), श्रीधरनारायण झा (व्याकरण विभागाध्यक्ष), डॉ. चन्द्रमोहन झा (ज्योतिष विभागाध्यक्ष), श्री बृजकिशोर पाण्डेय (वेद विभागाध्यक्ष), श्री विजय त्रिपाठी (भूगोल विभागाध्यक्ष), श्री नागेन्द्र पाण्डेय (साहित्य विभाध्यक्ष), स्व. रामनगीना मिश्र, श्री जितेन्द्र पाण्डेय (संन्यासीजी), श्री अरविन्द त्रिपाठी, श्री तुमनाथ पाठक, श्री बनारस चौधरी, स्व. नन्दकिशोर मिश्र एवं श्री रवीन्द्र जी का सदैव आभारी रहूँगा । साथ ही श्री विद्यानंद

उपाध्याय (भूतपूर्व प्राचार्य, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद महाविद्यालय, हथुआ, गोपालगंज) एवं श्री नीलमणि त्रिपाठी के सद्विचारों से भी मैं प्रभावित हुआ, अत: उनके चरणारविन्द भी श्रद्धेय हैं । मैं इन गुरुजनों के चरणों में कोटिश: प्रणाम करता हूँ । एतदर्थ मैं डॉ. उदयशङ्कर पाण्डेय (भूतपूर्व प्राचार्य, संस्कृत महाविद्यालय, हथुआ, गोपालगंज (सम्प्रति) प्राचार्य, स्नातक महाविद्यालय, महाराजगंज, सिवान) का आजीवन कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझमें संस्कृत की अवबोध क्षमता विकसित की एवं विभिन्न पुरस्कारों से मुझे पुरस्कृत भी किया । मेरी वास्तविक गुरु शारदातुल्या मातृस्वरूपा डॉ. नीलम श्रीवास्तव (हिन्दी विभागाध्यक्षा, श्रीच्छत्रधारी संस्कृत महाविद्यालय, हथुआ, गोपालगंज) के चरणों में मेरा बारम्बार प्रणाम है, जिन्होंने ही मेरी बौद्धिक क्षमता का विस्तार किया और उसमें शिक्षा के माध्यम से प्रत्येक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अद्भुत प्रेरणा का सञ्चार किया । उनके सदुपदेशों के बिना मैं स्वयं को आज यहाँ सोच भी नही सकता था । उन्होंने केवल सदुपदेश ही नही दिया अपितु पुत्रवत स्नेह भी मुझे प्रदान किया तथा प्रत्येक परिस्थिति में मेरी सहायता भी की । एतदर्थ मैं ठाकुर श्री ज्वाला प्रसाद श्रीवास्तव, श्री अस्तित्व श्रीवास्तव, श्रीमती शिखा श्रीवास्तव, श्रीमती संवेदना स्मृति, श्री वीरप्रतापजी एवं सुश्री चेतना जागृति का भी आभार प्रकट करता हूँ, जिनके सद्विचारों से मैं सदैव प्रभावित हुआ । मैं धन्य हूँ कि इस परिवार का स्नेहपात्र बन पाया, जिसमें भावनाओं एवं सिद्धान्तों को सहज रूप में प्राथमिकता प्राप्त होती है । अपने महाविद्यालय के अग्रजों में मैं श्री भगवतीशरण त्रिपाठी, श्री अङ्गद चौबे, श्री प्रेम पाठक, श्री अमित पाठक, श्री अखिलेश त्रिपाठी, श्री राजू दूबे, श्री अरविन्द पाण्डेय, श्री सत्येन्द्र त्रिपाठी, श्री विनय त्रिपाठी, श्री अङ्केश उपाध्याय, शिप्राजी एवं श्री कृपाशङ्करजी, अमित त्रिपाठी का आभार प्रकट करता हूँ । साथ ही ब्रजेन्द्रजी, सत्येन्द्रजी, जयप्रकाश, चन्द्रभूषण, इन्द्रजीत, रितेश्वर, अखिलेश्वर, राजेश, निभा, शशिकला, मञ्जूषा, ममता, रिन्कू, रामकृष्ण, चन्दन, प्रेम, स्नेहा, आनन्द, अमन, प्रतिभा, शशिभूषण, प्रीति, विनीत, राजू, दुर्गादयाल, अजय, विजय, हरेराम, दीपक, सुबाष, धनञ्जय, पङ्कज, वरुण, उजाला, राहुल, कुमुद एवं अनूपचन्द्र को साधुवाद देता हूँ, जिन्होंने मुझे अद्भुत स्नेह प्रदान किया ।

इन सबकी शुभाकाङ्क्षा से ही मेरा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, परास्नातक कक्षा में नामाङ्कन हो पाया । इस विश्वविद्यालय में व्यतीत किये गये स्वर्णिम क्षण अविस्मरणीय रहेंगे । यहाँ के गुरुजनों के वर्णन के लिये शाब्दिक साधन पर्याप्त नही है, अत: उन अनुभूतियों को अभिव्यक्त करना मेरे लिये असम्भव है । तथापि मैं अपने विश्वविद्यालयीय गुरुजनों के विषय में किञ्चित् वक्तव्य देने का साहस कर रहा हूँ । प्रो. शशिप्रभा कुमार की पाठन शैली में साक्षात् माँ शारदा का प्रतिरूप दृष्टिगोचर होता है अत: मैं श्रद्धेय मातृशक्ति के चरणारविन्द में प्रणाम निवेदित करता हूँ । डॉ. रामनाथ झा के अध्यापन में तो वैसे अनेक विषयों का ज्ञान होता है किन्तु उनके वेदान्त पढ़ाने से प्रत्येक छात्र अपने जीवन को चिन्तामुक्त समझता है । इनके निर्देशन में ही मेरा यह शोध कार्य हुआ है, आप गुरुश्रेष्ठ को श्रद्धेय माता रेखा झा सहित प्रणाम निवेदित करता हूँ । डॉ. सन्तोष कुमार शुक्ल ने सदैव सम्यक् अध्यापन से मेरा मार्गदर्शन किया, अत: आप गुरुश्रेष्ठ के चरण-कमलों में मैं प्रणाम निवेदित करता हूँ । डॉ. हरिराम मिश्र के व्याकरण-अध्यापन के कारण ही मैंने अपने अध्ययन में संस्कृत की अशुद्धियों की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया, अत: आप गुरुश्रेष्ठ

के चरणारविन्द भी मेरे लिये श्रद्धेय हैं । डॉ. रजनीश मिश्र ने शैव दर्शन की पृष्ठभूमि से हमारा मार्ग निर्देशन किया, जिससे मेरी रुचि शैव दर्शन में बढ़ी, अत: आप गुरुश्रेष्ठ को मैं प्रणाम निवेदित करता हूँ । डॉ. गिरीशनाथ झा के संगणकीय अध्यापन के फलस्वरूप ही मैं प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का स्वयं टङ्कण करने में समर्थ हुआ, अत: आपके चरणों में मैं प्रणाम निवेदित करता हूँ । डॉ. चौडुरि उपेन्द्र राव के अद्‌भुत अध्यापन के कारण मैंने संस्कृत साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिये सक्षम हो पाया, अत: आप गुरुश्रेष्ठ के चरणों में प्रणाम निवेदित करता हूँ । साथ ही जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय एवं विशिष्टसंस्कृताध्ययन केन्द्र के प्रत्येक अधिकारी एवं कर्मचारी का भी आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मेरे प्रत्येक कार्यालयीय कार्य में सदैव पूर्ण-रूपेण सहयोग प्रदान किया ।

विशिष्टसंस्कृताध्ययन केन्द्र के अग्रजों में सर्वप्रथम मैं डॉ. अनीता स्वामी (संस्कृत विभागाध्यक्षा, इन्द्रप्रस्थ महिला महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय) का विशेष आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने शोध क्षेत्र में सदैव मुझे उचित परामर्श देकर मार्गदर्शन किया । साथ ही अभयजी, दिवाकरजी, बृजेन्द्रजी, दिवाकरमणिजी, वेदजी, पूरणजी, श्रुति दीदी, सूर्यकमलजी, मोनिका दीदी, मोहनजी, विजयजी, अनिलजी, देवाशीषजी, नीलम दीदी, सुषमा दीदी, विश्वबन्धुजी, मुकेशजी, ममता दीदी, आशुतोषजी, मनीषा दीदी, प्रियङ्का दीदी, रजनीशजी, बबलूजी, अशोकजी, विश्वेशजी, नृपेन्द्रजी, जया दीदी, देवलीना दीदी एवं शशि दीदी आदि का आभार प्रकट करता हूँ । शिवलोचनजी ने एक सच्चे मित्र की भूमिका के साथ ही प्रत्येक कार्य में पूर्णरूपेण मेरा सहयोग किया, अत: मैं उनका आभार प्रकट करता हूँ । मणिशङ्कर द्विवेदी ने नीतिगत बातों एवं उचित परामर्शों से मेरी शिक्षा को ही केवल नियोजित नही किया, अपितु मेरे जीवन के प्रत्येक सुख दु:ख के उचित मार्गदर्शक रहे, अत: मैं उनका भी आभार प्रकट करता हूँ । सर्वेशजी ने परास्नातक कक्षा के समय मेरी अत्यधिक सहायता की अत: उनका आभार मैं प्रकट करता हूँ । कपिल, चमन, उमा, सावित्री, पूनम, प्रीति, वन्दना, कामिनी, प्रियङ्का, पवित्रा, राजेश, सत्यनारायण, विकास, रोहित, दिनेश, सोमबीर, सन्दीप, अरविन्द एवं अनिल के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने मेरी प्रतिभा को प्रोत्साहित किया । राजमणि त्रिपाठी ने भी उचित मार्गदर्शन से मेरा ज्ञान वर्धन किया, अत: उनके प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ । अश्विनी त्रिपाठी, निखिल श्रीवास्तव, विवेक सिंह एवं त्रिगुणजी के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिनके मार्गदर्शन से मेरे अन्दर विनय रूपी शील का सञ्चार सदैव होता रहा । मुजीब बी (केरल) मेरे एक ऐसे मित्र हैं, जिनकी प्रेरणा और सहायता के भाव ने मुझे सदैव परोपकार करने के लिये प्रेरित किया, अत: उनका मैं आभार प्रकट करता हूँ । चान्ग लू (चीन) ने भी अन्तर्जाल के माध्यम से प्रश्नोतर करके मेरा मार्गदर्शन ही किया, अत: उसके प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ । प्रचेतस की उत्कृष्ट जिज्ञासाएँ मेरे लिये सदैव प्रेरणाप्रद रही, अत: वह भी साधुवाद का पात्र है । प्रदीपजी ने सदैव शिक्षा को व्यवहारिक रूप प्रदान करने पर बल दिया, अत: वे भी धन्यवाद के पात्र हैं । साथ ही रिन्कू, घनश्याम, मेंघराज, देवेन्द्र, हरीश, आरती, नीरजा, पूजा, शुभम, अरुणिमा, प्रेमपाल भी साधुवाद के पात्र है, जिनकी शिक्षा के प्रति लगन एवं संघर्ष के भाव ने मुझमें प्रेरणा का सञ्चार किया । डॉ. देवेन्द्र ओझा (व्याख्याता, आत्माराम महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय) का भी आभारी हूँ, जिनके व्यवहारिक विचार मेरे लिये उत्प्रेरक थे । डॉ. करतार शर्मा का उचित

मार्गदर्शन भी मेरे लिये प्रेरणाप्रद रहा अत: मैं उनका भी आभार प्रकट करता हूँ। मैं अपने ग्रामीण देवताओं से लेकर राष्ट्र के प्रमुख तीर्थस्थलों को भी प्रणाम निवेदित करता हूँ, जिसने मुझमें अद्‌भुत शक्ति का सञ्चार किया। एतदर्थ वाराणसी, विन्ध्याचल, जम्मू-कश्मीर, पटना, प्रयाग, हरिद्वार, ऋषिकेश एवं मथुरा आदि भी वन्दनीय हैं, जहाँ के शिक्षा संस्थानों के पुस्तकालयों एवं संग्रहालयों का मैंने सदुपयोग किया। डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य के प्रति मैं आजीवन कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मेरा मार्गदर्शन करते हुये मुझे शोध-सामग्री उपलब्ध करवायी। इसके लिये मैं डॉ. ओमप्रकाश स्वामी, श्री लिङ्गाड़ेजी एवं श्री सिद्धरामजी के साथ ही जङ्गमवाड़ी मठ के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ। मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का विशेषरूप से आभारी हूँ, जिसने मुझे शोधकार्य के लिये छात्रवृत्ति प्रदान किया और साथ ही वे करदाता भी अभिनन्दनीय हैं, जिनके द्वारा प्रदत्त कर से हम सभी छात्रों को छात्रवृत्ति प्राप्त होती हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार कर्मफल में पाँच कारण होते हैं -

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथग्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

श्रीमद्भग. १८/१४

अत: इस शोध-प्रबन्ध की निर्माण में में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से जितने भी तत्त्व कारणरूप में विद्यमान थे, उन सबका मैं हृदय से अभिनन्दन करता हूँ। अन्तत: अपने पूज्य पिताश्री द्वारा भोजपुरी भाषा में विरचित छन्द के द्वारा अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूँ-

बानी अज्ञानी बुझात शब्दारथ भाषा भाव भवारथ नइखे,
पांव पड़ी करी प्रार्थना शुद्ध स्वारथ बा परमारथ नइखे।
बात बताई यथारथ रउवा से पाले कुछु पुरुषारथ नइखे,
चारि पदारथ मोर मनोरथ दे दी केहु त हितारथ नइखे॥

(वै. चा., पृ. सं. १०)

दिनाङ्क - ११/०७/२०१६ प्रवीण कुमार द्विवेदी

सङ्केताक्षर-सूची

अथर्वशिख. उ.	अथर्वशिखोपनिषद्
अथर्वशिर. उ.	अथर्वशिरोपनिषद्
अथर्व. पृ. सू.	अथर्ववेद पृथ्वी सूक्त
अ. पु.	अग्निपुराण
अ. पु. प्र.	अग्निपुराण प्रस्तावना
अनु.	अनुवादक
अ. को. श. व.	अमरकोश शब्दादिवर्ग
अ. को. म. व.	अमरकोश मनुष्यवर्ग
अ. को. स्व. व.	अमरकोश स्वर्गवर्ग
अनुक्र.	अनुक्रमणिका
अ. सू.	अनुभव सूत्र
अष्टा.	अष्टाध्यायी
आ. बो.	आत्मबोध
आ. पा. द. चा. धा. आ. धारायें, आमुख	आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की चार
आ. तं.	आगम और तंत्र
आ. श्रौ. सू.	आश्वलायन श्रौत सूत्र
आ. मी.	आगममीमांसा
आ. मी. वि. वे.	आगममीमांसा विमर्शवेदिका
ईश. उ.	ईशावास्योपनिषद्
उ. च.	उत्तररामचरित
ऋ.	ऋग्वेद
ऋ. पु. सू.	ऋग्वेद पुरुष सूक्त
ऋ. दी.	ऋगर्थदीपिका
ए. लि. मा.	एकलिङ्गमाहात्म्य
ऐ. उ.	ऐतरेयोपनिषद्
क्रिया. प्र. भा.	क्रियासार प्रथम भाग
क्रिया. द्वि. भा.	क्रियासार द्वितीय भाग
क्रिया. तृ. भा.	क्रियासार तृतीय भाग
क. उ.	कठोपनिषद्
क. मा. प.	कल्याण मासिक पत्रिका
का. प्र. भा.	कामिकागम प्रथम भाग
का. पु.	कालिकापुराण
कु. त. च. उ.	कुलार्णवतन्त्र चतुर्थ उल्लास

कू. पु.	कूर्म पुराण
के. उ. वी. शै. भा.	केनोपनिषद्वीरशैवभाष्य
कै. उ.	कैवल्योपनिषद्
कै. उ. प्र.	कैवल्योपनिषद् प्रस्तावना
कृ. य. तै. सं.	कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता
क. शि. शा.	कश्यप शिल्प शास्त्र
च. आ. क्रि. पा.	चन्द्रज्ञान-आगम क्रियापाद
चिद्. च.	चिद्गगनचन्द्रिका
छान्द. उ.	छान्दोग्योपनिषद्
जा. ह.	जानकीहरण
तंत्रा.	तंत्रालोक
तं. सा.	तंत्रसार
तं. सा. स.	तंत्रागमसारसर्वस्व
तं. आ. शा. दि.	तंत्र एवं आगमशास्त्रों का दिग्दर्श-
न	
तं. आ. ध. द. प्र. भा.	तंत्रागमीय धर्मदर्शन प्रथम भाग
त. सं.	तर्कसंग्रह
त. कि.	तर्ककिरणावली
त. बो.	तत्त्वबोध
तै. आ.	तैत्तिरीय आरण्यक
तै. ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. उ.	तैत्तिरीयोपनिषद्
दु. स.	दुर्गा सप्तशती
दु. स. दे.	दुर्गा सप्तशती देव्यपराधक्षमापन-
स्तोत्र	
दु. प. भू.	दुर्गार्चनपद्धति भूमिका
धा. पा.	धातुपाठ
न्या. म.	न्यायमञ्जरी
न्या. सू.	न्यायसूत्र
न्या. सू. भा.	न्यायसूत्र भाष्य
ना. सू.	नारायण सूक्त
ना. उ.	नारायणोपनिषद्
नि. क. पू. प्र.	नित्यकर्मपूजाप्रकाश
नी. शि.	नीतिशिक्षा
ने. वी. शै. ध. द. स्था.	नेपाल में वीरशैवधर्मदर्शन का
स्थान	
पृ. सं.	पृष्ठ संख्या

प्र. उ.	प्रश्नोपनिषद्
प्र. प्र. प.	प्रत्यभिज्ञाप्रदीप परिशिष्ट
प्रका.	प्रकाशक
प्र. हृ.	प्रत्यभिज्ञाहृदय
प्र. हृ. भू .	प्रत्यभिज्ञाहृदय भूमिका
प. व. म. सू. भा.	पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्य
प. व. म. सू. भा. प्र.	पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्य प्रस्तावना
परा. उ.	पराशरोपपुराण
परा. त्रिं. वि.	परात्रिंशिकाविवरण
पा. आ.	पारमेश्वरागम
पा. सू.	पाशुपत सूत्र
पा. तं.	पारमेश्वरतंत्र
पा. धा.	पाणिनिधातुपाठ
पा. शि. सू. पा.	पाणिनीयशिक्षासूत्रपाठ
बृहद्. उ.	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृहद्. उ. शा. भा.	बृहदारण्यकोपनिषद्
शाङ्करभाष्य	
ब्र. सू.	ब्रह्मसूत्र
ब्र. सू. अ. भा.	ब्रह्मसूत्र अध्यास भाष्य
ब्र. सू. श्री. प्र. भा.	ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य प्रथम भाग
ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू.	ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य प्रथम भाग
भूमिका	
ब्र. सू. श्री. द्वि. स.	ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्यद्वितीय सम्पुट
ब्र. सू. श्रीकण्ठभा.	ब्रह्मसूत्रश्रीकण्ठभाष्य
ब्र. वै. पु.	ब्रह्मवैवर्तपुराण
ब. द.	बसव दर्शन
भा. का. इ.	भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास
भा. द.	भारतीय दर्शन
भा. द. इ. प. भा.	भारतीय दर्शन का इतिहास पञ्च-
म भाग	
भा. द. चि. धा.	भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा
भा. महा.	भागवत महापुराण
भास्क. प्र. भा.	भास्करी प्रथम भाग
भास्क. द्वि. भा.	भास्करी द्वितीय भाग
भा. सं. वि. आ.	भारतीय संस्कृति विविध आयाम
म. आ.	मकुटागम
म. भा.	महाभारत

मनु.	मनुस्मृति
म. भा. शा. प.	महाभारत शान्तिपर्व
महाना. उ.	महानारायणोपनिषद्
महाना. उ. अनु.	महानारायणोपनिषद् अनुवाक
महावा. उ.	महावाक्योपनिषद्
म. उ.	महोपनिषद्
म. पु.	मत्स्य पुराण
म. म.	महार्थमञ्जरी
मा. च. वि.	मातृकाचक्रविवेक
मा. वि. त.	मालिनीविजयोत्तरतन्त्र
मी. सू.	मीमांसासूत्र
मी. द. भू.	मीमांसादर्शन भूमिका
मी. सू. शा. भा. भू.	मीमांसासूत्र शाबरभाष्य भूमिका
मु. उ.	मुण्डकोपनिषद्
मु. उ. वी. शै. भा.	मुण्डकोपनिषद्वीरशैवभाष्य
यजु.	यजुर्वेद
यो. सू.	योगसूत्र
यो. सू. व्या. भा.	योगसूत्रव्यासभाष्य
यो. सू. त. वै.	योगसूत्र तत्त्ववैशारदी
यो. हि. व्या.	योगसिद्धि हिन्दी व्याख्या
र. वं. प्र. स.	रघुवंश प्रथम सर्ग
र. वं. द. स.	रघुवंश दशम सर्ग
रा. च. मा. बा. का.	रामचरितमानस बालकाण्ड
रा. च. मा. अ. का.	रामचरितमानस अयोध्याकाण्ड
रा. च. मा. सु. का.	रामचरितमानस सुन्दरकाण्ड
रा. च. मा. उ. का.	रामचरितमानस उत्तरकाण्ड
रा. रा. अ.	रामायण और रामचरितमानस में
अन्तर	
रा. क. वि.	रामकथा का विकास
रा. म. का. प्र.	रामायण और महाभारत का का-
लप्रवाह	
रा. प्र.	रामप्रश्न
रुद्रा.	रुद्राष्टाध्यायी
ल. सि. कौ.	लघुसिद्धान्तकौमुदी
लि. पु. उ. भा.	लिङ्ग पुराण उत्तर भाग
लौ. न्या. सं.	लौकिक न्याय संग्रह
व्या.	व्याख्याकार

व्या. भा. व्यास भाष्य
व. बी. प्र. त. व. ध्या. वर्णबीजप्रकाश तन्त्रारोक्त वर्ण ध्यान
वा. पु. वायुपुराण
वा. शु. त. वातुलशुद्धाख्यतन्त्र
वा. प. ब्र. का. वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड
वा. प. टी. वाक्यपदीय टीका
वा. सं. पू. ख. वायुसंहिता पूर्वखण्ड
वा. रा. उ. का. वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड
वा. शु. त. वातुलशुद्धाख्यतन्त्र
वि. स. स्तो. विष्णुसहस्रनामस्तोत्र
वि. नी. विदुरनीति
वी. शै. अ. वि. वीरशैव-अष्टावरणविज्ञान
वी. शै. अ. वि. उप. वीरशैव-अष्टावरणविज्ञान उपोद्धात
वी. शै. अ. वि. प्र. वीरशैव-अष्टावरणविज्ञान प्रस्तावना
वी. शै. च. वीरशैवानन्दचन्द्रिका
वी. शै. भा. वीरशैवभाष्य
वे. सा. वेदान्तसार
वै. सू. वैशेषिकसूत्र
वै. सं. स. वैदिक संस्कृति और सभ्यता
वै. वा. प्र. स. सं. रू. प्र. पा. वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित सभ्यता एवं संस्कृति की रूपरेखा प्रथम पाठ
वै. चा. वैद्यनाथ चालीसा
श्लो. वा. श्लोक वार्तिक
श्लो. सं. श्लोक संख्या
श. सं. तं. का. ख. शक्तिसंगमतन्त्र कालीखण्ड
श. वि. त. त्र. वि. शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्श
श. दि. शङ्करदिग्विजय
श. दि. प. शि. शङ्करदिग्विजय परिशिष्ट
शा. भा. शाङ्कर भाष्य
शि. दृ. शिवदृष्टि
शि. प. शिवाद्वैतपरिभाषा
शि. प. प्र. प्र. शिवाद्वैतपरिभाषा प्रथम प्रकरण
शि. प. द्वि. प्र. शिवाद्वैतपरिभाषाद्वितीय प्रकरण
शि. प. तृ. प्र. शिवाद्वैतपरिभाषा तृतीय प्रकरण

शि. प. च. प्र.	शिवाद्वैतपरिभाषा चतुर्थ प्रकरण
शि. प. प. प्र.	शिवाद्वैतपरिभाषा पञ्चम प्रकरण
शि. पु. मा. रु.	शिव पुराण माहात्म्य रुद्राध्याय
शि. पु. वि. सं.	शिव पुराण विद्येश्वर संहिता
शि. म.	शिवाद्वैतमञ्जरी
शि. द. प्र.	शिवाद्वैतदर्पण प्रस्तावना
शि. सू.	शिवसूत्र
शि. सू. वा.	शिवसूत्रवार्तिक
शि. सं.	शिवसंहिता
श्रीमद्भग.	श्रीमद्भगवद्गीता
शु. य.	शुक्ल यजुर्वेद
शु. नी.	शुक्रनीति
श्वेत. उ.	श्वेताश्वतरोपनिषद्
श्वेत. उ. प्र.	श्वेताश्वतरोपनिषद् प्रस्तावना
षट्त्रिंशत्.	षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह
ष. द. र.	षड्दर्शनरहस्य
स्क. पु. सू. सं.	स्कन्द पुराण सूत संहिता
स्क. पु. ब्र. ख.	स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्ड
स्क. पु. ब्र. ख. स. अ.	स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्ड सप्तम अध्याय
स्क. पु. के. ख.	स्कन्दपुराण केदारखण्ड
स्व. त.	स्वच्छन्दतन्त्र
स्व. आ.	स्वयम्भुवागम
स्त्री.	स्त्रीशक्ति
सम्पा.	सम्पादक
स. द. सं. चा. द.	सर्वदर्शनसंग्रह चार्वाक दर्शन
सं. टी.	संस्कृत टीका
सं. अ. भा.	संस्कृत एवं अभिनव भारत
सं. वा. वी. शै. सा.	संस्कृत वाङ्मय में वीरशैवसाहित्य
सं. चा. अ.	संस्कृति के चार अध्याय
सं. वा. वि. इ.	संस्कृत वाङ्मय में विज्ञान का इतिहास
सा. सम्पा.	सामान्य सम्पादक
सां. का.	सांख्यकारिका
सां. का. भू.	सांख्यकारिका भूमिका
सा. द. प.	सांख्य दर्शन परिचय
सि. शि. म.	सिद्धान्तशिखामणि

सि. शि. म. भू.	सिद्धान्तशिखामणि भूमिका
सि. शि. म. प्र.	सिद्धान्तशिखामणि प्रस्तावना
सि. शि. स.	सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा
सि. प्र.	सिद्धान्तप्रकाशिका
सि. शि. उ.	सिद्धान्तशिखोपनिषद्
सु. उ.	सुबाल उपनिषद्
सू. आ. क्रि. भा.	सूक्ष्मागम क्रियाभाग
सू. गी.	सूतगीता
ह. ह. म.	हर हर महादेव
हनु. ना.	हनुमन्नाटक
हि. व्या.	हिन्दी व्याख्याकार
हि. क. सा. प्र. धा. तु. अ.	हिन्दी एवं कन्नड़ साहित्य की प्रमुख धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन

प्राक्कथन

सम्पूर्ण सृष्टि रहस्यात्मक है । इसके अन्तर्गत विवेकशील प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ माने जानेवाले मनुष्य के मस्तिष्क में अनेक विचार सर्वदा ही आते रहते हैं । उसका जन्म क्यों हुआ है ? वह कहाँ से उत्पन्न हुआ है और मृत्यु के उपरान्त वह कहाँ जायेगा ? वह शरीरमात्र है या इससे भिन्न है ? इस प्रकार के बहुविध प्रश्न मानव को अतीन्द्रिय सत्ता के अवबोध के लिये प्रेरित करते हैं । इन प्रश्नों के उत्तर के लिये वह तर्क, शास्त्र एवं अनुभव का उपयोग करता है । तर्क उसकी बौद्धिक क्षमता का वर्धन करता है । बुद्धि से वह निश्चय कर पाता है कि उसका ज्ञान प्रमाण पुरस्सर है या नहीं । शास्त्र उस ज्ञान के स्वरूप का उद्घाटन करता है । नित्यता और अनित्यता का दिग्दर्शन कराने वाला शास्त्र होता है । साथ ही शास्त्र प्रवृति और निवृति का भी साधन होता है । अनुभव ज्ञान की पराकाष्ठा का अपर अभिधान है । अनुभवात्मक ज्ञान सर्वश्रेष्ठ माना गया है । ज्ञान को आत्मसात करना ही अनुभव है । इस प्रक्रिया में ज्ञान और कर्म दोनो की महत्त्वपूर्ण भूमिका है । अनुभवी व्यक्ति ज्ञान और कर्म दोनो को ही आवश्यक मानता है । अकाम, सकाम और निष्काम कर्म के त्रिविध स्वरूपों में निष्काम कर्म सर्वश्रेष्ठ माना गया है तथापि अकाम (काम नहीं करने से) से सकाम श्रेष्ठ है । इस सृष्टि में व्यक्ति एक क्षण भी कर्म के बिना नहीं रह सकता है तथापि हमें अकाम की अपेक्षा सकाम तो करना ही चाहिये । सकाम भी देश, काल और परिस्थिति के अनुसार समुचित होना चाहिये । तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा विद्वानों के मध्य लोकप्रिय हैं किन्तु आचारमीमांसा सामान्य लोक में भी प्रचलित है । हमारी शिक्षा का उद्देश्य भी यही है कि हमारा आचरण उचित होना चाहिये । हमें शत्रुता को समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि शत्रुता में केवल विनाश ही प्राप्त होता है । हमें जाति-प्रथा, दहेज प्रथा और अस्पृश्यता सदृश कुरीतियों को समाप्त करना चाहिये । हमारे आचरण से ही हमारी शिक्षा मुखरित होती है अत: कहा भी गया है कि ज्ञानी को आचारवान् होना चाहिये । इसलिये वीरशैवदर्शन में सदाचार को अत्यधिक प्राथमिकता प्रदान की गयी है । तदनुसार जो वृक्ष फलीभूत होते हैं, वे विनयपूर्वक झुक जाते हैं । झुके हुये वृक्ष आंधी में भी नहीं टूटते हैं किन्तु जो वृक्ष नहीं झुकते उन्हें प्रकृति तोड़ डालती है । अत: विद्वान् को नम्र होना चाहये । वीरशैवमतानुसार औषधि का लेप या ग्रहण भी उतना ही आवश्यक है, जितना की उसका ज्ञान । पङ्वन्धन्याय से ही लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है । फलत: शास्त्रों में ज्ञानं विज्ञानसहितं की बात कही गयी है ।

प्रथमत: भेदात्मक सृष्टि में अभेदात्मक स्थिति का होना आत्मिक शान्ति प्रदान करता है । हम अपने लौकिक व्यवहार में कुछ तथ्यों की ओर ध्यान नहीं देते हैं, जिसके कारण हम अपने वास्तविक स्वरूप का अनुभव नहीं कर पाते हैं । हम मूर्ति के समक्ष भी आवृतचक्षु होकर प्रार्थना करते हैं । भारतीय संस्कृति में आवृत और अनावृत चक्षु द्विविध उपासना की जाती रही है । अनावृत चक्षु उपासना में भी हम मूर्ति के बाह्य सौन्दर्य से प्रभावित नहीं होते हैं । हम उस तत्त्व का अभिवादन करते हैं, जो सृष्टि के प्रत्येक कण में है । अपने लिये मैं का सम्बोधन करते हैं एवं पुन: मेरा हस्त और मेरी लेखनी भी कहते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि हम शरीरमात्र न होकर इससे भिन्न हैं । हमारा तात्त्विक स्वरूप अन्य है, जो हमारे

इन्द्रियों के परे है। वस्तुत: हम आत्मस्वरूप है, इसलिये तो हमारे लिये सुषुप्ति अवस्था अति आवश्यक होती है। हमें किञ्चित् काल पश्चात् निद्रा की शरण में जाना ही पड़ता है, नहीं तो केवल जाग्रतावस्था में रहने से हमारी मृत्यु भी हो सकती है। स्वप्नावस्था में हमारा मन व्याकुल रहता है और स्वप्न की कुछ घटनायें भी मानव-मन के स्मृति पटल पर रहती हैं किन्तु सुषुप्ति अवस्था में हमें यह भान भी नहीं होता है कि हम कहाँ थे। सुषुप्ति-अवस्था से जाग्रतावस्था में आने पर हम अपने को नवऊर्जा से युक्त पाते हैं। ये आनुभविक सत्यता ही है, जिसमें स्थूल-शरीर का सम्बन्ध जाग्रतावस्था से, सूक्ष्म-शरीर का सम्बन्ध स्वप्नावस्था से एवं कारण-शरीर का सम्बन्ध सुषुप्ति अवस्था से रहता है। वीरशैवमत में इनको क्रमश: त्यागाङ्ग, भोगाङ्ग एवं योगाङ्ग कहा गया है। त्यागाङ्ग से तात्पर्य यह है कि एक दिन हमने अपने भौतिक शरीर को त्याग ही करना पड़ता है। भोगाङ्ग कहने से यह अर्थ होता है कि मूलत: हमारा सूक्ष्म शरीर ही सम्पूर्ण फलों का भोक्ता है। योगाङ्ग जीव और परमात्म तत्त्व के योग का सबसे बड़ा कारण है फलत: यह कारण-शरीर वीरशैवमत में योगाङ्ग कहा जाता है।

शिव या रुद्र सृष्टि के आदिदेव माने गये हैं। उनका स्वयंभू अभिधान भी इसी तथ्य को दर्शाता है। सम्पूर्ण सृष्टि के कारण होते हुये भी शिवात्मक सत्ता का अकारण होना उसके विभुत्व को स्थापित करता है। इस व्यापक सत्ता का वर्णन लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार से दृष्टिगोचर होता है। लौकिक शिव सगुण, गिरिजापति, आशुतोष एवं बाघम्बरी आदि अभिधानों से विभूषित होते हैं तो अलौकिक शिव निर्गुण और निराकार हैं। यह लौकिक शिवत्व भी उस निर्गुण परब्रह्म शिव की लीला का ही परिणाम है। ये शिव विश्व की प्राचीन सभ्यता के देवता हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ों के उत्खनन में शिवसम्बन्धी (विशेष-कर शिवलिङ्गादि) तथ्यों का प्राप्त होनी भी इस तथ्य की ही पुष्टि करता है। शिव की शिवता भारत में एक समान व्याप्त है। सम्पूर्ण भारत में विद्यमान शिव के ज्योतिर्लिङ्गों से भारत की संस्कृति निरन्तर प्रवाहमान रही है। वीरशैवमतावलम्बियों के मत में शिव की पूजा में जातिभेद करना पाप माना जाता है। जिसको भी शिव के प्रति भक्ति उत्पन्न हो गयी, वही उनकी अर्चना कर सकता है। शिव का आशुतोष एवं औढरदानी अभिधान शिवभक्तों के लिये आह्लादकारक है क्योंकि वे शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होने पर वरदान रूप में मनवांछित फल प्रदान करते हैं। शिव-पूजन की सामग्री सर्वत्र सहज ही उपलब्ध हो जाया करती है। वीरशैवदर्शन में स्वीकृत छत्तीस तत्त्वों में से किसी भी तत्त्व को शिव मानकर उसकी उपासना करने से शिव की ही प्राप्त होती है। सम्पूर्ण विश्व इन छत्तीस तत्त्वों में ही समाहित है। इनके अतिरिक्त कोई भी तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्यमान नहीं है। इनकी उपासना के लिये हमें मन्दिर जाने की आवश्यकता नहीं है। हम प्रकृति के प्रत्येक कण में शिव का आभास कर सकते हैं। इससे हमारे द्वेष, लोभ एवं क्रोध आदि दुर्गुणों का निवारण होगा। यह प्रवृत्ति भेदात्मक सृष्टि में अभेदात्मक दृष्टि है और यही विश्व की सम्पूर्ण समस्याओं का एकमात्र उपचार है।

इस शोध-प्रबन्ध के प्रारम्भिक आत्मनिवेदन में उन अविस्मरणीय व्यक्तियों का स्मरण किया गया है, जो शोधार्थी के अध्ययन के प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। सङ्केताक्षर सूची एवं प्राक्कथन के पश्चात् विषय-सूची क्रमश: प्रदत्त हैं। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में प्रस्तुत विषय की

शोधार्हता, प्रविधि एवं परियोजना की परिचर्चा की गयी है । एतदर्थ उस अध्याय का बिन्दुओं एवं उपबिन्दुओं में विभाजन करके उसका विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत भारतीय दर्शन और संस्कृति का परिचय प्रस्तुत किया गया है । एतदर्थ भारतीय दर्शन और संस्कृति में विद्यमान प्रमुख बिन्दुओं को रेखाङ्कित करके उनका विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है । तृतीय अध्याय के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति में शैव तथा वीरशैवमत की परम्परा को दर्शाया गया है। वीरशैव का धर्म एवं दर्शन द्विविध अध्ययन दृष्टिगोचर होता है । अत: इस अध्याय में इसकी दार्शनिक एवं धार्मिक परम्परा को रेखाङ्कित किया गया है । चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत वीरशैवदर्शन की तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा एवं आचार-मीमांसा का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । वीरशैवमत के विशाल वाङ्मय के आधार पर इनका संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत अध्याय में दर्शाया गया है। पञ्चम अध्याय के अन्तर्गत भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में वीरशैवमत का पर्यालोचन प्रस्तुत किया गया है। वीरशैवमत भारतीय संस्कृति की विविधता में अपना विशेष स्थान रखता है । वीरशैवीय संस्कृति न केवल भारतीय संस्कृति अपितु वैश्विक संस्कृति की भी परिचायिका है ; इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को इस अध्याय के अन्तर्गत रखा गया है। उपसंहार के अन्तर्गत सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुये अन्त में शोध-निर्देशों का अनुपालन करते हुये अकारादि क्रम से सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची भी प्रदत्त है । अन्त में परिशिष्टरूप में वीरशैवमत सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली भी प्रस्तुत की गयी है। शोधार्थी द्वारा किसी नवीन वस्तु की उद्भावना नहीं की गयी है अपितु उसका नव-संयोजन किया गया है। यथा जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी में कहा है -

कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमा: ।
वचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम् ॥

न्या. म. १/१/८

विषय-सूची

	पृष्ठ-संख्या
आत्म-निवेदन	I - V
सङ्केताक्षर सूची	VI - XII
प्राक्कथन	XIII -XV
प्रथम अध्याय : विषय की शोधार्हता, प्रविधि एवं परियोजना	**1-24**
१.१ शोध-पृष्ठभूमि	1-14
१.१.१ भारतीय संस्कृति की विशेषतायें	7-9
१.१.२ भारतीय संस्कृति में शिव का स्वरूप	9-14
१.२ विषय-क्षेत्र एवं उद्देश्य	14-19
१.३ विषय चयन का औचित्य	19
१.४ प्रस्तुत क्षेत्र में विद्यमान पूर्ववर्ती शोध कार्य	19-20
१.५ पूर्ववर्ती शोध कार्यों से प्रस्तुत शोध कार्य की विशिष्टता	20
१.६ शोध प्रबन्ध हेतु उपयोगी प्रमुख स्रोत	21-22
१.७ शोध-प्रविधि	22-23
१.८ शोध-शीर्षक की सार्थकता	23-24
द्वितीय अध्याय : भारतीय दर्शन एवं संस्कृति का परिचय	**25-66**
२.१ दर्शन	25 -37
२.१.१ भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय	27-37
२.२ वेद एवं आगम	38-40
२.३ आगम	41-47
२.३.१ आगमों के भेद एवं दार्शनिक सम्प्रदाय	42-47
२.४ संस्कृति की व्यापकता एवं क्षेत्र	47-66
२.४.१ भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषतायें	51-66

२.४.१.१ भारतीय संस्कृति में धर्म 56-58
२.४.१.२ भारतीय संस्कृति की शिक्षा पद्धति 59-61
२.४.१.३ भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान 61-66

तृतीय अध्याय : भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में शैव एवं वीरशैवमत की परम्परा 67-118

३.१ शैव दर्शन 67
३.१.१ द्वैत शैव दर्शन 67-78
३.१.१.१ पाशुपत शैव दर्शन 68-70
३.१.१.२ सिद्धान्तशैव दर्शन 70-78
३.१.१.२.१ प्रथम तत्त्व पति 72-73
३.१.१.२.२ द्वितीय तत्त्व पाश 73-76
३.१.१.२.२.१ मल 73
३.१.१.२.२.२ माया 74
३.१.१.२.२.३ कर्म 74
३.१.१.२.२.४ निरोधशक्ति 74
३.१.१.२.२.५ बिन्दु 74-75
३.१.१.२.२.६ नाद 75-76
३.१.१.२.३ तृतीय तत्त्व पशु 76-77
३.१.१.२.४ सिद्धान्तशैव और अन्य दर्शनों की भेदक तालिका 77-78
३.१.२ अद्वैत शैव दर्शन 78-80
३.१.३ द्वैताद्वैत शैव दर्शन 80-82
३.१.३.१ लकुलीश पाशुपत दर्शन 80-81
३.१.३.२ कालामुख शैव दर्शन 81-82
३.१.४ स्वतन्त्रशिवाद्वैतदर्शन 82-83
३.१. ५ विशिष्टाद्वैतशैव दर्शन 83-85
३.१.६ शक्तिविशिष्टाद्वैत शैव दर्शन 85-128
३.१.६.१. वीरशैवदर्शन की आगममूलकता 86
३.१.६.२ वीरशैव-अभिधानयोग्यता 86-87
३.१.६.३ वीरशैव के पर्याय 88-89

३.१.६.४ वीरशैवदर्शन के अवान्तर भेद 89-104
३.१.६.४.१ सामान्य वीरशैव 89
३.१.६.४.२ विशेष वीरशैव 89-90
३.१.६.४.३ निराभार वीरशैव 90-91
३.१.६.५ वीरशैवमत के आचार्य 91-102
३.१.६.५.१ वीरशैवमत के पञ्चाचार्य 92-95
३.१.६.५.१.१ रेवणाराध्य 93-94
३.१.६.५.१.२ मरुळाराध्य 94
३.१.६.५.१.३ एकोरामाराध्य 94
३.१.६.५.१.४ पण्डिताराध्य 94
३.१.६.५.१.५ विश्वाराध्य 95
३.१.६.५.२ वीरशैवमत के अन्य आचार्य 95-101
३.१.६.५.२.१ देवरदासिमय्य 95
३.१.६.५.२.२ बसवेश्वर 96-97
३.१.६.५.२.३ अक्कमहादेवी 97
३.१.६.५.२.४ प्रभुदेव 97
३.१.६.५.२.५ अगस्त्यमुनि 97-98
३.१.६.५.२.६ चेन्नबसव 98
३.१.६.५.२.७ सिद्धराम 98
३.१.६.५.२.८ हरिहर 98-99
३.१.६.५.२.९ शिवयोगी शिवाचार्य 99
३.१.६.५.२.१० नीलकण्ठ शिवाचार्य 99
३.१.६.५.२.११ श्रीपतिपण्डिताराध्य 100
३.१.६.५.२.१२ श्रीमन्मायिदेव 100
३.१.६.५.२.१३ नन्दिकेश्वर 100
३.१.६.५.२.१४ स्वप्रभानन्द शिवाचार्य 100-101
३.१.६.५.२.१५ मरितोण्डदार्य 101
३.१.६.५.२.१६ केलदीबसवभूपाल 101
३.१.६.५.२.१७ शङ्कर-शास्त्री 101
३.१.६.५.३ बीसवीं और इक्कीसवीं शताब्दी के वीरशैव विद्वान् 102-103
३.१.६.६ वीरशैव-साहित्य 103-118

चतुर्थ अध्याय : वीरशैवदर्शन में तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा एवं आचार-मीमांसा 119-209

४.१ वीरशैवमत में अनुबन्ध चतुष्टय 120-122

४.२ तत्त्वमीमांसा 122
४.२.१ विभिन्न दार्शनिक मत में तत्त्व विचार 123-124
४.२.२ प्रमुख वेदान्त सम्प्रदाय के तत्त्व 124
४.३ वीरशैवदर्शन में तत्त्वमीमांसा 125-165
४.३.१ छत्तीस तत्त्वों में शिवतत्त्व 126-135
४.३.१.१ शिव के विशेषण 131-132
४.३.१.२ शिव नाम का महत्त्व 132
४.३.१.३ आभासवाद एवं अविकृत परिणामवाद 132-133
४.३.१.४ पञ्चकृत्य 133-135
४.३.१.४.१ सृष्टि 133-134
४.३.१.४.२ स्थिति 134
४.३.१.४.३ संहार 134
४.३.१.४.४ नियमन 134
४. ३.१.४.५ अनुग्रह 134-135
४.३.२ छत्तीस तत्त्वों में शक्ति - तत्त्व 135-139
४.३.३ छत्तीस तत्त्वों में सदाशिव - तत्त्व 140 -143
४.३.३.१ सादाख्यात्मक भेद 140-142
४.३.३.१.१ शिवसादाख्य 141
४.३.३.१.२ अमूर्तसादाख्य 141
४.३.३.१.३ मूर्तसादाख्य 141
४.३.३.१.४ कर्तृसादाख्य 141
४.३.३.१.५ कर्मसादाख्य 141-142
४.३.३.२ पञ्चमुखात्मक भेद 142-143
४.३.३.२.१ सद्योजात-स्वरूप 142
४.३.३.२.२ वामदेव-स्वरूप 142
४.३.३.२.३ अघोर-स्वरूप 142-143
४.३.३.२.४ तत्पुरुष-स्वरूप 143
४.३.३.२.५ ईशान-स्वरूप 143
४.३.४ ईश्वरतत्त्व 143-144
४.३.५ सद्विद्यातत्त्व 144
४.३.६ मायातत्त्व एवं पञ्चकञ्चुक 144-147

४.३.७ कलातत्त्व 145-146
४.३.८ विद्यातत्त्व 146
४.३.९ रागतत्त्व 146
४.३.१० कालतत्त्व 146
४.३.११ नियतितत्त्व 147
४.३.१२ छत्तीस तत्त्वों में पुरुष तत्त्व 147-152
४.३.१२.१ पुरुष के त्रिविध शरीर 147-150
४.३.१२.१.१ योगाङ्ग स्थल 148
४.३.१२.१.२ भोगाङ्ग स्थल 148
४.३.१२.१.३ त्यागाङ्ग स्थल 148-149
४.३.१२.२ पुरुष सम्बन्धी त्रिविध मल 150-159
४.३.१२.२.१ कार्म मल 150
४.३.१२.२.२ आणव मल 150-151
४.३.१२.२.३ मायीय मल 151-152
४.३.१३ छत्तीस तत्त्वों में प्रकृति तत्त्व एवं त्रिविध अन्त:करण 152
४.३.१४ अहङ्कारतत्त्व 153
४.३.१५ बुद्धितत्त्व 153
४.३.१६ मनस्तत्त्व एवं पञ्चज्ञानेन्द्रिय 153-154
४.३.१७ श्रोत्र 154
४.३.१८ त्वक् 154-155
४.३.१९ चक्षु 155-163
४.३.२० जिह्वा 155
४.३.२१ घ्राण 155-156
४.३.२२ वाक् 156-157
४.३.२३ पाणि 157
४.३.२४ पाद 157
४.३.२५ पायु 157
४.३.२६ उपस्थ 157-158
४.३.२७ शब्द 158

४.३.२८ स्पर्श 158
४.३.२९ रूप 159
४.३.३० रस 159
४.३.३१ गन्ध 159-160
४.३.३२ आकाश 160
४.३.३३ वायु 161-162
४.३.३३.१ प्राण 161-162
४.३.३४ अग्नि 162-163
४.३.३५ जल 163
४.३.३६ पृथ्वी 163-165
४.४ वीरशैवदर्शन में प्रमाणमीमांसा 166-178
४.४.१प्रमा 167-168
४.४.२ प्रमाण 168-176
४.४.२.१ प्रत्यक्ष प्रमाण 169-170
४.४.२.२ अनुमान प्रमाण 170-172
४.४.२. ३ शब्द प्रमाण 172-178
४.४.३ प्रमेय 178-185
४.४.४ प्रमाता 186-188
४.५ वीरशैवदर्शन में आचारमीमांसा 188-209
४.५.१ पञ्चयज्ञ 190-191
४.५.१.१ तप 190
४.५.१.२ कर्म 191
४.५.१.३ जप 191
४.५.१.४ ध्यान 191
४.५.१.५ ज्ञान 191
४.५.२ पञ्चाचार 192-193
४.५.२.१ लिङ्गाचार 192
४.५.२.२ सदाचार 192
४.५.२.३ शिवाचार 193

४.५.२.४ गणाचार 193-195
४.५.२.५ भृत्याचार 195
४.५.३ अष्टावरण 196-19
४.५.३.१ गुरु 196
४.५.३.२ लिङ्ग 196-197
४.५.३.३ जङ्गम 197
४.५.३.४ भस्म 197
४.५.३.५ रुद्राक्ष 197-198
४.५.३.६ मन्त्र 198
४.५.३.७ पादोदक 198
४.५.३.८ प्रसाद 198-199
४.५.४ षड्स्थल 199-200
४.५.४.१ भक्तस्थल 201-198
४.५.४.२ माहेश्वरस्थल 201-202
४.५.४.३ प्रसादिस्थल 202
४.५.४.४ प्राणलिङ्गिस्थल 202-203
४.५.४.५ शरणस्थल 203
४.५.४.६ ऐक्यस्थल 203-204
४.५.५ कर्म 204-206
४.५.६ कर्मकर्ता 206
४.५.७ कर्मफल 206-207
४.५.८ कर्मफलप्रदाता 207
४.५.९ बन्धन 207
४.५.१० कैवल्य अथवा मोक्ष 208
४.६ वीरशैवदर्शन और अन्य दर्शनों की भेदक तालिका 208-209

पंचम अध्याय : भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में वीरशैवमत का पर्यालोचन 210 - 292

५.१ भारतीय तन्त्रशास्त्र 210-215
५.१.१ वीरशैवात्मक तन्त्रशास्त्र में भारतवर्ष का स्वरूप 212-215

५.२ वीरशैवमतानुसार शिक्षा का स्वरूप 216-219
५.२.१ वीरशैवमत में गुरुकुलीन शिक्षा 216-219
५.३ वीरशैवमत से सम्बन्धित रामकथा 219-222
५.३.१ महर्षि वाल्मीकि एवं गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार श्रीराम और शिव 219-221
५.३.२ अन्य ग्रन्थों में श्रीराम और शिव 221-223
५.३.३ रामकथा में हनुमान् एवं शिव 223
५.३.४ रामकथा में रावण और शिव 224-225
५.४ वीरशैवमत में राष्ट्रवाद 226-230
५.४.१ वीरशैवमत में राष्ट्रभक्ति 229-230
५.५ वीरशैवमत में प्रमुख मातृकाओं का स्वरूप 230-242
५.५.१ रुद्रमातृका 231-241
५.५.२ नाद 241-242
५.६ पुराणों में वीरशैवमत विमर्श 242-247
५.७ वीरशैवमत में नारीसम्बन्धी अवधारणा 247-255
५.७.१ वीरशैवमत में नारी का महत्त्व 248-250
५.७.२ वीरशैवमत में नारी-वैशिष्ट्य 250-255
५.७.२.१ अद्वैतवेदान्तदर्शन में स्त्री-सम्बन्धी विचार 250-251
५.७.२.२ सांख्यदर्शन में स्त्री-सम्बन्धी विचार 252-253
५.७.२.३ चार्वाक दर्शन में स्त्री-सम्बन्धी विचार 253
५.७.२.४ वीरशैवदर्शन में स्त्री-सम्बन्धीविचार 253-255
५.८ भारतवर्ष में वीरशैवमत की स्थिति 256-274
५.८.१ कर्णाटक प्रदेश में वीरशैवमत 256-258
५.८.२ महाराष्ट्र प्रदेश में वीरशैवमत 258
५.८.३ तमिळनाडु प्रदेश में वीरशैवमत 258
५.८.४ केरल प्रदेश में वीरशैवमत 258
५.८.५ आन्ध्रप्रदेश में वीरशैवमत 259
५.८.६ हरियाणा प्रदेश में वीरशैवमत 259-260

५.८.७ राजस्थान प्रदेश में वीरशैवमत 260
५.८.८ मध्यप्रदेश में वीरशैवमत 260
५.८.९ छत्तीसगढ़ में वीरशैवमत 260
५.८.१० गुजरात में वीरशैवमत 261
५.८.११ जम्मू-कश्मीर में वीरशैवमत 261-262
५.८.१२ उत्तराखण्ड में वीरशैवमत 262-263
५.८.१३ उत्तर-प्रदेश में वीरशैवमत 263-271
५.८.१४ बिहार प्रदेश में वीरशैवमत 271-273
५.८.१५ दिल्ली प्रदेश में वीरशैवमत 273-278
५.९ नेपाल में वीरशैवमत की स्थिति 278-283
५.९.१वागेश्वरी-मठ 280
५.९.२ अन्तलिङ्ग-मठ 280
५.९.३ डोलेश्वर-मठ 280-281
५.९.४ धनेश्वर-मठ 281
५.९.५ पनौती-मठ 281
५.९.६ धुलिलेख-मठ 281-283
५.१० वीरशैवमत में दीक्षा का स्वरूप 283
५.११ वीरशैवमतानुसारिणी दिनचर्या 284-286
५.१२ वीरशैवमत की वर्तमान समय में प्रासङ्गिकता 286-297
५.१२.१ जाति-प्रथा का विरोध 287-288
५.१२.२ परिश्रम का महत्त्व 288-289
५.१२.३ गुरु का महत्त्व 289-290
५.१२.४ वीरशैवमत के विषय में प्रमुख राजनेताओं के विचार 290-294
५.१२.५ तीर्थस्थलों का महत्त्व 294-295
५.१२.६ वीरशैवमत सम्बन्धी शिक्षण तथा शोध संस्थान 295-296
५.१२.७ वीरशैवमत का आधुनिक वैशिष्ट्य 296-297
उपसंहार 298 - 305
सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची 306 - 318

(A) प्रारम्भिक स्त्रोत 306 - 312
(a) साक्षात् स्त्रोत 306 -308
(b) असाक्षात् स्त्रोत 308-312
(B) द्वितीयक स्त्रोत 312 - 318
(a) स्वतन्त्र ग्रन्थ 312 - 315
(b) शोध प्रबन्ध 316
(c) पत्र-पत्रिकायें 316
(d) शब्दकोश एवं विश्वकोश 317
(e) अन्तर्जाल 318
(f) साक्षात्कार 318
परिशिष्ट (क) पारिभाषिक शब्दावली 319 - 336
परिशिष्ट (ख) वीरशैवीय तात्त्विक-वृक्ष 337 - 338

प्रथम अध्याय : विषय की शोधार्हता, प्रविधि एवं परियोजना

१.१ शोध-पृष्ठभूमि

प्राचीन युग के भारतवर्ष और आधुनिक युग के भारतवर्ष की भौगोलिक परिसीमा भले ही सर्वथा भिन्न हो तथापि इस भारतवर्ष के क्रोड़ में निहित ज्ञानतत्त्व ने इसकी भारतीयता को समाप्त नही होने दिया है । भारतीयता विश्वबन्धुता, सर्वांगीणता, सर्वव्यापकता और सार्व-भौमिकता का अपर अभिधान है । इस वसुधा को ऋषियों एवं मनीषियों ने अपने वैज्ञानिक चिन्तन एवं आनुभविक सत्य से निरन्तर सुशोभित किया है ; जिससे यह भूमि जगद्गुरु उपाधि से सदैव अलङ्कृत रही है । फलत: इस धरा पर विविधता में भी एकता दृष्टिगोचर होती है । इसके सूक्ष्म चिन्तन के समक्ष सम्पूर्ण विश्व नतमस्तक होता रहा है । केवल मानवमात्र में ही नही अपितु सृष्टि के प्रत्येक कण में ईश्वर की अनुभूति इस संस्कृति की एक अद्भुत विशेषता है । यहाँ पर ज्ञान के लिये सर्वस्व त्याग की बात कही गयी है । ज्ञान से बढ़कर इस सृष्टि में कुछ भी नही है और ज्ञान की यही व्यापकता सम्भवत: वसुधैव कुटुम्बकम् जैसे विश्वबन्धुत्व पद का आधार रही है । संस्कृत भाषा के अन्तर्गत सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु और क्तिन् प्रत्यय से निष्पन्न संस्कृति शब्द व्यापक अर्थ का बोधक है । यह शब्द वैश्विकता का भी परिचायक है और व्यक्तिविशेष का भी । जब यह अपने व्यापक अर्थ का बोधक होता है तो वैश्विक संस्कृति इस अभिधान से परिज्ञात होती है और जब यह व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित होता है तो व्यक्तिगत संस्कृति का बोधक होता है । इस शब्द को जिस विशेष्य के पूर्व में स्थापित कर दिया जाय यह उसी का विशेषण बन जाता है और यह तथ्य उसकी व्यापकता को भलीभाँति दर्शाता है । संस्कृति न तो कल्चर का पर्याय है और न ही सिविला-इजेशन का । यह समाज की वह अमूर्त अवधारणा है जिसके क्रोड़ में निरन्तरता का समावेश रहता है । हाँलाकि परिवर्तन संसार का नियम है और इसमें भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है किन्तु गुणों को ग्रहण करना और दुर्गुणों का परित्याग करना एक आदर्श संस्कृति की प्रमुख विशेषता है । परिवर्तन में संस्करण होना ही संस्कृति है जैसा कि इसके व्युत्पत्तिपरक अर्थ से यह अनुमान किया जा सकता है -

संस्करोतीति संस्कृति: ।[1]

मनुस्मृति भी संस्करण को ही श्रेष्ठ मानती है । तदनुसार जन्म से सभी शूद्र होते हैं ; संस्करण से ही वे द्विज कहलाते हैं ।[2] संस्करण का तात्पर्य परिमार्जन से है । मानव जब से पृथ्वी पर आया है या जब से प्रकृति की संरचना हुई है तब से यह प्रश्न सदैव समक्ष रहा है कि सृष्टि का स्वभाव क्या है ? उत्पत्ति अर्थात् नूतनता को जन्म प्राप्त होता ही रहता है । इसलिये हम यह नही कह सकते कि संस्कृति केवल वह निधि है जो हमको अतीत में मिली है अपितु संस्कृति

---

[1] भा. सं. वि. आ., पृ. सं. १५

[2] जन्मना जायते शूद्र: संस्काराद् द्विज उच्यते, मनु., ७/९

उस प्रक्रिया का नाम है जो अतीत के अभिराम, सुन्दरतम विधि को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अनुदित करती रहे, जिससे हम एक नये भविष्य का निर्माण कर सके।[3] संस्कृत उस भाषा का नाम है जो परिमार्जित अथवा परिष्कृत है। अत: संस्कृति भी परिमार्जित प्रक्रिया या प्रविधि का नाम है, जो अतीत की सुन्दरता को वर्तमान से संयुक्त कर उसके महत्त्व का ख्यापन करती है। आदर्श संस्कृति प्रभुसम्मित और कान्तासम्मित उपदेशों के सदृश न होकर सुहृत्सम्मित उपदेश का बोध कराती है। यह हमें अनुचित कार्यों से रोकती है और उचित कार्यों की ओर प्रेरित करती है। इस प्रकार संस्कृति स्वयं में एक उपदेशिका का कार्य करती है। यह उपदेशिका भी है और उपदेश भी। यह साधन भी है और साध्य भी क्योंकि संस्कृति के अव-लोकन मात्र से हमें यह ज्ञान हो जाता है कि इस प्रदेश के लोग कैसे होगें ? साधन के रूप में जहाँ यह हमें उचित मार्ग का दर्शन कराती है तो वही साध्य के रूप में यह स्वयं ही लक्ष्य का रूप धारण कर लेती है। इसके सद्गुणों से मनुष्य आदर्श नागरिक बनने को ओर अग्रसर होता है और यह केवल प्राणिमात्र के लिये ही नही अपितु सम्पूर्ण मानवता के लिये भी शुभ सङ्केत है। संस्कृति के साथ विचित्र बात यह है कि एक देश की संस्कृति जहाँ दूसरे देश के लिये अनुकूल होने पर ग्राह्य हो सकती है तो वही प्रतिकूल होने पर त्याज्य भी हो सकती है किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि यदि वह उस देश के लिये त्याज्य है तो वह सर्वदा ही अनादरणीय है। उसमें भी गुणों का आधिक्य हो सकता है क्योंकि किसी भी देश की संस्कृति उसके वातावरण पर भी निर्भर करती है। उस देश का खान-पान, वेश-भूषा और रहन-सहन आदि विशेषतायें उसकी संस्कृति को प्रस्तुत करते हैं और यह सब किसी दूसरे देश के लिये ग्राह्य भी हो सकता है और त्याज्य भी हो सकता है। जैसे किसी देश के लोग मांसाहारी हैं क्योंकि उनके यहाँ का वातावरण उसके लिये अनुकूल है किन्तु जिस देश के लोग मांसाहारी नही हैं उसके लिये यह संस्कृति सम्भवत: त्याज्य ही होगी क्योंकि उनका वातावरण उक्त कार्य के लिये प्रेरित नही करता है। समुद्र या नदीतट के निवासियों में मत्स्य-भक्षण की परम्परा प्राय: विद्यमान होती है। असम, बंगाल और मिथिला प्रदेश की परम्परा शाक्त-परम्परा है। अत: यहाँ का जन-सामान्य भगवती को भी मत्स्य भोग के रूप में अर्पित करता है। संस्कृति के परिवर्तन में भौगोलिक कारण की प्रमुख भूमिका रहती है। हिमवर्ती प्रदेश के जन समुदाय और गर्म प्रदेश के जन-समुदाय की संस्कृति भिन्न-भिन्न हो सकती है क्योंकि दोनों प्रदेशों के वातावरण भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार जिस देश या प्रदेश की संस्कृति जितनी ही व्यापक होती है ; वह उतनी ही महान् कही जाती है क्योंकि वह किसी समूह विशेष के लिये या केवल मानव मात्र के लिये हितकारक न होकर प्राणिमात्र के लिये हितकारक होती है। उसमें विश्व-बन्धुत्व का संदेश पूर्णरूपेण प्रविष्ट होता है।

यह दु:ख का विषय है कि व्यक्ति का चिन्तन परिवर्तित हो रहा है और वह संस्कार से विमुख होकर असंस्कृत होता जा रहा है। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव और आचार्यदेवो भव की अवधारणा के बल पर जगद्गुरु की उपाधि प्राप्त करने वाले इस भारत देश में सम्प्रति यह बिडम्बना है कि जो भारतीय संस्कृति वैश्विक संस्कृति की परिचायिका थी वह पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होकर सम्प्रति व्यक्तिगत संस्कृति बनती जा रही है।

---

[3] भा. सं. वि. आ., पृ. सं. १५

संस्कृति शब्द के अर्थ के द्योतन के लिये संस्कार शब्द का अवबोध आवश्यक है । संस्कार की व्युत्पत्ति है -

सम्यक् क्रियते इति संस्कार: ।[4]

अर्थात् जिसको समान रूप से किया जाता है वह संस्कार है । प्राय: भारतीय संस्कृति पूर्वजन्म को मान्यता प्रदान करती है[5] और तदनुसार जन्म के पूर्व और पश्चात् कई अशुद्धियाँ होती हैं जिनके निवारण हेतु ये संस्कार किये जाते हैं । हम अपूर्ण हैं और हमें पूर्णता की ओर ले जाने के लिये अच्छे आचरण सिखलाये जाते हैं और ये आचरण हमारी जीवन-यात्रा के पथ प्रदर्शक होते हैं । सम्प्रति संस्कारों से विमुख होने के कारण संस्कृति भी संकुचित अर्थ को ग्रहण करती जा रही है । इसका कारण यह भी है कि व्यक्तिगत संस्कृति के अन्तर्गत मुख्य लक्ष्य सांसारिक सुख-वैभव का आनन्द उठाना, इन्द्रिय-संयम को तिरस्कृत कर स्त्री, सुरा और सम्पत्ति में खोये रहना ही रह गया है । प्रत्येक मानव भौतिक सुख-साधनों की ओर दौड़ रहा है । यहाँ तक कि आधुनिक शिक्षा भी धनपरक बनती जा रही है ; जहाँ आध्यात्मिक उत्थान के लिये कोई स्थान अवशेष नही रह गया है । संस्कृति की व्यापकता भोग को त्याज्य और त्याग को ग्राह्य निर्देशित करती रही है । भारतवर्ष जैसे आध्यात्मिक राष्ट्र में त्याग को सर्वोच्च स्थान प्राचीनकाल से ही प्राप्त है :-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: मा गृध कस्यस्विद्धनम् ॥[6]

यह त्यागपूर्वक भोग की भावना न केवल मानव को मानव के प्रति अपितु मानव को प्रकृति के प्रत्येक कण के प्रति सम्मान का भाव जागृत करने का कार्य करती है । यह एक ऐसी भावना है जिससे मानव विश्वबन्धुत्व या वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को समझने का प्रयत्न करता है । किसी देश या राष्ट्र की प्राण वास्तव में संस्कृति ही है । यह न केवल उस राष्ट्र के अतीत का ही ख्यापन करती है अपितु उस अतीत के गर्त की सुन्दरतम विधियों का स्मरण कराकर भविष्य के निर्माण के लिये प्रेरित करने का भी कार्य करती है । राष्ट्र की एकता और अखण्डता बनाये रखने में भी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान है । यदि किसी राष्ट्र की संस्कृति का ह्रास होता है तो फिर उस राष्ट्र के विनाश में अत्यधिक समय नही लगता है । यह बात विश्व की संस्कृति पर भी लागू होती है । यदि वैदिक संस्कृति (जो वैश्विक संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में सर्वदा ही प्रशंसित होती रहती है) का ह्रास हो तो सम्पूर्ण मानवता का विनाश सम्भव है । यह दु:ख का विषय है कि आज वैश्विक संस्कृति का ह्रास हो रहा है और मानवता के लिये बहुविध संकट उत्पन्न हो रहे हैं । संस्कृति के मूलार्थ के अवबोध के लिये निम्नलिखित विद्वानों के विचार उपादेय हैं -

डॉ. महेश सिंह के मत में संस्कृति एक अमूर्त अवधारणा है । इसके उपादान अपार हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुरातन है । भिन्न-भिन्न देशों की अलग-अलग संस्कृतियाँ हैं, जिनमें स्तरीय भेद हैं । संस्कृति का सम्बन्ध धर्म, दर्शन, साहित्य, कला इत्यादि अनेक विधाओं से है

---

[4] भा. सं. वि. आ., पृ. सं. ५९

[5] जातस्य हि ध्रुवोर्मृत्यु ध्रुवो जन्म मृतस्य च ॥ श्रीमद्भग., २/२७

[6] ईश. उ., १/१

। अत: संस्कृति को परिभाषा सूत्र में पिरोना यदि असम्भव नही तो दुष्कर अवश्य है। संस्कृति के सम्बन्ध में कोई अन्तिम रेखा खीचने में कठिनाई हैं क्योंकि संस्कृति का सम्बन्ध संस्कार, धर्म, सभ्यता, नैतिकता इत्यादि से इतना गहरा है कि संस्कृति को सर्वथा इनसे पृथक् नही देखा जा सकता है।[7]

आचार्य व्रजवल्लभ द्विवेदी के मत में संस्कृति की दो प्रकार की परिभाषायें की जा सकती हैं। एक व्यापक अर्थ में और दूसरा सीमित अर्थ में। पहले अर्थ में मानव के द्वारा निर्मित आध्यात्मिक अथवा आधिभौतिक विश्व का संस्कृति में समावेश किया जाता है तो दूसरे में केवल मानव की भौतिक उन्नति का। इसी को हम संस्कृति के आध्यात्मिक और भौतिक पक्ष कह सकते हैं। किसी भी संस्कृति में आत्मा और विश्व के संस्कार की प्रक्रिया साथ-साथ ही चलती है तो भी किसी में आध्यात्मिक और किसी में भौतिक पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता है। बाह्य विश्व के उपभोग या भौतिक प्राप्ति को प्रधान मानना भौतिक संस्कृति का लक्षण है। इसी अर्थ में आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति को भौतिक संस्कृति कहा जा सकता है। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक कही जाती है। इसका अर्थ यह नही है कि पाश्चात्य संस्कृति में आध्यात्मिक और भारतीय संस्कृति में भौतिक अंश बिल्कुल ही नही है। उक्त परिभाषा में केवल उसकी विशेषता को इङ्गित किया गया है। भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता की प्रधानता और भौतिकता की गौणता है तो आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति में भौतिकता की प्रधानता और आध्यात्मिका की गौणता उक्त कथन का स्पष्ट सङ्केत है।[8] कहने का तात्पर्य यही है कि प्रकृति या स्वभाव का परिमार्जन ही संस्कृति है। जिस तरह प्राकृत भाषा सामान्यजन की भाषा और संस्कृत भाषा शिष्टजनों की भाषा का अवबोध कराती है ठीक उसी प्रकार संस्कृति शब्द विशिष्टता का ही प्रतीक है। यह प्राणी के उत्कृष्ट विचार और व्यवहार के लिये प्रयुक्त है। बुभूक्षा हमारी प्रकृति है किन्तु अपना भोजन किसी असहाय व्यक्ति को समर्पित करने का अपर अभिधान हमारी संस्कृति है। मनुष्य की चेष्टा जो सामान्यजनों की चेष्टा से भिन्न हो किन्तु विशिष्ट हो संस्कृति कही जायेगी। इसी अर्थ में विश्व के मनीषियों ने संस्कृति की परिभाषा देने का श्लाघनीय प्रयास किया है जो निम्नलिखित हैं[9] :-

१. ब्रह्मानन्द सरस्वती जी के मत में भूषणभूत सम्यक् कृति ही संस्कृति है।[10] (अर्थात् जिन चेष्टाओं के द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख शान्ति को प्राप्त करें, वे चेष्टायें उसके लिये भूषणभूत चेष्टायें हैं।)

२. स्वामी करपात्रीजी संस्कृति के स्वरूप पर अपना विचार देते हुये कहते हैं :- मनुष्य के लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक और राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकारादि की भूषणभूत चेष्टाएँ एवं हलचल ही संस्कृति है।[11]

---

[7] भा. सं. वि. आ., पृ. सं. १५३

[8] वही

[9] वही, पृ. सं. १५४

[10] क. मा. प., वर्ष २४, पृ. सं. २४

३. डॉ. सम्पूर्णानन्द जी के मत में संस्कृति और सभ्यता सर्वथा असम्बद्ध न रहते हुये भी एक दूसरे से भिन्न हैं। संस्कृति आभ्यन्तर तत्त्व और सभ्यता बाह्य तत्त्व है। संस्कृति को अपनाने में देर लगती है किन्तु सभ्यता की सद्य: नकल की जा सकती है। अत: संस्कृति सभ्यता का परिष्कार है।[12]

४. भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के मत में :- "संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी हैं ; उनसे अपने आप को परिचित कराना अर्थात् आचरण में उतारना संस्कृति है। संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है। यह मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है।"[13]

इस प्रकार संस्कृति का सम्बन्ध मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष से है। उसके समस्त विचार और व्यवहार के निर्णायक तत्त्व संस्कृति की ही देन हैं। संस्कृति की ही छत्रच्छाया में मानव का भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास सम्भव है। दर्शन की भाषा में संस्कृति अभ्युदय एवं नि:श्रेयस का साधन है। संस्कृति का मूर्त्तिमान् रूप कोई संत या महापुरुष होता है, जिसके व्यक्तित्व से संस्कृति का स्वरूप परिलक्षित होता है। ऐसे प्रबुद्ध जन व्यक्ति और विश्व की खाई को, व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्व को, सकाम और निष्काम कर्म के भेद को पाट देने के लिये ही अवतरित होते हैं। इन्हीं की कृति, कला, विचार और व्यवहार संस्कृति के आधार-स्तम्भ होते हैं।[14]

सभ्यता और संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन इस निष्कर्ष पर आता है कि :-

Civilization is an expression of flesh while culture is the manifestation of Soul.[15]

अर्थात् सभ्यता का सम्बन्ध शारीरिक आवश्यकताओं से है और संस्कृति का सम्बन्ध आत्मा के सात्विक गुणों के साथ है। जितनी ही कोई सभ्यता हमें सात्विक बनाने में सहायक होगी, वह उतनी ही संस्कृति के समीप होगी। उदाहरणतया संस्कृति उस भावना या विचार को कहते हैं जो हमारे गृह में उपस्थित अभ्यागत के आगमन के पश्चात् उत्पन्न होती है और सभ्यता उसको कहते हैं जो उस सोच के अनन्तर व्यवहार में प्रकट होती है। इस परिप्रेक्ष्य में हम संस्कृति को आत्मा और सभ्यता को शरीर कह सकते हैं। संस्कृति में आध्यात्मिक दिशा है तो सभ्यता में सामाजिक। संस्कृति आन्तरिक विकास के स्तरों की सूचना देती है तो सभ्यता बाह्य विकास का द्योतक है। यह आवश्यक नही है कि संस्कृत व्यक्ति सभ्य हो और सभ्य व्यक्ति संस्कृत किन्तु परस्पर व्यवहार से यह अभिज्ञान होता है कि कौन कितना संस्कृत है

---

[11] क. मा. प., वर्ष २४, पृ. सं. २४

[12] वही, वर्ष ३४, पृ. सं. ६१

[13] सं. चा. अ., पृ. सं. ११

[14] भा. सं. वि. आ., पृ. सं. १५५

[15] वही, पृ. सं. १५७

और कौन कितना सभ्य । महात्मा गाँधी इस युग में परम संस्कृत व्यक्तित्व रखते थे किन्तु चर्चिल महोदय सदैव उन्हें नंगा फकीर ही कहते थे ।[16]

प्रो. शशिप्रभा कुमार के मत में संस्कृति शब्द सामान्यत: संस्कार या परिमार्जन का बोधक है । उसे कृषि-प्रक्रिया एवं उसके आंग्ल-पर्याय से इस भाँति से समझा जा सकता है[17] :-

संस्कृति - Culture[18]

कृषि - Agriculture[19]

जैसे कृषि में अनावश्यक घास-फूस को खोद कर निकाल दिया जाता है और उपयोगी बीजों को ही बोया जाता है तथा खाद-पानी देकर उसे पुष्ट किया जाता है उसी प्रकार संस्कृति में अवांछनीय तत्त्वों, दुर्गुणों, दोषों आदि को हटाया जाता है और उनके स्थान पर सद्‌गुणों और शुभ तत्त्वों को प्रतिष्ठित किया जाता है । इस प्रकार दुर्गुण निवारण और सद्‌गुण संस्थापन ही संस्कृति है[20] । डॉ. मुंशीराम शर्मा के मत में कल्चर शब्द का विशुद्ध पर्यायवाची शब्द कृष्टि है । जिस प्रकार कृषि-कर्म में भूमि का संशोधन तदुपरान्त बीजवपन किया जाता है और सिंचन आदि क्रियाओं के द्वारा उचित संस्कारों का स्पर्श कराकर भूमि को शस्य-सम्पन्न बनाया जाता है उसी प्रकार मानव-मानस में सत्संस्कारों द्वारा विकास की भूमिका तैयार की जाती है ।[21] इनका क्रम जीवन-पर्यन्त ही नही चलता है अपितु सूक्ष्म संस्कारों के रूप में यह आगामी अनेक जन्मों तक चलता रहता है । तदनुसार नृविज्ञान के विद्वानों के मत में समस्त सीखा हुआ व्यवहार ही संस्कृति है । इसलिये धर्म, दर्शन, आचार-विचार और रहन-सहन की जिन मान्यताओं को मनुष्य ने परम्परा से अर्जित किया वे ही उस संस्कृति के मूल उपादान हैं । ये उपादान या तत्त्व सनातन होते हैं उन्हें किसी भी प्रकार देश या काल की सीमाओं में नही बाँधा जा सकता ।[22] इस संसार में सभी प्राणियों का सर्वोच्च लक्ष्य है दुखनिवृत्तिपूर्वक सुख की प्राप्ति । विश्व में वही सुख व्यापक कहा जाता है जो चिरस्थायी रहे । कुछ क्षण या फिर कुछ काल के लिये प्राप्त किया गया आनन्द या सुख पश्चात् में दु:ख का उत्पादक होता है । हाँलाकि जो वास्तविक आनन्द है वह सुख और दु:ख दोनो से ऊपर उठकर है और यह भी संस्कृति की विशिष्टता ही है कि उसने सान्त और अनन्त सुख दोनों को भी समझने का प्रयास किया है । यदि वह इन्द्रियजन्य सुख है तो वह सान्त है किन्तु यदि वह इससे इतर अर्थात् निष्काम है तो वह अनन्त सुख है और वह अनन्त सुख जिसका पार नही पाया जा सकता और जो अमर्त्य है उसको उपनिषदों में भूमा सुख की उपाधि से अलङ्कृत किया गया है -

---

16 वै. सं. स., प्रा., पृ. सं. १

17 भा. सं. वि. आ., पृ. सं. ९७

18 वही

19 वही

20 वही

21 वै. सं. स., पृ. सं. ११

22 भा. सं. वि. आ., पृ. सं. ९७

यो वै भूमा तत्सुखम् । यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।[23]

उसी अमर्त्य सुख की प्राप्ति के लिये सारे प्राणी प्रवृत्त तो होते हैं किन्तु कुछ प्राणी कुछ दूर तक पहुँच पाते हैं तो कुछ उसको प्राप्त कर लेते हैं और जो उसको प्राप्त कर लेते हैं वही वास्तविक तत्त्वचिन्तक कहे जाते हैं क्योंकि उन्होंने उस सत्य को जाना होता है जो इस सृष्टि का चरम लक्ष्य है और जिसको कहा गया है कि वह ऐसा सत्य है कि जिसको जानने के बाद अन्य किसी अन्य को जानने की आवश्यकता नही रह जाती ।[24]

प्रत्येक संस्कृति के चिन्ह और संस्कार भिन्न-भिन्न होते हैं । अपने प्रतीक के लिये प्राण भी लगा देना सच्ची संस्कृति और सच्चे संस्कार का प्रतीक है । संस्कृति भले ही एक अमूर्त अवधारणा है किन्तु संस्कृति पर जब संकट आन पड़ती है तो वह इस प्रकार मुखरित होती है जैसा कि एक विशाल जनसमुदाय हो । उसमें यदि सत्यता कूट-कूट कर भरी हो तब तो उससे प्रेम करने वाले केवल स्वदेश क्या विदेश में भी हो सकते हैं और यह उस विश्वव्यापी संस्कृति का विलक्षणता है । संस्कृति का पुनीत कर्तव्य यह भी है कि वह अन्य प्रदेशों या देशों के गुणों को अपने आभ्यन्तर में समेट लें तभी तो उसकी व्यापकता और विस्तृत होगी । जो देश परतंत्र रह चुके हैं ; उनमें भी परतंत्र करने वाले देशों की संस्कृतियाँ मिश्रित हो जाती हैं और वह इस प्रकार एक नवीन संस्कृति का रूप धारण कर लेती है । जिस प्रकार एक ही रंग का पुष्प अपनी विशिष्ट पहचान बनाता है और अनेक रंगों से मिश्रित पुष्प भी अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाता है ठीक उसी प्रकार किसी देश की एक भाषा एक प्रकार की वेश-भूषा और एक प्रकार का खान-पान इत्यादि वस्तुयें उन्हें पृथक् करती हैं और विभिन्न प्रकार की भाषा, विभिन्न प्रकार की वेश-भूषा और विभिन्न प्रकार के खान-पान से सुसज्जित संस्कृति भी अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाती है । यथा नेपाल देश की संस्कृति में एक भाषा, खान-पान और वेश-भूषा है ; इसकी भी अपनी एक विशिष्टता है किन्तु भारतवर्ष के आभ्यन्तर में अनेक भाषायें बोली जाती हैं और अनेक प्रकार वेश-भूषा धारण किये जाते हैं तथा विभिन्न धर्म के कारण खान-पान भी अनेक हैं और इस प्रकार विभिन्नता में एकता स्थापित करना एक विश्वव्यापी संस्कृति की ही पहचान हो सकती है ।

१.१.१ भारतीय संस्कृति की विशेषतायें

भारत संस्कृतिप्रधान राष्ट्र है । यहाँ अनेकता में भी एकता का अवलोकन होता है । विविध भाषाओं और वेष-भूषाओं के उपलब्ध होने पर भी यहाँ पर अद्‌भुत सम्बन्ध अवलोकित होता है । भारतीय धर्मनिरपेक्षता का भाव भी इसी तथ्य का ख्यापन करता है । यहाँ प्रत्येक धर्म एक दर्शन है क्योंकि प्रत्येक धर्म में लौकिक जीवन का सम्यक् परिपालन तथा उसके मार्ग से न केवल इस धरती पर आनन्दमय जीवन अपितु उसके सम्यक् परिपालन से परब्रह्म की भी प्राप्ति होती है । धर्म और दर्शन संस्कृति के उपादान हैं । भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक

---

[23] छान्द. उ. ७/२४/१

[24] यस्मिन् नु खलु भगवो विज्ञाते सर्वं इदं विज्ञातं भवति, मु. उ. १/१/३

होने का एक प्रमुख कारण यह है कि भारतवर्ष की धरती पर भाँति-भाँति के दार्शनिक विचार और धार्मिक सम्प्रदाय हुये। इन सम्प्रदायों की विविध संस्कृतियों के सम्मिश्रण से ही भारतीय संस्कृति का निर्माण होता है। प्रत्येक राष्ट्र की कुछ न कुछ विशेषतायें होती हैं जो उसे महान् बनाती हैं। अपने नीतियों और स्वभावों से ही कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र विकास को प्राप्त करता है। राष्ट्र का निर्माण समाज या समूह से होता है और समाज या समूह का निर्माता कोई न कोई प्राणी, जीव या व्यक्ति होता है। इस कथन का तात्पर्य यह भी है कि केवल मानव की ही जाति, राष्ट्र या संस्कृति नही होती अपितु जीव-जन्तुओं, पक्षियों और वृक्षों का भी समूह, राष्ट्र और संस्कृति होती है इसलिये तो भारतवर्ष में नदियों और वृक्षों की पूजा होती है। उनके अन्दर भी जीव या चेतनता की केवल कोरी कल्पना ही नही की जाती है अपितु उन्हें वह सम्मान भी प्रदान किया जाता है जिसके कारण भारतवर्ष की अनूठी संस्कृति की चर्चा सम्पूर्ण विश्व में होती है। यह कार्य विश्व के किसी भी धर्म या सम्प्रदाय में अधिकांशत: नही पाया जाता है। यूनानी सभ्यता में पृथ्वी देवी (Earth goddess) की परम्परा उपलब्ध होती है और यह बात वेद के अन्तर्गत भी कही गयी है :-

माता भूमि: पुत्रोऽहम् पृथिव्या: ।[25]
वयं तुभ्यं बलिहृत: स्याम: ।[26]

भारतीय संस्कृति अपनी अनन्य विशेषताओं के कारण विश्व में अत्यन्त सम्मानित स्थान रखती है। आध्यात्मिकता, समन्वयवादिता, सहिष्णुता, सर्वाङ्गीणता, अविच्छिन्नता, त्याग तपोमय एवं विश्वशान्ति की भावना आदि कुछ ऐसी सनातन मान्यतायें हैं, जिनके आधार पर भारतीय संस्कृति सर्वप्रथम एवं सार्वभौम कही जाती है :-

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा ।[27]

भारतीय संस्कृति में न केवल मानवमात्र के लिये अपितु प्राणी मात्र के लिये सत्य, शिव और सुन्दर का सन्देश है। फलत: सहस्रों वर्षों से उसकी परम्परा में निरन्तरता और अखण्डता का समावेश सदैव बना रहा है। इस कारण से वह सदा ही नवजीवन को प्राप्त करती चली आ रही है। प्रत्येक क्षण में नवीनता को प्राप्त करना किन्तु अपनी अस्मिता को बनाये रखना ही वास्तविक सौन्दर्य का प्रतीक होता है और यह तथ्य भारतीय संस्कृति पर पूर्णरूपेण चरितार्थ होता दिखता है। जैसा कि आचार्य भवभूति का भी कथन है:-

---

25 अथर्व. पृ. सू., १९/१/३/४/५

26 वही

27 यजु., ७/१४

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया: ।[28]

प्रो. शशिप्रभा कुमार के मत में भारत शब्द का अर्थ है भा+रत अर्थात् आभा से देदीप्यमान । हममें भारतीय होने का स्वाभिमान जागे । इसके लिये हमें गम्भीरता से भारतवर्ष के वास्तविक गौरव और उसकी अन्तरात्मा में रची-बसी भारतीय संस्कृति से भलीभाँति परिचित होना अनिवार्य है । भारतीय संस्कृति का क्षेत्र अतीव व्यापक है ; उसमें धर्म, दर्शन, इतिहास, राजनीति, साहित्य, समाज तथा रीति-रिवाज सभी समाविष्ट हो सकते हैं । अत: वह विविधरूपिणी एवं बहुमुखी रही है । उस विशाल सांस्कृतिक सम्पदा के विविध आयाम पर विचार करना प्रत्येक भारतीय का पुनीत कर्तव्य है ।[29]
भारतीय संस्कृति में विषय-भोग की कामना को जीवन के लिये सर्वतोभावेन अनर्थकारी माना गया है । जैसा कि कहा गया है :-

भोगा: न भुक्ता: वयमेव भुक्ता:,
तपो न तप्त: वयमेव तप्ता: ।
कालो न यात: वयमेव याता:,
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा ॥[30]

जो लोग समझते हैं कि वो लोग विषयों का उपभोग कर रहे हैं ; वे भ्रम में हैं । वास्तविकता यह है कि विषय हमारा भोग करते हैं और हमारी कामनायें कभी भी शान्त होने वाली नही हैं । हम जीर्ण हो जाते हैं किन्तु हमारी तृष्णायें जीर्ण नही होतीं । वे ज्यों की त्यों बनी रहती हैं, जिनके कारण हमें बार-बार जन्म-मरण का असाध्य कष्ट सहन करना पड़ता है ।

१.१.२ भारतीय संस्कृति में शिव का स्वरूप

शिव या रुद्र की उपासना वैदिक काल से ही इस भारत-भूमि में प्रचलित है । ऋग्वेद में तीन सूक्त में रुद्र का वर्णन किया गया है । वहाँ पर रुद्र की उपाधि पशुप (ऋग्वेद १/११४/१) प्राप्त होती है, यजुर्वेद में शतरुद्रीय अध्याय है । तैत्तिरीय आरण्यक (१०/१६) में समस्त जगत् को रुद्ररूप बताया गया है । वेदों में उल्लिखित रुद्र ही लोक व्यवहार में शिव कहे जाते हैं । श्वेताश्वतरोपनिषद् (३/१२) में शिव सर्वानन, शिरोग्रीव, सर्वव्यापी तथा सर्वगत माने गये हैं । इस उपनिषद् में रुद्र (शिव) को उसी स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है जिस पर उपनिषद्

---

[28] उ. रा. च., ३/७

[29] भा. सं. वि. आ., पृ. सं. vi & viii

[30] वही, पृ. सं. १६२

के ब्रह्म एवं गीता के विष्णु प्रतिष्ठित हैं । मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार १०८ उपनिषदों में प्राय: १३ उपनिषद् शिव से साक्षात् सम्बन्धित हैं । वे हैं :-

अथर्वशिखोपनिषत्
अथर्वशिरोपनिषत्
कालाग्निरुद्रोपनिषत्
कैवल्योपनिषत्
गणपत्युपनिषत्
जाबाल्युपनिषत्
दक्षिणामूर्त्युपनिषत्
पञ्चब्रह्मोपनिषत्
बृहज्जाबालोपनिषत्
भस्मजाबालोपनिषत्
रुद्राक्षजाबालोपनिषत्
शरभोपनिषत्
श्वेताश्वतरोपनिषत्

शैवोपनिषद् नामक ग्रन्थ में भी शिव से सम्बन्धित चतुर्दश उपनिषदों का क्रम इस प्रकार दिया गया है :- अक्षमालिकोपनिषत्, अथर्वशिरोपनिषत्, कालाग्निरुद्रोपनिषत्, कैवल्योपनिषत्, गणपत्युपनिषत्, जाबाल्युपनिषत्, दक्षिणामूर्त्युपनिषत्, पञ्चब्रह्मोपनिषत्, बृहज्जाबालोपनिषद्, भस्मजाबालोपनिषद्, रुद्रहृदयोपनिषत् रुद्राक्षजाबालोपनिषत्, शरभोपनिषत् एवं श्वेताश्वतरोपनिषत् ।
शिव से अभिन्न शक्ति से सम्बन्धित अष्ट उपनिषदों का क्रम ए. महादेव शास्त्री ने शाक्त-उपनिषद् नामक ग्रन्थ में निम्नलिखित प्रकार से रखा है :- त्रिपुरोपनिषत्, त्रिपुरातापिन्युपनिषत्, देव्युपनिषत्, बहवृच्चोपनिषत्, भावनोपनिषत्, सरस्वतीरहस्योपनिषत्, सीतोपनिषत् एवं सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् । डॉ. ए. जी. कृष्ण वारियर ने अपने ग्रन्थ "द शाक्ता उपनिषद्" में उपर्युक्त उपनिषदों का क्रम निम्नलिखित है :- त्रिपुरतापिनी उपनिषत्, त्रिपुरा उपनिषत्, सरस्वतीरहस्योपनिषत्, सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद्, भावनोपनिषत्, बहवृचोपनिषत्, देवी उपनिषत् एवं सीता उपनिषत् ।
इन उपनिषदों में शिव को परब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है । वेदों के अन्तर्गत जिस तत्त्व को रुद्र अथवा पशुपति शब्द से अभिहित किया गया है, उसी तत्त्व को इन उपनिषदों ने परमज्ञानस्वरूप शिव पद से अभिहित किया है । अथर्वशिरोपनिषत् के अनुसार शिव की स्थिति इस प्रकार है :- तस्य उत्तरत: शिरो, दक्षिणत: पादो, य: उतरत: स ओङ्कारो, य ओङ्कारो स प्रणवो, य: प्रणव: स सर्वव्यापी, य: सर्वव्याव्यापी सोऽनन्त:, योऽनन्त: तत्तारं,

यत्तारं तत् सूक्ष्मं, यत् सूक्ष्मं तच्छुक्लं, यच्छुक्लं तद्वैद्युतं, यद्वैद्युतं तत् परं ब्रह्मेति स एक: स एको रुद्र: स ईशान: स भगवान् स महेश्वर: स महादेव: ।[31]
भारतवर्ष में आगमशास्त्र को वेदतुल्य माना गया है । परमेश्वर शिव के मुख से निर्गत होने के कारण ये परम प्रमाण की कोटि में आता है । कहा गया है :-

आगतं शिववक्त्रेभ्यो, गतं च गिरिजायुतौ ।
तदागममिति प्रोक्तं, शास्त्रं परम पावनम् ॥[32]

आगम का अपर अभिधान तन्त्र भी है । तन्त्र के प्रमुखतया त्रिविध विभाग है - ब्राह्मणतन्त्र, बौद्धतन्त्र तथा जैनतन्त्र । ब्राह्मणतन्त्र भी पुन: उपास्य देवताओं के भेद के कारण त्रिविध हैं :- शैवागम, शाक्तागम तथा वैष्णवागम । इनमें भी वैष्णवागम विशिष्टाद्वैत के, शाक्तागम अद्वैत के तथा शैवागम द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत और शक्तिविशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक हैं । वीरशैव को विशेषाद्वैत, शक्तिविशिष्टाद्वैत तथा शिवाद्वैत भी कहा गया है ।
शिव के द्वारा प्रोक्त कामिकादि से वातूल पर्यन्त अट्ठाईस आगम वीरशैवों के लिए परम प्रमाण की कोटि में आते हैं । श्रुति के पश्चात् वे इन आगमों को ही परम प्रमाण मानते हैं । कुछ मतावलम्बी तो वेदों से भी श्रेष्ठ इनको मानते हैं तो कुछ मतावलम्बी वेदवत् इनको प्रमाण मानते हैं । सिद्धान्तशिखामणि इन अष्टाविंशति आगमों को वेदतुल्य ही प्रमाण मानता है । इनके नाम क्रियासार में निम्नलिखित प्रकार से प्रदत्त हैं :-

कामिकं योगजं चिन्त्यं, कारणं त्वजितं तथा ।
विजयश्चैव निश्वासं, स्वायम्भुमथानिलम् ॥
वीरश्च रौरवं चैव, मकुटं विमलं तथा ।
चन्द्रज्ञानं बिम्बश्च, प्रोद्गीतं ललितं तथा ॥
सिद्धं सन्तानशर्वोक्तं, पारमेश्वरमेव च ।
किरणं वातुलं चैव, अष्टाविंशतिसंख्यया ॥[33]

इनमें दस शैवागम तथा अवशिष्ट अष्टादश रुद्रागम हैं । इनके नाम इस प्रकार हैं :-

दस शैवागम :- कामिकागम, योगजागम, चिन्त्यागम, कारणागम, अजितागम, दीप्तागम, सहस्रागम, सुप्रभागम तथा अंशुमदागम

---

31 अथर्वशिर. उ., श्लो. सं. ४४

32 भास्क., पृ. सं. ८४

33 क्रिया., प्र. भा., पृ. सं. ८५

अष्टादश रुद्रागम :- विजयागम, निश्वासागम, स्वायम्भुवागम, अनलागम, मारवागम, रौरवागम, मकुटागम, विमलागम, चन्द्रज्ञानागम, बिम्बागम, ललितागम, प्रोद्गीतागम, सिद्धागम, सन्तानागम, शर्वोक्तागम, पारमेश्वरागम, किरणागम तथा वातूलागम

शैवागम और रुद्रागम का विभाजन का आधार केवल अभिधान मात्र है। शैवागमों के संवाद अथवा सिद्धान्त शिव द्वारा प्रोक्त हैं और रुद्रागमों के संवाद अथवा सिद्धान्त रुद्र के द्वारा उक्त है। इन आगमों के उत्तर भाग में निर्दिष्ट वीरशैवमत का प्रतिपादन किया गया है। जिस प्रकार वेद के अन्तिम भाग को वेदान्त कहा गया है उसी प्रकार यदि वीरशैवमत को आगमान्त कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। सिद्धान्तशिखामणि में कहा भी गया :-

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम्॥[34]

अनेक तन्त्र-ग्रन्थों में वीरशैवमत को आगमसम्मत बताया गया है और उसकी आगमपरकता को द्योतित किया गया है। पारमेश्वरतन्त्र में वीरशैव की आगममूलकता प्रदर्शित की गयी है। तदनुसार वीरशैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, विनायक तथा कापाल ये छ: ही दर्शन हैं -

वीरशैवं वैष्णवं च शाक्तं सौरं विनायकम्।
कापालमिति विज्ञेयं दर्शनानि षडेव हि॥[35]

वीरशैव में वीर का अर्थ शौर्य और पराक्रम न होकर भक्ति का उद्रेक है और यही वीरता जब शिव के प्रति हो तो वह वीरशैव कहलाता है। यह केवल एक धर्मविशेष का शब्द न होकर अतिव्यापक अर्थ को समाहित करता है। शिव कल्याणकारण हैं और इसी कल्याणमयता के प्रति जब व्यक्ति की भक्ति जागृत हो जाती है तो वह वीरशैव हो जाता है। शास्त्र के अन्तर्गत वीरशैव शब्द की सर्वाधिक मान्य परिभाषा निम्नलिखित है :-

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मता:॥[36]

---

[34] सि. शि. म., ५/१४, पृ. सं. ६०

[35] पा. त., १/२२-२३

[36] सि. शि. म., ५/१६, पृ. सं. ६१

वीरशैव को लिङ्गायत भी कहते हैं। जिस प्रकार से हमारे लिये शिक्षा आवश्यक है उतनी ही दीक्षा भी आवश्यक है। दीक्षा का तात्पर्य किसी विशेष मार्ग का अनुशरण करते हुये मोक्ष की प्राप्ति करना होता है। दीक्षित साधक सर्वदा ही सिद्धि को प्राप्त करता है। वीरशैवमत में लिङ्गदीक्षा का अत्यधिक महत्त्व है और यही लिङ्गदीक्षा के उत्तर[37] में जिससे लिङ्ग-ध्यानादि सम्पन्न होता है, वह लिङ्गायत है। वीरशैव के आन्तरिक प्रभेद भी दृष्टिगोचर होते हैं -सामान्य (सामान्य-इष्टलिङ्गादिपूजक), विशिष्ट (विशिष्टलिङ्गादिपूजक) और निराभारि (नि:स्पृहवृत्यादिपूजक)। पञ्च महापुरुषों ने इस मत का भिन्न-भिन्न काल में उपदेश किया है। जिनके संक्षिप्त-ज्ञान के लिये निम्नलिखित तालिका द्रष्टव्य है :-

सुप्रबोधागम के अन्तर्गत पञ्चाचार्यों की उत्पत्ति गोत्रादिमालिका[38]-

परमेश्वर के पञ्चमुख	सद्योजात	वामदेव	अघोर	तत्पुरुष	ईशान
पञ्चाचार्यों के नाम	रेवणाराध्य	मरूळाराध्य	एकोरामाराध्य	पण्डिताराध्य	विश्वाराध्य
पञ्चाचार्यों की जन्मभूमि	कोल्लिपाकी क्षेत्रान्तर्गत सोमेश लिङ्गोद्भव	वटक्षेत्रगत सिद्धेस लिङ्गोद्भव	द्राक्षाराम क्षेत्रगत रामनाथ लिङ्गोद्भव	सुधाकुण्ड क्षेत्रगत श्रीमल्लिकार्जुन लिङ्गोद्भव	काशीक्षेत्रगत विश्वेश्वर लिङ्गोद्भव
सिंहासन स्थान	रम्भापुरी	उज्जैनीपुरी	हिमवत्केदार	श्रीशैलपर्वत	वाराणसी
उनके गोत्र	वीर	नन्दी	भृङ्गी	वृषभ	स्कन्द
उनके सूत्र	षड्-विधि	वृष्टि	लम्बन	मुक्तागुच्छ	पञ्चवर्ण
उनके प्रवर	वीरशैव	वीरशैव	वीरशैव	वीरशैव	वीरशैव
शाखा	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	अथर्ववेद	अजपवेद
कलशों के धातु	स्वर्ण	रजत	ताम्र	लौह	सीसक
तत्त्व	पृथ्वी	अप्	तेज	वायु	आकाश
बीजमन्त्र	नकार	मकार	शिकार	वाकार	यकार
महासूत्र से सम्बन्धित उपसूत्र (१-१२)	पुराण पच्छकंथा षडंग सुरगी	लोहकंथा स्वर्णकथा श्रृंगी मसणी	गोणीकंथा दंती जठर त्रिगुण	त्रिपुटी रज्जु कंथा भस्मी	पञ्चवर्ण कंबाल वृषभ दशवक्त्र

[37] उत्तर: काल: इत्यमर:

[38] वीरशैवसदाचारसंग्रह (पञ्चाचार्योत्पत्तिवर्णन), ब्र. सू. श्री., प्र. भा., पृ. सं. २३

	महिषी दिगम्बर वेणी भित्ति मोरट नाटी शौरी मुसुडी (सुत्तरु)	कुठार मैत्री कठार चामरी कवाट कुक्षकंथा ज्वलत्कंथा सिंही	केशकंथा ललाट व्याघ्रकथा लोचन भगिनी जालकंथा नटन बदडि	शिम्बरी रौप्यक चंद्रगुड़ मृत्कंथा काष्टक पवन रामगिरि खड्गी	जरत्कंथा पञ्चमुख गुहाग्र गोचर गगन मुसली लगुड शिथली

एतदतिरिक्त कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य भी ध्यातव्य हैं [39] :-

शिव के पञ्च प्रमुख शिवगणों के नाम :- रेणुक (न), दारुक (म), घण्टाकर्ण (शि), धेनुकर्ण (वा) तथा विश्वकर्ण (य) ।
पञ्चज्योतिर्लिङ्गों के नाम :- सोमनाथ, सिद्धेश्वर, मल्लिकार्जुन, केदारनाथ एवं विश्वनाथ ।
पञ्च-उपदेशक-उपदिष्ट (ग्रन्थ) :- रेणुक-अगस्त्य (षडविधि-सूत्र), दारुक-दधीचि (वृष्टि-सूत्र), घण्टाकर्ण-व्यास (लम्बनसूत्र), धेनुकर्ण-सानन्द (मुक्तागुच्छ-सूत्र), विश्वकर्ण-दुर्वासा (पञ्चवर्ण-सूत्र) ।
तदतिरिक्त नीलकण्ठाचार्य, शिवयोगी-शिवाचार्य, श्रीपतिपण्डिताराध्य, मायिदेव, स्वप्रभा-नन्दशिवाचार्य, मरितोण्टदार्य, केलदीबसवभूपाल, शङ्खशास्त्री तथा वसवेश्वर भी वीरशैव के प्रमुख आचार्य हैं । इनके प्रमुख ग्रन्थों में सिद्धान्तशिखामणि, ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य, वीर-शैवपुराण, शिवप्रकाशम, लिङ्गपुराण, शिवलीलामर्त, शिवगीता, वचन साहित्य, वर्षमेन्द्र-विजय, प्रभुलिङ्गलीला, पेरिय पुराण आदि प्रसिद्ध हैं । जो संस्कृत, कन्नड़, तमिल तथा हिन्दी भाषा में हैं । इसके अतिरिक्त शताधिक आचार्यों एवं ग्रन्थों की परम्परा वीरशैवमत में रही है । प्रमुख सिद्धान्तों में वीरशैव श्रुति को परम प्रमाण मानता है । तत्पश्चात् शैवागमों का स्थान है । तदनुसार शिव विश्वोतीर्ण तथा विश्वमय दोनो हैं । विश्वोत्तीर्ण परब्रह्मस्व-रूपशिव असीम, अनन्त तथा रूप शरीर विहीन है और अपरब्रह्मस्वरूप शिव विश्वमय है ।

१.२ विषय-क्षेत्र एवं उद्देश्य

प्रस्तुत शोध का प्रमुख विषय क्षेत्र अनुभवसूत्र, ईशवास्योपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित), केनोपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित), कैवल्योपनिषद् (सदाशिवभाष्यसहित), पञ्चवर्णसूत्रमहा-भाष्य, ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य, श्वेताश्वतरोपनिषद्, शिवाद्वैतदर्पण, सिद्धान्तसारावलि, सिद्धा-न्तप्रकाशिका और सिद्धान्तशिखामणि पर संकेन्द्रित है । साथ ही आगमों के उत्तर भाग को

[39] सि. शि. म., पृ. सं. ३

मानने वाले इस मत के अवबोध के लिये आगमों का भी अध्ययन मुख्य रूप से प्रयोग किया गया है, जिनमें कारणागम (क्रियापाद), कामिकागम, चन्द्रज्ञानागम (क्रिया एवं चर्यापाद), देवीकालोत्तरागम, पारमेश्वरागम, मकुटागम (क्रियापाद एवं चर्यापाद), मृगेन्द्रागम तथा सूक्ष्मागम प्रमुख हैं । इनमें अधिकांशत: ग्रन्थ शैव भारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ीमठ वाराणसी से प्रकाशित हैं तथा अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित रूप में ही उपलब्ध हैं । वीरशैवमत के प्रमुख धार्मिक स्थलों के विषय में व्याख्या के लिये प्रमुख शिवाचार्यों के साक्षात्कार का भी प्रयोग किया गया है । जिनमें प्रमुख शिवाचार्यों का सम्बन्ध निम्नलिखित क्षेत्र से है - कोनुलपाक (आन्ध्र-प्रदेश), उज्जैन (मध्यप्रदेश), केदारनाथ (उत्तराखण्ड), श्रीशैलक्षेत्र (आन्ध्र-प्रदेश) एवं वारा-णसी (उत्तर प्रदेश) ।

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य भारतवर्ष में आगमकाल से लेकर अबतक इस जीवन्त परम्परा का भारतीय दर्शन और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में पर्यालोचन करना है । भारतवर्ष एक दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्परा दोनों का ही अपर नाम है और वीरशैव भी भारतीय सभ्यता के अन्तर्गत धर्मस्वरूप प्रतिष्ठित है । दार्शनिक कहने का तात्पर्य वीरशैवमत में स्वीकृत तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा और आचारमीमांसा का सम्यक् प्रस्तुतीकरण है । तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत वीरशैवमत में मान्य छत्तीस तत्त्वों के स्वरूप का अन्वेषण किया गया है । यथा कश्मीर शैव अद्वैतवादी दर्शन है जबकि वीरशैव द्वैताद्वैतवादी दर्शन है और ये दोनों शिव को परम तत्त्व स्वीकार करते हुये छत्तीस तत्त्वों को मानते हैं किन्तु कश्मीर शैव का शिवतत्त्व जहाँ परमशिव का प्रथम स्पन्द है[40] वहीं वीरशैवमत में शिव तत्त्व स्पन्दन न होकर स्वाभिव्यक्ति है । वीरशैवमत में शिव अपनी इच्छा से अन्त:करण में भी स्थित है तथा बाह्य-जगत् में भी वही है । योगी के समान वह बिना उपादान कारण के भी सम्पूर्ण विषयों का प्रकाशन करता है ।[41] तत्त्वों के समान ही प्रमाणों की उपलब्धता और उसके द्वारा परमशिव की प्राप्ति वीरशैव और अन्य शैवों का भी लक्ष्य है किन्तु उनके प्रमाणों के स्वरूप में भेद होने से उनके मार्ग स्पष्टत: पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं । यथा कश्मीर शैव मत में मुख्यत: शास्त्र को ही प्रमाण माना गया है[42] जब कि वीरशैवमत में आगम के साथ ही प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण को भी स्थान देते हुये इन्हीं के अन्तर्गत सभी प्रमाणों को अन्तर्भूत किया गया है ।[43] एतदर्थ वीरशैवदर्शन में स्वीकृत प्रमाणमीमांसा का भी अन्वेषण किया गया है । तत्त्वों और प्रमाणों के आधार पर वीरशैवों के आचरण की मीमांसा ही इनकी आचारमीमांसा है । यथा वीरशैवमत में पञ्चाचार (लिङ्गाचार, गणाचार, भृत्याचार, सदाचार तथा शिवाचार) की परम्परा है तो वही कश्मीर शैव षडङ्ग योग को अपनाने के कारण पञ्चमकार (मुद्रा, मीन, मांस, मदिरा और मैथुन) में विश्वास करता है । इस प्रकार वीरशैवमत में स्वीकृत

---

40 यदयमनुत्तरमूर्तिनिजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स प्रथम: शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञै: ॥
षट्त्रिंशत्. पृ. सं. १, श्लो. सं. १, प्र. ह्., भू. पृ. सं. ८

41 ब्र. सू. श्री. द्वि. स., ८/३७, पृ. सं. ४५

42 परमेश्वरवाक्यमेव प्रमाणम्, तं. सा., पृ. सं. ३४

43 ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू., पृ. सं. २३

तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा और आचार-मीमांसा को भारतीय दार्शनिक परम्परा में पर्यालोचित करना भी प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य है। वीरशैवमत शक्तिविशिष्टाद्वैत दर्शन पद से अभिहित होता है और यह दर्शन शिव और शक्ति के सम्बन्ध को नित्य मानता है। साथ ही यह परब्रह्मशिव की भाँति ही जगत् को भी सत्य मानता है।[44] यह परम्परा दर्शन भी है तथा धर्म भी है अत: यहाँ पर ज्ञान और कर्म दोनो का समुच्चय प्राप्त होता है। इसने भारतीय सभ्यता और संस्कृति की विशेषताओं का भलीभाँति पालन किया है और उनका अभी तक ह्रास नही होने दिया है। इसने वेदों और आगमों में समन्वय स्थापित करने का भी प्रयत्न किया है। जिस प्रकार वेद के अन्तिम भागों को वेदान्त कहा गया उसी प्रकार आगमों के अन्तिम या उत्तर भाग को वीरशैव कहते हैं। वीरशैव चूँकि आगमों में प्रतिपादित उत्तर मत का ही प्रतिपालन करता है अत: यह कहना अनुचित न होगा कि यह मत आगमान्त है।
सांस्कृतिक कहने का तात्पर्य भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में वीरशैवमत का पर्यालोचन करना भी प्रमुख शोध का उद्देश्य है। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत वीरशैवमत धर्मस्वरूप प्रतिष्ठित है। संस्कृति विशाल जन-समुदाय का भी आधार होती है। आगमकाल से लेकर आजतक इस जीवन्त परम्परा में न केवल मानव को मानव के प्रति अपितु मानव को प्रत्येक कण के प्रति सम्मान की भावना जागृत होती है क्योंकि इस परम्परा में प्रत्येक कण ही शिवमय है। स्थूलता को भी प्राथमिकता प्रदान करते हुये सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होना ही इस धर्म का लक्ष्य है। जाति प्रथा एक सामाजिक कुरीति है, जिसके कारण समाज में उन्नत-वर्ग-निम्नवर्ग का भाव उत्पन्न होता है। वीरशैवमत जातिप्रथा का विरोध करता है। तदनुसार :-

शिवसंस्कारसम्पन्ने जातिभेदो न विद्यते।[45]
न जातिभेदो लिङ्गार्चास्सर्वै: स्मृता : ॥[46]

तदनुसार जाति व्यवस्था में सबको शूद्र होना आवश्यक है क्योंकि जब तक सेवा भाव व्यक्ति के मन में उत्पन्न नही होगा तब तक वह किसी भी कार्य का सञ्चालन समुचित रूप से नही कर सकता। इस मत में तो अस्पृश्यता की भावना है ही नही। जो कोई भी भगवान् का भजन करता है वह भगवान का हो जाता है। इस मत में कायक या कर्म को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। लिङ्ग (शिव) तथा अङ्ग(जीव) में ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय भी सिद्धान्तत: आवश्यक प्रतीत होता है। कहा भी गया है-

ज्ञाने सिद्धेऽपि विदुषां कर्मापि विनियुज्यते।
फलाभिसन्धिरहितं तस्मात्कर्म न सन्त्यजेत् ॥[47]

---

[44] जीव: सत्यं जगत्सत्यं शिव: सत्यं स्वभावत:।
तयोरभेद: सत्यं वा क्रिमिभ्रमरयोरिव ॥ ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू., पृ. सं. ३४

[45] वही, पृ. सं. २३

[46] वही पृ. सं. ३४

व्याधि-नाश के लिये केवल औषधि का ज्ञान ही पर्याप्त नही है अपितु औषधिग्रहण या लेप के अनन्तर ही व्याधि की निवृत्ति होती है अत: ज्ञानी को आचारवान होना चाहिये। वीर शैवों के अनुसार कर्म दो तरह के होते हैं - पशुकर्म तथा पतिकर्म। फलाकांक्षा से युक्त ज्योतिष्टोमादि कर्मादि पशुकर्म कहे जाते हैं तथा फलाभिसन्धिरहित परब्रह्मशिव के ध्यानोपासनादि-कर्म पतिकर्म कहे जाते हैं। इन दोनों प्रकार कर्म को वीरशैव प्राथमिकता देता है। तदनुसार श्रम किये बिना किसी को अन्न ग्रहण करने का अधिकार नही है। साधना करने के लिये साधक को संसार से पलायन करने की आवश्यकता नही है। प्रत्येक व्यक्ति को स्ववृत्ति में ही रहकर साधना करनी चाहिये नही तो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है। यह मत निवृत्ति एवं प्रवृत्ति के मार्ग का बोधक न होकर सहजमार्ग का बोधक है। श्रम या श्रमिक को जो स्थान वीरशैव धर्म में प्राप्त हुआ है, वह स्थान विश्व के किसी भी धर्म में नही है। वीरशैवमत में इसके लिये दासोऽहं[48] शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह मत दासोऽहं से शिवोऽहं की यात्रा तय करता है। सभी प्राणियों में आत्मायें होती हैं किन्तु मनुष्य योनि ही कर्मों का पूर्ण भोग एवं मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ है। वीरशैव स्वर्ग तथा नरक को अस्थायी मानता है। सभी वीरशैवों को शाकाहारी होना आवश्यक है। मांस, मदिरा तथा परस्त्रीगमन निषेध है। प्रमुख परम्पराओं में ज्योतिष, आयुर्वेद, आरती, भजन, दर्शन, दीक्षा, मन्त्र, पूजा, सत्संग, स्तोत्र, विवाह, लिङ्गधारण तथा जङ्गमदान आदि प्रमुख हैं। वैदिक रीतियों से वीर शैवों के अन्तर्गर्भ तथा बहिर्गर्भ संस्कार भी सम्पादित होते हैं। इनमें द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों (जिनमें पञ्च ज्योतिर्लिङ्गों (सोमेश्वर, सिद्धेश्वर, रामनाथेश्वर, मल्लिकार्जुनेश्वर और विश्वनाथेश्वर) की स्थापना वीरशैव के आद्याचार्यों के द्वारा ही की गयी है) की यात्रा की अत्यधिक प्रसिद्धि है। इनकी साधना पद्धति में षड्स्थल (भक्त, महेश, प्राण, लिङ्ग, ऐक्य तथा शरण), पञ्चाचार (भृत्याचार, लिङ्गाचार, सदाचार, गणाचार तथा शिवाचार), पञ्चयज्ञ (तप, कर्म, जप, ध्यान तथा ज्ञान), एवं अष्टावरण {गुरु, लिङ्ग (इष्ट, चर, और स्थावर), जङ्गम, पादोदक, प्रसाद, विभूति, रुद्राक्ष तथा मन्त्र} प्रसिद्ध हैं। इसमें भक्ति को सर्वश्रेष्ठ रूप में स्वीकार किया गया है ; जिसका अवबोध निम्नलिखित रूप में किया जाता है[49] :-

भक्ति								
बाह्य			आभ्यन्तर			बाह्याभ्यन्तर		
मानसिक	कायिक	वाचिक	मानसिक	कायिक	वाचिक	मानसिक	कायिक	वाचिक
तप	तप	तप	तप	तप	तप	तप	तप	तप
कर्म	कर्म	कर्म	कर्म	कर्म	कर्म	कर्म	कर्म	कर्म

47 ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू., पृ. सं. १७९

48 हि. क. सा. प्र. धा. तु. अ., पृ. सं. २२९

49 सि. शि. म. भू., पृ. सं. १९

जप	जप	जप	जप	जप	जप	जप	जप	जप
ध्यान	ध्यान	ध्यान	ध्यान	ध्यान	ध्यान	ध्यान	ध्यान	ध्यान
ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान

वीरशैवमत में प्रतिपादित ये कर्म भारतीय संस्कृति के ही पोषक हैं । तदनुसार ये भी भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में वीरशैव का पर्यालोचन ही है । इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध द्वारा निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने का एक लघु प्रयास किया गया है -

दार्शनिक :-

- ❖ वीरशैवदर्शन की शक्तिविशिष्टाद्वैतता
- ❖ वीरशैवदर्शन की तत्त्वमीमांसा
- ❖ वीरशैवदर्शन की प्रमाणमीमांसा
- ❖ वीरशैवदर्शन की आचारमीमांसा
- ❖ भारतीय दार्शनिक परम्परा में वीरशैवदर्शन का पर्यालोचन

सांस्कृतिक :-

- ❖ भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में वीरशैवमत की परम्परा
- ❖ वीरशैवमत द्वारा जाति-प्रथा के विरोध
- ❖ वीरशैवमत द्वारा लिङ्गधारण तथा जङ्गमदान के महत्त्व
- ❖ वीरशैवमत में तीर्थस्थलों का महत्त्व
- ❖ वीरशैवमत में परिश्र का महत्त्व
- ❖ वीरशैवमत में गुरु का महत्त्व
- ❖ वीरशैवमत में प्रकृति का सम्मान
- ❖ वीरशैवमत में नारीविषयक अवधारणा
- ❖ वीरशैवमतानुसारिणी दिनचर्या
- ❖ वीरशैवमतानुसारिणी दीक्षा
- ❖ भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में वीरशैवमत का पर्यालोचन

१.३ विषय चयन का औचित्य

भारतीय दर्शन केवल बौद्धिक विलास की वस्तु नही है, अपितु यह व्यवहारिक भी है । शैव दर्शन में वीरशैवदर्शन भी धर्म स्वरूप प्रतिष्ठित है । उल्लेखनीय है कि शोधार्थी को परा-स्नातक तृतीय सत्र में "शैव शाक्त एवं तन्त्र" तथा चतुर्थ सत्र में "वेदान्त एवं प्रत्यभिज्ञा" के

पाठ्यक्रम के अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ । विशेषत: वेदान्तदर्शन एवं शैवदर्शन में कुछ समानतायें तथा विषमतायें दृष्टिगोचर हुयी । दोनों का समन्वय उसे वीरशैवमत में प्राप्त हुआ । इस प्रकार अभिरुचि उत्पन्न होने से शोधार्थी द्वारा "वीरशैवदर्शन में तत्त्वमीमांसा का स्वरूप" अभिधान से एक लघु शोध-प्रबन्ध की निर्माण हुआ ; जिसके अन्तर्गत वीरशैव के मान्य छत्तीस तत्त्वों के स्वरूप का अन्वेषण किया गया । इस लघु-शोध-प्रबन्ध द्वारा शोधार्थी ने दर्शन-निष्णात (एम. फिल.) उपाधि को प्राप्त किया । अध्ययन क्रम में उसने ऐसे विषयों का भी स्पर्श किया जो वीरशैव के व्यवहार से संयुक्त तथा प्रासङ्गिक थे । इसके दार्शनिक पक्ष के तत्त्वमीमांसा के स्वरूप का अन्वेषण तो हो गया था किन्तु इसकी प्रमाणमीमांसा एवं आचारमीमांसा अवशिष्ट थी । इतना ही नही इन दार्शनिक सिद्धान्तों का भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में पर्यालोचन भी शोध-पिपासा को प्रबल कर रहा था । इन सम्पूर्ण जिज्ञासाओं के कारण प्रस्तुत विषय का चयन शोधार्थी द्वारा किया गया ।

१.४ प्रस्तुत क्षेत्र में विद्यमान पूर्ववर्ती शोधकार्य

प्रस्तुत शोध प्रस्ताव से सम्बन्धित साक्षात् सामग्री प्राप्त नही हुई है, जैसा शोधार्थी को अभीष्ट है, तथापि विषयगत तथ्यों को स्पर्श करने के कारण कुछ पूर्ववर्ती शोधकार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है :-

The Veersaiva: - W.E. Tomlinson, Bangalore, first edition 1938 :-

अंग्रेजी भाषा में उपनिबद्ध इस ग्रन्थ में वीरशैव की पृष्ठभूमि को महत्त्वपूर्ण ढंग से व्याख्यायित किया गया है । तदनुसार उसकी ऐतिहासिकता प्रदर्शित करने का कार्य अनेक साक्ष्यों के आधार पर प्रदर्शित किया गया है किन्तु भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में वीरशैवमत का पर्यालोचन यहाँ दृष्टिगोचर नही होता है ।

Veersaiva Concept of Shakti (Ph. D. Thesis) :- N. G. Mahadevappa , University of Mysore ,1978 :-

अंग्रेजी भाषापरक प्रस्तुत ग्रन्थ में वीरशैवमत में स्वीकृत छत्तीस तत्त्वों में शक्ति की श्रेष्ठता प्रदर्शित की गयी है । तदनुसार शिव बिना शक्ति के शव ही है । वह शिव की स्वभाविकी शक्ति है जो उसके साथ नित्य है, भले ही वह विश्वोतीर्ण अवस्था हो या फिर विश्वमय अवस्था । यहाँ भी शक्ति का स्वरूप ही प्रमुखतया प्रदर्शित किया गया है ।

Satsthal in Virshaivism, A Philosophical Study (Ph. D. Thesis) :- (V.S. Kambi), Karnataka University, 1975.

प्रस्तुत ग्रन्थ में वीरशैव की आचारमीमांसा के अन्तर्गत षट्स्थल का समुचित निरूपण किया गया है । हाँ तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से दार्शनिक अध्ययन होने के कारण वीरशैवमत में स्वीकृत छत्तीस तत्त्वों के संक्षिप्त स्वरूप का वर्णन किया गया है किन्तु आचारमीमांसा में केवल षट्-स्थल का वर्णन ही प्रस्तुत ग्रन्थ का उपादेय है ।

शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्श: (डी. लिट्. थिसिस) :- डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण १९९६ ई. :-

प्रस्तुत ग्रन्थ में वीरशैव के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है । प्रमुखतया आचार-मीमांसापरक दृष्टि ही प्रस्तुत ग्रन्थ में अवलोकित होती है। पञ्चयज्ञ, पञ्चाचार, षड्स्थल और अष्टावरण आदि सिद्धान्तों के स्वरूप पर विशेष ध्यान दिया गया है।

सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा (पी. एच. डी. थिसिस) :- डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण १९८९ ई. :-

प्रस्तुत ग्रन्थ में सिद्धान्तशिखामणि के प्रमुख सिद्धान्तों की समीक्षा की गयी है। अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों का खण्डन करते हुये वीरशैवमत की स्थापना की गयी है, साथ ही सृष्टि-विचार, जीव का स्वरूप, मोक्ष-बन्धन के सिद्धान्तों की विवेचना की गयी है । वीरशैव के प्रमुख सिद्धान्तों जैसे पञ्चाचार, षड्स्थल, पञ्चयज्ञ एवं अष्टावरण आदि की विस्तृत चर्चा की गयी है। संक्षिप्त रूप में वीरशैवमत में स्वीकृत छत्तीस त्तत्वों की विवेचना भी की गयी है।

श्रीकरभाष्य : सिद्धान्त और प्रतिपक्ष (ब्रह्मसूत्र विरोधपरिहाराध्याय के सन्दर्भ में) :- डॉ. व्रजेश कुमार पाण्डेय, शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण २००८ ई.।

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रमुखतया वीरशैवमत को पुष्ट करने के लिये अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। तदनुसार एकमात्र वीरशैव में ही सभी श्रुतियों का समन्वय स्थापित होता है । भारतीय दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्परा में वीरशैवमत के पर्यालोचन का अभाव यहाँ भी दृष्टिगोचर होता है।

शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त :- ष. ब्र. डॉ. महादेव शिवाचार्य स्वामी, गुरुपादेश्वर बृहन्मठ प्रकाशन केन्द्र, बबलेश्वर कर्णाटक, प्रथम संस्करण २००१ ई.

इस ग्रन्थ में आचार्य भास्कर से लेकर चैतन्य मत के बलदेव विद्याभूषण पर्यन्त सभी द्वैताद्वैतवादी आचार्यों के मतों की सूक्ष्म परीक्षा करके शक्तिविशिष्टाद्वैत की विशिष्टता और उसके प्रयोजन की युक्तियुक्त प्रतिष्ठा की गयी है तथापि तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा और आचारमीमांसा के विवेचन का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

१.५ पूर्ववर्ती शोधकार्यों से प्रस्तुत शोधकार्य की विशिष्टता

उपर्युक्त सर्वेक्षण और पूर्ववर्ती शोधकार्यों के संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रस्तुत शोधप्रबन्ध पर निश्चित रूप से कोई कार्य शोधार्थी को प्राप्त नहीं हुआ है। म. म. गोपीनाथ कविराज ने “Some Aspects of Veersaiva Philosophy” नामधेय निबंध में वीरशैवमत के प्रमुख दार्शनिक एवं सांस्कृतिक सिद्धान्तों की संक्षिप्त परिचर्चा की है किन्तु यहाँ भी भारतीय दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्परा में वीरशैवमत के पर्यालोचन का अभाव होने से प्रस्तुत शोधकार्य की पूर्ववर्ती अन्य शोधकार्यों से विशिष्टता परिलक्षित होती है।

१.६ शोध-प्रबन्ध हेतु उपयोगी प्रमुख स्रोत

अनुभवसूत्र :- मायिदेव, (सम्पा.) गजाननशास्त्रिमुसलगाँवकर, (प्रका.) शैव-भारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.
ईशावास्योपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित) :- (अनु एवं सम्पा.) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई.
केनोपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित) :- (अनु एवं सम्पा.) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई.
कैवल्योपनिषद् (सदाशिवभाष्यसहित) :- सदाशिवशिवाचार्य, (अनु एवं सम्पा.) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गम-वाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.
पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यम् :- सिद्धनञ्जेश शिवाचार्य, (अनु एवं सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००४ ई.
ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य (भाग १-३) :- श्रीपतिपण्डितभगवत्पादाचार्य, (सम्पा.) सी. हयवदना राव, अक्षय प्रकाशन, नई दिल्ली, पुन: प्रकाशित २००३ ई.
श्वेताश्वतरोपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित) :- (भावार्थदीपिकाकार एवं सम्पा.) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.
शिवाद्वैतदर्पण :- भगवत्पादशिवानुभव शिवाचार्य, (सम्पा.) वे. ब्र. श्री. सिद्धान्तसिद्धबसवशास्त्रि, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९९ ई.
सिद्धान्तसारावलि :- त्रिलोचन शिवाचार्य, (अन्वयार्थकार) मरूलसिद्धशिवाचार्य, (विस्तरार्थकार एवं सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.
सिद्धान्तप्रकाशिका :- सर्वात्मशम्भु, (सम्पा.) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई.
सिद्धान्तशिखोपनिषद् :- उमचिगिशङ्करशास्त्रिविरचित, (अनु एवं सम्पा.) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान ,जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.
सिद्धान्तशिखामणि :- शिवयोगिशिवाचार्य, (हि. व्या.) डॉ. राधेश्याम चतुर्वेदी, (प्रका.) शैव-भारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.

<u>आगम</u>

कारणागम (क्रियापाद) :- (सम्पा.) प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.
कामिकागम :- श्री चे. स्वामिनाथाचार्य, दक्षिणभारतार्चक सङ्घ, तम्बुच्चेटी वीथी, मद्रास, १९७५ ई.
चन्द्रज्ञानागम (क्रिया एवं चर्यापाद) :- (सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.
देवीकालोत्तरागम :- (अनु एवं सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००० ई.
पारमेश्वरागम :- (सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गम-वाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९५ ई.
मकुटागम (क्रियापाद एवं चर्यापाद) :- (सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैव-भारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण १९९४ ई.
मृगेन्द्रागम :- एन. आर. भट्ट, इन्स्टीट्यूट् फ्रेन्सिस इन्डोलोजी, पुदुच्चेरी, १९६२ ई.
सूक्ष्मागम (क्रियापाद) :- (सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.

१.७ शोध-प्रविधि

प्रस्तुत शोध प्रविधि आलोचनात्मक रही है जिसमें भारतीय दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्परा में वीरशैवमत का पर्यालोचन किया गया है । एतदर्थ प्रथमत: इसका विभाजन अध्यायों में किया गया है, पुन: अध्यायों का विभाजन बिन्दुओं एवं उपबिन्दुओं में किया गया है एवं प्रत्येक बिन्दुओं तथा उपबिन्दुओं का विवेचन भी किया गया है, इस दृष्टि से यह पद्धति विवेचनात्मक भी रही है । प्रत्येक बिन्दुओं तथा उपबिन्दुओं की यथासंभव तुलना भी की गयी है । इस दृष्टि से यह पद्धति तुलनात्मक भी है । एतदर्थ सिद्धान्तशिखामणि एवं ब्रह्मसूत्र-श्रीकरभाष्य के साथ ही वीरशैवमत के मान्य प्रमुख ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन किया गया है । साथ ही कामिकागम, मृगेन्द्रागम, सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा, सिद्धान्तसारावलि, सिद्धान्तप्रकाशिका, सिद्धान्त-शिखोपनिषद्, शिवरहस्य तथा महानयप्र-काश आदि ग्रन्थों का भी अध्ययन भी इस दृष्टि से किया गया है । इस शोधकार्य के लिये आधुनिक वीरशैवदर्शन के मान्य आचार्यों का साक्षात्कार भी इस शोध-प्रबन्ध की उपयोगिता के लिये महत्त्वपूर्ण रहा है, जिनमें डॉ.चन्द्रशेखर शिवाचार्य (श्री काशी जगद्गुरु) तथा डॉ.सिद्धराम शिवाचार्य (श्रीशैल जगद्गुरु) आदि प्रमुख हैं । एतदर्थ निम्नलिखित पुस्तकालयों का गमन भी किया गया है :-

विशिष्टसंस्कृताध्ययनकेन्द्र पुस्तकालय, जे. एन. यू., नई दिल्ली । केन्द्रीय पुस्तकालय, जे. एन. यू., नई दिल्ली । श्रीलालबहादुरशास्त्री विद्यापीठ पुस्तकालय, नई दिल्ली । राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान पुस्तकालय, नई दिल्ली । इन्दिरा गांधी कला केन्द्र पुस्तकालय, नई दिल्ली । दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय, दिल्ली । बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय पुस्तकालय, वाराणसी । संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय पुस्तकालय, वाराणसी । कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, पुस्तकालय, दरभङ्गा, बिहार । पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पटना, बिहार । कश्मीर विश्वविद्यालय पुस्तकालय, श्रीनगर (काश्मीर) । देव संस्कृति विश्वविद्यालय पुस्तकालय, हरिद्वार (उत्तरांचल) । काशी हिन्दू विद्यापीठ पुस्तकालय, वाराणसी । जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी पुस्तकालय, वाराणसी, इत्यादि ।

१.८ शोध शीर्षक की सार्थकता

प्रस्तुत शोध-प्रस्ताव का शीर्षक है - "भारतीय दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्परा के सन्दर्भ में वीरशैवमत का पर्यालोचन

भारतीय : भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा और इस भरत के देश भारत के नागरिक भारतीय कहलाते हैं । सम्प्रति भारतवर्ष नामधेय राष्ट्र के निवासी या नागरिक को भारतीय अभिधान से सम्बोधित किया जाता है । भारतवर्ष से सम्बन्धित तथ्यों को भी भारतीय (Indian) कहा जाता है ।

दार्शनिक : दर्शन का सामान्य अर्थ देखना होता है किन्तु इस अवलोकन की प्रक्रिया में बाह्य और अन्तर द्विविध पक्ष उपस्थित होते हैं, जो उसकी स्थूलता तथा सूक्ष्मता दोनो को प्रश्रय देते हैं । दृष्टिभेद के कारण ही भिन्न-भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का उद्भव होता है । कुछ सम्प्रदाय उसकी स्थूलता को प्राथमिकता देते हैं, तो कुछ सूक्ष्मता को । इस प्रकार दर्शन स्थूल से सूक्ष्म पर्यन्त सम्पूर्ण ज्ञान की चिन्तन सरणि है । इस दर्शन से सम्बन्धित तथ्यों को दार्शनिक अभिधान से अभिहित किया जाता है ।

सांस्कृतिक : जो हमें संस्कृत करती है वह संस्कृति पद से अभिहित होती है । संस्कृत भाषा के अन्तर्गत सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु और क्तिन् प्रत्यय से निष्पन्न संस्कृति शब्द व्यापक अर्थ का बोधक है । तत्सम्बन्धी विषय सांस्कृतिक कहलाते हैं ।

वीर :- इस दर्शन के वीर नामकरण के विषय में कहा गया है-

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका ।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मता : ॥[50]

[50] सि. शि. म., ५/१६

तदनुसार वी शब्द शिव एवं जीव की एकात्मिका विद्या का बोधक है तथा उस विद्या में जो रमण करते है, वे वीर कहलाते हैं।

शैवमत :- शिव को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार करनेवाले शैव कहलाते हैं एवं शिव से सम्बन्धित मत को शैवमत पद से अभिहित किया जाता है।

पर्यालोचन :- पर्यालोचन से तात्पर्य उस तथ्य की उचित आलोचना से है। आलोचना का अभिप्राय किसी भी तथ्य के पक्ष अथवा विपक्ष का समर्थन न करते हुये उसकी सत्यता का प्रकाशन करना होता है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्परा के सन्दर्भ में वीरशैवमत का पर्यालोचन करना प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रमुख उद्देश्य है।

द्वितीय अध्याय : भारतीय दर्शन और संस्कृति का परिचय

२.१ दर्शन

दर्शन दृष्टि प्रदान करने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है और यह एक ऐसा उपादान है जिसके द्वारा व्यक्ति न केवल भौतिक जगत् के जीवन की अपितु इसके पश्चात् के जीवन की भी तार्किक प्रस्तुति करता है। पाणिनिकृत धातुपाठ में परिगणित दृशिर् प्रेक्षणे[1] धातु से ल्युट् प्रत्ययपूर्वक करण अर्थ में अन् आदेशपूर्वक निष्पन्न दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति है "दृश्यते येन तद्दर्शनम्" अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाये उसे दर्शन कहते हैं। एक और व्युत्पत्ति भाव अर्थ में भी है। तदनुसार "दृश्यते यत् तद्दर्शनम्" अर्थात् जो या जिसको देखा जाये वह दर्शन है। एक में दर्शन पद साधन है तो अपर में साध्य भी है। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार दर्शन शब्द करण अर्थ में प्रयुक्त है तो द्वितीय व्युत्पत्तिपरक अर्थ के अनुसार दर्शन का तात्पर्य सत्ता है। दर्शन शब्द की ये दोनों व्युत्पत्तियाँ यौगिक हैं। देखने की प्रक्रिया द्विविध होती है - प्रथम द्रष्टा के द्वारा तथा द्वितीय इन्द्रिय से सम्बद्ध अन्त:करण के द्वारा। द्रष्टा की दर्शन क्रिया से अन्त:करण का तथा इन्द्रिय से सम्बन्ध अन्त:करण की दर्शन क्रिया से बाह्य एवं आन्तरिक जगत् का ज्ञान होता है। द्रष्टा की दर्शन क्रिया नित्यदृष्टि तथा इन्द्रिय से सम्बद्ध अन्त:करण की दर्शन क्रिया अनित्यदृष्टि है।[2] इन दोनों ही दर्शन प्रक्रियाओं से संसार की किसी भी वस्तु का ज्ञान होता है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के अनुसार द्रष्टा एवं इन्द्रिय से सम्बद्ध अन्त:करण को ही दर्शन कहा जा सकता है और यही दर्शन का यौगिकार्थ है।[3] इसी तथ्य का समर्थन योगसूत्रव्यासभाष्य भी करता है।[4] पाशुपतसूत्र के टीकाकार ने सिद्ध विषय ज्ञान को दर्शन का लक्षण माना है।[5]

---

[1] पा. धा., १/११४३

[2] न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् बृहद्. उ., ४/३/२३। दृष्टिरिति द्विविधा भवति लौकिकी पारमार्थिकी चेति। तत्र लौकिकी चक्षु:संयुक्ता अन्त:करणवृत्ति:, सा क्रियत इति जायते विनश्यति च। या स्वात्मनो दृष्टि: अग्न्युष्णप्रकाशादिवत्, सा च द्रष्टु: स्वरूपत्वान्न जायते विनश्यति च। बृहद्. उ., शा. भा., ३/४/२

[3] सां. द., प., पृ. सं. १०

[4] एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम्, यो. सू. व्या. भा., १/४

[5] दूरदर्शनश्रवणमननविज्ञानानि चास्य प्रवर्तन्ते। दूरं नाम यदेतद् दर्शनाद्यं विकरणान्तं माहेश्वरमैश्वर्यम् अनेन कदाचित्पूर्वक तस्मिंस्तत्प्राप्तौ च। दर्शनश्रवणमननविज्ञानसर्वज्ञत्वमनोजवित्वकामरूपित्वविकरण-त्वान्यष्टसूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टाशेषचाक्षुषस्पर्शादिविषयज्ञानं दर्शनम्। अशेषशब्दविषयं सिद्धिज्ञानं श्रवणम्। समस्तचिन्ताविषयं सिद्धिज्ञानं मननम्। निरवशेषशास्त्रविषयं ग्रन्थतोऽर्थतश्च सिद्धिज्ञानं विज्ञानं स्वशास्त्रं येनोच्यते। उक्तानुक्ताशेषार्थेषु समासविस्तरविभागविशेषतश्च तत्त्वव्याप्तसदोदितसिद्धिज्ञानं सर्वज्ञत्वम्, पा. सू. १/२१, पृ. सं. २९

श्रीकरभाष्य के मत में स्वात्मप्रत्यक्ष ही दर्शन है ।[6] द्रष्टा एवं इन्द्रिय से सम्बद्ध अन्त:करण के द्वारा दर्शन की क्रिया के अनन्तर उत्पन्न ज्ञान का व्याख्यान भी किया जाता है । इस प्रकार के व्याख्यानों से निर्मित ग्रन्थों के द्वारा जिज्ञासुजन ज्ञान प्राप्त करते हैं । इस दृष्टि से शब्दराशि ग्रन्थ भी दर्शनशास्त्र का द्योतक है । यह दर्शन का रूढ़ार्थ है । व्युत्पत्ति की अपेक्षा रूढ़ अर्थ प्रधान होता है । अत: दर्शन शब्द दर्शनशास्त्र के अर्थ में ही प्रसिद्ध है । दर्शन के क्षेत्र में मुख्य रूप से तत्त्व के स्वरूप, ज्ञान, ज्ञान के साधन, ज्ञान की प्रमाणिकता आदि तथा आचार के विभिन्न बिन्दुओं यथा कर्म, कर्मफल, कर्मस्वातन्त्र्य आदि का विशेष अध्ययन किया जाता है । इस प्रकार दर्शनशास्त्र वह विधा है जिसके द्वारा तत्त्व, ज्ञान तथा आचार सम्बन्धी विषयों का अध्ययन कर संसार का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जाता है ।[7] इसके द्वारा मनुष्य एकान्तिक और आत्यन्तिक दु:खनिवृत्ति को प्राप्त करता है ; जिसे मोक्ष, निर्वाण, नि:श्रेयस, अपवर्ग आदि की संज्ञा प्रदान की गयी है । अन्तत: दर्शन शब्द व्युत्पत्तिपरक अर्थ के अनुसार ऐसे साधन का अवबोध कराता है जिसके द्वारा व्यक्ति संसार के सम्पूर्ण ज्ञान का अवबोध तार्किक और आनुभविक रूप से कर सके और रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त दर्शनशास्त्र[8] ऐसे अर्थ को अभिव्यक्त करता है, जो प्रवृत्ति या निवृत्ति का साधन है । आचार्य मनु के मत में सम्यक् दर्शन प्राप्त होने पर कर्म मनुष्य को बन्धन में नहीं डालता । जिनको यह समदृष्टि नहीं है, वह संसार के जाल में फँस जाता है ।[9] वास्तविक रूप में जब हम संसार की सभी वस्तुओं, जीवों, वनस्पतियों, प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय को अपने ही स्वरूप से तादात्म्य कर लें यही समदृष्टि या एकत्व ही वास्तविक दर्शन है । इसी परिप्रेक्ष्य में डॉ. राधाकृष्णन् ने दर्शन को जीवन का मार्ग (Way of Life) कहा है ।[10]

पाश्चात्य दार्शनिकों के मत में दर्शन के अमूर्त संप्रत्यय का अन्वेषण करना दुर्लभ है तथापि इस दुरुह कार्य के लिये प्रयत्न किये गये हैं । दर्शन के अमूर्त ज्ञान के अध्ययन के विषय सम्पूर्ण विश्व, विश्व की वस्तुयें तथा घटनायें आदि हैं । सुकरात ने दर्शन को स्वज्ञान (Know yourself) का साधन कहा है । प्लेटो ने दर्शन को आश्चर्यों का विज्ञान माना है । पाइथा-गोरस के मत में दर्शन ज्ञान की खोज है । सॉफिस्टों ने ज्ञान को ही दर्शन मान लिया है । फेरियर ने दर्शन को निरपेक्ष सत्य का अन्वेषण माना है ।[11] जॉन ड्यूवी ने दर्शन को मानव जीवन के व्यवहार को प्रभावित करनेवाला ज्ञान कहा है । विटगेन्स्टाइन के अनुसार दर्शन शब्दों, प्रतिज्ञप्तियों (तर्कवाक्यों) आदि के स्पष्टीकरण का साधन है । ब्रादोव के शब्दों में दर्शन

---

6 अत्र स्वात्मप्रत्यक्षमेव दर्शनशब्देनाभिधीयते, ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू., पृ. सं. २

7 सां. द. प. पृ. सं. १०-११

8 प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुंसा येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥ शंसनात् शासनात् वा शास्त्रम्, मी. सू. शा. भा. भू. पृ. सं. १,

9 सम्यक् दर्शनसम्पन्न: कर्मभिर्न निबद्ध्यते । दर्शनेन विहीनस्तु संसार प्रतिपद्यते ॥ मनु. ३/१२

10 आ. पा. द. चा. धा. आ. पृ. सं. ii

11 वहीं, पृ. सं. i

सामाजिक चेतना का रूप है, वह सत्ता और ज्ञान के सामान्य नियमों तथा अस्तित्व और विचार के सम्बन्ध को बतलाता है ।[12]

२.१.१ भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय

भारतीय दर्शन स्थूल से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म सभी प्रकार के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु रहा है । यहाँ सृष्टि के सभी तत्त्वों की समुचित मीमांसा की गयी है । तदनुसार पृथिवी सबसे स्थूल तत्त्व तथा परमात्म तत्त्व सबसे सूक्ष्म माना गया है । फलत: कुछ सम्प्रदाय केवल चैतन्य की सत्ता मानते हैं तो कुछ सम्प्रदाय के मत में जड़ एवं चेतन दोनों की सत्ता इस सृष्टि में विद्यमान है । चार्वाक दर्शन के अनुसार जड़ से ही संपूर्ण सृष्टि का आविर्भाव हुआ है तो अद्वैतवेदान्त दर्शन के मत में एकमात्र चैतन्य से ही इस सृष्टि की संरचना हुयी है । इन सभी सत्ताविषयक प्रश्नों और परिप्रश्नों ने पृथक्-पृथक् रूप से विभिन्न सम्प्रदाय को जन्म दिया और उसकी तार्किक प्रस्तुति के लिये वाद-विवाद हुये । इन वाद-विवादों के फलस्वरूप अध्ययन की एक स्वस्थ विचारधारा भी विकसित हुयी और यह केवल बुद्धि का विलास ही नहीं था अपितु व्यवहारिक भी था । तदनुसार जो तथ्य प्रामाणित हो जाते थे, उन्हीं तथ्यों का अनुपालन समाज करता था । इसके कारण अनेक समाज को अनेक मतों का अवलम्बन करना पड़ा । सब सम्प्रदाय दु:ख की निवृत्ति की कामना करते थे किन्तु प्रत्येक की चिन्तन पद्धति भिन्न थी । सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रक्रिया का यह था कि इन वाद-विवादों के फलस्वरूप अनेक चिन्तन धाराओं का विकास हो पाया । सबलोग बुद्धि का प्रयोग समाज के हित में ही करना चाहते थे । सभी सम्प्रदाय समाज को उचित दिशा देने का प्रयत्न करते थे । इन सबके कारण जिन सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ, उसको प्रमुख रूप से दो भागों में विभाजित किया जाता है -

आस्तिक :- जो वेद, ईश्वरीय सत्ता और पुनर्जन्म में विश्वास करता है ।

नास्तिक :- जो वेद, ईश्वरीय सत्ता और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता है ।

सामान्यत: चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन को नास्तिक तथा न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा को आस्तिक दर्शन कहते हैं । आठवीं शती के एक जैन विद्वान् हरिभद्र सूरि ने अपने षड्दर्शनसमुच्चय नामक सङ्ग्रह ग्रन्थ में बौद्ध, न्याय, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शन को समाहित किया है । आचार्य शङ्कर कृत सर्वसिद्धान्त-सङ्ग्रह ग्रन्थ में लोकायतिकपक्ष, आर्हत (जैन) पक्ष, बौद्ध (माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक) पक्ष, वैशेषिकपक्ष, नैयायिकपक्ष, प्रभाकरपक्ष, भट्टाचार्यपक्ष, सांख्यपक्ष, पतञ्जलिपक्ष, वेदव्यासपक्ष एवं वेदान्तपक्ष नाम से चतुर्दश दार्शनिक शाखायें समाविष्ट की गयी हैं । तेरहवीं शती में माधवाचार्य कृत सर्वदर्शनसङ्ग्रह नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में चार्वाक, बौद्ध, आर्हत (जैन), रामानुज (विशिष्टाद्वैत), पूर्णप्रज्ञ (द्वैत), नकुलीशपाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा (काश्मीरशैव), रसेश्वर (आयुर्वेद), औलुक्य (वैशेषिक), जैमिनि (मीमांसा), पाणिनि

---

[12] आ. पा. द. चा. धा. आ., पृ. सं. ii

(व्याकरण), सांख्य, पातञ्जल तथा शाङ्कर अभिधान से सोलह दार्शनिक शाखाओं के सिद्धान्तों का समावेश किया गया है। मधुसूदन सरस्वती (१५४०-१६४७ ई.) कृत प्रस्थान-भेद में न्याय, वैशेषिक, कर्ममीमांसा, शारीरकमीमांसा, पातञ्जल, पाञ्चरात्र (वैष्णव), पाशुपत, बौद्ध, दिगम्बर, चार्वाक, सांख्य एवं औपनिषद इन द्वादश दार्शनिक शाखाओं का विवेचन किया गया है। श्रीपादशास्त्री हसूरकर विरचित भारतीय दर्शन एवं दिग्दर्शन में चार्वाक, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार, माध्यमिक, जैन, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा (श्रीमध्वाचार्यमत, श्रीरामानुजाचार्यमत, श्रीवल्लभाचार्यमत तथा श्रीशङ्कराचार्यमत) इन द्वादश दार्शनिक शाखाओं का विवेचन उपलब्ध है। एतदतिरिक्त उपलब्ध दार्शनिक सङ्ग्रह ग्रन्थों में किसी अज्ञात जैनाचार्य द्वारा विरचित सर्वसिद्धान्तप्रवेशक के अन्तर्गत न्याय, वैशेषिक, जैन, सांख्य, बौद्ध, मीमांसा और लोकायत इन सात दार्शनिक शाखाओं का उल्लेख, आचार्य जिनदत्त सूरि कृत विवेकविलास के अष्टम उल्लास के अन्तर्गत जैन, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य, न्याय, वैशेषिक और नास्तिक दर्शनों पर विचार किया गया है। सर्वदर्शनकौमुदी के रचयिता माधव सरस्वती (चौदहवीं शती) ने योग, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, भाट्टमीमांसा, प्राभाकर-मीमांसा, उत्तरमीमांसा, शब्दमीमांसा (व्याकरण), चार्वाक, आर्हत, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक नामक चौदह दार्शनिक शाखाओं का उल्लेख किया है। राजशेखर (१४०५ ई.) कृत षड्दर्शनसमुच्चय में जैन, सांख्य, जैमिनीय (पूर्वमीमांसा), योग, वैशेषिक तथा सौगत (बौद्ध) इन छह दार्शनिक शाखाओं के विवेचन के साथ चार्वाक दर्शन का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है। मेरुतुङ्ग (१४वीं शती का उत्तरार्ध) कृत षड्दर्शन-निर्णय नामक ग्रन्थ में छह दार्शनिक शाखाओं बौद्ध, मीमांसा (उत्तरमीमांसासहित), सांख्य, न्याय, वैशेषिक एवं जैन का विवेचन है। किसी अज्ञात जैन विद्वान् कृत लघु-षड्दर्शनसमुच्चय में जैन, न्याय, बौद्ध, काणाद (वैशेषिक), जैमिनीय (पूर्वमीमांसा), सांख्य एवं नास्तिक (चार्वाक) का अतिसंक्षिप्त विवेचन है। इसके अतिरिक्त रङ्गनाथ मिश्र कृत प्रत्यभिज्ञाप्रदीप नामक ग्रन्थ में चार्वाक, जैन, बौद्ध, वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा आदि दर्शनों के प्रमुख सिद्धान्त को संक्षिप्तरूप में विवेचित किया है। सम्प्रति प्राय: भारतीय दर्शन की शाखाओं की सूची[13] निम्नलिखित है -

क्रम संख्या	**सिद्धान्त का नाम**	**संस्थापक का नाम**	**प्रधान ग्रन्थ का नाम**	**समय**
१.	चार्वाक दर्शन[14]	चार्वाक/बृहस्पति	बृहस्पतिसूत्र या तत्त्वोपप्लवसिंह	अज्ञात

[13] सां. द. प. पृ. सं. २३-२४

[14] चार्वाका नास्तिका: ख्याता वेदनिन्दापरायणा:। अधिभूतसुखासक्ता जडा देहात्मवादिन: ॥
चार्वाकदर्शनाचार्यं आसीत्कश्चिद् बृहस्पति:। प्रत्यक्षमात्रविश्वासो नास्तिको वेदनिन्दक: ॥
चार्वाकनाम्ना दैत्येन दर्शनं तत्प्रचारितम्। अतस्तस्याभवन्नाम चारु चार्वाकदर्शनम् ॥
यदीयचारुवाक्येन संक्षिप्तेनापि सत्वरम्। जना: सर्वे समाकृष्टा: स चार्वाकोऽभिधीयते ॥
लोकायतेति संज्ञाऽभूत् चार्वाकस्यैव धीमत:। लोके तदीय सिद्धान्तप्रचारात्प्रचुरात्पुरा ॥

२.	श्वेताम्बरजैन (जैन दर्शन[15])	उमास्वाती	तत्त्वार्थाधिगमसूत्र	अज्ञात
३.	दिगम्बरजैन (जैन दर्शन[16])	अज्ञात	अज्ञात	अज्ञात
४.	वैभाषिक (बौद्ध दर्शन[17])	कात्यायनीपुत्र	ज्ञानप्रस्थानशास्त्र	२०० विक्रम

जीवनस्यान्तिमं ध्येयं लौकिकं सुखमेव हि । नैवेश्वरो मतेऽमुष्य परलोककथा वृथा ॥
भूवारितेज:पवनैर्भूतैरेवोपजायते । जगद्विचित्रं चैतन्यं भूतसंयोगमात्रत: ॥
आत्मा शरीरं चैतन्यविशिष्टं, न परो मत: । स्वभावाज्जगदुत्पत्तिस्तद्विनाशश्च जायते ॥
केवलं मरणं मोक्ष: पापं नैव कथञ्चन । स्वभाववादो विज्ञेयो दर्शनेऽस्मिन्ननीश्वरे ॥
वेदाश्च रचिता धूर्तैर्वञ्चकैश्च त्रिदण्डिभि: । जीविकारक्षणायैव कर्मकाण्डव्यवस्थिति: ॥
सुखमेवास्ति सर्वस्वं ललनालिङ्गनोद्भवम् । घातजातव्यथाजन्यं दु:खं निरयनामभाक् ॥
शरीरमात्मा स्थूलोऽहमिति लौकिकवाक्यत: । विनाशश्च शरीरस्य मुक्तिरित्यभिधीयते ॥
प्रमाणमेकं प्रत्यक्षं दर्शनेऽस्मिन् प्रकीर्तितम् । स्वातिरिक्तानि भूतानि चैतन्यं भूतयोगत: ॥
नचैवास्तीश्वर: कश्चित्स्वभावाल्लोकसम्भव: । वर्णानामाश्रमाणाञ्च व्यवस्था निष्फला मता ॥
पशुर्यज्ञहत: स्वर्गं यदि गच्छति सत्वरम् ॥ तदा कस्मान्न जनक: स्वर्गलाभाय हन्यते ॥
याति जीवोऽपरं लोकं यदि देहाद् विनिर्गत: । पुनरायाति नो कस्माजातुचित् प्रेमविह्वल: ॥
यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत: ॥
प्र. प्र. प. श्लो. सं. १-१७, पृ. सं. ४९-५१

[15] जैनदर्शनमाख्यातं प्राचीनं बौद्धदर्शनात् । शास्त्रेऽस्मिन्नर्हतो भिन्नं नास्ति ब्रह्म न वेश्वर: ॥
अहिंसा परमो धर्मो जैनदर्शसम्मत: । पिपीलिकाया हत्याऽपि ब्रह्महत्यासमा स्मृता ॥
जैनास्तीर्थङ्करा आसन् चतुर्विंशतिसंख्यका: । विख्याता धर्ममर्मज्ञा जैनधर्मप्रचारका: ॥
आद्यस्तीर्थङ्करो विज्ञो जैनधर्मप्रवर्तक: । अभूदृषभदेवाख्यो मुनिधर्मपरायणा: ॥
अन्तिमौ द्वावतिख्यातौ पार्श्वनाथाभिधस्तथा । महावीराभिधश्चापि जैनधर्मोपदेशकौ ॥
भद्रबाहु: सिद्धसेनो हरिभद्रस्तथैव च । हेमचन्द्र: प्रभाचन्दो जैनदार्शनिका मता: ॥
जैनधर्मस्य सिद्धान्तभाषा ज्ञेयोऽर्धमागधी । श्रद्धाऽज्ञानचरित्रैश्च मुक्ति: करतलस्थिता ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ । सद्यश्चरित्रलाभाय युक्तैर्युक्ततमा मता: ॥
सच्चरित्रपवित्रेऽस्मिन्नुपास्ये जैनदर्शने । सप्तभङ्गीनयो नित्यं स्याद्वादश्च विराजत: ॥
स्यादित्ययं निपातोऽस्ति सदाऽविश्वासवाचक: । इदमीदृशमेवेति न जिनस्य मति: स्थिरा ॥ वही, श्लो. सं. १-१०, पृ. सं. ५१-५१

[16] प्रमुख सिद्धान्त उपर्युक्त मतानुसार

[17] शकाब्दारम्भत: पूर्वं सप्तमे शतकेऽजनि । बुद्धदेवो महाप्राज्ञो बौद्धधर्मप्रवर्तक: ॥
सिद्धार्थस्तस्य नामासीत् पिता शुद्धोदनोऽभवत् । माया देवी च जननी भार्या ख्याता यशोधरा ॥
तत्र बौद्धाश्च चत्वारो मता सौत्रान्तिकाभिधा: । योगाचारास्तथा माध्यमिका वैभाषिकाख्यका: ॥
प्रधानशिष्याश्चत्वारो बुद्धदेवस्य वर्णिता: । बुद्धदेवोपदेशस्तु तेषां मध्ये पुराऽभवत् ॥
क्षणिकं क्षणिकं सर्वं दु:खं दुखं स्वलक्षणम् । स्वलक्षणं सर्वभावं शून्यं शून्यं विचारयेत् ॥
अभावस्योपदेशस्य स्वस्वबुध्यनुसारत: । गृहीतवन्तश्चत्वारो विनेयास्ते महात्मन: ॥
ज्ञानं ज्ञेयं च प्रत्यक्षं द्वयं वैभाषिका विदु: । सौत्रान्तिकास्तु ज्ञेयार्थं मन्यन्ते चानुमानत: ॥
केवलं ज्ञानमेवास्ति योगाचारै: सुनिश्चितम् । सर्वे घटादयो ज्ञेयपदार्थो ज्ञानरूपिण: ॥
ज्ञानं ज्ञेयमुभे शून्ये तयो: सत्ता भ्रमात्मिका । ज्ञानं शून्यमिदं सर्वमिति माध्यमिका विदु: ॥

				संवत्
५.	सौत्रान्तिक (बौद्ध दर्शन[18])	कुमारलात	कल्पनामण्डितिका	२०० ई.
६.	योगाचार या विज्ञानवाद (बौद्ध दर्शन[19])	मैत्रेयनाथ	अभिसमयाङ्कारिका	अज्ञात
७.	शून्यवाद या माध्यमिक (बौद्ध दर्शन[20])	नागार्जुन	माध्यमिककारिका	४०० ई.
८.	वैशेषिकदर्शन[21]	कणाद	वैशेषिकसूत्र	४०० ई. पू.

हीनयानं महायानमिति बौद्धं मतद्वयम् । अहिंसा परमो धर्मो वर्णितोऽस्त्यत्र निर्मल: ॥
क्षणिकत्वस्य विज्ञानमात्मज्ञानमिहोच्यते । प्रामाण्यं परतो ज्ञाने मोक्षश्चात्मलयो: मत: ॥
नागार्जुनश्च मैत्रेयो वसुबन्धुस्तथैव च । दिङ्नागो धर्मकीर्तिश्च बौद्धदार्शनिका मता: ॥
बुद्धसंस्थापितो धर्मो बौद्धधर्मोऽभिधीयते । बुद्धोपदेशोऽमृतवत् पालिभाषामयो महान् ॥
मूलग्रन्थस्त्रिपिटकाख्यकोऽस्य बहु भासते । सन्त्यङ्किता महायानधर्मग्रन्थाश्च संस्कृते ॥
प्राधान्येनास्य ग्रन्थस्य सम्प्रदायचतुष्टयम् । वैभाषिकोऽभूत्प्रथम: पर: सौत्रान्तिक: स्मृत: ॥
तृतीयो योगाचाराख्यस्तुर्यो माध्यमिकाभिध: । सर्वास्तिवाद: प्रथमे प्रत्यक्षस्य प्रभावत: ॥
अनुमानप्रभावेण पूर्ववादोऽभिजायते । सम्प्रदाये द्वितीयेऽपि सौम्ये सौत्रान्तिकाभिधे ॥
योगाचारमते भाति वादो विज्ञाननामक: । विज्ञानमथवा चित्तं तत्र सत्यं प्रतीयते ॥
सम्प्रदाये चतुर्थे तु शून्यवादो विराजते । तन्मते जगत: सर्वे पदार्था: शून्यरूपिण: ॥
अयमत्र श्लोकसङ्ग्रह: -
मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्, योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिल: ।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिक:, प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ॥
लोकायतार्हतौ लोके केचित् कापालिकादय: । एवमन्येऽपि विद्यन्ते नास्तिका वेदनिन्दका: ॥
प्र. प्र. प., श्लो. सं. १-२१, पृ. सं. ५२-५४

[18] प्रमुख सिद्धान्त उपर्युक्त मतानुसार

[19] प्रमुख सिद्धान्त उपर्युक्त मतानुसार

[20] प्रमुख सिद्धान्त उपर्युक्त मतानुसार

[21] द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे । यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदु: ॥
कणाददर्शनं चैतत्तथा चौलूक्यदर्शनम् । उलूकस्य ऋषे: पुत्र औलूक्य: परिकीर्तित: ॥
कपोतवृत्तिं विदधद् रथ्यानिपतितान् कणान् । तण्डुलानां सुखं खादन् कणभक्ष इति स्मृत:॥
पदार्थान् शिक्षयामास धृत्वोलूकस्य विग्रहम् । यमीश्वरस्तमौलूक्यं मुनिवर्या: प्रचक्षते ॥
प्रशस्तपादरचितं महाभाष्यं विराजते । व्योमाचार्यकृता टीका तस्य व्योमवती मता ॥
वैशेषिकस्य तात्पर्यं बाह्यलोकसमीक्षणे । पदार्था: स्वीकृता सप्त श्रीकणादमनीषया ॥
कणभुङ्निर्मितं शास्त्रं विक्रमार्कात् पुरातनम् । एतच्छास्त्रमहाचार्या ग्रन्थाश्च बहवो मता: ॥
विशेषस्य पदार्थस्य विशेषणोपवर्णनात् । नाम्ना वैशेषिकं शास्त्रं सार्थकीकुरुते स्वकम् ॥ प्र. प्र. प. , श्लो. सं. १-८, पृ. सं. ४१-४२

९.	प्राचीनन्याय (न्याय दर्शन[22])	गौतम	न्यायसूत्र	३०० ई. पू.
१०.	नव्यन्याय (न्याय दर्शन[23])	गङ्गेशोपाध्याय	तत्त्वचिन्तामणि	१३२५ ई.
११.	सांख्यदर्शन[24]	कपिल	सांख्यसूत्र	७०० ई.

---

[22] गौतमस्यापरं नाम अक्षपाद इति स्मृतम् । तत्कृतं दर्शनं चाक्षपाददर्शननामभाक् ॥
गौतमेन प्रतिज्ञातं व्यासं स्वमतदूषकम् । द्रक्ष्यामि चक्षुषा नैव कदाचिदिति मन्युना ॥
किञ्चित्काले गते तेन व्यासेनैव प्रसादित: । विधाय गौतम: पादे प्रेम्णाऽपश्यद्विलोचनम् ॥
अक्षपादोऽभवल्लोके तत्प्रभृत्येव गौतम: । न्यायसिद्धान्तसम्पद्भिर्विश्रुतश्च बहुश्रुत: ॥
न्यायदर्शनमप्येतद् द्विविधं परिकीर्त्यते । प्राच्यनवविभेदेन विपश्चित्प्रवरै: समै: ॥
प्राच्यं तु गौतमाचार्यप्रणीतं बहुनिर्मलम् । नव्यञ्च मैथिलोपाध्यायगङ्गेशोपवर्णितम् ॥
शताब्द्यां विक्रमार्कस्य द्वादश्यां मिथिलाभिधे । नव्यन्यायावतारोऽभूद् देशे सर्वमनोरमे ॥
प्राक्तन्यायसूत्राणां गौतमाचार्ययत्नत: । रचना विक्रमात्पूर्वं चतुर्थशतकेऽभवत् ॥
गौतमाचार्यरचितन्यायदर्शनभाष्यकृत् । वात्स्यायनो विक्रमस्य द्वितीयशतके ह्यभूत् ॥
दिङ्नागो बुद्धसंख्यावान् न्यायभाष्यमखण्डयत् । विगर्वं षष्ठशतके तमुद्योतकरो व्यधात् ॥
प्रमाणवार्तिकद्वारा धर्मकीर्तिमहायशा: । उद्योतकरं स्वधियाऽखण्डयत्पुन: ॥
नवमे शतके वाचस्पतितात्पर्यटीकया । उद्योतकरसिद्धान्तं प्रज्ञाभिश्चान्वमोदयत् ॥
छिन्ना जयन्तभट्टेन विलिख्य न्यायमञ्जरीम् । चार्वाकबौद्धमीमांसावेदान्तस्थिरसम्मति: ॥
स्पष्टीचकारोदयन: वाचस्पतिविपश्चित: । तात्पर्यपरिशुद्ध्याख्यटीकया निर्मलं वच: ॥
दशमे शतके सीताजनेन पवित्रिते । मिथिलानामके देशे वसतोऽमुष्य संवसन् ॥
न्यायभाष्यकृतो नाम पक्षिलश्च निगद्यते । पक्षयत्यञ्जसा तत्त्वज्ञानं य: स च पक्षिल: ॥
परिग्रहार्थकात् पक्षधातोर्बाहुलकाद् बुधै: । पक्षिलस्य तु सिध्यर्थं कर्तरीलज् विधीयते ॥
आन्वीक्षिकी न्यायविद्या पण्डितै: परिकीर्तिता: । अनुमानञ्च अन्वीक्षा तद्विधान्वीक्षिकी मता ।
प्रत्यक्षादागमाच्चापि पश्चाद् या प्रभवत्यसौ । अन्वीक्षा कीर्तिता लोके अनुमानाभिधानत: ॥
प्रदीप: सर्वविद्यानामुपाय: सर्वकर्मणाम् । आश्रय: सर्वधर्माणां शाश्वदान्वीक्षिकी मता ॥
यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्ति: प्रत्यगात्मनि । सा सैव प्रक्रिया साध्वी विपरीता ततोऽन्यथा ॥
अक्षपादप्रणीतो हि विततो न्यायपादप: । सान्द्रामृतरसस्यन्दफलसन्दर्भनिर्भर: ॥
षोडके शतके चिन्तामणि गङ्गेशनिर्मितम् । दीधित्या भूषयामास रघुनाथशिरोमणि: ॥
तर्कवागीशमथुरानाथश्चिन्तामणेस्तथा । दीधित्या रचयामास रहस्यं सद्विवेकत: ॥
जगदीशेन रचिता जागदीशी सुविस्तृता । शतके सप्तदशके महाचार्येण धीमता ॥
गदाधरेण रचिता व्याख्या गादाधरी तदा । भट्टाचार्येण सुधिया स्वधिया प्रतिभावता ॥
न्यायसिद्धान्त: - परमाण्वीश्वरात्माद्या विश्वमूले सनातना: । पदार्था: सन्ति जगत: सत्ता येभ्य: प्रवर्तते ॥
सदेव वस्तुतो लोकैर्दृश्यमानमिदं जगत् । परमाणुरुपादानं निमित्तं परमेश्वर: ॥
साक्षादनुपलब्धोऽपि सर्वैरेवानुमीयते । जगन्निमित्तं सततमीश्वरो व्यापकोऽव्यय: ॥
ईश्वरेच्छावशादेव परेण सह सङ्गत: । द्वयणुकोत्पत्तिकार्येऽसौ परमाणु: सदा प्रभु: ॥
द्वयणुकानां च संयोगात् त्र्यणुकोत्पत्तिरिष्यते । एवं खादिक्रमेणैव सर्वतत्त्वानि जज्ञिरे ॥
न्यायसम्मतनिर्वाणे साम्यावस्थं मनो भवेत् । सुखदु:खादिरहितं निष्प्रपञ्चं निरन्तरम् ॥ प्र. प्र. प. , श्लो. सं. १-३२, पृ. सं. ३९-४१

[23] प्रमुख सिद्धान्त उपर्युक्त मतानुसार

[24] न्यायाद्वैशेषिकाद्वापि प्राच्यमेतन्निदर्शितम् । प्रकारैर्विविधैरत्र द्वैतमेवोपवर्ण्यते ॥

				पू.
१२.	योग दर्शन[25]	पतञ्जलि	योगसूत्र	२०० ई. पू.
१३.	भाट्टमीमांसा (मीमांसा दर्शन[26])	कुमारिलभट्ट	श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक आदि	६२०-७०० ई.

सम्बन्धाज्जगदुत्पत्ति: प्रकृते: पुरुषस्य च । पुरुषश्चेतनो नित्यं प्रकृतिस्तु जडा मता ॥
सत्कार्यवादसाम्राज्यं दर्शनेऽस्मिन् समीक्ष्यते । समृद्धं सर्वतस्तस्मान्नान्यवादोऽत्र युज्यते ॥
कारणेऽव्यक्तरूपेण सदा कार्यं विराजते । तदेव जातुचिद् कार्यं व्यक्तरूपेण भासते ॥
साम्यावस्था च प्रकृतिर्गुणानां गदिता बुधै: । वैषम्ये समनुप्राप्ते जगदेतत् प्रवर्तते ॥
जायते धीषणातत्त्वं प्रकृते: पुरुषस्य च । योगात्तस्मादहङ्कारस्त्रिगुण: समपद्यत ॥
सत्त्वप्रधानाहङ्कारादिन्द्रियाणि भवन्ति हि । तन्मात्रास्तामसात्तस्मात्ततो भूतसमुद्भव: ॥
उभयत्रापि साहाय्यं रजसो विनिवेदितम् । नाहङ्कारेऽन्यथा स्पन्द: संभवेत् सृष्टिसाधने ॥
धन्योऽयं कपिलाचार्य: सांख्यशास्त्रप्रवर्तक: । महोग्रतेजसां राशिर्महामान्यो मनीषिभि: ॥
प्रकृति: पुरुषश्चैव नित्यौ सांख्ये प्रकीर्तितौ । पुरुषा बहवो मूलप्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका ॥
महदाद्या: प्रकृतयस्तथा विकृतयो मता: । सप्तैव षोडशमिता विकाराश्च प्रकीर्तिता: ॥
चतुर्विंशतितत्त्वानि सांख्ये प्रोक्तानि सूरिभि: । पुरुष: प्रकृतिर्नैव न चापि विकृतिर्भवेत् ॥
पुरुष: प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् । मोहात्कर्तारमात्मानमकर्त्तारं च विन्दति ॥
निर्लेप: पुरुषो ज्ञात्वा प्रकृतिं विश्वमोहिनीम् । मुक्तो भवति विज्ञोऽसौ प्रकृतिर्विजहाति तम् ॥
द्वैतसिद्धान्तनिष्णाता ईश्वरे मौनमाश्रिता: । व्याक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानविज्ञा: सांख्या: प्रकिर्तिता: ॥
कपिलस्य मुनेर्ग्रन्थस्य समुपलभ्यते । सांख्यप्रवचनं तत्त्वसमासश्चापि विश्रुत: ॥
कपिलस्य मुने: शिष्य: स आसीदासुरिर्मुनि: । यस्य शिष्य: पञ्चशिख: षष्टितन्त्रकरोऽभवत् ॥
विदुषेश्वरकृष्णेन रचिता सांख्यकारिका । या प्राचीनतरा ख्याता सांख्यशास्त्रस्यकारिका ॥
यस्याष्टीका सांख्यतत्त्वकौमुदीनामिका कृता । श्रीवाचस्पतिमिश्रेण प्रसिद्धा सांख्यबोधिनी ॥
वृत्तिरस्तु सांख्यसूत्राणामनिरुद्धेन निर्मिता । सांख्यप्रवचनभाष्यं तु कृतं विज्ञानभिक्षुणा ॥ प्र. प्र. प. , श्लो. सं. १-२०, पृ. सं. ४२-४४

[25] सांख्यप्रवचनमित्येव योगनामापरं स्मृतम् । इदं सेश्वरमाख्यातं सांख्यशास्त्रं निरीश्वरम् ॥
प्राक्तनं सर्वतो रम्यं योगदर्शनमीरितम् । नाथाभिधे सम्प्रदाये प्रचारोऽस्य विशेषत: ॥
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य: पुरातन: । योगोपदेष्टा भगवान् प्रिययोग: पतञ्जलि: ॥
चित्तवृत्तिनिरोधस्तु योग: प्रोक्तो महर्षिभि: । ब्रह्मज्ञानं तु साष्टाङ्गयोगादेवोपजायते ॥
सांख्यदर्शनतुल्यस्तु ज्ञानांशोऽस्यास्ति वर्णित: । सर्वतो निर्गुण: शान्त ईश्वरोऽप्यत्र वर्णित: ॥
योगशास्त्र समाख्यातं सांख्यशास्त्रस्य पूरकम् । क्लेशकर्मविपाकादिरहितेश्वरवर्णनात् ॥
पतञ्जल्युपदिष्टस्य योगसूत्रस्य सन्मति: । व्यासो मुनिस्तु कृतवान् योगभाष्यमतिप्रियम् ॥
टीका वैशारदी रम्या योगभाष्यस्य सूरिणा । श्रीवाचस्पतिमिश्रेण रचिता विदुषां प्रिया ॥
सर्वदर्शनतत्त्वज्ञश्रीमद्विज्ञानभिक्षुणा । योगदर्शनसर्वस्वं रचितं योगवार्तिकम् ॥ वही , श्लो. सं. १-९, पृ. सं. ४४-४५

[26] वैदिकेषु विधानेषु विरुद्धेषु परस्परम् । विरोधपरिहाराय मीमांसादर्शनं कृतम् ॥
प्रधानं वस्तु कर्मैव संसारेऽस्मिन्न चेतरत् । यज्ञादिकर्म फलदं जैमिनिर्मुनिरब्रवीत् ॥
मीमांसकानां सिद्धान्ते शब्दानां नित्यता मता । शब्दार्थज्ञानलाभाय मीमांसाशास्त्रसंविद: ॥
प्रतिभाप्रतिमस्याभूत्प्रसिद्धयशसोऽमल: । वादोऽन्विताभिधानाख्य: प्रभाकरमहामते: ॥

१४.	प्राभाकरमीमां-सा (मीमांसा दर्शन[27])	प्रभाकर मिश्र	लघ्वी, बृहती	६५०-७२० ई.
१५.	मुरारिमीमांसा (मीमांसा दर्शन[28])	मुरारिमिश्र	त्रिपादीनीतिनय	११५०-१२२० ई.
१६.	रसेश्वरदर्शन[29] (आयुर्वेद)	चरक	चरकसंहिता	२०० ई. पू.
१७.	व्याकरणदर्शन[30] (पाणिनि)	भर्तृहरि	वाक्यपदीयम्	५०० ई.

कुमारिलस्य भट्टस्य वादो ह्यभिहितान्वय: ॥ शब्दार्थप्रतिपत्सिद्ध्या आवश्यक उदाहृत: ॥
मीमांसादर्शने बौद्धकृताक्षेपा: निराकृता: । सर्वाधिकानि सूत्राणि भान्ति गाम्भीर्यवन्ति ॥
विक्रमात्प्राक्तनं शास्त्रमिदं बोध्यं सुविस्तृतम् । शबरस्वामिना भाष्यमङ्कितं शाबराख्यकम् ॥
वृत्तिकृच्चोपर्षोऽभूत्सर्वविद्याविशारद: । प्रेम्णा प्रयत्नबाहुल्यात्समाराधितशारद: ॥
भाट्टमाद्यं गुरो: पश्चाद्मुरारेस्तदनन्तरम् । मतमत्र समुद्दिष्टं सर्वलोकोपकारकम् ॥
कुमारिलस्तु प्रथमं द्वितीयश्च प्रभाकर: । प्रावर्तयन्महाप्राज्ञो मुरारिर्मतमन्तिमम् ॥
कुमारिलस्य शिष्येण मिथिलामण्डनेन च । मान्यमण्डनमिश्रेण रक्षिता भाट्टसम्मित: ॥
शिष्यो विपश्चिदुम्बेको द्वितीयोऽभूदनन्तधी: । कुमारिलस्य भट्टस्य भवभूतिपराभिध: ॥
मिश्रोपाह्व: खण्डदेयो द्वितीय: पार्थसारथि: । तृतीयो माधवाचार्य: सायणाचार्यपूर्वज: ॥
भाट्टसिद्धान्तसन्मार्गमूलतत्त्वविशारदा: । त्रय एते समाख्याता बहवोऽन्येऽप्रधानत: ॥
कुमारिलस्य शिष्योऽयं पूर्वमासीत्प्रभाकर: । विचित्रकल्पनाशक्त्याभूद्गुरुस्तस्य धीमत: ॥
मतिमान् शालिको नाथ: गुरुसिद्धान्तदर्शक: । रचितानेन रम्या प्रकरणाद्या च पञ्चिका ॥
गुरोर्मतात्पृथक् भाट्टसम्मतेश्च मतं मतम् । मुरारेस्तेन लोकेऽध्वा तृतीयोऽभूज्जनश्रुतौ ॥ प्र. प्र. प. , श्लो. सं. १-१७, पृ. सं. ४५-४६

[27] प्रमुख सिद्धान्त उपर्युक्त मतानुसार

[28] प्रमुख सिद्धान्त उपर्युक्त मतानुसार

[29] देहपातोत्तरं मुक्तिरन्यत्रास्ति समीरिता । मुक्ति: प्रदर्श्यतेऽमुष्मिन् जीविताना‍श्च दर्शने ॥
ज्ञानान्मुक्तिस्तदभ्यासात् स्थिरदेहे च स स्मृत: । तस्माद् दिव्यशरीरास्यै सेवनीयोऽस्ति पारद: ॥
पारदो रसराजोऽयं विदधात्यजरामरम् । शरीरं स्वगुणैर्दिव्यै: सेवितस्तु यथाविधि ॥
भवदैन्यविनाशाय पारद: परिकीर्तित: । संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारद: स्मृत: ॥
पारदस्य च संस्कारा रसशास्त्रे निरूपिता: । स्वेदनाद्या महातन्त्रे रसज्ञानां महात्मनाम् ॥
शरीरं जरया जीर्णमाधिव्याधिनिकेतनम् । बुद्धीन्द्रियबलाभावं समाधौ नैव युज्यते ॥
शरीरमेव विद्यानां गृहं नैरुज्यसंयुतम् । धर्मार्थकाममोक्षाणां दृढं मूलमनुत्तमम् ॥
तस्माद् रसं सेवमानो महेश्वरपरायण: । समाधिनिष्ठो नितरां पुरुषार्थं प्रपूरयेत् ॥ वही , श्लो. सं. १-८, पृ. सं. ५५

[30] जगन्निदानं स्फोटाख्य: शब्दो ब्रह्मैव नापर: । नित्य एवायमखिलं प्रपञ्चं तनुतेतराम् ॥
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत: ॥
शब्दानुशासनं द्वारमपवर्गस्य विद्यते । पवित्रं सर्वविद्यानां वाङ्मलानां चिकित्सितम् ॥
स्फोट्सिद्ध्याख्यके ग्रन्थे स्फोटोऽयं परिचीयताम् । विद्वन्मूर्धन्यनागेशरचिते बुद्धिकौशले ॥

१८.	अद्वैतदर्शन[31]	शङ्कराचार्य	शारीरकभाष्य	७८८-८२० ई.
१९.	भेदाभेददर्शन[32]	भास्कराचार्य	भास्करभाष्य	१००० ई.
२०.	विशिष्टाद्वैतदर्शन[33]	रामानुजाचार्य[34]	श्रीभाष्य	१०१७-१११७ ई.
२१.	द्वैतदर्शन[35]	मध्वाचार्य[36]	पूर्णप्रज्ञभाष्य	१२३८-

सुन्दरं स्फोटसाम्राज्यं मञ्जुषादिषु राजते । जिज्ञासवो बुधास्तत्र विहरन्तु निजेच्छाया ॥
शब्दो ज्ञात: सदाभीष्ट: स्वर्गे लोके च यच्छति । शास्त्रान्वित: सुप्रयुक्त: सम्यगेकोऽपि सत्वरम् ॥
षट्स्वङ्गेषु च वेदानां मुखं व्याकरणं स्मृतम् । तस्माद् यत्नोऽत्र कर्तव्य: शब्दतत्त्वाप्तिहेतवे ॥
लौकिका: वैदिका: शब्दा: विनिर्दिष्टा: पृथक्-पृथक् । यत्र युक्त्या तदध्येयं शब्दशास्त्रं विशेषत: ॥
पातञ्जले महाभाष्ये शब्दशास्त्रप्रयोजनम् । विस्तराद् वर्णितं तस्मादध्येयं नान्यथा गति: ॥
वेदरक्षार्थमध्येयमिदं शब्दानुशासनम् । सता सन्देहसन्दोहो विधातव्योऽमुनाञ्जसा ॥
धर्म: षडङ्गो वेदश्च ज्ञेयोऽध्येय: सदादरात् । इत्येवमागमो लोके प्रवर्तयति सज्जनान् ॥
शब्दशास्त्रस्थितेनैव लघूपायेन सत्वरम् । भवन्ति शब्दा विज्ञाता: सर्वे नैवात्र संशय: ॥
विचिकित्सामपाकर्तुं त्वरितं साधनं महत् । शब्दशास्त्रं सदोपास्यमिति भाष्यकृतो वच: ॥
बहुनादर्शपुरुषै: शब्दशास्त्रप्रयोजनम् । भूयसा सत्प्रयासेन यथास्थानं प्रदर्शितम् ॥ प्र. प्र. प. , श्लो. सं. १-१४, पृ. सं. ५५-५६

[31] मायावशाज्जगत्सृष्टिर्विश्वं मायिकमुच्यते । ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर: ॥
मायाविशिष्टं सगुणं जगत्कर्त्तृ निगद्यते । निर्गुणं तद्विरहितं सच्चिदानन्दरूपभाक् ॥
मुक्तिर्ज्ञानावृते नैव जातुचित्समवाप्यते । कर्मसंन्यास औचित्यं भजते मुक्तिसिद्धये ॥
एवं शाङ्करसिद्धान्तेऽद्वैतवाद: प्रशस्यते । विपश्चित्सम्मतोऽशेषजीवब्रह्मैक्यभावत: ॥ वही , श्लो. सं. ६-९, पृ. सं. ४७

[32] भेदाभेदाज्जीवस्य ब्रह्मणश्च परापरम् । वादो भास्करसिद्धान्ते भेदाभेदाभिध: स्मृत: ॥ वही , श्लो. सं. १०, पृ. सं. ४७

[33] सदा ब्रह्मास्ति सगुणं निर्गुणं न कदाचन । ब्रह्मणो जीवजगती भवतस्तु विशेषणे ॥
विशिष्टाद्वैतवादोऽयं रामानुजमते मत: । विशेषणविशिष्टत्वादेकत्वाच्च यतोऽमले ॥ वही, श्लो. सं. ११-१२, पृ. सं. ४८

[34] वैष्णव मतावलम्बी रामानुज मत में दो विभाजन हैं :- तेंगले और वडगलै । तेंगलै मतानुयायी तमिल भाषी होते हुये अल्वार के तमिल प्रबन्ध को प्रमुखता देते हैं । वडगलै मतानुयायी संस्कृत भाषा का आश्रय ग्रहण करते हुये वेद-शास्त्रों को प्रमुखता देते हैं । एक मतवाले भक्ति और देशी भाषा को अपनाये हुये हैं तो दूसरे मतवाले वेदशास्त्र और संस्कृत (मार्गनुडी) को सर्वप्रमुख मानते हैं । सं. वा. वी. शै. सा., पृ. सं. ७

[35] मध्वेत्यानन्द उद्दिष्टो वेति तीर्थमुदाहृतम् । मध्व आनन्दतीर्थ: स्यात् मारुती तनु: ॥
मध्वगेहाभिधानस्य पुत्रोभून्मध्वमन्दिर: । पूर्णा प्रज्ञा स्थिता चास्मिन् पूर्णप्रज्ञस्तत: स्मृत: ॥
आनन्दतीर्थो मध्वश्च पूर्णप्रज्ञस्थैव च । मध्वमन्दिर इत्येतन्मध्वनामचतुष्टयम् ॥
हनूमान् प्रथमो भीमो द्वितीयोऽद्भुतपौरुष: । वायोस्तृतीयो मध्वोयं वतार: परिकीर्तित: ॥
ईश्वरस्य च जीवस्य सदा भेदोऽभिधीयताम् । जगन्निमित्तं विश्वेशो नोपादानं कथञ्चन ॥

				१३१७ ई.
२२.	द्वैताद्वैतदर्शन[37]	निम्बार्क	वेदान्तपरिजात	११०० ई.
२३.	शैवविशिष्टाद्वैतदर्शन[38]	श्रीकण्ठ	शैवभाष्य	१२७० ई.
२४.	वीरशैवविशिष्टाद्वैतदर्शन[39]	श्रीपति[40]	श्रीकरभाष्य	१४०० ई.
२५.	नकुलीशपाशुपतदर्शन[41]	नकुलीश	पाशुपतसूत्र	अज्ञात

मध्वसिद्धान्तवादोयं द्वैतवादो निगद्यते । शाङ्कराद्वैतसिद्धान्तद्विपरीतमिदं मतम् ॥ प्र. प्र. प. , श्लो. सं. १३-१८, पृ. सं. ४८

[36] माध्वमतावलम्बी दासकूट और व्यासकूट इन दो सम्प्रदायों में विभक्त है । दासकूट मतानुयायी पुरन्दरदासजी के कीर्तन के प्रेमी और कन्नड़भाषी है किन्तु व्यासकूट सिद्धान्तावलम्बी संस्कृत के अभिमानी है । सं. वा. वी. शै. सा., पृ. सं. ७

[37] भेदोऽस्ति जीवेश्वरयोर्व्यवहारे न सर्वदा । द्वैताद्वैतभिधो वादस्तस्मादत्र प्रवर्तते ॥ प्र. प्र. प. , श्लो. सं. २४, पृ. सं. ४९

[38] शैवपूर्वोऽस्य वादोऽयं विशिष्टाद्वैतसंज्ञक: । रामानुजमतादत्र शिवभक्तिर्विशिष्यते ॥ वही, श्लो. सं. २२, पृ. सं. ४९

[39] वीरशैवादिरस्यापि विशिष्टाद्वैतसंज्ञक: । वादो विराजते नित्यं शिवशक्तिविभूषित: ॥ वही , श्लो. सं. २३, पृ. सं. ४९

[40] वीरशैव धर्म में गुरुवर्ग और विरक्तवर्ग ये दो मत सम्प्रदाय हैं । गुरुवर्ग मठ के सम्प्रदाय के शिवाचार्य और दार्शनिक वेद-आगम-उपनिषद् आदि प्रमाणों पर आधारित शैवसिद्धान्त को प्रमुखता देते हैं तथा संस्कृताभिमानी हैं । विरक्तवर्ग मठ सम्प्रदाय से सम्बद्ध बसवादि प्रमथों के उपदेश वचनों में श्रद्धा रखते हैं और प्रमाण मानते हैं तथा देशी भाषा कन्नड़ को प्राथमिकता देते हैं । गुरुवर्ग के रेणुकाचार्य पञ्चाचार्य इस धर्म के मूलपुरुष समझे जाते हैं किन्तु विरक्तवर्ग के भक्तजन बसवादि प्रमथ को इस धर्म का मूलपुरुष मानते हैं । अपवाद रूप में विरक्तवर्ग मठसम्प्रदाय के महापण्डित श्रीमरितोण्डदार्यजी पदवाक्यप्रमाणज्ञ हैं । इन्होंने वीरशैवानन्दचन्द्रिका और कैवल्यसार जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना संस्कृतभाषा में की है । इसके साथ ही सिद्धान्तशिखामणि पर तत्त्वदीपिका नाम प्रबन्ध निर्मित कर विश्व में वीरशैवधर्म के प्रचार-प्रसार के लिये अपना बहुमूल्य योगदान किया है । सं. वा. वी. शै. सा., पृ. सं. ७

[41] माहेश्वराणां विदुषामरुचिर्वैष्णवे मते । मोक्षेऽपि परतन्त्रत्वाज्जीवानां दास्यकर्मणाम् ॥
तस्मात् पाशुपतं शास्त्रं मोक्षे स्वातन्त्र्यकामिन: । माहेश्वरमहाचार्या: प्रवदन्त्यमितप्रभा: ॥
पशु: पतिस्तथा पाश: इति तत्त्वत्रयं स्मृतम् । पशुर्जीव: पति: शम्भु: पाश: संसारबन्धनम् ॥
ब्रह्माद्या: स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य शूलिन: । पशव: परिकीर्त्यन्ते समस्ता: पशुवर्तिन: ॥
पशुवद् ये तु वर्तन्ते त एव पशुवर्तिन: । इति व्युत्पत्तिमात्रेण जीवाश्च पशव: स्मृता: ॥
ब्रह्माद्या: स्थावरान्ताश्च पशव: परिकीर्तिता: ॥ तेषां पतिर्महादेव: स्मृत: पशुपति: श्रुतौ ॥
महेश्वरस्य सम्प्राप्त्यै दु:खान्तकरणाय च । शास्त्रमेतत्समाख्यातं माननीयं महात्मभि: ॥

२६.	प्रत्यभिज्ञादर्शन[42]	सिद्धसोमानन्द	शिवदृष्टि	९००-९५० ई.
२७.	शुद्धाद्वैतदर्शन[43]	वल्लभाचार्य	अणुभाष्य	१४७९-१५३२ ई.
२८.	अविभागाद्वैतदर्शन[44]	विज्ञानभिक्षु	विज्ञानामृतभाष्य	१६०० ई.
२९.	अचिन्त्यभेदाभेददर्शन[45]	बलदेवविद्याभूषण	गोविन्दभाष्य	१७२५ ई.
३०.	स्वरूपाद्वैतदर्शन	श्रीपञ्चाननतर्करत्न	शक्तिभाष्य	१८६७-१९४० ई.
३१.	परमार्थदर्शन	रामावतार-शर्मा	परमार्थदर्शन	१८७७-१९२९ ई.

ये सभी भारतीय दर्शन अपनी परम्परा को पूर्ण रूप से व्याख्यायित करते हैं और इस परम्परा में कभी प्रमाण की, कभी वाक्य तो कभी पद आदि की प्रधानता होती है और इसी कारण उनको प्रमुख रूप से प्रमाणशास्त्र (न्याय), वाक्यशास्त्र (मीमांसा) और पदशास्त्र (व्याकरण) भी कहा जाता है । एतदतिरिक्त सम्प्रति कुछ व्यक्तिवादी दर्शन भी भारतीय दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । हाँलाकि ये जितने भी व्यक्तिवादी दर्शन हैं वे कहीं न कहीं भारतीय दार्शनिक परम्परा के किसी न किसी पक्ष से अंशत: या पूर्णत: प्रभावित रहते ही हैं । इन दर्शनों में तुलसी, कबीर, मीरा, नानक, बसवेश्वर, ऋषि

निर्वाणहेतुर्गदितो यथावत्तत्त्वनिश्चय: । स चानेनैव शास्त्रेण तस्मादाश्रीयतामिदम् ॥ प्र. प्र. प. , श्लो. सं. १-८, पृ. सं. ५४

42 पति: पशुश्च पाशश्च पदार्था: शैवदर्शने । त्रय एते समाख्याता: शैवदर्शनं सूरिभि: ॥

पतिरीश: पशुर्जीव: पाश: संसारबन्धनम् । प्रत्यभिज्ञाप्रदीपेऽपि स्पष्टिरेषां प्रदर्शिता: ॥ वही, श्लो. सं. १-२, पृ. सं. ५४-५५

43 यथा शाङ्करसिद्धान्ते मायावादोऽपि विद्यते । न तथा वल्लभमते मायावादो नियुज्यते ॥

अन्यत्समानं सकलं विज्ञयोरुभयोरपि । शुद्धाद्वैताख्यको वादस्तस्माद् वल्लभसम्मत: ॥ प्र. प्र. प., श्लो. सं. १९-२०, पृ. सं. ४८

44 अविभागाद्वैतवादो मतेऽस्य परिकीर्तित: । वादनाम्नैव सिद्धान्तविज्ञानं भाति निर्मलम् ॥ वही, श्लो. सं. २१, पृ. सं. ४९

45 बलदेवस्य चैतन्यसम्प्रदाये विभासते । अचिन्त्यभेदाभेदाख्यो वादो वादेषु नूतन: ॥

सिद्धान्तेऽचिन्त्यरूपेण भिन्नौ जीवेश्वरौ मतौ । भूयोऽभिन्नौ सतोऽमुष्य तस्मात्प्रत्ययपद्धति: ॥ वही, श्लो. सं. २५-२६, पृ. सं. ४९

दयानन्द, अरविन्द, महात्मा गाँधी आदि प्रमुख व्यक्तियों के दर्शन भी इस परिप्रेक्ष्य में महत्त्वपूर्ण हैं।
इन सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में अनुभव की भिन्नता के कारण ही साक्षात्कार मार्ग पृथक्-पृथक् हैं। वेदान्त दर्शन के प्रमुख रूप से ग्यारह सम्प्रदाय हैं ; जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर स्वमतानुसार भाष्य की रचना करके अपने मतों को पुष्ट किया है। इस विवरण को निम्नलिखित प्रकार से अवबोध किया जा सकता है :-

अद्वैत - आचार्य शङ्कर - शारीरक भाष्य
भेदाभेद - भास्कराचार्य - भास्करभाष्य
विशिष्टाद्वैत - रामानुज - श्रीभाष्य
द्वैत - मध्वाचार्य - पूर्णप्रज्ञ भाष्य
द्वैताद्वैत -निम्बार्क - वेदान्तपरिजात
शैवविशिष्टाद्वैत - श्रीकण्ठ - शैवभाष्य
शक्तिविशिष्टाद्वैत - श्रीपतिपण्डिताराध्य - श्रीकर भाष्य
शुद्धाद्वैत - वल्लभाचार्य - अणुभाष्य
अविभागाद्वैत - विज्ञानभिक्षु- विज्ञानामृतभाष्य
अचिन्त्यभेदाभेद - बलदेवविद्याभूषण - गोविन्दभाष्य
स्वरूपाद्वैत - श्रीपञ्चानन तर्करत्न भट्टाचार्य - शक्तिभाष्य[46]

वेदान्त दर्शन के प्राय: प्रत्येक सम्प्रदाय ने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भग-वद्गीता) पर टीका या भाष्य का प्रणयन करके स्वमत को सम्यक्तया प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इन सभी सम्प्रदायों में शैवदर्शन भी एक दार्शनिक अस्तित्व के रूप में अभिलक्षित होता है। यदि हम किसी को प्रमुख पक्ष कहते हैं तो फिर गौण पक्ष स्वयमेव उपस्थित हो जाता है किन्तु ऋषियों ने कभी भी ज्ञानात्मक सत्ता को प्रमुख या गौण रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। इसका तात्पर्य यह है कि आज जो प्रमुख उपनिषद् या प्रमुख सम्प्रदाय या प्रमुख दर्शन इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वह उस व्यक्ति या समूह द्वारा निर्धारित प्रमुखता या गौणता का सूचक होता है न कि ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत ज्ञान का। इसी उपक्रम में सत्य के अन्वेषण में शैवदर्शन की भी आनुभविक दृष्टि है। शैवदर्शन के विषय में केवल प्रत्यभिज्ञा (काश्मीर शैव) दर्शन की ही प्रसिद्धि अधिकांशत अवलोकित होती है किन्तु एतदतिरिक्त वीरशैवदर्शन, पाशुपत शैवदर्शन, सिद्धान्त शैवदर्शन आदि भी शैवदर्शन के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

---

[46] सां. द. प., पृ. सं. २३-२४

२.२ वेद एवं आगम

भारतवर्ष विविधताओं का राष्ट्र है । यहाँ अनेकता में अद्‌भुत एकता दृष्टिगोचर होती है, जो भौगोलिक परिदृश्य में कश्मीर से कन्याकुमारी तक व्याप्त है । इस भारतीय परम्परा में सनातन धर्म सर्वप्राचीन माना जाता है क्योंकि उसका आदिस्त्रोत वेद है । वेद केवल भारतीय सभ्यता ही नहीं अपितु विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ माने जाते हैं । वे भारतीय दर्शन तथा संस्कृति के प्राण कहे जाते हैं । इनको प्रमाण स्वरूप उद्‌धृत करनेवाले आस्तिक तथा अप्रमाण्यस्वरूप मानने वाले नास्तिक सम्प्रदाय की कोटि में आते हैं । श्रुति भी द्विविध ज्ञानधाराओं का प्रतिनिधित्व करती है -

वैदिकी तान्त्रिकी चैव श्रुति: ।[47]

सिद्धान्तप्रकाशिकाकार के अनुसार शास्त्रपञ्चविध है - लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, अतिमार्गिक तथा मान्त्रिक । जिनमें लौकिकशास्त्र आयुर्वेद, दण्डनीति इत्यादि दृष्ट फल के प्रतिपादक, वैदिकशास्त्र वेदों के क्रियाभागानुसार दृष्टादृष्टफल के प्रतिपादक, आध्यात्मिक-शास्त्र आत्मज्ञानफल के प्रतिपादक, अतिमार्गशास्त्र रुद्रप्रणीत पाशुपतकापालमहाव्रत के प्रतिपादक तथा मान्त्रिकशास्त्र शिव प्रणीत सिद्धान्तशास्त्र के प्रतिपादक हैं ।[48] आचार्य जङ्गम शास्त्री तैलङ्ग के अनुसार ज्ञानधारा चतुर्विध है-
वैदिक २. तान्त्रिक ३. वैदिक-तान्त्रिक तथा ४. तान्त्रिक-वैदिक । यह विविधता वेदों और आगमों की प्रधानता तथा अप्रधानता के कारण ही है । उनमें से जो वेदसम्मत कर्मानुष्ठान को प्राथमिकता देता है वह वैदिक, जो आगमसम्मत कर्मानुष्ठान को प्राथमिकता देता है वह तान्त्रिक तथा जो वैदिक कर्मानुष्ठान को प्रधान मानकर आगमिक प्रक्रिया को गौण मानता है, वह वैदिक-तान्त्रिक एवं आगमिक प्रक्रिया को प्रधान मानकर वैदिक प्रक्रिया को गौण माननेवाला तान्त्रिक-वैदिक मत है । अन्तिम तान्त्रिक-वैदिक मत शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन है, जो द्विविध है - पाशुपत (अलिङ्गी) तथा वीरशैवदर्शन (लिङ्गी)[49] । डॉ. रजनीश मिश्र के अनुसार आगम उपदिष्ट ज्ञान है तथा निगम दृष्ट ज्ञान है -

“Agama and Nigama are the two major sources of Indian culture (culture as manifest) Nigama (popularly known as Veda) is dristajnana (seen or

---

47 ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू. पृ. सं. ८७

48 सि. प्र. पृ. सं. १९

49 कै. उ. प्र., पृ. सं. २६

realized knowledge) whereas agama is updista knowledge expounded by none other than Shiva and Parvati."[50]

वेद को आगम भी कहा गया है । वेदागम तथा निगमागम शब्द पर्यायवाची हैं ।[51] वेद और आगम ओंकाररूप परमशिव के निश्वास हैं । तदनुसार विधाता ने परमशिव द्वारा प्रदत पञ्चाक्षर मन्त्र से ही वेदागम को प्राप्त किया :-

पुरा लीना: सृष्टिकालाच्छिवस्य
पञ्चाक्षरे मन्त्रवर्ये समस्ता: ।
भूतानि पञ्च वेदा आगमाश्च
शिवाल्लब्धोऽभून्मन्त्रवर्यो विधात्रा ॥[52]

वीरशैवमत में वेदों को उत्पन्न माना गया है-

सद्योजातेन ऋग्वेदं, वामदेवेन याजुषम् ।
अघोरेण तथा साम, पुरुषेण त्वथर्वणम् ॥
ईशानेन मुखेनैव, कामिकाद्यागमांस्तथा ।
जनयामास विश्वेश:, सर्वसिद्धिप्रदायक: ॥[53]

सिद्धान्तशिरोमणि में वेद को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण स्वीकार किया गया है-

वेदं प्रधानं सर्वेषां सांख्यादीनां महामुने: ।
वेदानुसरणदेषां प्रामाण्यमिति निश्चितम् ॥[54]

वेद के एकदेश का अनुपालन करने के कारण सम्पूर्ण शैव वाङ्मय को वेदमय माना जाता है-

वेदैकदेशवर्तित्वं शैवं वेदमयं मतम् ।[55]

---

[50] Santa and savants of the Sharada desh, p. 2.

[51] ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू., पृ. सं. ३१

[52] सि. शि. उ., श्लो. सं. २२

[53] ब्र. सू. श्री. प्र. भा., १/१/३

[54] वही

[55] वही

एक ही कर्त्ता होने से तथा सम्पूर्ण वेदमूल होने से कामिकादि-वातूल पर्यन्त शैवागम वेद के सदृश ही प्रमाण हैं तथा सम्पूर्ण शैवागम वैदिक ही है । शिव की विमर्श शक्ति भी निगमागम स्वरूपा है-

विमर्शरूपिणी शक्ति: शिवस्य परमात्मन: ।
निगमागमरूपा स्यात् सर्वतत्त्वप्रकाशिनी ॥[56]

प्रपञ्चसारतन्त्र में आगम के महत्व को प्रदर्शित किया गया है-

श्रुत्यक्तस्तुकृते धर्मस्त्रेतायां स्मृतिसम्भव: ।
द्वापरे तु पुराणोक्त:, कलावागमसम्भव: ॥[57]

आगमों के परिपालन से कलियुग में प्राणियों के अभ्युदय नि:श्रेयसादि की सिद्धि सरल, सद्य: तथा फलदायिनी होती है । शारदातिलक तथा महर्षि हारीत के वचनानुसार भी आगम पञ्चम वेद ही हैं- आगमो पञ्चमो वेद: कौलस्तु पञ्चमाश्रम: ।[58] त्रिपुरारहस्य में तो वेद को भी आगम का ही अंश माना गया है - वेदोह्यागमभाग: ।[59] शिवपुराण में द्विविध आगमों का वर्णन है - श्रौत एवं स्वतन्त्र । इनमें स्वतन्त्र आगम दशधा तथा अष्टादशधा विभक्त है और श्रौत आगम शत कोटि है, जहाँ पाशुपत व्रत वर्णित है ।[60] ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य के अनुसार सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद तथा पाशुपत ये मानभूत (प्रतिष्ठा के विषय) हैं, इनका खण्डन किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिए ।[61]

वीरशैवको वेदांश भी कह सकते है तथा वेदानुसारी तन्त्र क्योंकि इनका वैदिक विचारों से कही भी मतभेद नहीं है । आगम श्रुतिसम्मत ही है, भले वह वेदांश हो या वेदानुसारी तंत्र । दु:ख का विषय यह है कि आधुनिक समाज आगमों की विशुद्ध वैदिक साधनापद्धति को भूलकर प्राय: आसुरी तन्त्र का ही चयन करते हैं, फलत: सात्विक भावों को धारण करने वाले भक्त तथा साधक भी अनुचित आचरण करने लगते हैं ।

---

[56] ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. १/१/३

[57] आ. मी. वि. वे. पृ. सं. ४

[58] वही

[59] वही

[60] वा. सं. पू. ख. ३२/११-१७

[61] ब्र. सू. श्री. द्वि. स. ८/३७

२.३ आगम

आगम की व्युत्पत्ति निम्नलिखित है - आप्तवचनादाविर्भूतमर्थविशेषसंवेदनमागम:[62] अर्थात् सत्पुरुष की वाणी से आविर्भूत होकर अर्थ विशेष का अनुभव कराने के कारण इनका अभिधान आगम है। आगम की प्रचलित परिभाषा उसको उपदिष्ट सिद्ध करती है -

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजायुतौ।
तदागममिति प्रोक्तं शास्त्रं परम पावनम् ॥[63]

वाचस्पति मिश्र के अनुसार "आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनि:श्रेयसोपाया: स आगम: ।"[64] आगम का यौगिकार्थ है - आ समन्ताद् अर्थं गमयतीति आगम:[65] अर्थात् जो विषयों का दिग्दर्शन कराए वह आगम है । आगम का अपर अभिधान तन्त्र है "तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन"[66] इस व्युत्पत्ति के अनुसार विद्वान् तन्त्र शब्द का अर्थ जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार हो ऐसा अर्थ प्रतिपादन करते हैं। कामिकागम में कहा गया है कि जो तन्त्र मन्त्र से समन्वित सम्पूर्ण अर्थों का विस्तार करता है, पुन: उस विशालता से हमारी रक्षा करता है, वह तन्त्र है ।[67] प्रत्येक आगम के चार पाद होते हैं- (१) क्रियापाद (२) चर्यापाद (३) योगपाद तथा (४) ज्ञानपाद ।[68] बौद्ध तन्त्रों में ज्ञानपद के स्थान पर अनुत्तर पद का प्रयोग होता है ।[69] आज उपलब्ध आगमों (शैवागमों या रुद्रागमों) में किसी भी आगम के चारों पाद उपलब्ध नहीं हैं। किसी का ज्ञानपाद है तो किसी आगम का चर्यापाद। किसी के क्रियापाद और चर्यापाद है तो योगपाद और ज्ञानपाद का अभाव है । सिद्धान्तशिखामणि वीरशैव का प्रधान ग्रन्थ है और इस ग्रन्थ में आगमों में वर्णित प्रत्येक पादों के विषय वस्तु को समाहित किया गया है।

---

62 सि. शि. स. पृ. सं. ७

63 भा. द्वि. भा., पृ. सं. ८५

64 यो. सू. त. वै. १/२५

65 सि. शि. म. स., पृ. सं. ७

66 वही

67 का. प्र. भा. , श्लो. सं. १३२

68 सि. शि. उ. प्र. पृ. सं. ९

69 आ. मी. वि. वे. पृ. सं. ४

२.३.१ आगमों के भेद एवं सम्प्रदाय

शिव प्रोक्त कामिकादि से वातूल पर्यन्त अट्ठाइस आगम शैवागम कहे जाते हैं। जिनमें प्रथम दस शैवागम तथा अवशिष्ट अष्टादश रुद्रागम हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं :-
दस शैवागम :- कामिकागम, योगजागम, चिन्त्यागम, कारणागम, अजितागम, दीप्तागम, सूक्ष्मागम, सहस्त्रागम, सुप्रभागम तथा अंशुमदागम।
अष्टादश रुद्रागम :- विजयागम, निश्वासागम, स्वायम्भुवागम, अनलागम, मारवागम, रौरवागम, मकुटागम, विमलागम, चन्द्रज्ञानागम, बिम्बागम, ललितागम, प्रोद्गीतागम, सिद्धागम, सन्तानागम, सर्वोक्तागम, पारमेश्वरागम, किरणागम तथा वातूलागम।[70]
आगमों के संक्षिप्त ज्ञान के लिये निम्नलिखित द्विविध तालिका द्रष्टव्य है, जो गोपीनाथ कविराज के तं आ. शा. दि. नामक ग्रन्थ पर आधारित है, जिनमें शैवागम तीन बार ग्रथित हैं तथा रुद्रागम केवल दो बार ही ग्रथित हैं[71]-

दस शैवागम

क्रम संख्या	आगमों के नाम	क्रमश: प्राप्तकर्ता	श्लोक-परिमाण
१	कामिकागम (कामजागम (अभेदात्मक))	परमेश्वर-प्रणवशिव-त्रिकल-हर।	परार्द्ध परिमाण
२	योगजागम (पञ्चभेदात्मक)	परमेश्वर-सुधा-भस्म-प्रभु।	एक लाख
३	चिन्तागम (षड्-भेदात्मक)	परमेश्वर-दीप्त-गोपति-अम्बिका।	एक लाख
४	कारणागम (सप्तभेदात्मक)	परमेश्वर-कारण-शर्व-प्रजापति।	एक करोड़
५	अजितागम (चतुर्भेदात्मक)	परमेश्वर-सुशिव-उमेश-अच्युत।	एक लाख
६	सुदीप्तागम (नवभेदात्मक)	परमेश्वर-ईश-त्रिमूर्ति-हुताशन।	एक लाख
७	सूक्ष्मागम (अभेदात्मक)	परमेश्वर-सूक्ष्म-भव-प्रभञ्जन।	एक लाख
८	सहस्त्रागम (दसभेदात्मक)	परमेश्वर-काल-भीम-खग।	अज्ञात
९	सुप्रभेदागम (अभेदात्मक)	परमेश्वर-धनेश-विश्वेश-शशि।	तीन करोड़

[70] क्रिया. सा. प्र. भा. पृ. सं. ८५

[71] त. आ. शा. दि., पृ. सं. ५९-६१

१०	अंशुमान् (द्वादशभेदात्मक)	परमेश्वर-अंशु-अग्र-रवि ।	अज्ञात

अष्टादश रुद्रागम

क्रम संख्या	आगमों के नाम	प्रथम श्रोता	द्वितीय श्रोता
१	विजयागम	अनादिरुद्र	परमेश्वर
२	नि:श्वासागम	दशार्ण	शैलजा
३	पारमेश्वरागम	रूप	उशना
४	प्रोद्गीतागम	शूली	कच
५	मुखबिम्बागम	प्रशान्त	दधीचि
६	सिद्धागम	बिन्दु	चण्डेश्वर
७	सन्तानागम	शिवलिङ्ग	हंसवाहन
८	नारसिंहागम	सौम्य	नृसिंह
९	चन्द्रांशु-आगम (चन्द्रहासागम)	अनन्त	बृहस्पति
१०	वीरभद्रागम	सर्वात्मा	वीरभद्र-महागण
११	स्वायम्भुवागम	निधन	पद्मज
१२	विरक्तागम	तेज	प्रजापाति
१३	कौरव्यागम	ब्रह्मणेश	नन्दिकेश्वर
१४	माकुटागम (मुकुटागम)	शिवाख्य (ईशान)	महादेव ध्वजाश्रय
१५	किरणागम	देवपिता	रुद्रभैरव
१६	गलितागम	आलय	हुताशन
१७	आग्नेयागम	व्योमशिव	अज्ञात
१८	?	?	?

परम श्रद्धेय गोपीनाथ कविराज के इस ग्रन्थ में अट्ठारहवें रुद्रागम का नाम नहीं प्राप्त होता है, जबकि उपर्युक्त अष्टादश आगमों में वातूलागम के अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण आगमों के नाम यहाँ अवलोकित होते हैं । हो सकता है कि इनके मत में वातूलागम अष्टाविंशति आगमों के अन्तर्गत नहीं आता हो । अस्तु, तदनुसार श्रीकण्ठी के रुद्रागम की सूची में रौरवागम, विमलागम, विसरागम और सौरभेयागम अधिक है, साथ ही विरक्तागम, कौरव्यागम, मकुटागम तथा आग्नेयागम का नामोल्लेख नहीं है । इनमें किरणागम, पारमेश्वरागम,

रौरवागम का उल्लेख अभिनवगुप्त विरचित तन्त्रालोक में भी है ।[72] आगम का तात्पर्य तन्त्र भी है । तन्त्र के प्रमुखतया त्रिविध विभाग हैं - ब्राह्मणतन्त्र, बौद्धतन्त्र तथा जैनतन्त्र । पुन: ब्राह्मणतन्त्र भी उपास्य देवताओं के भेद के कारण तीन हैं - शैवागम शाक्तागम तथा वैष्णवागम । इनमें भी वैष्णवागम (पाञ्चरात्रागम) विशिष्टाद्वैत के, शाक्तागम स्वरूपाद्वैत के तथा शैवागम द्वैत, अद्वैत तथा शक्तिविशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक हैं ।[73] प्राचीनकाल में तान्त्रिक सम्प्रदायों की संख्या अत्यधिक थी । इनमें से सभी साहित्य-सम्पदा से समान रूप से समृद्ध थे, यह कथन न्यायोचित नहीं होगा । किसी सम्प्रदाय के ग्रन्थ अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं, तो किसी सम्प्रदाय का केवल अभिधान ही प्राप्त होता है । शिव या रुद्र की उपासना वैदिक काल से ही इस भारत भूमि में प्रचलित है । यजुर्वेद का यह मन्त्र इस तथ्य का प्रमाण है -

नम: शम्भवाय च मयोभवाय च नम: शङ्कराय च ।
मयस्कराय च नम: शिवाय च शिवतराय च ॥[74]

दार्शनिक दृष्टि की विभिन्नता के कारण माहेश्वर तन्त्र के प्रमुखतया त्रिविध विभाग हैं- द्वैत (शिवतन्त्र), द्वैताद्वैत (रुद्रतन्त्र) तथा अद्वैत (भैरवतन्त्र) । पूर्वोक्त माहेश्वर मतों का प्रचार प्रमुखतया निम्नलिखित भिन्न- भिन्न प्रान्तों में है -

पाशुपत मत - गुर्जर (राजस्थान)
शैव सिद्धान्त मत - तमिलनाडु
वीरशैवमत - कर्णाटक
स्पन्द या प्रत्यभिज्ञा - कश्मीर [75]

पारमेश्वरागम के अनुसार आगमसम्मत षडविध दर्शनों में वीरशैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, वैनायक तथा कापालिक दर्शन ही परिगणित हैं -

तन्त्रं तु षड्-विधं प्रोक्तं षड्दर्शनविभेदत: ।
वीरशैवं वैष्णवं च शाक्तं सौर विनायकम् ॥
कापालमिति विज्ञेयं दर्शनानि षडेव हि ॥[76]

---

[72] तं आ. शा. दि., पृ. सं. ६१

[73] सि. शि. म. स., पृ. सं. ८

[74] यजु. १६/४१

[75] भा. द., पृ. सं. ३८५

[76] पा. आ. १/२२-२३, पृ. सं. ४

गोपीनाथ कविराज के अनुसार ये सम्पूर्ण विभिन्न सम्प्रदाय जो शिव से सम्बन्धित हैं, शैव अथवा माहेश्वर अथवा तान्त्रिक सम्प्रदाय के नाम से प्रचलित थें । वे निम्नलिखित हैं -

१ . कुलमार्ग या कौलमत	२. पाशुपत मत
३ . लाकुल मत	४ . कापालिक मत
५ . सोम मत	६ . महाव्रत मत
७ . जङ्गम मत	८ . कारूणिक या कारूक मत
९ . कालानल मत	१० . कालामुख मत
११ . भैरव मत	१२ . वाम मत
१३ . भट्ट मत	१४ . नन्दिकेश्वर मत
१५ . रसेश्वर मत	१६ . रसेश्वर मत

१७. सिद्धान्त (रौद्र) मत[77]

शैवदर्शन के मान्य आचार्य जे. सी. चटर्जी के अनुसार शैवों के तीन ही प्रमुख भेद हैं - आगमशास्त्र, स्पन्दशास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञाशास्त्र ।[78] सिद्धान्तशिखामणि तथा सिद्धान्तागम के अनुसार शिव प्रोक्त आगम शैव, पाशुपत, सोम तथा लाकुल भेद से बहुविध थे, जिनमें शैव के चार भेद थे- वाम शैव, दक्षिण शैव, मिश्र शैव तथा सिद्धान्तशैव । वाम शैव शक्तिप्रधान, दक्षिण शैव भैरव प्रधान, मिश्र शैव सप्तमातृप्रधान तथा सिद्धान्तशैव वेदप्रधान थे ।[79] पारमेश्वरागम के अनुसार शैव सप्तविध हैं :- वीर शैव, अनादिशैव, आदिशैव, अनुशैव, महाशैव, योगशैव तथा ज्ञानशैव -

शैवं सप्तविधं पुण्यं वीरशैवादिभेदत: ॥
वीरशैवं तथानादिशैवमादिपदं तत: ।
अनुशैवं महाशैवं योगशैवं तु षष्ठकम् ॥
सप्तमं ज्ञानशैवाख्यं तत्र सर्वोत्तमम् ।
वीरशैवमितीशानि तदङ्गानीत्तराणि च ॥[80]

---

[77] तं आ. शा. दि., पृ. सं. ४३

[78] Kashmir Shaivism, pp. 7-21.

[79] ब्र. सू. श्री. द्वि. स. पृ. सं. ४४-४५

[80] पा. आ. १/१५-१७, पृ. सं. ३-४

सूक्ष्मागम में इन्ही सप्तविध शैवों के नामभेद पाये जाते हैं - आदिशैव, अनादिशैव, महाशैव, अनुशैव, अवान्तरशैव, प्रवरशैव तथा अन्त्यशैव ।[81] इनमें शिव अनादिशैव, आदिशैवों में (शिव के पञ्चमुख से प्रथम दीक्षित होने के कारण) कौशिक, कश्यप, भारद्वाज, अत्रि तथा गौतम परिगणित हैं । शैवागमों में उल्लिखित दीक्षाविधि से दीक्षित ब्राह्मण महाशैव तथा दीक्षासम्पन्न क्षत्रिय एवं वैश्य अनुशैव कहलाते हैं । यदि कोई शूद्र भी योग्यता के आधार पर शिवदीक्षा को प्राप्त करता है तो वह अवान्तर शैव कहलाता है । कुलाल (कुम्हार), पार्श्वक (पीठमर्दक) इत्यादि दीक्षा प्राप्त कर लेने पर प्रवरशैव कहलाते हैं । तदभिन्न अन्य जातियों के दीक्षासम्पन्न व्यक्ति अन्त्यशैव की कोटि में परिगणित किए जाते हैं । यह शैवों का सप्तविध विभाजन जाति पर आधारित है । सिद्धान्तशिखोपनिषद् के अनुसार शिव के पञ्चमुखों में सद्योजात मुख से ब्राह्मण, वामदेव मुख से क्षत्रिय, अघोर मुख से वैश्य, तत्पुरुषमुख से शूद्र तथा ईशानमुख से पञ्चशिवगणों (वीर, नन्दी, भृङ्गी, वृषभ तथा स्कन्द) का आविर्भाव हुआ-

सद्योजाताद् ब्राह्मणा: सम्बभूवु:
वामदेवात् क्षत्रिया विशश्च ।
अघोरात् शूद्रास्तत्पुरुषात् शिवस्य
पञ्चात्मकस्य गणा ईशानत: स्यु: ॥[82]

तत्पश्चात् आचाराधारित शैवों का विभाजन भी सूक्ष्मागम में अवलोकित होता है । तदनुसार आचार भेद से शैवों के चार प्रकार है :- सामान्यशैव, मिश्रशैव, शुद्धशैव तथा वीरशैव । शिव के दर्शन और सामान्य पूजा करनेवाले सामान्यशैव, शिव-विष्णु-ब्रह्मा-स्कन्द-गणेश-आदित्य तथा अम्बिका की समान भाव से पूजा करनेवाले मिश्रशैव, शिव को एकमात्र सर्वशक्तिशाली माननेवाले तथा उनकी पूर्णभक्तिभाव से विधिवत् पूजा करनेवाले शुद्धशैव एवं जिनके राग द्वेषादि दोष दूर हो गए हैं, आत्मतत्त्व की विचारणा में जो सदा लगे रहते हैं तथा जिनके सारे विकल्पजाल नष्ट हो गए हैं, वें ही वीरशैवकहलाते हैं ।[83] चन्द्रज्ञानागम में अष्टविध शैवों का वर्णन है । इनके नाम इस प्रकार हैं- अनादिशैव, आदिशैव, पूर्वशैव, मिश्रशैव, शुद्धशैव, मार्गशैव, सामान्यशैव तथा वीरशैव।[84] षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गुणरत्न ने शैव, पाशुपत, महाव्रतधर तथा कालामुख इन्हीं चारों वर्गों को माना है ।[85] वामनपुराण के

---

81 सू. आ. क्रि. भाग. श्लो. सं. ४-६

82 सि. शि. उ., ११, पृ. सं. ५४

83 सू. आ. क्रि. भा. श्लोक ४-३०

84 अधुना ते प्रवक्ष्यामि शैवभेदमनुत्तमम् । अनादिशैवं प्रथममादिशैवं द्वितीयकम् ॥ पूर्वशैवं तृतीयं स्या-न्मिश्रशैवं चतुर्थकम् ॥ शुद्धशैवं पञ्चमं स्यात् षष्ठं वै मार्गशैवकम् । सामान्यं सप्तमं ज्ञेयं वीरशैवमथाष्टमम् ॥ च. आ. क्रि. पा. १०/४-५, पृ. सं. १०४

85 भा. द. इ., पृ. सं. ९

अनुसार भी चतुर्विध शैव ही है :- शैव, पाशुपत, कालवदन तथा कापालिक ।[86] स्वच्छन्द-तन्त्र के अनुसार भी पाशुपत, लाकुल, मौसुल तथा कारुकवैमल ये चार शैव सम्प्रदाय हैं ।[87] यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण शैव मत से, क्षत्रिय पाशुपत मत से, वैश्य कालामुख मत से तथा शूद्र कापाल मत से शिव की अर्चना करे ।[88] यामुनाचार्य प्रणीत आगमप्रामाण्य में कापालिक[89] तथा कालामुख एवं रामानुजाचार्य प्रणीत ब्रह्मसूत्रश्रीभाष्य में कापाल तथा कालामुख[90] द्विविध शैव ही वर्णित है । कर्णाटक प्रदेश में बहुतायत रूप में प्रचलित कालामुख का ही आधुनिक अभिधान वीरशैवहै ।[91] जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग के मत में वेदान्त के आठ ही सम्प्रदाय हैं :- शाङ्कर, वीरशैव, रामानुज, माध्व, वल्लभ, निम्बार्क, गौड़ तथा रामानन्द ।[92] सिद्धान्तप्रकाशिकाकार के अनुसार वेदान्त के केवल चार ही सम्प्रदाय हैं- भास्करीय, मायावादी, शब्दब्रह्मवादी, क्रीडाब्रह्मवादी ।[93]

२.४ संस्कृति की व्यापकता एवं क्षेत्र

संस्कृत शब्द सम् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय पूर्वक निष्पन्न हुआ है । आप्टे के संस्कृत शब्दकोष (पृष्ठ संख्या १५९) में सम् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से निष्पन्न संस्कृति शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं - संस्कृति स्वयं में ही व्यापक अर्थ का ख्यापन कराती है । इसका अर्थ व्यक्ति विशेष की क्रिया न होकर एक समूह या फिर एक राष्ट्र की अवधारणा की सुनियोजित विधि का ही नाम है । यदि यह एक व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति हो जाय तो यह संकुचित हो जाती है और फिर उसकी व्यापक दृष्टि में स्वार्थता और लोलुपता का समावेश हो जाता है जो समाज के प्रत्येक वर्ग के लिये कष्टप्रद ही है । राष्ट्र शब्द केवल किसी क्षेत्र विशेष का ही बोध नहीं कराता है अपितु वह वैश्विक परिदृश्य का भी परिचायक होता है । यह एक समूह विशेष का भी बोधक है किन्तु उस समूह विशेष में मानव कल्याण के साथ ही प्राणी हित का विचार भी समाविष्ट होता है । मानव ने केवल अपने व्यवहार को ही सुनियोजित करने के लिये इस व्यापक अर्थ की परिकल्पना नहीं की अपितु इस व्यापक चिन्तन से हम इस सृष्टि के प्रत्येक जीव के प्रति सौहार्द्रपूर्ण भावना रखें, यह इस चिन्तन का सार्वभौमिक रूप था । व्यक्ति की इस संकल्पना में ग्राम से लेकर राष्ट्र या विश्व पर्यन्त जो भीतिका उपस्थापित की

---

86 वा. पु., ६/८७

87 स्व. त., ११/७१-७२

88 आ. मी. वि. वे. पृ. सं. ३२

89 वही

90 वही पृ. सं. ३३,

91 वही

92 सि. शि. उ. प्र. पृ. सं. ८

93 सि. प्र. पृ. सं. २४

गयी वह व्यक्ति के आत्मविश्वास को बल देने के लिये की गयी न कि वह अपने गृह को ही अपना देश समझ ले। एक व्यक्ति यदि स्वयं को विश्व का नागरिक समझे तो संस्कृत वाङ्मय की वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना चरितार्थ हो जाये और राष्ट्र की उपस्थापना के क्रोड़ में प्रधानतया यही उद्देश्य अवलोकित होता है।

इस संस्कृति का प्राण तत्त्व धर्म होता है। धर्म का तात्पर्य कर्म से है। मानव या प्रत्येक प्राणी का सद्धर्म ही उसको नैतिकता और अनैतिकता का अवबोध कराता है। किसी भी संस्कृति की नैतिक जिम्मेदारी प्रजा की ही होती है। प्रजा का सम्यक् परिपालन ही राष्ट्राधिकारी का कर्तव्य होता है। इस प्रक्रिया में ज्ञान एवं कर्म दोनो की आवश्यकता होती है। यह सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये आवश्यक होता है कि राष्ट्र के देश और काल के उचितानुचित का ज्ञान करना एवं उस ज्ञान पर आधारित प्रयोग का अनुपालन करना। इस प्रकार ज्ञान एवं कर्म के समन्वय से ही राष्ट्र का सम्पूर्ण विकास सम्भव है। देश की संस्कृति के विकास के लिये या उसके संरक्षण के लिये किसी एक तत्त्व को प्रधान और किसी एक तत्त्व को यदि गौण समझा जाय तो भी देश की संस्कृति का ही ह्रास होगा। तदनुसार केवल ज्ञान और केवल कर्म से सम्पूर्ण अभ्युदय होना असम्भव है। इन दोनों का समन्वय ही वैश्विक अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। यदि हमें केवल औषधि का ज्ञान हो और हम उसका लेप अथवा भक्षण न करें तो रोग का निवारण नहीं होगा। अत: इन दोनों का समन्वय ही रोग को दूर कर सकता है। सर्वप्रथम उसका ज्ञान और उस पर आधारित कर्म ही किसी भी राष्ट्र को महान् बनाता है।

यदि किसी देश के पास प्रचुर सम्पत्ति है किन्तु वहाँ का जनसामान्य परिश्रमी न होकर दुर्व्यसनों से ग्रसित हो जाए तो वह राष्ट्र शीघ्र ही अवनति को प्राप्त हो सकता है किन्तु यदि जिस राष्ट्र के पास यदि धन न भी हो और उस राष्ट्र के लोग दुर्व्यसनी न होकर परिश्रमी हो तो वह राष्ट्र सदैव ही उन्नति करेगा। राष्ट्र के विकास से उसकी संस्कृति भी समृद्ध होती है और उसकी व्यापकता भी बढ़ती है। जिस प्रकार कामुक व्यक्ति का मन व्यभिचारिणी स्त्री में लगा रहता है और दरिद्र व्यक्ति का मन जैसे अकस्मात् प्राप्त खजाने में लगा रहता है, वही सच्ची भक्ति है।[94] जो व्यक्ति इस भक्ति से रहित होता है, उसके सम्पूर्ण प्रयत्न निष्फल होते हैं तथा उसे सद्गति नहीं प्राप्त हो सकती।[95] राष्ट्र भक्ति भी मानव के प्रति ही कृत भक्ति है क्योंकि राष्ट्र की सुरक्षा का तात्पर्य एक विशाल जनसमूह को प्रताड़ित करने से बचाना है और इस प्रकार राष्ट्र की सुरक्षा या उसके हित में किया गया कोई भी कार्य उस जनसमूह का ही कल्याण करना है जो उस कार्य के बिना दीन-हीन था। यह भी कहा गया है कि किसी को यदि आवश्यक हो तो ही वह कार्य करना चाहिए न कि अपनी मिथ्या प्रशंसा के लिये कोई भी कार्य करने से उस संस्कृति की प्रशंसा होगी। जिस प्रकार दीन या दरिद्र को ही दान देना

---

94 कामुकस्य यथा जारकान्तायामभिवेशनम्। यथैव लब्धे च निधौ दरिद्रस्य मनस्तथा॥ अस्पृष्टविषयस्नेहो यो मोह: शुद्धसात्विक:। मयीश्वरे महादेवि सद्भक्तिरभिधीयते॥ पा. आ., ६/४२-४३, पृ. सं. ९६

95 यो भक्तिरहितो मर्त्य: समस्ता निष्फला: क्रिया:। न तस्य परलोकोऽस्ति मृत: श्वानो भविष्यति॥ वही ६/४५, पृ. सं. ९६

चाहिए और रोगी को ही औषधि प्रदान करना चाहिए[96] उसी प्रकार यदि आवश्यक हो तो ही हित कारक कार्य करना चाहिए नहीं तो उस राष्ट्र या संस्कृति का ह्रास ही होता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्कृति की व्यापकता से उसकी महनीयता ही सिद्ध होती है और उसके कारण ही उसकी दीनहींनता का भी ज्ञान होता है ।

संस्कृति शब्द का अंग्रेजी पर्याय कल्चर (Culture*)* शब्द लैटिन भाषा के कल्टम (Cultum) शब्द से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है भूमि को जोतना या कृषि कार्य करना (to till, to cultivate) । इसी से एग्रिकल्चर (Agriculture- कृषि) तथा हर्टिकल्चर (Horticulture) जैसे शब्द निष्पन्न हुये हैं ।[97]

प्रो. शशिप्रभा कुमार के मत में संस्कृति शब्द सामान्यत: संस्कार या परिमार्जन का बोधक है । उसे कृषि प्रक्रिया एवं उसके आंग्ल पर्याय से इस भाँति से समझा जा सकता है[98] :-

संस्कृति - Culture[99]

कृषि - Agriculture[100]

जैसे कृषि में अनावश्यक घास-फूस को खोद कर निकाल दिया जाता है और उपयोगी बीजों को ही बोया जाता है तथा खाद-पानी देकर उसे पुष्ट किया जाता है उसी प्रकार संस्कृति में अवांछनीय तत्त्वों, दुर्गुणों दोषों आदि को हटाया जाता है और उनके स्थान पर सद्‌गुणों और शुभ तत्त्वों को प्रतिष्ठित किया जाता है । इस प्रकार दुर्गुण निवारण और सद्‌गुण संस्थापन ही संस्कृति है[101] । इनका क्रम जीवन पर्यन्त ही नहीं चलता है अपितु सूक्ष्म संस्कारो के रूप में यह अगले कई जन्मों तक चलता रहता है । अत: संस्कृति का अभिप्राय संस्कार से है । वह परिमार्जन और शोधन की ही एक क्रिया है जिसमें केवल उपयोगिता पर आधारित वस्तु, जगत्, परिवेश और व्यवहार का अतिक्रमण कर एक व्यापक बौद्धिक चेतना तथा सौन्दर्य बोध का अंग बन जाता है ।[102] तदनुसार नृविज्ञान के विद्वानों मे मत में समस्त सीखा हुआ व्यवहार ही संस्कृति है । इसलिये धर्म, दर्शन, आचार-विचार और रहन-सहन की जिन मान्यताओं को मनुष्य ने परम्परा से अर्जित किया वे ही उस संस्कृति के मूल उपादान हैं । ये उपादान या तत्त्व सनातन होते हैं उन्हें किसी भी प्रकार देश या काल की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता ।[103] इस संसार में सभी प्राणियों का सर्वोच्च लक्ष्य है दुखनिवृतिपूर्वक सुख की प्राप्ति । विश्व में वही सुख व्यापक कहा जाता है जो चिरस्थायी रहे । कुछ क्षण या फिर

---

96 दरिद्रे दीयते दानं निरुजस्य किमौषधे:, शु. नी. ५/११

97 वै. वा. प्र. स. सं. रू. प्र. पा., पृ. सं. ४

98 भा. सं. वि. आ., पृ. सं. ९७

99 भा. सं. वि. आ., पृ. सं. ९७

100 वही

101 वही

102 सं. वा. वि. इ., पृ. सं. २१८

103 भा. सं. वि. आ., पृ. सं. ९७

कुछ काल के लिये प्राप्त किया गया आनन्द या सुख पश्चात् मे दु:ख का उत्पादक होता है । हाँलाकि जो वास्तविक आनन्द है वह सुख और दु:ख दोनो से ऊपर उठकर है और यह भी संस्कृति की विशिष्टता ही है कि उसने अन्तसहित और अनन्त सुख दोनो को भी समझने का प्रयास किया है । यदि वह इन्द्रियजन्य सुख है तो वह अन्तसहित है किन्तु यदि वह इससे इतर अर्थात् निष्काम है तो वह अनन्त सुख है और वह अनन्त सुख जिसका पार नहीं पाया जा सकता और जो अमर्त्य है उसको उपनिषदों में भूमा सुख की उपाधि से अलङ्कृत किया गया है -

यो वै भूमा तत्सुखम् । यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।[104]

उसी अमर्त्य सुख की प्राप्ति के लिये सारे प्राणी प्रवृत्त होते हैं किन्तु कुछ प्राणी कुछ दूर तक पहुँच पाते हैं तो कुछ उसको प्राप्त कर लेते हैं और जो उसको प्राप्त कर लेते हैं वही वास्तविक तत्त्वचिन्तक कहे जाते हैं क्योंकि उन्होंने उस सत्य को जाना होता हैं जो इस सृष्टि का चरम लक्ष्य है और जिसको कहा गया है कि वह ऐसा सत्य है कि जिसको जानने के बाद अन्य किसी और बात जानने की आवश्यकता नहीं रह जाती ।

प्रत्येक संस्कृति के चिन्ह और संस्कार भिन्न-भिन्न होतें है । अपने प्रतीक के लिये प्राण भी लगा देना सच्ची संस्कृति और सच्चे संस्कार का प्रतीक है । संस्कृति भले ही एक अमूर्त अवधारणा है किन्तु यदि संस्कृति जब खतरे में पड़ती है तो वह इस कदर मुखरित होती है जैसा कि एक विशाल जनसमुदाय हो । उस में यदि सत्यता कूट-कूट कर भरी हो तब तो उसके चाहने वाले केवल अपने देश क्या विदेश में भी हो सकते हैं और यह उस विश्व व्यापी संस्कृति का परिचायक होता है । संस्कृति का पुनीत कर्तव्य यह भी है कि वह अन्य प्रदेशों या देशों की अच्छाईयाँ अपने आभ्यन्तर में समेट लें तभी तो उसकी व्यापकता और विस्तृत होगी । जो देश परतंत्र रह चुके हैं उनमें भी परतंत्र करने वाले देशों की संस्कृतियाँ मिश्रित हो जाती हैं और वह इस प्रकार एक नवीन संस्कृति का रूप धारण कर लेती है । जिस प्रकार एक ही रंग का फूल अपनी विशिष्ट पहचान बना सकता है और अनेक रंगों से मिश्रित फूल भी अपनी एक विशिष्ट पहचान बना सकता है ठीक उसी प्रकार किसी देश की एक भाषा, एक प्रकार का पहनावा और एक प्रकार का खान-पान इत्यादि वस्तुएँ उन्हें अलग करती हैं और विभिन्न प्रकार की भाषा, विभिन्न प्रकार का पहनावा और विभिन्न प्रकार के खान-पान से सुसज्जित संस्कृति भी अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाती है । यथा नेपाल देश की संस्कृति में एक भाषा, खान-पान और पहनावा है किन्तु भारतवर्ष के आभ्यन्तर में अनेकों भाषाएँ बोली जाती हैं और अनेकों प्रकार के पहनावें पहने जाते हैं तथा अनेक प्रकार के धर्म के कारण विभिन्न खान-पान भी अनेक हैं और इस प्रकार विभिन्नता में एकता स्थापित करना एक विश्वव्यापी संस्कृति की ही पहचान हो सकती है ।

---

[104] छान्द. उ. ७/२४/१

२.४.१ भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषतायें

भारत सभ्यता और संस्कृति का देश है। इसमें अनेकता में भी एकता का अवलोकन होता है। विविध भाषाओं और वेष-भूषाओं के होने पर भी यहाँ पर अद्‌भुत भ्रातृत्व अवलोकित होता है। यहाँ प्रत्येक धर्म एक दर्शन है क्योंकि प्रत्येक धर्म में लौकिक जीवन का सम्यक् परिपालन तथा उसके मार्ग से न केवल इस धरती पर आनन्दमय जीवन अपितु उसके सम्यक् परिपालन से परब्रह्म की भी प्राप्ति होती है। धर्म और दर्शन संस्कृति के उपादान हैं। भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक होने का एक प्रमुख कारण यह है कि भारतवर्ष की धरती पर भाँति-भाँति के दार्शनिक विचार और धार्मिक सम्प्रदाय हुये हैं। इन सम्प्रदायों की विविध संस्कृतियों के सम्मिश्रण से ही भारतीय संस्कृति का निर्माण होता है। प्रत्येक राष्ट्र की कुछ न कुछ विशेषताएँ होती हैं जो उसे महान् बनाती है। अपनी नीतियों और स्वभावों से ही कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र विकास को प्राप्त करता है। राष्ट्र का निर्माण समाज या समूह से होता है और समाज या समूह का निर्माता कोई न कोई प्राणी, जीव या व्यक्ति होता है। इस कथन का तात्पर्य यह भी है कि केवल मानव की ही जाति, राष्ट्र या संस्कृति नहीं होती अपितु जीव-जन्तुओं, पक्षियों और वृक्षों का भी समूह, राष्ट्र और संस्कृति होती है। इसलिये तो भारतवर्ष में नदियों और वृक्षों की पूजा होती हैं। उनके अन्दर भी जीव या चेतनता की केवल कोरी कल्पना ही नहीं की जाती है अपितु उन्हें वह सम्मान भी प्रदान किया जाता है जिसके कारण भारतवर्ष की अनूठी संस्कृति की चर्चा सम्पूर्ण विश्व में होती है। यह कार्य विश्व के किसी भी धर्म या सम्प्रदाय में अधिकांशत: नहीं पाया जाता है। यहूदी धर्म में भी पृथ्वी को माता (Earth goddess) कहने की बात कई ग्रन्थों में सामने आई है और यह बात अथर्ववेद के अन्तर्गत भी कही गयी है :-

माता भूमि: पुत्रोऽहम् पृथिव्या:[105]
वयं तुभ्यं बलिहृत: स्याम:[106]

भारतीय संस्कृति के विकास में कलाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वैदिक सभ्यता से ही कला का विकास भारतवर्ष में हो चुका था। यजुर्वेद के समय तक नाट्यकला का विकास इस सीमा तक हो चुका था कि अभिनेता नाटकों का प्रदर्शन करने लग गये थें। यजुर्वेद में उन कलाओं तथा कलाकारों का भी स्पष्टत: वर्णन किया गया है, जिनका समावेश परम्परागत चौसठ कलाओं में किया गया है। उनमें मुख्य कलायें एवं कलाकार निम्नलिखित हैं[107] :-

मागध (चारण कवि)
नृत्त (नृत्य)

---

105 अथर्व. पृ. सू. १२/१/१२

106 वही

107 भा. का. इ., पृ. सं. २४७-२४८

गीत
रथकार (रथ की रचना करने वाले)
तक्षन् (बढ़ई)
मणिकार (जौहरी)
इषुकार (बाण बनाने वाले)
धनुष्कार (धनुष बनाने वाले)
ज्याकार (धनुष की डोरी बनाने वाले)
रज्जुसर्ज (रस्सी बनाने वाले)
श्वनिन् (शिकारी)
विदलकारी (वेंत से वस्तुयें बनाने वाले)
पेशसकरी (कढ़ाई का काम करने वाले)
स्मरकारी (स्मारकों की रचना करने वाले)
हस्तिप (महावत)
अश्वप (घोड़ों को शिक्षित करने वाले)
सुराकार (मदिरा बनाने वाले)
अग्न्येद्य (अग्नि में ईन्धन डालने वाले)
वास: पल्पूली (धोबिन)
रजयित्री (वस्त्र रंगने वाली)
अञ्जनकारी (काजल या सुरमा बनाने वाले)
अजिनसंध (चमड़ा सिलने वाले)
चरमम् (चमड़ा कमाने वाले)
हिरण्यकार (सोनार)
चरकाचार्य (गुप्तचरों का शिक्षक)
आडम्बरघात (युद्ध के समय ढोल बजाने वाले)
वीणावाद (वीणा बजाने वाले)
तूलबध्म (विषाण बजाने वाले)
शंखबध्म (शंख बजाने वाले)
वंशनर्तिन् (बांस पर नृत्य करने वाले)

परवर्ती समय में मूल और अन्तर कलाओं का वर्गीकरण बभ्रुपुत्र पाञ्चाल के द्वारा किया गया, जो कामसूत्र के लेखक वात्स्यायन के पूर्व हुये थें। इन्होंने कामशास्त्र के विषय में एक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें एक सौ पचास अध्याय थे। इनके मतानुसार मूल कलाओं की संख्या चौंसठ तथा अन्तर कलाओं की संख्या पाँच सौ अट्ठारह थी। वात्स्यायन के कामसूत्र में जिन चौंसठ कलाओं का उल्लेख किया गया हैं वे शैवागम एवं शैवतन्त्रों से मिलती-जुलती हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं :-

गीतम्

वाद्यम्
नृत्यम्
नाट्यम्
आलेख्यम् (चित्रांकन)
विशेषकच्छेद्यम् (पत्तियों को विविध सुन्दर रूपों में काट कर मस्तक के अलंकरण बनाना)
तण्डुलकुसुमबलिविकारा: (चावल या कुसुम से रेखाचित्रों की रचना करना)
पुष्पास्तरणम् (शय्या को फूलों से सजाना)
दशनवसनाङ्गरागा: (दाँतों, वस्त्रों और शरीर के अङ्गों को रंगना)
मणिभूमिकाकर्म (जवाहरातों, मणियों को चित्ररूप में जड़ना)
शयनरचनम् (शय्या बनाना)
उदकवाद्यम् (पानी से वाद्य जैसी ध्वनि उत्पन्न करना)
उदकघात: (अन्य व्यक्तियों पर पिचकारी से जल फेंकना)
चित्रयोग
माल्यग्रथनविकल्पा: (मालायें बनाना)
शेखरापीडयोजनम् (केशों को कुसुममालाओं से अलंकृत करना)
नेपथ्ययोगा: (रूप रचना करना)
कर्णपत्रभंग (कर्णपत्र बनाना)
गन्धयुक्ति: (सुगन्धित वस्तुयें बनाना)
भूषणयोजनम् (अलंकार बनाना)
इन्द्रजालम् (जादू का खेल दिखाना)
कौचुमारयोगा: (प्रेमिका के मन को प्रेमी के अतिरिक्त आकर्षित होने के उपचारों का निर्देश करना)
हस्तलाघवम् (हाथ की निपुणता से अद्भुत खेलों को दिखाना)
चित्रशाकपूयभक्ष्यक्रिया
पाचकरसरागासवयोजनम् (पेयों, रसों, रङ्गों और मदिराओं को परस्पर मिलाने की क्रिया)
सूचीवायकर्मणि (सिलाई, बुनाई और कढ़ाई का कार्य)
सूत्रक्रीड़ा (धागों का खेल खेलना)
प्रहेलिका
प्रतिमाला
दुर्वाचक्रयोगा:
पुस्तकवाचनम्
नाटकाख्यायिकादर्शनम्
काव्यसमस्यापूरणम्
पट्टिकावेत्रवायविकल्पा: (वेत कीए पट्टियों से आसन आदि बनाना)
तर्कुकर्मणि (खराद कला)
तक्षणम्

वास्तुविद्या
रूप्यरत्नपरीक्षा
धातुविद्या
मणिरागज्ञानम्
आकरज्ञानम् (खानों को खोदना)
वृक्षायुर्वेदयोगा:
मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि
शुकसारिकाप्रलापनम्
उत्सादनम् (पैरों से मर्दन करना)
केशमार्जनकौशलम्
अक्षरमुष्टिकाकथनम् (संकेत लिपि)
म्लेच्छितकविकल्पा: (अक्षरों के क्रमविपर्यय से भावबोध)
देशभाषाज्ञानम्
पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञानम्
यन्त्रमात्रिका
धारणमात्रिका (पढ़े हुये को स्मरण करना)
सम्पाठ्यम् (कई लोगों के साथ मिलकर पाठ करना)
मानसी काव्यक्रिया
क्रियाविकल्पा: (काव्य-लक्षण और अलंकार ज्ञान)
छलितकयोगा: (छलित करना और भ्रम उत्पन्न करना)
अभिधानकोषच्छन्दोज्ञानम् (कोष और छन्द:शास्त्र का ज्ञानम्)
वस्त्रगोपनानि (वस्त्रों को धारण करना)
द्यूतविशेष:
आकर्षक्रीड़ा (पासा फेंकना या रस्साकशी)
बालक्रीडनकानि
वैनायकीनाम् विद्यानाम् ज्ञानम् (विनम्र व्यवहार करना)
वैजायिकीनाम् विद्यानाम् ज्ञानम् (युद्धकला)
वैतालिकीनाम् विद्यानाम् ज्ञानम् (चारण की कला का ज्ञान)[108]

इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति अपनी अनन्य विशेषताओं के कारण विश्व में अत्यन्त सम्मानित स्थान रखती है। आध्यात्मिकता, समन्वयवादिता, सहिष्णुता, सर्वाङ्गीणता, अविच्छिन्नता, त्याग तपोमय एवं विश्व शान्ति की भावना आदि कुछ ऐसी सनातन मान्यताएँ हैं जिनके आधार पर भारतीय संस्कृति सर्वप्रथम एवं सार्वभौम कही जाती है :-

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा[109]

---

[108] भा. का. इ., पृ. सं. २४८-२५०

भारतीय संस्कृति में न केवल मानवमात्र के लिये अपितु प्राणीमात्र के लिये सत्य, शिव और सुन्दर का सन्देश हैं। फलत: हजारों वर्षों से उसकी परम्परा में निरन्तरता और अखण्डता का समावेश सदैव बना रहता है। इस कारण से वह हमेशा ही नवजीवन को प्राप्त करती चली आ रही है। प्रत्येक क्षण में नवीनता को प्राप्त करना किन्तु अपनी अस्मिता को बनाये रखना ही वास्तविक सौन्दर्य का प्रतीक होता है और यह तथ्य भारतीय संस्कृति पर पूर्णरूपेण चरितार्थ होता दिखता है। सौन्दर्य से अनुप्राणित संस्कृति सदैव ही भारतवर्ष को अलङ्कृत कर रही है। हांलाकि कुछ स्तर और कुछ अंशों के विनष्ट हो जाने पर भी इसकी अस्मिता में कोई विशेष अन्तर या परिवर्तन नहीं हुआ है। नाना प्रकार के आक्रमण को भी सहकर इस वसुन्धरा ने अपने स्थान से पलायन नहीं किया अपितु उस स्थान पर स्थिर रही किन्तु इसने अपनी समसामयिक संस्कृतियों पर अपने प्रभाव की अमिट रेखायें भी अङ्कित की :-

यूनान मिस्र रोमां सब मिट गए जहाँ से।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी ॥[110]

प्रो. शशिप्रभा कुमार के मत में भारत शब्द का अर्थ है भा+रत अर्थात् आभा से देदीप्यमान। हममें भारतीय होने का स्वाभिमान जागे। इसके लिये हमें गम्भीरता से भारतवर्ष के वास्तविक गौरव और उसकी अन्तरात्मा में रची-बसी भारतीय संस्कृति से भलीभाँति परिचित होना अनिवार्य है। भारतीय संस्कृति का क्षेत्र अतीव व्यापक है :- उसमें धर्म, दर्शन, इतिहास, राजनीति, साहित्य, समाज तथा रीति-रिवाज सभी समाविष्ट हो सकते हैं। अत: वह विविधरूपिणी एवं बहुमुखी रही है। उस विशाल सांस्कृतिक सम्पदा के विविध आयाम पर विचार करना प्रत्येक भारतीय का पुनीत कर्तव्य है।[111]
भारतीय संस्कृति में विषय-भोग की कामना को जीवन के लिये सर्वतोभावेन अनर्थकारी माना गया है। जैसा कि कहा गया है -

भोगा: न भुक्ता: वयमेव भुक्ता:
तपो न तप्त: वयमेव तप्ता: ।
कालो न यात: वयमेव याता:
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा ॥[112]

---

[109] यजु., ७/१४

[110] भा. सं. वि. आ. पृ. सं. vi

[111] वही पृ. सं. vi & viii

[112] भा. सं. वि. आ. : पृ. सं. १६२

जो लोग समझते हैं कि वो लोग विषयों का उपभोग कर रहे हैं, वें भ्रम में हैं। वास्तविकता यह है कि विषय हमारा भोग करते हैं और हमारी कामनाएँ कभी भी शान्त होने वाली नहीं हैं। हम जीर्ण हो जाते हैं किन्तु हमारी तृष्णाएँ जीर्ण नहीं होतीं। वें ज्यों की त्यों बनी रहती हैं, जिनके कारण हमें बार-बार जन्म मरण का असाध्य कष्ट सहन करना पड़ता है। भारतीय संस्कृति का क्षेत्र व्यापक है। अत: उसके कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को संक्षिप्त रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है :-

२.४.१.१ भारतीय संस्कृति में धर्म

भारत ही नहीं विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के अनुसार धर्म की स्थिति सर्वदा रही है तथा उसी से सम्पूर्ण चराचर की उत्पत्ति हुयी है -

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्[113]

धर्म की परिभाषा महर्षि जैमिनि ने इस प्रकार दी है-

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म:[114]

अर्थात् वैदिक विधियों (चोदना) द्वारा निर्दिष्ट नि:श्रेयस को प्रदान करने वाला अर्थ (धर्म) कहलाता है। महर्षि कणाद् के अनुसार धर्म अभ्युदय और नि:श्रेयस का उद्गम स्थल है :-

यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:[115]
तदाम्नायस्य प्रमाण्यम्[116]

चतुर्विध पुरुषार्थों में धर्म की प्रधानता सर्वविदित है। तदनुसार धर्म के सम्यक् परिपालन से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। आचार्य कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक में धर्म विषयक विभिन्न सम्प्रदायों के विचारों को दर्शाया है[117] -

सांख्य मत - अन्त:करण के कार्यविशेष (वृत्ति) को धर्म कहते हैं।[118]

---

113 ऋ. पु. सू., श्लो. सं. १६

114 मी. सू., १/१/२

115 वै. सू., १/१/१

116 वही, १/१/२

117 श्लो. वा., २/१९५-१९७

बौद्ध मत- सदसत् कर्मों के फलस्वरूप मानस वासनाएँ धर्म हैं ।[119]
जैन मत- देह को आरम्भ करने वाले पुण्यविशेष से उत्पन्न पुद्गलरूप परमाणु को धर्म कहते हैं ।[120]
न्याय मत - विहित कर्मों से उत्पन्न आत्मा का विशेष गुण अदृष्ट(धर्म) है ।[121]
कुछ मीमांसक अपूर्व को ही धर्म मानते हैं ।[122]

मनुस्मृति के अनुसार-

श्रुति: स्मृति: सदाचार: स्वस्य प्रियमात्मन:।
एतच्चतुर्विधं प्राहु: साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्॥[123]

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार-

श्रेयान्स्वधर्मो विगुण: परधर्मास्त्वनुष्ठिताम् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह: ॥[124]

अच्छी प्रकार आचरण में लाये हुये दूसरे के धर्म से गुणरहित अपना धर्म उत्तम है । अपने धर्म में मरना भी कल्याणकर है और दूसरे का धर्म भयावह है । प्रत्येक वर्णाश्रमी के लिये उसका कर्म ही सर्वश्रेष्ठ है । क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त युद्ध ही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है-

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।[125]

अमरकोश में वेद का अपरनाम ही धर्म है-

श्रुति: स्त्रि वेद आम्नायस्त्रयी धर्मस्तु तद्विधि: ।[126]

---

118 श्लो. वा., २/१९५-१९७

119 वही

120 वही

121 वही

122 मी. द. भू. पृ. सं. ३१

123 मनु. २/१२

124 श्रीमद्भग. ३/३५

125 वही २/३१

शास्त्र के अनुसार भी कहा गया है कि धर्म, अर्थ और काम का समता से व्यवहार करना चाहिए । जो मनुष्य केवल एक का ही सेवन करता है वह मनुष्य पाप का भागी बनता है अर्थात् वह जघन्य है :-

धर्मार्थकामा: सममेव सेव्या: ।
यस्त्वेक सेव्य: स नरो जघन्य: ॥[127]

भारतीय संस्कृत वाङ्मय सर्वदा ही विश्व का प्रेरणा स्त्रोत रहा है । यह न केवल भौतिक उन्नति का पोषक रहा है अपितु आध्यात्मिक उन्नति का भी परिचायक रहा है । इसकी शाखाओं एवं उपशाखाओं के प्रत्येक पत्र में ज्ञान का वह अथाह भण्डार है, जो चतुर्विध पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) का वैश्विक परिदृश्य में प्रख्यापन करता है । यह एक ऐसी ज्ञानराशि है जो विश्व अभ्युदय के लिये सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होती है । इस संस्कृति का निर्माण करने में वर्ण और सम्प्रदाय की प्रमुख भूमिका रहती है किन्तु साम्प्रदायिकता का दुरुपयोग किसी भी संस्कृति को कष्ट प्रदान करती है । इस कारण संस्कृति की अखण्डता को चोट पहुँचती है और कभी-कभी तो साम्प्रदायिकता अपनी संस्कृति के रक्षण में दूसरी संस्कृति के तत्त्वों को समूल नष्ट कर देती है जो कि विश्व बन्धुत्व या फिर विश्व व्यापकता के लिये बाधक ही होता है । कुछ समय के लिये तो सम्प्रदाय के लिये लोग एकत्रित हो जाते हैं किन्तु यदि उनका नेता असामाजिक हुआ तो वह समाज को जिस ओर प्रसरित करेगा उस ओर ही समाज गतिशील होगा और यही तथ्य सामाजिकता और संस्कृति का ह्रास करता है । सम्प्रदाय तो सत्य तक पहुँचने के रास्ते हैं किन्तु किसी एक सम्प्रदाय को या केवल अपने सम्प्रदाय को एकमेव सत्य मान लेना और दूसरे सम्प्रदाय को हेय मान लेना ही वास्तविक रूप में साम्प्रदायिकता है । यह भावना तो स्वयं विवाद का कारण तो हैं ही अन्य भेदमूलक प्रवृत्तियों की जन्मदात्री है । साम्प्रदायिकता मन की संकीर्णता की उपज है । संकीर्ण मन में ही जातीयता, क्षेत्रीयता और वर्ग-भेद इत्यादि निकृष्ट भाव उठते हैं । भारतीय संस्कृति में अनेक धर्मों एवं सम्प्रदायों की स्थापना और परस्पर सद्भाव की व्यवस्था है । महाभारत में साम्प्रदायिक सद्भाव के उद्देश्य से कहा गया है :-

धर्म: यो बाधते धर्मं स न धर्म: स तु कुधर्म: ।
अविरोधी तु यो धर्म: स धर्म: सत्यविक्रम: ॥[128]

---

126 अ. को. श. व. ३

127 जा. ह. ६/४१

128 वही, पृ. सं. १६३

यदि कोई धर्मावलम्बी किसी दूसरे धर्म को हेय समझता है तो हमें समझना चाहिए कि स्वयं उसे अपने धर्म का ज्ञान नहीं है क्योंकि किसी भी धर्म में परधर्म के प्रति द्वेष को मान्य नहीं ठहराया है ।[129]

२.४.१.२ भारतीय संस्कृति की शिक्षा-पद्धति

भारतीय परम्परा शिक्षा को सर्वश्रेष्ठ मानती रही है । इसके द्वारा व्यवहार का समुचित सञ्चालन होता रहा है । चतुर्विध पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) की मूलाधारिणी शिक्षा न केवल गुरुओं की गुरु है अपितु इससे विहीन मानव इस पृथ्वी पर भारसदृश साक्षात् पशु हैं । शिक्षा के इसी महत्त्व का अवलोकन करते हुये भारतीय परम्परा में इसका समुचित अध्ययन किया गया है । तदनुसार श्रुति-परम्परा सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होती है । शिष्य अपने गुरु से श्रवण करता था और उसका सम्यक् उच्चारण करता था । यह भी कहा जाता था कि यदि पुस्तकस्थ विद्या है तो वह दूसरे के हस्त में स्थापित धन के समान है, जो आपत्तिकाल में आपका साथ नहीं दे सकता । यह परम्परा अनवरत विद्यमान थी । विद्यार्थी के लिये निम्नलिखित लक्षण ग्राह्य थें :-

काकचेष्टा, वकोध्यानं, श्वान्निद्रा तथैव च ।
अल्पाहारी, गृहत्यागी विद्यार्थीपञ्चलक्षणम् ॥[130]

काक जैसी चेष्टा विद्यार्थी में जिज्ञासा उत्पन्न करती थी । बगुले जैसा ध्यान शिष्य में शिक्षा के प्रति एकाग्रता का द्योतक था । श्वान् जैसी निद्रा आलस्य की परिहारिका एवं शीघ्रता की परिचायिका थी । अल्प आहार का ग्रहण भी आलस्य का अपवारण करने के लिये ही था । विद्यार्थी के लक्षण में गृहत्यागी का समावेश इसलिये हुआ क्योंकि गृहस्थ माता-पिता का स्नेह विद्यार्थी के समुचित अध्ययन का बाधक था । चूँकि उसे सम्पूर्ण जीवन का निर्वाह करना था अत: उसे जीवन के दु:खों का अनुभव कराने के लिये भिक्षाटन करवाया जाता था, जो वह अपने गृह पर रहकर नहीं कर सकता था । अत: उसका गृहत्याग भी आवश्यक ही था । कोई भी शिक्षा पद्धति व्यवहार का सुनियोजित सञ्चालन करने के लिये बनाई जाती है । तर्क कर्त धातु से निर्मित है । इसका काम कर्तन करना होता है । वह केवल विद्वानों के बौद्धिक विलास की उपज मात्र प्रतीत होता है । हमें किस साधन से ज्ञान की प्राप्ति होती है । इससे ज्यादा जरूरी यह जानना होता है वह ज्ञान हमारे व्यवहार के लिये कितना सदुपयोगी है । ज्ञानं भार: क्रियां बिना को समझे बिना ही हम केवल साधन में ही उलझ कर रह जाए तो फिर वह ज्ञान हमारे व्यवहार के लिये भी अनुपयोगी हो जाएगा ।

---

129 जा. ह. ६/४१

130 नी. शि. पृ. सं. ८

न केवल शिष्य के ही अपितु गुरु के लिये भी कर्तव्य निर्धारित थें । तदनुसार विद्यार्थी के सम्पूर्ण मानसिक, शारीरिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिये गुरु ही उत्तरदायी होता था । इस प्रकार भारतीय सभ्यता में व्याप्त गुरुकुल के परिवेश, उसकी शिक्षा एवं उसके कर्तव्य के आधार पर ही भारत विश्व में जगद्गुरु पद पर प्रतिष्ठित था । सभी प्राणी सुखपूर्वक जीवन यापन करना चाहते हैं । इसी सुख की प्राप्ति के लिये अनेक मार्ग का चयन मतभिन्नता के आधार पर होता है । साध्य एक होते हुये भी साधन का पृथक् हो जाना ठीक इसी तथ्य को दोहराता है कि गन्तव्य एक होने पर भी मार्ग विविध हो सकते हैं । वैदिक परम्परा न केवल भारत की अपितु विश्व की प्राचीन सभ्यता मानी जाती है । वेद भारतीय संस्कृति के प्राण कहे जाते हैं । भारतीय वाङ्मय में वेद का स्थान सर्वोपरि है । वेद न केवल चतुर्विध पुरूषार्थ के साधन मात्र हैं अपितु सम्पूर्ण ज्ञान के मूलाधार कहे जाते हैं । अत: कहा भी गया है :-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता ॥[131]

वेदोऽखिलं धर्ममूलम्[132] समस्त वैदिक वाङ्मय वर्णाश्रमधर्मरूपी वृक्ष का मूल है । मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्[133] इस वचन के अनुसार ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, कृष्ण यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में विभक्त है । समस्त वैदिक वाङ्मय में उपनिषदों का स्थान अन्तिम है । अत: उसे वेदान्त की भी संज्ञा दी जाती है । दर्शन का मूलार्थ देखना होता है । भारतीय दर्शन मात्र बौद्धिक विलास की वस्तु न होकर व्यवहारिक भी है । बाह्य और आन्तरिक प्रभेद से इसका द्विविध विभाजन भी अवलोकित होता है । कुछ दार्शनिक सम्प्रदाय इसके बाह्य पक्ष को प्राथमिकता देते हैं तो कुछ इसके आन्तरिक पक्ष को । जहाँ एक तरफ चार्वाक दर्शन भौतिकता के चरमोत्कर्ष को दर्शाता है तो वही वेदान्त दर्शन उसी भौतिकता में सर्वोच्च सत्ता का भी दिग्दर्शन कराता है । "मृग्याभेदेऽपि मार्गभेदस्य संभव:" इस आधार पर भले ही सर्वोच्च सत्ता का अन्वेषण इनका परम लक्ष्य है किन्तु साधकों के अनुभव की भिन्नता के कारण इनके साक्षात्कार मार्ग पृथक् हैं ।

भारतवर्ष की सूक्ष्म चिन्तन सरणि में वेदान्त की आध्यात्मिकता दु:खों को दूर करने का अप्रतिम साधन है । वेदान्त दर्शन में उपनिषदों का सूक्ष्म निदर्शन प्राप्त होता है और यह निदर्शन विश्व-बन्धुत्व का सन्देश देता है । देवों की भाँति कर्म करते हुये मनुष्य कैसे जीवित रह सकता है ? जब वह दूसरों के सुख को अपना सुख और दूसरों के दु:ख को अपना दु:ख समझेगा तब मोह और शोक आदि स्थान का अवकाश ही नहीं रह जाता है । जो व्यक्ति इस तरह से अद्वैत का अनुशरण करता है, वह वस्तुत: भारतीय संस्कृति का ही द्योतक होता है -

---

131 मी. द. भू. पृ. सं. ९

132 ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ. सं. २२

133 वही

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानत: ।
तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वमनुपश्यत: ॥[134]

भारतीय संस्कृति में पण्डित और विद्वान् उसे ही कहा जाता है जो सबमें समान दृष्टि रखता है ।[135] वह या तो विद्वान् ब्राह्मण हो या गाय हो या हाथी हो या कुत्ते का शिशु हो या फिर भण्डारी हो सबमें एक ही तत्त्व का दर्शन करे वही पण्डित कहा गया है ।[136] पण्डित के विषय में यह भी कहा गया है कि जो व्यक्ति अपनी शक्ति को जानता है शक्ति के अनुकूल कार्य करता है, दु:खादि का सहन करता है, धर्म में अविचलित रहता है और जिसे सांसारिक विषय अपनी ओर आकृष्ट नहीं करते उसे ही पण्डित ज्ञानी कहते हैं ।[137] पण्डित उसे भी कहा जाता है जो दूसरे की स्त्री में स्वयं की माता का दर्शन करे, दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के समान समझे और सभी प्राणियों को अपने समान ही समझे जो ऐसी दृष्टि रखता है अर्थात् जो ऐसा देखता है उसे भी पण्डित कहते हैं ।[138] इस प्रकार भारतीय संस्कृति में पण्डित शब्द भी व्यापकता का सन्देश प्रसारित करता है और विश्व बन्धुत्व के सन्देश को स्थापित करने में सहायक होता है । माननीय भारतरत्न प्राप्त पण्डित महामना मदन मोहन मालवीय जी ने डॉक्टरेट की उपाधि से कहीं अधिक पण्डित की उपाधि को सर्वश्रेष्ठ मानते हुये डॉक्टरेट के उपाधि का प्रस्ताव ठुकरा दिया था ।

२.४.१.३ भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान

भारतीय संस्कृति में नारी को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है । नारी[139] इस स्थूल सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ उपहार है । यह आद्या सृष्टि के साथ ही पालिका और पोषिका भी है । इसका स्थूल रूप आनन्ददायक है तो इसके सूक्ष्म रूप में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाहित है, फलत: इसका अपर अभिधान शक्ति भी है । शक्ति का एक स्वरूप ममता तथा करूणा से ओत-प्रोत है तो उसका द्वितीय स्वरूप क्रोधयुक्त दुर्गा तथा काली भी है । भारतीय परम्परा विविध सम्प्रदायों में अवस्थित होते हुये भी एकत्व का पूर्ण समर्थन करती है । यहाँ धर्म तथा दर्शन समकक्ष शब्द माने जाते हैं । दोनों ही व्यवहार का समुचित सञ्चालन करने के लिये प्रवृत्त होते हैं । पुरुष

---

134 ईश. उ., ७

135 विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन: ॥ श्रीमद्भ. ५/१८

136 वही ।

137 आत्मज्ञानसमारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
यमर्था च नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ वि. नी. ३/२/१

138 मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु य: पश्यति स पण्डित: ॥ शु. नी. ५/२८

139 स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधू: । अ. को., म.व. २

और नारी समाज के अभिन्न अंग हैं। नारी के बिना पुरुष तथा पुरुष के बिना नारी अधूरी है। दोनो का मिलन ही एक नवीन सृष्टि की संरचना करता है, फलस्वरूप लौकिक व्यवहार में नारी का वामाङ्ग तथा पुरुष का दक्षिणाङ्ग शुभ माना जाता है। संस्कृत शब्द पुरुष का तात्पर्य है पुरि शेते इति पुरुष:[140] अर्थात् पुर (शरीर) में शयन करने वाला पुरुष पद से अभिहित होता है। आधुनिक अवधारणा के अनुसार पुरुष का अर्थ अन्य ही अवलोकित होता है जो उसके मूलार्थ से अति दूर अवस्थित है। तदनुसार विविध भाषाओं में पुरुष का अर्थ एक शरीर विशेष है जो उसे अन्य शरीरों से व्यावर्तित करता है। आधुनिक पुरुष प्रधान समाज में नारी की स्थिति का दयनीय होना स्वार्थता का प्रतीक है, जो उसके महत्त्व को नहीं समझते हुये स्वत्वविनाश की ओर जा रहा है। स्थूलतया पुरुष के आभ्यन्तर में भी स्त्रीत्व है तथा स्त्री के आभ्यन्तर में भी पुरुषत्व है किन्तु सूक्ष्मतया सर्वत्र पुरुषत्व है क्योंकि इसका व्यापक अर्थ है, साक्षात् परब्रह्म, जो तुरीयावस्था की ओर इङ्गित करता है। शैवदर्शन में शक्ति बिना शिव शव होकर नाम धाम से रहित हो जाता है :-

शक्तया बिना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते।[141]

शिव शब्द में इकार निकाल देने से वह शव हो जाता है अत: बिना शक्ति के शिव का कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार अर्धनारीश्वर की परिकल्पना भी भारतीय संस्कृति की एक विशिष्ट देन है। वेदों में पृथ्वी को माता माना गया है तथा स्मृतिग्रन्थों में तो यह भी कहा है कि जहाँ नारी की पूजा की जाती है, वही देवताओं का वास रहता है। भारतीय चतुर्विध आश्रमों में गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। गृहस्थाश्रमरूपी रथ के पति और पत्नी दो पहिये हैं। जहाँ एक पहिये में खराबी होने से रथ की गति में अवरोध उत्पन्न होता है, वहाँ यदि दोनो ही पहिये खराब हुये तो रथ का चलना ही कठिन हो जाता है। संयम एवं मर्यादा के पथ पर चलता हुआ गृहस्थरूपी रथ शीघ्र ही अपने गन्तव्य पर पहुँच सकता है। कहा भी गया है :-

भार्या मूलं गृहस्थस्य भार्या मूलं सुखस्य च।
भार्या धर्मफलायैव भार्या सन्तानवृद्धये॥[142]

आधुनिक काल में भी भारत के विभिन्न प्रान्तों में सनातन धर्म की जीवन्त परम्परा में स्त्री के दर्शनमात्र से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की पूजा हो जाती है। इस धर्म के मत में सम्पूर्ण चराचर नारीरूप ही है, अत: स्त्री भोग्या न होकर पूज्या है। उसके बिना सृष्टि का कोई भी कार्य अधूरा है। स्त्रियों का हरण करनेवाला तथा कन्याओं को मारनेवाला देवताओं से शापित एवं

---

140 सां. द. पृ. सं. ४८

141 श. सं. त. का. ख., १/९८ पृ. सं. १२३

142 स्क. पु. ब्र. ख. ७

सदा दरिद्र होता है । अर्द्धनारीश्वर की अर्चना करनेवाले स्त्रियों की निन्दा, उनपर प्रहार इत्यादि को सदैव त्यागने की बात करते हैं-

स्त्रीषु निन्दां प्रहारं च सर्वथा परित्यजेत् ।
परद्रव्यं परस्त्रीं च परान्नं च सर्वथा त्यजेत् ॥[143]

वेदान्त दर्शन में नारी को माया का प्रतीक माना गया है तथा ब्रह्मप्राप्ति के लिये उसका विनाश आवश्यक माना गया है । वह परमेश की शक्ति है किन्तु वह विवेक का नाश करती है और उसी के प्रभाव से जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर इस सृष्टि के बन्धन में उलझ जाता है । माया का ग्रहण बन्धन है तथा उसका विनाश मुक्ति है । यदि हम इस सिद्धान्त को व्यवहार से जोड़कर देखें तो हमें ज्ञात होता है कि नारी का साहचर्य जहाँ जनसामान्य के लिये भोग प्राप्ति का साधन है वही उसका परित्याग मोक्ष का साधन माना गया है । महात्मा बुद्ध इसके साक्षात् प्रमाण हैं, जिन्होनें ने स्त्री को निर्वाण का उपदेश देना भी उचित नहीं समझा । नारी के साथ रहते हुये अत्यल्प व्यक्तियों को ही मोक्ष प्राप्त करते देखा गया है नहीं तो अधिकांशत: को विवाहानन्तर उसका साथ छोड़ना पड़ा है या फिर आजीवन अविवाहित ही रहना पड़ा है । इन सारी आलोचनाओं के बाद भी विवाह के बिना पुरुष सर्वदा अपूर्ण ही रहा है । भारतीय संस्कृति में उसकी पूर्णता स्त्री के साहचर्य में ही निहित है ।
विषयों में सर्वप्रधान विषय है :- पुरुष के लिये नारी तथा नारी के लिये पुरुष । इनमें नारी की अपेक्षा पुरुष प्राणी का चित्त अधिक दुर्बल है अत: उसका पतन शीघ्र हो जाता है (और उसके पतन में तो नारी का पतन है ही क्योंकि उसी के आधार से पुरुष का पतन होता है ।) नारी का दर्शन-स्पर्श तो दूर रहा उसका श्रवण-कथन भी पुरुष को पतित करने के लिये पर्याप्त है । इसलिये विवाह के द्वारा एक स्त्री के साथ एक पति का संसर्ग सीमित करके शास्त्रों में उसे ऐसा नियमबद्ध कर दिया है कि जिससे उसके जीवन में कभी असंयम आ ही न सके । यह पवित्र बन्धन लौकिक अभ्युदय तथा नि:श्रेयस की सिद्धि के लिये सम्पन्न होने वाला एक पवित्र धार्मिक संस्कार है ।
शैवदर्शन इसलिये परब्रह्म शिव की शक्ति को सत्य मानता है । वह शिव के साथ नित्य है । जीवावस्था हो या फिर शिवावस्था दोनों (शिव और शक्ति) का साहचर्य सदैव बना रहता है । जिस प्रकार नारी भौतिक जीवन में प्राणी को आनन्दमय जीवन प्रदान करती हुयी उसे संयमित करती है, उसी प्रकार वह प्राणी का आध्यात्मिक जीवन भी प्रशस्त कर सकती है । यदि वह चतुर्विध पुरुषार्थों में प्रथम तीन धर्म, अर्थ तथा काम में अर्धभागिता निभा सकती है तो फिर मोक्ष में भी उसकी अर्धभागिता उपादेय है । न केवल पत्नी रूप में ही इनकी अर्धभागिता है अपितु मातृरूप में भी इनकी उपादेयता है । भारतीय संस्कृति लौकिक व्यवहार में भी षोडश मातृकाओं को प्राथमिकता प्रदान करती है, जो श्रुति सम्मत भी है :-

स्तनदात्री गर्भदात्री भक्ष्यदात्री गुरुप्रिया ।

---

143 श. सं. त. का. ख., ११/३२ पृ. सं. १२३

अभीष्टदेवपत्नी च पितु: पत्नी च कन्यका ॥
सगर्भजा या भगिनी पुत्रपत्नी प्रियाप्रसु: ।
मातुर्माता पितुर्माता सोदरस्य प्रिया तथा ॥
मातु: पितुश्च भगिनी मातुलानी तथैव च ।
जनानां वेदविहिता मातर: षोडश स्मृता : ॥[144]

अर्थात् स्तनपान कराने वाली, गर्भधारण करनेवाली, भोजन कराने वाली, गुरुपत्नी, इष्टदेवता की पत्नी, पिता की पत्नी (विमाता), पितृकन्या (सौतेली बहन), सहोदरा बहन, पुत्रवधू, सासु, नानी, दादी, भाई की पत्नी, मौसी, बुआ और मामी ये सोलह प्रकार की माताएँ वेदविहित हैं। कहा भी गया है :-

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।[145]

प्रकृति शक्ति है, पुरुष शक्तिमान् है । शक्ति के बिना शक्तिमान् का अस्तित्व नहीं और शक्तिमान् के बिना शक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है । शक्ति-शक्तिमान् का अविनाभाव सम्बन्ध है । नर पुरुष का तथा नारी प्रकृति का प्रतीक है । दोनों के कर्तव्य तथा कर्मक्षेत्र पृथक्-पृथक् होने पर भी वे एक ही शरीर के दक्षिण और वाम दो अङ्गों की भाँति एक ही शरीर के दो संयुक्त भाग हैं और दोनों के कार्य भी एक दूसरे के पूरक तथा एक ही शरीर की समृद्धि, सुव्यवस्थितता, पुष्टि और तुष्टि के कारण हैं । नारी नर की पत्नी होने पर भी नर नारी का सेवक, सखा और स्वामी है। इसी प्रकार नर नारी का पति होने पर भी नारी नर की स्वामिनी, सखी तथा सेविका है । स्त्री-पुरुष में एक ही पुरुष तत्त्व, जो चेतन है समानभाव से विराजमान है और दोनों के शरीर एक ही प्रकृति तत्त्व से बने हुये हैं। दोनों की संसारासक्ति और संसार-बन्धन समान है और मोक्ष का अधिकार भी दोनो को समान ही है। यह सृष्टि परमेश्वर की एक ही शक्ति का ही प्रतिफलन है। कहा भी गया है :-

एकैव शक्ति: परमेश्वरस्य
भिन्नाश्चतुर्धा व्यवहारकाले ।
पुरुषेषु विष्णु: भोगे भवानी
समरे च दुर्गा प्रलये च काली ॥[146]

---

144 ब्र. सू. श्री. प्र. भा., पृ. सं. २४३

145 दु. स. दे., श्लो. सं. २

146 दु. प. भू., पृ. सं. १

इस प्रकार लौकिक व्यवहार के प्रत्येक कर्मों में पुरुषों और स्त्रियों को समान अधिकार है। इन कर्मों से नारी और पुरुष दोनों के आन्तरिक तथा बाह्य दोषों का निवारण होता है तथा उनके सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है। हमारा भारतवर्ष पितृसतात्मक माना जाता है, अत: अधिकांशत: पुरुष ही समाज के नेता रहे हैं। आधुनिक युग में सुधार हो रहा है किन्तु आज भी महिलाएँ पुरुषों की तुलना में अत्यधिक पीछे ही हैं। आज भी ग्रामीण लोग शिक्षा के अभाव में अल्पायु में ही अपने बच्चियों की शादी करते हैं जिसका परिणाम भयावह निकलता है। आज भी दहेज-प्रथा एक सामाजिक विषमता के रूप में सबके समक्ष है। कई लोग आज भी दहेज लेना प्रतिष्ठा का विषय मानते हैं, जिसका भारतीय संस्कृति के अन्दर किसी भी प्रकार का स्थान नहीं है और भारतीय संस्कृति इस तरह के नारी विरोधी कर्मों को अनुचित ही मानती है । प्रत्येक कण को यदि हम एक ही तत्त्व से निर्मित माने तो प्रकृति के प्रति प्रेम बढ़ेगा तथा पर्यावरण में होनेवाली मानव द्वारा दोहन प्रक्रिया भी नियंत्रित होगी। जहाँ पर सबकुछ अद्वैत हो जाएगा वहाँ पर क्रोध, मोह, लोभ इत्यादि दुर्गुणों का अवश्य ही नाश हो जाएगा :-

क्रोध की होइहे द्वैत बिनु द्वैत की बिनु अज्ञान।[147]

एकात्मक स्थिति में वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना स्वयमेव ही आ जाती है और यह भावना त्यागपूर्वक जीवन का मार्ग प्रशस्त करती है। इस भावना के कारण पर्यावरण विशुद्ध होता है तथा प्रकृति के तत्त्वों का कम से कम दुरुपयोग होता है। भारतीय संस्कृति में प्रकृति के प्रति सम्मान की भावना है। तदनुसार प्रकृति के प्रति दास भावना रहनी चाहिए न कि उस पर शासन करने की। आज का समाज जिस भौतिकता के चरमोत्कर्ष को विकास का नाम दे रहा है। वह विकास का भवन अनेक पर्वतों और नदियों के शव पर स्थित प्रतीत होता है। लोभ की इस धारा में धनमात्र ही अवशेष रह गया है । सम्बन्धों का विनाश हो ही रहा है । जन्मदाता माँ-बाप भी अब घर में अवशिष्ट पदार्थ समझे जा रहे हैं। लोग नगरों की तरफ भागने पर मजबूर हो रहे हैं और इससे पृथ्वी में असन्तुलन ही बढ़ रहा हैं जिससे भूकम्पादि की सम्भावना बढ़ती जा रही है । ऐसे समय में आवश्यकता है हमें स्वयं को जानने की क्योंकि आत्मज्ञान से अपने पराये का भेद समाप्त हो जाएगा। हम संसार के तथा संसार हमारा हो जाएगा। ज्ञानविज्ञानसहितं[148] को आज सम्पूर्ण विश्व भले ही आदर्श रूप में मान रहा है किन्तु सम्प्रति केवल इस विश्व को भौतिक उन्नति ही लक्ष्य मात्र प्रतीत हो रही है, जो कि वैश्विक अशान्ति का प्रमुख कारण है। हमें क्रियात्मक ज्ञान के अतिरिक्त उस ज्ञान के हानि-लाभ पर भी विचार करना होगा, जो कि विश्व के लिये चिन्ता का विषय है। आज जिसको हम विकास का नाम दे रहे हैं, वह केवल भौतिक विकास ही है। इस विकास से हमें कभी भी मानसिक एवं आध्यात्मिक शांति प्राप्त नहीं हो सकती । आज बुद्धिजीवी वर्ग में

---

[147] रा. च. मा. उ. का.

[148] मी. द. भू., पृ. सं. ११

आत्महत्या की सम्भावना प्रबल होती जा रही है । इसका प्रमुख कारण है कि हम भौतिक सुख-सुविधाओं से अपनी रिक्तता को आवृत करना चाहते हैं किन्तु यह पूर्णरूपेण हमें आवृत नहीं कर पाता है । फलत: हम रिक्तता को दूर नहीं कर पाते और हमारा मन अशान्त रहता है । अशान्तस्य कुत: सुखम्[149] के अनुसार अशान्त मनुष्य सुखी नहीं रह सकता है । आधुनिक काल में द्रव्य मात्र अवशेष रह गया है । हम पाश्चात्य सभ्यता का बहुविध अनुकरण कर रहे हैं, जिससे हमारी वास्तविक परम्परा का ह्रास ही हो रहा है । हम केवल भौतिक उन्नति के साधनों को ही सर्वस्व मान बैठे हैं । इस प्रकार आज हमें आवश्यकता है ऐसे मार्ग की जो हमें सम्पूर्ण विकास की ओर अग्रसर करें । हमारी सनातन परम्परा जीवन के प्रत्येक पथ का नियोजन वैश्विक परिदृश्य के आलोक में करती हैं किन्तु आधुनिक भारतीय परम्परा पाश्चात्य का अनुकरण करके केवल स्वार्थता एवं लोलुपता का भला चाहती है । आज उन कर्मचारियों की संख्या अत्यल्प है जो अपने कर्तव्य का निर्वहण भलीभाँति करते है । उसके कार्य से भले ही पर्यावरण की क्षति हो, प्रकृति का ह्रास हो किन्तु उन्हें केवल द्रव्य मात्र का लाभ ही अवलोकित होता है जिसके कारण हमारा समाज अवनति को प्राप्त होता दिख रहा है । भौतिक सुख सुविधाओं से हम कदापि सुख नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि वह क्षणिक हैं । नेताओं में त्याग की भावना, आयकर इत्यादि चौरकर्म का निराकरण एवं बुजुर्गों तथा स्त्रियों का सम्मान इस दर्शन से सम्भव है । इस भावना से विश्व की सबसे बड़ी समस्या आतङ्कवाद को भी समाप्त किया जा सकता है । प्रकृति के प्रत्येक कण को जब वह अपना समझने लगेंगें तो उनमें क्रोध की जगह प्रेम का सञ्चार होगा और वें भी आनन्दमय जीवन व्यतीत करेंगे । जैसे महात्मा बुद्ध के उपदेश के पश्चात् अङ्गुलीमाल डाकू सुधर गया तथा नारद के उपदेश के फलस्वरूप रत्नाकर डाकू वाल्मीकि बना । किसी भी राष्ट्र को (जो विकास की कामना रखता है) ऐसी भावनाओं से ओत-प्रोत होना चाहिए क्योंकि व्यक्ति की भावनायें ही कार्योन्मुखी होती हैं और इसी से उस संस्कृति का भी भला होता है । वस्तुत: परमसत्ता निराकार है तभी तो हम सुन्दर मूर्ति के समक्ष आँख मूंदकर उसकी सूक्ष्मता का आभास करने का प्रयत्न करते हैं । काली की भयानक मूर्ति में भी ममतामयी माँ का अवलोकन भी इसी तथ्य को दर्शाता है । मनुष्य के लिये प्रकृति का प्रत्येक कण देव तुल्य हैं तभी तो हम नदी, पर्वत, वृक्ष एवं अन्न इत्यादि की पूजा करते हैं । इस सिद्धान्त से राष्ट्र का स्थान परब्रह्म की कोटि को प्राप्त करता है, जो भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है । यह सिद्धान्त न केवल विश्व को ही कुटुम्ब मानता है अपितु अपने राष्ट्र के प्रति भी अगाध श्रद्धा रखता है ।

---

[149] श्रीमद्भ., ६/८

तृतीय अध्याय : भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में शैव एवं वीरशैवमत की परम्परा

भारतीय संस्कृति वैश्विक संस्कृति के अपर अभिधान से अभिज्ञात होती रही है और इसी उप-क्रम में भारतीय संस्कृति के निर्माण में वीरशैवमत भी अपना विशिष्ट महत्त्व प्रदर्शित करता है। संस्कृति के उपादान तत्त्वों के अन्तर्गत दर्शन और धर्म का विशेष महत्त्व रहा है। दर्शन संस्कृति की सूक्ष्मता और व्यापकता प्रदर्शित करता है तो धर्म उसके व्यवहारिक स्वरूप को दर्शाता है। भारतीय संस्कृति के प्रमुख देव अथवा तत्त्व के रूप में शिव का वर्णन प्राप्त होता है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, आगम, महाकाव्य, वैद्यक आदि शास्त्रों ने शिव की महिमा को पूर्णरूपेण दर्शाया है। दृष्टिभेद होने से शिव को अनेक रूप में साक्षात्कार करने के कारण तत्सम्बन्धी मार्गभेद भी भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत दृष्टिगोचर होता है। दार्शनिक रूप से उनका विभाजन निम्न प्रकार से वर्णित है -

३.१ शैव दर्शन

शिव भारतीय सनातन परम्परा में प्रमुखरूप से प्रतिष्ठित हैं। शिव को परब्रह्म के रूप में स्वीकार करनेवाले शैव कहे जाते हैं। तत्सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्त इन विचारों को दर्शन पद से द्योतित करते हैं। इस प्रकार शिव को परब्रह्म या सर्वोच्च सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करनेवाले विचार शैवदर्शन की परिधि में आते हैं। आचार्य शङ्कर, पाणिनि, पतञ्जलि, भर्तृहरि, महाकवि कालिदास, आचार्य अभिनवगुप्त आदि अनेक आचार्यों ने शिवोपासना की है। शिव को धर्म विशेष से संयुक्त कर उनकी व्यापकता को सङ्कीर्ण करने का प्रयत्न किया जाता रहा है किन्तु वें जनसामान्य में सगुणरूप से सर्वाधिक लोकप्रिय देव रहे हैं। उनकी पूजन-सामग्री सहज ही उपलब्ध हो जाती है। इनके लिङ्गस्वरूप की प्राचीनता आधुनिक इतिहासकारों को भी स्वीकृत है। लिङ्गस्वरूप तो मूलत: निराकार का ही द्योतक है। सम्प्रति भारत में विद्यमान शैव दर्शन के प्रभेदों का इस प्रकार अवबोध किया जा सकता है।

३.१.१ द्वैत शैवदर्शन

इस दर्शन का प्रारम्भ वेदों में उल्लिखित पशुपति शब्द से माना जाता है। इसके प्रतिपादक दर्शन द्विविध हैं (१) पाशुपतदर्शन तथा (२) सिद्धान्तशैवदर्शन। इन दोनों में प्रमुख भेद यह है कि पाशुपत शैव दर्शन दस शैवागमों (कामिकादि से लेकर अंशुमानागम पर्यन्त) में प्रतिपादित है जबकि सिद्धान्त शैव दर्शन अष्टादश रुद्रागमों (विजयागम से लेकर वातूलागम पर्यन्त) में निरूपित है।

३.१.१.१ पाशुपत शैव दर्शन

सम्प्रति इस दर्शन का प्रतिपादक कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । उपलब्ध आगमों में भी इसके दार्शनिक प्रक्रिया को प्रतिपादित करने वाले समग्र कारक अनुपस्थित दृष्टि-गोचर होते हैं । इसके तात्त्विक स्वरूप का अधिगम करने के लिये बादरायणीय ब्रह्मसूत्र और उसकी टीकाओं में तथा हरिभद्रसूरि एवं राजशेखर द्वारा विरचित क्रमश: षड्दर्शन-संग्रह एवं षड्दर्शन-समुच्चय नामक ग्रन्थों में खण्डन के लिये उपन्यस्त सिद्धान्त का अवलोकन किया जा सकता है । महर्षि बादरायण व्यास द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्र के पत्यधिकरण में निराकरण के लिये पत्यु-रसामञ्जस्यात् सूत्र की उपस्थापना में पाशुपत मत का निराकरण किया गया है । हरिभद्रसूरि ने अपने षड्दर्शनसमुच्चय में पाशुपत मतावलम्बियों को मुख्य तपस्वियों में परिगणित किया है ।[1] कुछ विद्वानों के मत में उपर्युक्त सूत्र में निराकृत दर्शन लकुलीशपाशुपतदर्शन है । चार्वाक दर्शन के सदृश ही पाशुपत दर्शन के सिद्धान्त को अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापन के द्वारा ही जाना जा सकता है । वीरशैवदर्शन ने इसको प्रतिष्ठा का विषय मानते हुये कहा है कि इसका खण्डन किसी भी प्रकार से नहीं करना चाहिये ।[2] तदनुसार आगमों के अनेक प्रकार में पाशुपतागम भी था ।[3] रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्र-श्रीभाष्य के पत्यधिकरण में पाशुपत मत को वेदविरोधी तथा अनादरणीय बताया है ।[4] ब्रह्मसूत्रश्रीकर-भाष्य के अनुसार मिश्र, रौद्र, पाशुपत, गाणपत्य, सौर, शाक्त, कापालिक और वैष्णवादि मत शैव मत के आभासक मत में परिगणित हैं ।[5]

पाशुपत मत और लकुलीश-पाशुपत मत के मोक्षस्वरूप में भेद दृष्टिगोचर होता है । पाशुपत मत के अनुसार सभी दु:खों का अन्त मोक्ष है जबकि लकुलीश पाशुपत मत के अनुसार केवल दु:खान्त ही मोक्ष नहीं है अपितु परमैश्वर्य की प्राप्ति मोक्ष है ।[6] इस दर्शन में कारण, कार्य, योग, विधि तथा दु:खान्तरूप पञ्च पदार्थ हैं और ये पदार्थ पाशुपत तथा लकुलीश पाशुपत दोनों मत में स्वीकार किये गये हैं । यहाँ ईश्वर पति और निमित्तकारण है तथा दुखान्त ही

---

1 शैवा: पाशुपताश्चैव महाव्रतधरास्तथा । तुर्या: कालामुखा मुख्या भेद एते तपस्विनाम् ॥ ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू., पृ. सं. ६०

2 सांख्यं योग: पाञ्चरात्रं वेदा: पाशुपतं तथा । एतानि मानभूतानि नोपहन्यानि युक्तिभि: ॥ सि. शि. म. ५/४, पृ. सं. ५७

3 आगमा बहुधा प्रोक्ता: शिवेन परमात्मना । शैवं पाशुपतं सोमं लाकुलं चेति भेदत: ॥ वही, ५/९, पृ. सं. ५९

4 इदानीं पशुपतिमतस्य वेदविरोधादसामञ्जस्याच्चानादरणीयतोच्यते । तन्मतानुसारिणश्चतुर्विध: - कापाल:, कालामुखा:, पाशुपता: शैवाश्चेति । निमित्तकारणं च पशुपतिमाचक्षते इति वदन्ति । श्रीभाष्य, पत्यधिकरण, ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू., पृ. सं. ५९

5 शैवमताभासकमिश्ररौद्रपाशुपतसौरशाक्तकापालिकवैष्णवादिमतानां वा इति विषय: इति तत्पाशुपतं शैवमताभासकमतेषु परिगणितम् । वही, पृ. सं. ६०

6 पाशुपतलकुलीशपाशुपतयो: मोक्षस्वरूपे भेदो दृश्यते । पाशुपतमते सर्वेषां दु:खानामन्त एव मोक्ष: । लकुलीशपाशुपतमते तु न केवलं दु:खान्त: किन्तु परमैश्वर्यावाप्तिर्मोक्ष: इति । वही

मोक्ष है ।[7] लकुलीश को शिव के अष्टादश अवतारों में एक माना जाता है । पाशुपत शैव सम्प्रदायों में प्राचीन काल की लकुलीश की मूर्त्तियाँ राजस्थान, गुजरात, मालवा, बंगाल में प्राप्त होती हैं। इस मूर्ति में शीश पर जटा, दो भुजायें (बायीं भुजा में लकुट अर्थात् दण्ड और दायीं भुजा में बिजौरा अर्थात् बीजपूर) तथा पद्मासनावस्था प्राप्त होती हैं। मूर्ति के अध: में कहीं-कहीं नन्दी और कहीं-कहीं दोनों ओर एक-एक जटाधारी साधु भी निर्मित होता है । ऐसा माना जाता है कि इस मत को माननेवाले प्राय: साधु कनफड़े (नाथ) होते थे । इस अवतार का विशेष प्रभाव मेवाड़ में रहा । एकलिङ्ग, मेनाल, तिलिस्था, बालोड़ी आदि स्थानों के अतिप्राचीन शिव-मन्दिर इसी सम्प्रदाय के हैं । इनके पुजारी कनफड़े साधु शरीर पर भस्म रमाकर आजीवन ब्रह्मचारी रहते थे। लकुलीश के चार शिष्य कुशिक, गार्ग्य, मैत्रेय और कौरुष नाम से अन्य चार सम्प्रदाय के प्रचलन का भी अभिज्ञान होता है । इनमें एकलिङ्ग के मठाधीश कुशिक सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अब इस सम्प्रदाय के लोग लकुलीश को विस्मृत कर गोरखनाथ को अपना आदिगुरु मानते हैं।[8] आदिमध्ययुग में उत्तर भारत में शैवोपासना की प्रसिद्धि रही । गढ़वाल, चेदी, चन्देल्ल, उड़ीसा, आसाम के हर्जरवर्मा तथा वैद्यदेव, बङ्गाल के विजयसेन और बल्लालसेन, पश्चिम भारत के देवपाल, परमार और भर्तृवढचाहमान स्वयं को परममाहेश्वर उपाधि से अलङ्कृत करते थे । मत्तमायूर के अवन्तिवर्मन् और दाहल के चेदिराजा ने अपने राज्य शैव-सिद्धान्त के गुरुओं को समर्पित कर दिया था। प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार एक सोलंकी शासक ने पूरा मालव-प्रान्त उज्जैन के महाकालेश्वर को अर्पित करके शासन-व्यवस्था के लिये परमारों को नियुक्त किया था। कहीं-कहीं पाशुपत की तीन कोटियाँ मानी गयी हैं। इनमें जो शूलादि धारण करता है वह तान्त्रिक पाशुपत है। जो लिङ्ग, रुद्राक्ष, भस्मादि धारण करता है वह वैदिक पाशुपत है और जो सूर्य, शिव, शक्ति, गणेश और विष्णु की समभाव से पूजा करता है, वह मिश्र पाशुपत है ।[9] महाभारत में पाशुपत को पाँच मतों के अन्तर्गत माना है।[10] लकुलीश और गोरक्ष के समान ही श्रीकण्ठाचार्य भी इसके प्रणेता के रूप में विख्यात रहे हैं। अभिनवगुप्तकृत तंत्रालोक के द्वादश आह्निक के पृष्ठ संख्या ३९६ में कहा है कि लकुलीश और श्रीकण्ठ दोनो ही शिवशासन में आप्त हैं। वहीं पृष्ठ संख्या ३४० में लकुलीश को शिव का अवतार बताकर श्रीकण्ठ को उनके यश का उद्घोषक बताया है । पाशुपतमत में नाथ सम्प्रदाय जैसा कोई

---

[7] अस्मिन् दर्शने कारण-कार्य-योग-विधि-दु:खान्तरूपा: पञ्चपदार्था: । ये च लकुलीशपाशुपतनामकद्वैता-द्वैतशैवदर्शनप्रवर्तकेन लकुलीशेनापि स्वीकृता: । अत्र ईश्वर: पतिर्वा निमित्तकारणम् । दु:खान्त एव च मोक्ष: इत्यभ्युपगतम् । ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू., पृ. सं. ६१

[8] न(ल)कुलीशमूर्ध्वमेढ्रं पद्मासनसुसंस्थितम् । दक्षिणे मातुलिङ्गं च वामे दण्डं प्रकीर्तितम् ॥ विश्वकर्मावतार, वास्तुशास्त्र, ए. लि. मा., पृ. सं. ५०

[9] तान्त्रिकं वैदिकं मिश्रं त्रिधा पाशुपतं शुभम् । तत्रलिङ्गाङ्कशूलादिधारणं तान्त्रिकं मतम् ॥
लिङ्गरुद्राक्षभस्मादिधारणं वैदिकं भवेत् । रविं शम्भुं तथा शक्तिं विघ्नेशं च जनार्दनम् ।
यजन्ति समभावेन मिश्रं पाशुपतं हि तत् ॥ वही, पृ. सं. ५२

[10] सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदा: पाशुपतं तथा । ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ॥
उमापतिर्भूतपति: श्रीकण्ठो ब्रह्मण: सुत: । उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिव: ॥ म. भा. शा. प, ३४९/६४ एवं ६७

सम्प्रदाय था या नहीं इस विषय में अनेक विवाद हैं । मत्स्येन्द्रनाथ के काल तक तो गोरखनाथ ही उसके प्रतिनिधि रहे हैं । पाशुपत संन्यासियों में गोरक्षनाथ स्वयं को माहेश्वर मानते हैं । नाथपन्थी योगियों में कनफटा और औघड़ द्विविध सम्प्रदाय हैं । इनमें औघड़ नाथ की सम्पूर्ण दीक्षा प्रक्रिया में सम्मिलित नहीं होते हैं और अपने नाम के अन्त में वे नाथ के स्थान पर दास पद का प्रयोग करते हैं । कर्णभेद से सम्पन्न विशिष्ट नाड़ी के भेदन से योगज सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ; ऐसी मान्यता है ।[11] लिङ्ग पुराण के पूर्वभाग के ८०वें अध्याय (६० श्लोक) में पाशुपत-व्रत के माहात्म्य का वर्णन है । ८१वें अध्याय (५८ श्लोक) में पशु और पाश के विमोचन कर्ता करनेवाले लिंगपूजादि का कथन किया गया है ।१०८वें अध्याय (१९ श्लोक) में पाशुपत-व्रत का वर्णन किया गया है । उत्तर भाग के नवम अध्याय (५६ श्लोक) में तथा १८वें अध्याय (६७ श्लोक) में पाशुपत-व्रत का वर्णन किया गया है ।

३.१.१.२ सिद्धान्तशैव दर्शन

शैवद्वैत दर्शन में सिद्धान्तशैव दर्शन के आधार अष्टादश रुद्रागम हैं तथापि इन रुद्रागमों के अभिधान में भेद है - विजय, निश्वास, उद्गीत, पारमेश्वर, मुख, बिम्ब, सन्तान, नारसिंह, चन्द्रांशु, वीरभद्र, आग्नेय, स्वायम्भुव, विसर, रौरव, विमल, किरण, ललित तथा सौरभेयागम । सिद्धान्त शैवों की प्रसिद्धि नवम शताब्दी से लेकर द्वादश शताब्दी तक काश्मीर, चोल, लाट, मध्यप्रदेश तथा कान्यकुब्ज आदि प्रदेशों में थी । इस दर्शन की परम्परा रुरु (रौरवागम के द्रष्टा) के काल से प्रारम्भ होकर मोक्षकारिका के कर्ता सद्योज्योति पर्यन्त अभिव्याप्त मानी जाती है । सद्योज्योति रौरवागमटीका, स्वायम्भुवागमटीका, तत्त्वत्रय-निर्णय, भोगकारिका, मोक्षकारिका, तत्त्वसंग्रह तथा परमोक्षनिरास-कारिका के प्रणेता रहे हैं । सद्योज्योति का उल्लेख आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने तन्त्रालोक नामक ग्रन्थ में किया है । अत: इनका काल नवम शताब्दी माना जा सकता है । इन्होंने ही सर्वप्रथम इस दर्शन का सिद्धान्त शब्द से व्यवहार किया है ।[12] इनके पश्चात् सिद्धान्त शब्द अघोरशिवाचार्य (श्रीकण्ठकृतरत्नत्रय के टीकाकार) के द्वारा (पङ्कजादिशब्द के सदृश योगरूढ़ होने से) शिवप्रणीत अष्टादश तन्त्रों में प्रसिद्ध है । इससे पूर्व भी सिद्धान्त शब्द का प्रयोग होता था क्योंकि सिद्धान्तशिखामणि नामक ग्रन्थ में रेणुकाचार्य ने इस पद का प्रयोग किया है ।[13] आचार्य बृहस्पति भी सद्योज्योति के समकालिक रहे हैं । अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में इन दोनों (सद्योज्योति और बृहस्पति) के मत को निरस्त किया है । तन्त्रालोक के अनुसार इनकी एक कृति शिवतनुशास्त्र नामक थी किन्तु आजतक वह अनुपलब्ध है । शङ्करनन्दन और देबल भी सिद्धान्त शैव के आचार्य हैं । इनका उल्लेख तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने किया है । सद्योज्योति के अनेक शिष्य काश्मीर प्रदेश में थे । इसका उल्लेख मोक्षकारिका के टीका

---

[11] ए. लि. मा., पृ. सं. ५६

[12] रुरुसिद्धान्तसंसिद्धौ भोगमोक्षौ संसाधानौ । वच्मि साधकबोधाय लेशतो युक्तिसंस्कृतौ ॥ मोक्षकारिका, ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू., पृ. सं. ६५

[13] सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते । निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम् ॥ सि. शि. म., १/५

में काश्मीरनिवासी द्वितीयरामकण्ठ ने किया है ।[14] द्वितीयरामकण्ठ ने उत्पत्तिसमतापक्ष[15], समतासङ्क्रान्तिपक्ष[16] तथा आवेशपक्ष[17] को निरस्त करके अभिव्यक्तिपक्ष[18] की स्थापना की । सिद्धान्तशिखामणि के अनुसार चतुर्विध शैवों में सिद्धान्तशैव वेदसम्मत है ।[19] इस तन्त्र का उत्तरभाग वीरशैवदर्शन है ।[20] वेद के सदृश ही सिद्धान्तागमों का प्रामाण्य माना जाता है ।[21] शैवसिद्धान्तदर्शन में स्वीकृत मुख्य तीन तत्त्वों में ही शैवागमों में प्रयुक्त छत्तीस तत्त्वों का अन्तर्भाव होता है । जैसे शिव, शक्ति, मन्त्रमहेश, मन्त्रेश तथा मन्त्र रूप पाँच तत्त्व पति पदार्थ के अन्तर्गत, विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल और उनके अवान्तर भेद पशु पदार्थ के अन्तर्गत तथा मल, निरोध, शक्ति, माया, बिन्दु तथा कर्मरूप पञ्च पधान तत्त्व पाश पदार्थ के अन्तर्गत, माया के परिणामभूत कला, नियति, राग, अविद्या और कालसहित साङ्ख्य-स्वीकृत प्रकृत्यादि पृथ्व्यन्त चौबीस तत्त्व एकीकृत होकर प्रमुख तीन तत्त्व में ही अन्तर्भूत होते हैं ।[22]

---

[14] इति मोक्षकारिकायां नारायणकण्ठसूनुना रचिता । संक्षेपाद्वृत्तिरियं शिष्यहिता भट्टरामकण्ठेन ॥ प्रथम रामकण्ठ ने शैवाद्वितप्रतिपादक स्पन्दकारिका की टीका सद्वृत्ति नामक अन्य द्वैतपरक ग्रन्थ का भी प्रणयन किया है । प्रथम रामकण्ठ ने मृगेन्द्रतन्त्रवृत्ति, श्रीकण्ठ ने रत्नत्रय, नारायणकण्ठ (प्रथमरामकण्ठ के प्रशिष्य) मृगेन्द्रवृत्ति, द्वितीयरामकण्ठ (नारायणकण्ठ के पुत्र) ने सिद्धान्तागमों पर अनेक टीका लिखी है । ब्र. सू. श्री. भा. भू., पृ. सं. ६३

[15] तदनुसार सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व जीव में स्वाभाविक रूप से नहीं होता है अपितु मोक्षावस्था में उत्पन्न होता है । वही, पृ. सं. ६३

[16] यह लकुलीशपाशुपतसम्मत है । तदनुसार जिस प्रकार कस्तूरी का गन्ध वस्त्र के अन्तर में रहता है वैसे ही सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्तिमत्व शिवमुक्ति में सङ्क्रमित हो जाते हैं । वही, पृ. सं. ६३

[17] तदनुसार अपने स्थान पर स्थित पुरुषविशेष के शिवस्थ होने पर सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व मुक्तिदशा में आवेशित हो जाते हैं । वही

[18] तदनुसार जीव में स्वाभाविक सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व मल के तिरोहित होने अथवा मल के दूर हो जाने पर मुक्ति में अभिव्यक्त होता है । वही

[19] तेषु शैवं चतुर्भेदं तन्त्रं सर्वविनिश्चितम् । वामं च दक्षिणं चैव मिश्रं सिद्धान्तसंज्ञकम् ॥ शक्तिप्रधानं वामाख्यं दक्षिणं भैरवात्मकम् । सप्तमातृपरं मिश्रं सिद्धान्तं वेदसम्मतम् ॥ वेदधर्माभिधायित्वात् सिद्धान्ताख्य: शिवागम: । वेदबाह्यविरोधित्वात् वेदसम्मत उच्यते ॥ सि. शि. म. ५/१०-१२, पृ. सं. ६०

[20] सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते । निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम् ॥ सि. शि. म. ५/१४, पृ. सं. ६०

[21] वेदसिद्धान्तयोरैक्यमेकार्थप्रतिपादनात् । प्रामाण्यं सदृशं ज्ञेयं पण्डितैरेतयो: सदा ॥ सि. शि. म. ५/१३, पृ. सं. ६० तथा शैवतन्त्रमिति प्रोक्तं सिद्धान्ताख्यं शिवोदितम् । सर्ववेदार्थरूपत्वात् प्रामाण्यं वेदवत् सदा ॥ सि. शि. म. ५/८, पृ. सं. ५९

[22] शैवसिद्धान्तनये स्वीकृते मुख्यतत्त्वत्रये शैवागमोक्तानि षट्त्रिंशतत्त्वानि अन्तर्भवन्ति । यथा शिव-शक्ति-मन्त्रमहेश-मन्त्रेश-मन्त्ररूपाणि पञ्चतत्त्वानि पतिपदार्थेऽन्तर्गतानि, विज्ञानाकल-प्रलयाकल-सकलेत्यवान्तर-भेदभिन्नानि पशुपदार्थेऽन्तर्भवन्ति । मल-निरोध-शक्ति-माया-बिन्दु-कर्मरूपपञ्चाप्रधानतत्त्वानि पाशपदार्थे-ऽन्तर्गतानि मायापरिणामभूतं कला-नियति-राग-अविद्या-कलासहितं साङ्ख्यस्वीकृतप्रकृत्यादिपृथिव्यन्त-चतुर्विंशति चैकीकृत्य षट्त्रिंशत् तत्त्वानि मुख्यतत्त्वत्रयेऽन्तर्भतानि भवन्ति । ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू., पृ. सं. ६७

३.१.१.२.१ प्रथम तत्त्व पति

प्रथम तत्त्व पति है । वह एक, विश्वोतीर्ण, सर्वव्यापी, नित्य, अनाद्यन्त, अनादिमुक्त, निर्मल, चिद्घन, प्रभु, शान्त, अकारण, सर्गादि कार्यों के कर्ता, अविकारी, कमल के उन्मीलन कर्ता सूर्य के सदृश जगत् के निमित्तकारण, उसकी शक्तियाँ उपादानकारण तथा माया समवायिकारण है । शक्तियाँ उपादानस्वरूप विश्व की सृष्टि करती हैं, जहाँ जीव अपने कर्म के अनुसार सुख और दु:ख का अनुभव करते हैं और अन्त में पति उनको पाश से मुक्त करते हैं । ये शक्तियाँ भी परमार्थत: चित्स्वरूप ही हैं इसलिये माया के सदृश परिणमित नहीं होती हैं । पति के साथ इनका समवाय सम्बन्ध है ।[23] शिव की शक्ति का सम्बन्ध सूर्य की रश्मि के सदृश श्रीकण्ठ-विरचित रत्नत्रय में कहा गया है । सिद्धान्तशिखामणि के अनुसार भी शक्ति ज्योत्सना रूप है ।[24] यह शक्ति अमोघ, अपरिच्छिन्न अत: अविकल्परूप, अकारण, स्वप्रकाश, सर्वोतीर्ण, अति-सूक्ष्म, शिव से अनन्यभूत, शिवरूपी धर्मी की धर्मरूप से रहती हुई सिद्धान्तशैवों के द्वैताद्वैत मत को उद्घाटित करती है । तदनुसार शिव और शक्ति दोनों चित्स्वरूप हैं, अत: दोनों का ऐकात्म्य है । स्वनिष्ठा चैतन्य शिव हैं और ज्ञानार्थ विषयाश्रिता शक्ति है । इनका धर्मी और धर्म का सम्बन्ध है । शिव परानपेक्ष हैं और परं शक्ति परापेक्षिणी है । जिस प्रकार अग्नि में दाहकशक्ति दाह्य इन्धनादि से सम्बन्धित होकर अभिव्यक्त होती है वैसे ही शिव की शक्ति बाह्य जगत् से सम्बद्ध ही स्वयं को अभिव्यक्त करती है । यह सृष्टि भी शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार है । शुद्ध सृष्टि के पति (शिव) साक्षात्कर्ता हैं और इसका समवायि-कारण बिन्दु है और (शिव) उस शुद्ध तत्त्व भुवन से उत्पन्न होने के कारण मुक्त विश्वेश्वरों को बैन्दव शरीर से योजना करते हैं । शुद्ध सृष्टि में बिन्दु से नाद उत्पन्न होता है । उस परिणाम क्रम से शुद्धविद्या का आविर्भाव होता है । यद्यपि पति नित्य, शुद्ध, अपरिमित, सर्वाधिक ज्ञान और क्रियाशक्ति से सम्पन्न अशरीर हैं तथापि शुद्ध सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं जैसे परिमित आत्मा शरीर में स्पन्दन उत्पन्न करता है । यह सर्वस्वीकृत मत है कि जो निमित्तकारण शरीर है उसकी अपेक्षा तभी की जाती है जब सर्जनव्यापार सविकल्पज्ञान के द्वारा ग्राह्य वस्तुविषय होता है । शुद्ध सृष्टि सविकल्पज्ञान के द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकती अत: उसके कर्ता शिव उसकी उत्पत्ति के लिये शरीर की अपेक्षा नहीं रखते हैं । शुद्ध सृष्टि निर्विकल्पक ज्ञान की भूमि है और उसमें विकल्प की उद्भावना नहीं होती है । विकल्पज्ञान की अपेक्षा रखने वाली शब्दोत्पत्तिभूमि से यह दशा ऊर्ध्ववर्तिनी है । अशुद्ध सृष्टि पति (शिव) के द्वारा प्रेरित बैन्दव शरीर धारी विद्येश अनन्त आदि को उत्पन्न करनेवाली है अत: इसको अशुद्ध कहा जाता है । इसका समवायिकारण माया है और इसके पाश में आबद्ध पशु कर्मानुसार विविध सुख और दु:ख का

---

[23] शक्तो यथा स शम्भुर्युक्तौ च पशुगणस्य । तामेकां चिद्रूपामाद्यां सर्वात्मनास्मि नत: । ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू., पृ. सं. ६८

[24] यथा चन्द्रे स्थिरा ज्योत्स्ना विश्ववस्तुप्रकाशिनी । तथा शक्तिर्विमर्शाख्या प्रकाशे ब्रह्मणि स्थिरा ॥ सि. शि. म., ३/१० पृ. सं. १०

अनुभव करते हैं। यह सविकल्पक सृष्टि है। इसका अस्तित्व शब्दोत्पत्ति के अनन्तर द्योतित होता है।

३.१.१.२.२ द्वितीय तत्त्व पाश

यह प्रमुख द्वितीय तत्त्व है। मल, माया, कर्म, निरोधशक्ति तथा बिन्दु इसके पाँच अवान्तर भेद हैं। इनके मत में माया और कर्म ये दो मल हैं। आणवमल से युक्त पशु विज्ञानाकल कहे जाते हैं। माया और कर्म शुद्ध सृष्टि में बैन्दवशरीर को स्वीकार कर आणवमल के ध्वस्यमान-ध्वस्तावस्थादि के अनुसार विद्या, ईश्वर, सदाशिव उच्च-उच्च भूमिका को प्राप्त करते हैं। तब वे क्रमश: मन्त्र, मन्त्रेश और मन्त्रमहेशशब्द के द्वारा अभिहित होते हैं। मोक्ष भी इनके मत में द्विविध है - पर मोक्ष और अपर मोक्ष। परमोक्ष शिवसाम्यरूप है और इसके अन्तर्गत क्रिया, चर्या और योग के अनुष्ठान के द्वारा माया और कर्मरूप वर्तमान मल तथा ईश के अनुग्रह से आणवमल के निवृत्त होने पर पशु में अपरिमित ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति अभिव्यक्त होते हैं। वहीं से पशु शिवसाम्यता को प्राप्त करता है किन्तु शिव से पृथक् ही वह रहता है। मोक्ष में भी पशु की शिव से पृथक् सत्ता को स्वीकार करने के कारण इसको द्वैतदर्शन कहा गया है। सांसारिक साधारण जन को ध्यान में रखकर यह दर्शन प्रवृत्त होता है। साधारण मनुष्य ईश्वर की आराधना के द्वारा ही दु:ख से विमुक्त होता है। धर्म का आचरण भी द्वैत के अवलम्बन के बिना संभव नहीं है। अत: साधारण जनों के द्वारा द्वैत का ही आश्रय लेना चाहिये ; ऐसा सिद्धान्तशैवों का मत है।

३.१.१.२.२.१ मल

यद्यपि आणव, मायीय और कार्म त्रिविध मल कहे गये हैं किन्तु पाश के अन्तर्गत प्रयुक्त मल शब्द आणवमल के लिये ही कहा गया है। यह अनादि है और क्रियाशक्ति का तिरोधायक है। एक की भी अनन्त शक्तियाँ हैं। उनमें एक के द्वारा एक पशु की ज्ञान और क्रियाशक्ति का तिरोधान किया जाता है। अतएव एक परिमित आत्मा की आणवमल के दूर होने से सबकी मुक्ति सम्भव नहीं है। यह मल चक्षुपटल के सदृश द्रव्यस्वरूप है। इसकी निवृत्ति पतिरूपवैद्य के व्यापार द्वारा ही साध्य है। वैद्यव्यापार जिस प्रकार चक्षु:पटल परिपाक की अपेक्षा रखता है वैसे ही ईश्वरव्यापार मलपरिपाक की अपेक्षा रखता है और यह परिपाक शैवागमों में उपदिष्ट क्रिया, चर्या और योग के अनुष्ठान से साध्य है।[25]

३.१.१.२.२.२ माया

यह वस्तुरूप और सद्रूप है। यह अशुद्ध सृष्टि (जगत्) के कला, भुवन, सूक्ष्म, स्थूल, शरीर और उनके उपभोग्य विषय, जाति आदि की उपादान कारण है। माया शब्द त्रिविध बन्धन के

---

[25] ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू., पृ. सं. ७०

अन्तर्गत एकबन्धन के लिये प्रयुक्त होता है क्योंकि माया कार्यों को द्योतित करती है। मायीय मल आत्मा का बुद्धि आदि से तादात्म्य उत्पन्न करता है। यह इदन्ता के रूप में भासित होती है।[26]

३.१.१.२.२.३ कर्म

अनुष्ठितकर्म का फलराशिस्वरूप कर्मप्रवाह अनादि है। यह कर्म भोगसुख और भोग-दु:ख का, भोग साधनों का, शरीरेन्द्रिय का प्रत्यात्मनियत होने से विचित्र है। अनन्त आदि के द्वारा सृजित अशुद्ध सृष्टि कर्म के अधीन है जहाँ से वे प्राणी कर्म के भोग के लिये सृज्यमान सृष्टि में भोग्य, भोजक तथा भोग साधनादिपूर्वक रहते हैं। सभी प्राणी अपने अपने कृत कर्म के अनुसार अवश्य ही भोग भोगते हैं।[27]

३.१.१.२.२.४ निरोधशक्ति

यह तिरोभाव है। यह शक्ति केवल पञ्च पाशों में ही परिगणित नहीं है अपितु परमेश्वर की शक्तियों में भी इनका अस्तित्व है। मुख्य रूप से यह परमेश्वर की शक्ति ही है। इनका पाशत्व इनके पाशधर्म के अनुवर्तन के उपचार के कारण ही है वस्तुत: ये परमेश्वर की उपकरण हैं। मल में प्रविष्ट इन उपकरणों के द्वारा ही सृष्टि का नियमन करने के लिये प्राणियों के अपने अपने भोग्य भोग के प्रति परमेश्वर ले जाते हैं।[28]

३.१.१.२.२.५ बिन्दु

सिद्धान्तशैवों के अनुसार छत्तीस तत्त्वों के अवान्तर पदार्थों में प्रथम पदार्थ बिन्दु है। वह बिन्दु शिव शब्द तथा शिव शब्द की अपर पर्याय महामाया के द्वारा भी जाना जाता है। यह एक तथा नित्य है। शरीरांश में शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, विद्यारूप अवान्तर पदार्थ भी इसके ही परिणामभूत होता है। यह उन-उन भुवनेश्वरों की आराधना तथा दीक्षा से या स्वकार्यभूत शुद्धाध्व भुवन को प्राप्त ज्ञान और क्रिया को प्रकट करती है। यह कुण्डलिनी शब्द के द्वारा भी जानी जाती है। यह परशिव की परिग्रहण करनेवाली शक्ति के रूप में भी कही गयी है। यह परशिव की इच्छा के वशीभूत होने के कारण जड होने से स्वतन्त्र नहीं है। बिन्दु को केवल शुद्धसृष्टि के उपादान कारण के रूप में ही नहीं जानना चाहिये अपितु परिमित प्रमातृ उपाधि होने से अकारण भी जानना चाहिये। बिन्दु केवल मलस्वरूप नहीं है। शुद्धसृष्टि के उपादान-

---

[26] ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू., पृ. सं. ६७

[27] अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं ॥ ना भुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥ ब्र. वै. पु. १/४४/७४

[28] ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू., पृ. सं. ६७

स्वरूप होने पर भी मलस्वरूप बिन्दु का मोक्षविचार धारणकरनेवाले यति के सदृश घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । आणवमल के अपर पर्यायभूत पशुत्व मल के होने के कारण माया तथा कर्मरूप दो पाशों से विमुक्त पशु सर्वथा विमुक्त नहीं होता है । इसलिये यह मुक्ति अपर मोक्ष है । बिन्दु को परा शब्द के द्वारा भी कहा जाता है । इसी से ही सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी रूपा चतुर्विध वाक् का प्रादुर्भाव होता है । भर्तृहरि के मत में पश्यन्ती के ब्रह्मरूप होने के कारण पश्यन्ती का साक्षात्कार ही ब्रह्मसाक्षात्कार है । शिव और शक्ति शब्दों के द्वारा उच्चरित बिन्दु और नाद सिद्धान्तशैवों के द्वारा स्वीकृत छत्तीस तत्त्वों के अवान्तर पदार्थों में प्रथम और द्वितीय हैं ।

२.१.१.२.२.६ नाद

नादरूप उपाधि की आवश्यकता के कारण यह स्थापित किया जाता है कि ज्ञान आत्मा में समवेत नहीं है अपितु उसकी उपाधिरूप नाद में समवेत है जो बिन्दु का परिणाम है । प्रत्यात्म से असङ्ख्य नाद अभिन्न हैं । परिमित आत्मा का उपाधिभूत नाद नामक तत्त्व बुद्धि का बीजरूप है । आत्मा के ज्ञानशक्ति विभिन्न सूक्ष्म शब्दरूप नादवृत्ति से संपृक्त होती हुई मायीय सविकल्पक विषय के अवलोकन में प्रवृत्त होती है । नादरूप उपाधि के कारण उसका आभासन विचित्र ही होता है । भिन्न ज्ञान नादवृत्तिरूप ही हैं न कि बुद्धिवृत्तिरूप हैं जैसा कि सांख्यमतावलम्बी कहते हैं । वैयाकरण तो स्फोट नामक वस्तु को मानते हैं । उनका यही आशय है कि कैसे शब्द और वाक्य अर्थज्ञान को प्रकटित करते हैं ? वे इस पक्ष के समर्थक हैं कि शब्द के निर्माणकारी घटक अक्षर क्रमश: श्रुतिपथ में आते हैं तथा क्रमपूर्वक ज्ञान कराते हैं तथा उच्चारण क्षण के अनन्तर ही उनका नाश हो जाता है । वैसे ही अर्थ का शब्द के साथ सम्बन्ध शब्दघटक अक्षरों के उच्चारण क्षण के समनन्तर विनाशी होने के कारण अक्षरराशि-स्वरूप शब्दों के तथा उसके द्वारा संघटित वाक्यों का प्रत्यक्षीकरण नहीं होने से अर्थज्ञान भी संभव नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि वह अर्थज्ञान शब्द के अन्तिम वर्ण के श्रवण से सम्भव है । जैसे गौ: इस शब्द में अन्तिम वर्ण विसर्ग है और नर: इस शब्द में भी अन्तिम वर्ण विसर्ग है । दोनों के अन्तिम वर्ण विसर्ग के श्रवण से नर और गाय का अर्थज्ञान सम्भव नहीं है ।
वैयाकरण इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार से देते हैं - तदनुसार पूर्व-पूर्व वर्ण संस्कारसहित अन्त्यवर्ण का अभिव्यङ्ग्य अन्य ही, अविनिर्मुक्त, मयूराण्डरस के सदृश, अनेक वर्ण का अभि-व्यञ्जक, पदात्मा, पदव्यतिरिक्त, वाक्यस्वभाव या समस्त जगत् का युगपत् क्रम से अर्थ की प्रतीति के लिये व्यापक और नित्य स्फोट को जानना चाहिये । वही व्यवहार करनेवालों के लिये अर्थ को प्रकट करता है । स्फोटसिद्धान्त के अनुसार जहाँ से अर्थ स्फुटित होता है वह स्फोट है ।
सिद्धान्तशैव इस मत का निरसन इस प्रकार करते हैं - स्फोट स्वीकरणीय नहीं है क्योंकि उस वर्णव्यतिरिक्त (स्फोट) का अनुभव होता नहीं है । वह वर्णों के भिन्नाभिन्नत्व का प्रतिपादन करने में भी असमर्थ है । वह भिन्न भी नहीं है क्योंकि शशविषाण के सदृश उसकी उपलब्धि नहीं होती है । प्रत्यक्ष के निराकृत होने से उसका अनुमान भी सम्भव नहीं है । अभिन्न को

स्वीकार करने पर "हस्त: कर:" के सदृश एक अर्थ का बोधक वर्ण ही स्फोट है और नहीं तो वहाँ से भेद के द्वारा अवस्थित होना पड़ेगा ; ऐसा भी नहीं है । विभु स्वीकार करने पर एक पुरुष के उच्चारित वर्णों की अभिव्यक्ति होने पर विशेष के अभाव के कारण देशान्तर में भी नित्य तथा कालान्तर में भी नित्य होने की स्थिति में प्रमाताओं के अर्थ की प्रतिपत्ति होगी । अत: नाद अक्षरबिन्दुरूप के आभ्यन्तर में स्थित सजल्प का कारण है । नाद के आभ्यन्तर में अवस्थित अक्षर-बिन्दु के अपर नाम सजल्प का कारण है और इस प्रकार नाद ही शब्दार्थ ज्ञान का कारण है ; जहाँ से (नाद के आभ्यन्तर से) सजल्प प्रकट होता है । शब्दार्थ के द्वारा बुद्धि बाह्यविषय के प्रतिबिम्ब के मध्य में स्थित होती है । बाह्य व्यक्तशब्द आन्तर सजल्प का बाह्याकार ही है । अत: परमार्थत: अर्थ बुद्धि का जनक नहीं है । असंख्य नाद हैं । इनमें से एक प्रत्येक परिमित आत्मा के द्वारा संबद्ध है । वह व्यक्तिविशेष के आभ्यन्तर में स्थित बाह्य विषय के सविकल्पक ग्रहण के समय सजल्प का उद्भावक होता है । सजल्प शब्द और अर्थ की एकरूपता का अपर अभिधान है । श्रूयमाण वर्ण श्रोतृनिष्ठ नाद की अभिव्यक्ति करते हैं । अभिव्यक्त नाद श्रोता के बुद्धि के समक्ष शब्दार्थ की ऐक्यात्मक आभ्यन्तर सजल्प की उपस्थापना करते हैं । श्रोता की बुद्धि शब्दार्थ के पृथक्करण रूप अध्यवसाय करके इसका यह अर्थ है ऐसा निश्चित करती है ।[29]

३.१.१.२.३ तृतीय तत्त्व पशु

पशु सिद्धान्तशैव का प्रमुख तृतीय पदार्थ है । क्षेत्रज आदि का पर्याय देहात्मा पशु नहीं है जैसा कि देहात्मवादी चार्वाक मानते हैं । नैयायिक मतानुसार पशु ज्ञेय भी नहीं है और जैन मतानुसार वह देहपरिमाण भी नहीं है । बौद्ध मतानुसार वह क्षणिक भी नहीं है और वेदान्तियों के मतानुसार वह परमार्थत: ब्रह्मस्वरूप है । सांख्य मतानुसार ज्ञान-क्रिया-शक्तिरहित भी नहीं है अपितु ज्ञानक्रियाशक्तिमान् नित्य है । उसकी अपरिमित ज्ञान और क्रिया शक्ति ईश्वर के प्रसाद से मुक्ति की अवस्था में अभिव्यक्त होते हैं । पशु शिवसाम्य को प्राप्त करता है । पशु त्रिविध हैं :- विज्ञानाकल प्रलयाकल तथा सकल । विज्ञानाकल पशु आणव मल के विभिन्न ध्वस्यमान और ध्वस्तादि दशा के अनुकूल मन्त्र, मन्त्रेश तथा मन्त्रमहेश शब्दों के द्वारा कहे जाते हैं । विज्ञानकल पशु कलादितत्त्वों से विमुक्त, मायीय तथा कार्म मल से रहित, विध्वंस होनेवाले आणवमलमात्र से संयुक्त स्वीकार किये जाते हैं । प्रलयाकल पशु आणव तथा कार्म मल से युक्त भविष्य में होने वाले प्रलय के द्वारा परिमित प्रमातृरूप हैं । सकल पशु तीनों मल से युक्त हैं । यह कलादि से लेकर पृथ्व्यन्त तीस तत्त्वों से सम्बद्ध है जैसे कि हमलोग हैं । सिद्धान्तशैवों के मत में इस लोक से ऊपर अनेक लोक हैं । वही कर्मादि पाश से आबद्ध जीव कर्मभोगों को भोगते हैं । माया से ऊर्ध्व होनेवाले पाँच पदार्थ हैं, जिनमें सदाशिव, ईश्वर और विद्या नामधेय तीन पदार्थ की गणना की जाती है ।

---

[29] ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू., पृ. सं. ७२-७८

सिद्धान्तशैव और अन्य दर्शनों की भेदक-तालिका[30]

सिद्धान्तशैव दर्शन	वैशेषिक दर्शन
सत्कार्यवाद (माया ही कला-विद्यादि तत्त्व रूपों के द्वारा परिणमित होती है। दुग्ध और दधि के सदृश अवस्थान्तर का परिग्रहण होता है।)	असत्कार्यवाद (माया घृत में पतितकीटन्याय के द्वारा अंश के द्वारा ही रूपान्तर का ग्रहण होता है।)
कर्म बुद्धि का धर्म है	कर्म आत्मा का धर्म है।
काल भूत, भविष्यत् और वर्तमान रूप अनित्य	काल नित्य है।
अचेतन परमाणु भूतों का अनित्यत्व	परमाणुओं का नित्यत्व
आत्मा ज्ञानस्वरूप	आत्मा का गुण ज्ञान

सिद्धान्तशैव दर्शन	सांख्य दर्शन
पुरुष मल से अवच्छिन्न	पुरुष पुष्करपलाश के सदृश निर्लेप
चेतन पुरुष ही कर्ता और भोक्ता	सांख्य दर्शन में चतुर्विध भोग अपेक्षित है :- (१) पुरुषप्रतिबिम्ब विषयप्रतिबिम्ब के द्वारा संयोजित होता है। (२) पुरुषप्रतिबिम्ब पुरुष के द्वारा ही एकीकृत होता है। (३) पुरुष और प्रतिबिम्ब का तादात्म्य व्यवहार के लिये युक्तियुक्त है । (४) अहंकार की अपेक्षा होती है। मैं यह जानता हूँ यह अवबोध बुद्धि में प्रकट होता है।

सिद्धान्तशैव दर्शन	अद्वैतवेदान्त दर्शन
असङ्ख्य जीवों का ब्रह्म से पृथक् सत्ता स्वीकार की जाती है और जीव भोग और मोक्ष के लिये परमात्म के द्वारा परतन्त्र हैं।	जीवब्रह्मैक्य माना जाता है।
जगत् का उपादानकारण निमित्त कारण से भिन्न है।	उपादान और निमित्त कारण एक है।
मोक्ष का उपाय क्रिया-चर्या-योगानुष्ठान आदि	ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है।

[30] ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू., पृ. सं. ७९-८०

हैं।	

सिद्धान्तशैव दर्शन	पाशुपत दर्शन
पति, पशु और पाशरूप तीन पदार्थ हैं।	कारण, कार्य, योग, विधि, दु:खान्त ये पाँच पदार्थ हैं।
शिवसाम्य मोक्ष है।	दु:खान्त ही मोक्ष है।

३.१.२ अद्वैत शैव दर्शन

काश्मीर प्रदेश विविध दर्शन विचारधारा की संगमभूमि है। शैवाद्वैत दर्शन में प्रधान रूप से प्रत्यभिज्ञा दर्शन का परिगणन होता है क्योंकि इसके साहित्य विपुल रूप में उपलब्ध होते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के उत्थानकाल में काश्मीर प्रदेश में अनेक दार्शनिक विचारधारा का संगम था। अशोक के शासनकाल में काश्मीर बौद्धों का प्रधान केन्द्र हुआ। पाणिनीय व्याकरण दर्शन की अध्ययन-अध्यापन परम्परा में काश्मीरराज अभिमन्यु प्रमुख हैं। न्यायदर्शन तथा अद्वैतवेदान्त दर्शन का भी काश्मीर प्रदेश में समीचीन प्रचार था। शङ्करचार्य बौद्धमत के उन्मूलन के लिये काश्मीर गये थे। सोमानन्द तथा अभिनवगुप्त ने अद्वैतवेदान्त मतों की समालोचना की। वे जडब्रह्मवाद, अभावब्रह्मवाद तथा शून्यब्रह्मवादादि शब्दों का व्यवहार करते हुये भी शङ्कराचार्य का नाम नहीं लेते हैं। अभिनवगुप्त ने अपनी ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृत्तिविमर्शिनी में अद्वैतशैव से अद्वैतवेदान्त का मौलिक अन्तर माया का स्वरूप ही माना है। अद्वैतशैव मतानुसार माया शक्ति है जबकि अद्वैतवेदान्त के मत में माया सत् और असत् मध्य अनिर्वचनीय है। शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में माया के लिये शक्ति शब्द का प्रयोग किया है। यथा - शक्तिरहितस्य प्रवृत्यनुपपत्ते, अविद्यात्मिका बीजशक्ति:। सर्वज्ञेश्वरस्य मायाशक्ति:।[31] काश्मीर शैव परम्परा में सोमानन्द अभिनवगुप्त के गुरु कहे जाते हैं। अभिनवगुप्त प्रतिपादित ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी का काल १०१५ ई. माना गया है। उनके पूर्ववर्ती गुरु सोमानन्द ने शैवागमिक विचारधारा के आणव, शाक्त, शाम्भव, प्रत्यभि-ज्ञा नामक चतुर्विध उपायों में सबसे ऊपर और अन्तिम अनुपाय के अपर पर्याय प्रत्यभिज्ञा की स्थापना की। उन्होंने द्वैतशैव के प्रतिपादक अपने समकालिक अविदित आचार्य वसुगुप्त को महेश्वररूप यह प्रत्यभिज्ञा तथा मोक्षोपाय युक्तियों के द्वारा सिद्ध करके शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ में प्रकटित की। इसी कारण शिवदृष्टि में प्रतिपादित दर्शन प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहा जाता है। शिवदृष्टि की प्रतिबिम्ब भूत ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, उसके ऊपर वृत्ति नामक टीका और उसके ऊपर विवृत्ति नामक टीका सोमानन्द के शिष्य उत्पलाचार्य ने लिखी। अभिनवगुप्त ने उत्पलाचार्य के द्वारा रचित ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका और उसके विवृत्ति के ऊपर क्रमश: विमर्शिनी और विवृत्ति नामक दो प्रसिद्ध टीकाओं की रचना की। इस प्रकार शिवदृष्टि से लेकर प्रत्यभिज्ञा के प्रतिपादक यही ग्रन्थ हैं। अभिनवगुप्त द्वारा विरचित प्रत्यभिज्ञा को

[31] ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू., पृ. सं. ७८

प्रतिपादित करनेवाला कोई भी मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है । अभिनवगुप्त द्वारा विरचित तन्त्रालोक में तीन अद्वैत शैव दर्शनों (कुल, क्रम और प्रत्यभिज्ञा) का प्रतिपादन किया गया है । प्रत्यभिज्ञा के अन्य प्रतिपादक ग्रन्थों में क्षेमराज (अभिनवगुप्त के शिष्य) कृत प्रत्यभिज्ञाहृदय (प्रत्यभिज्ञा दर्शन का संक्षिप्त ग्रन्थ), योगराज (१०६० ई.) कृत परमार्थसार-टीका, जयरथ (११८० ई.) कृत तन्त्रालोकटीका, भास्करकण्ठ (१७८० ई.) कृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञाटीका हैं । महादेवगिरि के पत्थरों पर उत्कीर्ण सोमानन्द से पूर्ववर्ती वसुगुप्त के द्वारा प्राप्त तथा प्रकाशित शिवसूत्र प्रत्यभिज्ञा के प्रतिपादक नहीं हैं । उनमें प्रत्यभिज्ञा नामक उपाय का नामोल्लेख तक नहीं है । शाम्भव, शाक्त तथा आणव इन तीनों मलों का ही तीन अध्याय के द्वारा शिवसूत्र में व्याख्यान हुआ है, अत: शिवसूत्र प्रत्यभिज्ञा के प्रतिपादक नहीं हैं क्योंकि ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका में उत्पलाचार्य ने प्रत्यभिज्ञा मार्ग को नवीन मार्ग कहा है ।[32] स्पन्दशास्त्र भी शाक्तोपाय का प्रतिपादक होने से प्रत्यभिज्ञा से भिन्न ही है । प्रत्यभिज्ञा दर्शन को स्वातन्त्र्यवाद, आभासवाद, संविदद्वयवाद, यथार्थप्रत्ययवाद, काश्मीरशैवाद्वैत कहा गया है । स्वातन्त्र्यवाद के अनुसार परमशिव महेश्वर स्वतन्त्र है । वह प्रकाशविमर्शात्मक संवित्स्वभाव परमशिव स्वातन्त्र्य से ही मन्त्र, मन्त्रेश, मन्त्रमहेश, अकल तथा सकल आदि विविधप्रमातृरूप के द्वारा सांसारिक विवेकदृष्टि से अतिरिक्त भासित होता अपने स्वरूप से आच्छादित नहीं होता हुआ, संविद्रूप के द्वारा आन्तरिक स्वान्त्र्य की महिमा का प्रकाशन करता है । भर्तृहरि काश्मीरशैवाद्वैत के स्वातन्त्र्यवाद का ही केवल अनुसरण नहीं करते हैं अपितु अद्वैतशैवागमों के अनेक सिद्धान्तों का भी अनुसरण करते हैं ।[33] पाणिनि ने भी स्वातन्त्र्यवाद को माना है ।[34] अद्वैतवेदान्त और शैवाद्वैत मत का मौलिक भेद निम्नलिखित तालिका से अभिज्ञात किया जा सकता है :-

अद्वैतवेदान्त दर्शन	शैवाद्वैत दर्शन
सत्व केवल अस्तित्वमात्र	प्रकाशमान
चित् स्वप्रकाशमात्र	प्रत्यवमर्शात्म
आनन्द दु:खाभावस्वरूप	आनन्द स्वात्मविश्रान्तिस्वरूप
माया सदसद्भ्यामनिर्वचनीया और ब्रह्म-तादात्म्य में अनस्तित्वरूपा	माया परमशिव से अभिन्न तादात्म्य अवस्थित शक्ति परमार्थस्वरूप शक्ति (शक्ति-मान् में अभेद होने के कारण)

---

32 इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो । गुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रो यथा ॥ ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू., पृ. सं. ८०

33 न शिव: शक्तिरहितो न शक्ति: शिववर्जिता: । तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव ॥
तत्स्वरूपत्वेनाव्यवहृता नित्या अपि यस्य कला: शक्त्य: ॥ वाक्यपदीयटीका, वही पृ. सं. ८२

34 स्वतन्त्र: कर्ता इस सूत्र द्वारा (पतञ्जलि के महाभाष्य में तथा उसके कैयटकृत प्रदीप टीका में) स्फुटित हुआ है ।

३.१.३ द्वैताद्वैत शैव दर्शन

इस दर्शन में धर्म और दर्शन में पार्थक्य नहीं है इसलिये यह न केवल दार्शनिकनिरूपण में अपितु अनुष्ठेय कर्मरूप धर्म के तादात्म्यरूप में प्रतिपादित है। व्यवहार में द्वैत और परमार्थ में अद्वैत की आवश्यकता के कारण इस सम्प्रदाय का मानना है कि द्वैताद्वैत से ही परम लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। वस्तुत: द्वैत स्थूलता का प्रतिपादक है तो अद्वैत सूक्ष्मता का। भौतिक शरीर द्वैत का बोधक है तो पारमार्थिक आत्मतत्त्व अद्वैत का बोधक है।

३.१.३.१ लकुलीश पाशुपत दर्शन

मधुरास्तम्भलेख[35], सोमनाथशिलालेख, वायुपुराण, लिङ्गपुराण[36] सूतसंहिता, राजशेखर-कृतषड्दर्शनसमुच्चय में लकुलीश तथा उनकी शिष्य परम्परा का निर्देश हुआ है। इस प्रकार लकुलीश का काल द्वितीय शताब्दी में निश्चित रूप से माना जा सकता है। कौशिक लकुलीश के प्रथम शिष्य हैं। मधुरास्तम्भ में इनका नाम उदिताचार्य समुत्कीर्ण हुआ है। इनका काल २५० ई. के पूर्व माना गया है। इस प्रकार लकुलीशपाशुपतदर्शन का काल द्वितीय शताब्दी निश्चित होता है। लकुलीश दर्शन के प्रतिपादक ग्रन्थ निम्नलिखित हैं - पाशुपतसूत्र (लकु-लीशप्रणीत), पञ्चार्थभाष्यनाम्नीटीका (कौण्डिन्यविरचित), यमप्रकरण तथा आत्मसमर्पण (विशुद्धमुनिकृत), गणकारिका (हरदत्ताचार्यविरचित), गणकारिकाटीका, सत्कार्यविचार तथा टीकान्तर (भासर्वज्ञकृत) एवं अज्ञातकर्तृक संस्कारकारिका, टीकाकार, कारणपदार्थ, पञ्चार्थभाष्यदीपिका, आकर तथा आदर्श आदि।[37] इस दर्शन का प्रचार गुर्जरप्रान्त, मधुरा तथा दक्षिणभारत में द्वितीय शताब्दी से चतुर्दश शताब्दी पर्यन्त अवच्छिन्न रूप में था इसमें कोई सन्देह नहीं है। यद्यपि लकुलीशपाशुपत प्रतिपादित पति, पशु, योग, विधि तथा दु:खान्तरूप पञ्चपदार्थ द्वैतपाशुपत में भी परिगणित हैं फिर भी उनके वाच्य में भेद दृष्टिगोचर होता है। यह दर्शन सत्कार्यवाद का अवलम्बन करता है। तदनुसार कार्य विद्या,

---

[35] मधुरास्तम्भलेख में "एकषष्ठे (६११) प्रथमे शुक्लदिवसे पञ्चम्यां" इस वाक्य से एकषष्टि शब्द से समुद्रगुप्त के पुत्र विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त शतक द्योतित होता है। जिसका प्रारम्भ फ्लीट्, सिल्वन् तथा लेव्य आदि संशोधाकादि के मतानुसार २१९ ई. है। इस लेख में लकुलीश की शिष्य परम्परा उत्कीर्ण है। ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू. पृ. सं. ८६

[36] वायुपुराण तथा लिङ्गपुराण में लकुलीश को महेश्वर का अन्तिम अवतार माना गया है। वह कायारोहण में कायावतार के अपर पर्याय हुये। यह स्थान आज बडोदरा राज्य के अन्तर्गत कार्वान् इस नाम से प्रसिद्ध है। उनके चार शिष्य कौशिक, गर्ग, मित्र तथा कौरुष्य नाम से थे। यह पौराणिक वचन सोमनाथ मन्दिर के अन्तर्गत शिलालेख में भी प्राप्त होता है। यह लेख चालुक्यवंश के राजा शार्ङ्गदेव के काल में समुत्कीर्ण हुआ था। पुराण में निर्दिष्ट लकुलीश के शिष्यों में कौशिक नाम का सूतसंहिता के लकुलीश क्षेत्र प्रसङ्ग में, राजशेखरकृत षड्दर्शनसमुच्चय में, हरिभद्रसूरिकृतषड्दर्शनसमुच्चय के ऊपर गुणरत्न टीका में तथा पाशुपतसूत्र की कौण्डिन्यकृत व्याख्या में भी दृष्टिगोचर होता है।

[37] इनमें कुछ ग्रन्थ मुद्रित तथा अमुद्रितरूप में उपलब्ध हैं।

कला तथा पशुरूप नित्य है। आत्मा तथा अनात्मा, कार्य तथा कारण और जड़ तथा चेतन का भेद तात्विक है। जगत् के पति अभिन्न निमित्त और उपादानकारण दोनों हैं। वही संसार के उद्भावक हैं। परतत्त्व एकरूप नहीं है अपितु अनेकरूप है। आकाश में ताराओं के सदृश बहुत्व एक ही परतत्त्व के अन्तर्गत है। जीवात्मा विभु है फिर भी मल के परिपाक होने से परिच्छिन्न है। मल के परिच्छिन्न होने पर स्वयं शिव हो जाता है। परतत्त्व सगुण है। पति की शक्ति गुण अथवा धर्म है यह कहा गया है। विद्या, काल तथा पशुसंज्ञक त्रिविध कार्य विषयक उत्पादन, तिरोभाव और अनुग्रह पति की क्रीडामात्र है।[38]

३.१.३.२ कालामुख शैव दर्शन

लकुलीश पाशुपत के अनन्तर दक्षिण भारत में प्रसृत शिवपन्थों में कालामुख शैव प्रमुख है।[39] श्रीरामानुजचार्य के ब्रह्मसूत्रश्रीभाष्य में तत्कालीन पशुपतिमत को वेदविरोधी बताया गया है।[40] यद्यपि कालामुख शैव का नामान्तर ही लाकुलशैव है तथापि इसके मार्ग में अनेक भेद है। कालामुख में वेदविरुद्ध लकुलीशपाशुपतसूत्रोक्त विधियों (क्राथन, मण्टन, श्रृङ्गारण, अपितत्कथन तथा अपितद्भाषणादि आचारों) का दर्शन नहीं होता है। वैसे ही कालामुख में कपालपात्र में भोजन, शव के भस्म से स्नान, उनका प्रकाशन, लगुड का धारण, सुराकुम्भादि की स्थापना आदि आचार कालामुख सम्प्रदाय में कहीं भी वर्णित नहीं है। इसका प्रचार-प्रसार लगभग सातवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी से पर्यन्त दक्षिणभारत में (विशेषत: कर्णाटक और आन्ध्रप्रदेश में) उन्नति को प्राप्त था। कालामुख सम्प्रदाय का कोई भी परिष्कृत साहित्य उपलब्ध नहीं होता है। शिलाशासनों पर उल्लिखित अंशों के प्रमाणों के आधार पर इस पन्थ का उद्घाटन होता है। तदनुसार बारहवीं शताब्दी से पूर्व कालामुखों में लिङ्गधारण की परम्परा थी। इन उल्लेखों में लिङ्गि पद के द्वारा लिङ्गधारण का निर्देश प्राप्त होता है। १०७४ ई. के ९४वें शिलाशासन (जो बल्लिगांव से प्राप्त है) तथा १११३ ई. के ९९वें शिलासन (जो बेलगा के से प्राप्त है) में विप्र, गो, स्त्री, बाल तथा लिङ्गि पद का प्रयोग मिलता है। जिससे उस समय लिङ्गधारियों का अस्तित्व प्रमाणित होता है। ये कालामुख शिवलिङ्गधारणपूर्वक शिवपूजा, शिवज्ञान तथा शिवयोग आदि के द्वारा श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ होते हुये राजाओं के द्वारा पूजित थे। बारहवीं शताब्दी के पश्चात् यही पन्थ क्रमश:

---

[38] लकुलीशपाशुपत के विषय में अधिक ज्ञान के लिये ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू. पृ. सं. ८६-१०२ को देखा जा सकता है।

[39] शाङ्करभाष्य में चार माहेश्वरों शैव, पाशुपत, कारुणिक तथा कापालिक का निर्देश किया गया है। हरिभद्रसूरि ने षड्दर्शनसमुच्चय में शैवों के प्रभेदों में कालामुख को परिगणित किया है - शैवा: पाशुपताश्चैव महाव्रतधरास्तथा। तुर्या: कालामखा मुख्या: भेद एते तपस्विनाम्॥ ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू. पृ. सं. १०२

[40] इदानीं पशुपतिमतस्य वेदविरोधादसामञ्जस्याच्चानादरणीयतोच्यते। तन्मतानुसारिणश्चतुर्विध: - कापाल:, कालामुखा:, पाशुपता: शैवाश्चेति। निमित्तकारणं च पशुपतिमाचक्षते इति वदन्ति। श्रीभाष्यपत्यधिकरण, वही, पृ. सं. १०२

वीरशैव में विलीन हो गया ऐसा विद्वानों का मत है ।[41] कालामुख सम्प्रदाय और लकुलीश-पाशुपत मत के भेद को निम्नलिखित तालिका से समझा जा सकता है -

कालामुखपाशुपत	लकुलीशपाशुपत
कालामुख श्रुतिपरम्परावादी हैं । इसके प्रवर्तक वायवीयपुराणोक्त में स्वयम्भुयोगा-चार्यों में उक्त लकुलीश हैं ।	ये श्रुतिपरम्परावादी नहीं हैं । यद्यपि ये पञ्चब्रह्ममन्त्रों का उपयोग वैसे ही करते हैं किन्तु वेदविरुद्ध आचारों के कारण अश्रौती हैं । इसके प्रवर्तक लकुलीश ने कारवान् (गुज-रात) श्मशान में मृतशरीर में जन्म लिया था
श्रौतकालामुखमार्ग का कार्यक्षेत्र श्रीशैल और उसका परिसर	लकुलीशपाशुपत का कार्यक्षेत्र मध्यभारत
श्रौतकालामुख सम्प्रदाय के लिये श्रुति-आगम और शैवपुराण प्रमाण हैं ।	अश्रौत लाकुलसम्प्रदाय के लिये लकुलीश विरचित पाशुपतसूत्र और उसके टीकादि प्रमाण हैं ।
कालामुख सातवीं शताब्दी से चतुर्दशशतक तक प्रसिद्ध हुआ तत्पश्चात् वीरशैव में विलीन हुआ ।	द्वितीय शताब्दी इसका उद्गम था । बौद्धधर्म का पराजय इसका साधन था । चिन्तास्रकायारोहणमाहात्म्य तथा कूर्मपुराण में इसको देखा जा सकते हैं ।
इसके मुनि सात्विक, परोपकारी तथा जनो-पयोगी महाविद्यालय, वैद्यालय अन्नसत्रों का निर्माण लोकोपकार के लिये करते थे ।	इसके यति वामाचार तथा कापालिको के सदृश घोराचार करनेवाले थे । इनमें विद्यमान पाशुपतसूत्रोक्त क्रन्थन, स्पन्दन आदि बाह्याचारों को करनेवाले थे । ये रामानुजादि आचार्यों के द्वारा तिरस्कृत थे ।

३.१.४ स्वतन्त्रशिवाद्वैतदर्शन

दक्षिण भारत में स्वतन्त्ररूप से भी शिवाद्वैतदर्शन का प्रचार था । स्कन्द तथा नन्दि परम्परा में प्रवर्तित शैवदर्शन भारत के दक्षिण दिशा में तिरुवाडुतरै, धर्मपुर, आदित्यपुर इन द्राविड़देशों में प्रसिद्ध शैवमठों में सुना जाता है । यह दर्शन कामिकादिशैवागममूलक, शिवादिपृथ्व्यन्त छत्तीस तत्त्वों का बोधक, तत्त्वशोधन पुरुष का शिव से अनन्यत्वबोधक, शिवस्वरूपत्व को प्राप्त करानेवाला, जगत् कारणत्व के प्रारम्भ में कही-कहीं शैवदर्शन से भिन्नक्रम को उपस्थापित करनेवाला है । इसके उपदेष्टा साक्षात् परमेश्वर है । इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्कन्द और नन्दी आचार्य हैं । इनमें भी स्कन्द और नन्दी की द्विविध परम्परा दृष्टिगोचर होती है :-

---

[41] ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू. पृ. सं. १०६

स्कन्द-परम्परा	नन्दी-परम्परा
स्कन्द	श्रीनन्दि
वामदेव	सनत्कुमार
नीलकण्ठशिवाचार्य	सत्यज्ञानदर्शी
विश्वेश्वरशिवाचार्य	परञ्ज्योतिमुनि
सदाशिवाचार्य	मेयूकण्डदेव
सदाशिवमार्गप्रकाशक शिवकेल्लुन्दुशिवाचार्य शिवाग्रयोगीन्द्रज्ञानशिवाचार्य (१६५० ई. में यह परम्परा अर्कवन आदित्य-पुर मठ में दृष्टिगोचर होती है)	यह परम्परा तिरुवाडुतुरै, धर्मपुर इत्यादि मठ में विश्रुत है।

अष्टाविंशति आगमों के अतिरिक्त शिवाग्रयोगी के द्वारा विरचित ग्रन्थ इनके प्रतिपादक हैं - शैवपरिभाषा, क्रियादीपिका, शैवसंन्यासपद्धति, शिवज्ञानबोधीयलघुटीका, शिवज्ञानबोधीय-शिवाग्रभाष्य, सर्वज्ञानोत्तरागम का द्राविड़भाषा परिवर्तन, देवीकालोत्तरागम का द्राविड़-भाषा परिवर्तन, श्रुतिसूक्तिमालिका (हरदत्ताचार्यकृत) का द्राविड़ भाषा परिवर्तन, शिवसिद्धान्तपरिभाषा (श्रीसूर्यभट्टविरचित)। इसके सिद्धान्त स्कन्द सन्तानादि मुनि वामदेव के अनुरोध से रौरवागम रीत्या पति, पशु और पाश के भेद के द्वारा तीन पदार्थों के द्वारा स्वमत को प्रतिपादित करते हैं।

३.१.५ विशिष्टाद्वैतशैवदर्शन

इसके प्रतिपादक श्रीकण्ठशिवाचार्य हैं। इन्होंने ब्रह्मसूत्रमीमांसा नामक ब्रह्मसूत्रभाष्य में विशिष्टाद्वैत शैव सिद्धान्त की स्थापना की है। इनका काल दसवीं शताब्दी से पूर्व निश्चित होता है क्योंकि दसवीं शताब्दी के रामानुजाचार्य ने अपने श्रीभाष्य में श्रीकण्ठ प्रोक्त फक्किका का अनुसरण करते हैं तथा ग्यारहवीं शताब्दी के श्रीपतिप्रणीत ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य में भी श्रीकण्ठ को पूर्वपक्ष के रूप में रखा गया है। इन्होंने भेदाभेद की प्रतिष्ठा की है।[42] भेदाभेद-वादी वस्तुवाद का विरोध नहीं करते हैं अपितु शरीर-शरीरी और गुण-गुणी के समान विशिष्टाद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं। तदनुसार ब्रह्मकार में अद्वैत तथा भोक्तृ-भोग्यकार में द्वैत इस आकारभेद के द्वारा विरोध का अभाव है। यही मत आश्मरथ्य ने तथा (भर्ता के प्रपञ्च के द्वारा) भास्कराचार्य ने कारणरूपता में अभेद तथा कार्यरूपता में भेद को पर्यायभेद से स्वीकार किया है। पति का अपर पर्याय ब्रह्म सगुण है तथा शक्ति उसकी गुण अथवा धर्म है

42 अयमाचार्यः भेदाभेदवादं सम्यक् जानाति स्म यतः सः स्वकीये भाष्ये भेदाभेदकल्पनं विशिष्टाद्वैतं साधयामः इति प्रतिजानाति। ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू. पृ. सं. ११०

।[43] श्रीकण्ठ अष्टाविंशति आगमप्रामाण्य और पति-पशु और पाश रूप तीन तत्त्व शैवों की सदृश ही स्वीकार करते हैं । चेतनाचेतनरूप चिदचिद के अपर पर्यायरूप लकुलीश के मत में कार्य के अन्त में परिगणित जीव और जगत् दोनों की पति के बाहर स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं अपितु लकुलीश भेदाभेद के सदृश पशुशक्तिस्थ हैं । और हार्य-कार्य-धार्य के द्वारा पति के साथ समप्राधान्य को निरस्त करके चिद् और अचित् की पति के प्रति गौणता को स्वीकार करते हैं । शरीर का शरीरी के प्रति भी गौणता स्वीकृत होती है ।[44] श्रीकण्ठ के मत में कार्य और कारण की पृथक् सिद्धि नहीं होती है । लकुलीशमतानुसार श्रीकण्ठ भी ब्रह्म की अपृथक् सिद्धि होने से जगत् के जन्म, स्थिति और प्रवृत्ति भी पृथक् नहीं मानते हैं ।[45] तदनुसार शिव के अन्तर्गत पशु, पाशरूप समूह होते हैं ।[46] शैवाद्वैतसिद्धान्त का भी प्रभाव श्रीकण्ठ के ऊपर दृष्टिगोचर होता है । वह द्वैतपाशुपतपरक न केवल पति, पशु और पाश संज्ञक पदार्थत्रय को स्वीकार करते हैं अपितु जीव का अणुत्व, मोक्ष का शिवसाम्य-रूपत्व, मोक्ष में सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्व तथा अभिव्यक्तिवाद को भी स्वीकार करते हैं । इससे यह स्पष्ट है कि सृष्टि में स्थूलरूपता तथा प्रलय में सूक्ष्मरूपता पति के अन्तर्गत हार्य, धार्य तथा कार्यपरक अस्वतन्त्र, गौण, पति से अविनाभाव से सम्बद्ध, पति से अपृथक्, परस्पर भिन्न, जड-चेतन पति से अविना भाव से सम्बद्ध शक्ति के विशेषणत्व मात्र कथन होता है और यह लकुलीशभेदाभेद के सदृश श्रीकण्ठविशिष्टाद्वैत की विशेषता बताते हैं । यह सब रामानुजीय-विशिष्टाद्वैत में भी समान ही है । यादवप्रकाश रामानुज के गुरु हैं । यद्यपि तदनुरूप चिदचिदात्मक ईश्वर का कारण ब्रह्म को रामानुज नहीं मानते हैं तथापि चित्-अचित् और ईश्वररूप त्रिक को स्वीकार करते हैं । ब्रह्म ईश्वर से पृथक् नहीं है । ईश्वर ही परमकारण और परमद्रव्य है । सत्कार्यवाद के अनुसार सभी कार्य कारण में सूक्ष्मतया सत् ही हैं । अवस्थान्तरापत्ति ही परिणाम है । अपृथक्सिद्धसम्बन्ध[47] से सम्बद्धों में जो नियम के द्वारा आधेय, नियम्य, नियोज्य तथा गौण हैं वे विशेषण हैं । आधार, नियामक और नियोजक मुख्य होता

---

[43] यदेत् पत्यु: पतित्वं शक्ति: सामर्थ्यमैश्वर्यं स्वगुण: सद्भाव: सतत्त्वं सत्त्वधर्म: तत् आसनं अतो अव्ययोऽमृतो भगवान् कामत: स्वशक्तिस्थं कार्यं स्वशक्त्याध्यास्ते । ब्र. सू. श्रीकण्ठभा. २/२/२/१

[44] कार्यस्व रुद्रे हार्य-धार्य-कार्यख्यापनार्थम् इति । ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू. पृ. सं. १११

[45] श्रीकण्ठमते कार्यकारणयो: न पृथक्सिद्धि: । एवञ्च ब्रह्मण: अपृथक्सिद्धजन्मस्थितिप्रवृत्तिकत्वादस्य जगतस्तद्व्यतिरिक्तता नास्ति । इदं लकुलीशमतानुसार्येव । उक्तञ्च राशीकारेण पालको नित्य: पालकत्वाच्च पाल्यमपि नित्यम् । कस्मात् न ह्यस्ति पाल्ये पालक इत्येव । सति नित्यत्वे तान्येव पश्वादीनि संयोजयति । वही पृ. सं. १११

[46] शिवान्तर्गतपशुपाशरूपगणनिष्ठ: । स च श्रीकण्ठेन स्वीक्रियते । उक्तञ्च श्रीकण्ठटीकायां अप्पयदीक्षितेन "भेदाभेदपक्षस्य पृथक् भावरूपात्यन्तभेदपक्षस्य मुख्याभेदरूपात्यन्ताभदपक्षस्याऽन्तराऽनिर्धार्यत्वपक्षस्य च प्रमाणदिविरुद्धत्वात् लौकिकवैदिकसकलप्रमाणसिद्धान्तान्तर्गणिकभेदाऽप्रतिक्षेपकमपृथक्भावेनान्यरूपं विशिष्टाद्वैतमभेदश्रुतीनामर्थं इत्येव सूत्रकारस्याभिप्राय: । अयमन्तर्गणिकभेद: श्रीभाष्ये स्वगतभदनाम्ना स्वीकृत: ।" वही, पृ. सं. १११

[47] विशिष्टाद्वैतिन: एकत्वं चापृथक्सिद्धि: इति वदन्ति । शरीरस्य शरीरिणेव चिदचितोरीश्वरेण सहाभ्युपगम्यगते सम्बन्ध: । यत ईश्वर: शरीरीव शरीरं चिदचितौ नियमयति प्रेरयति च । अयञ्च सम्बन्ध: अपृथक्सिद्ध इत्युच्यते । ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू. पृ. सं. ११३-११५

है, इसलिये वह विशेष्य है । चित्, अचित् और ईश्वर में ईश्वर नियामक होने से मुख्य और विशेष्य हैं । चित् और अचित् तो नियम्य और गौण हैं । ईश्वर विशेष्य है और चित्-अचित् विशेषण हैं ।[48] चित्, अचित् और ईश्वर का अपृथक्सिद्धसम्बन्ध से सम्बद्ध होने के कारण विशिष्ट ईश्वर की अद्वैतता, एकत्व और अभेद यहाँ स्वीकार किया जाता है । विज्ञानवादियों के सहोपलम्भ नियम के कारण चित्, अचित् और ईश्वर के साथ अपृथक्सिद्धसम्बन्ध स्वीकार करने से तथा अपृथक्सिद्ध के एकत्व को स्वीकार करने से रामानुजीयसिद्धान्त भी विशिष्टा-द्वैत कहा जाता है । शिव को परब्रह्म मानने के कारण श्रीकण्ठ के सिद्धान्त को शैवविशिष्टाद्वैत तथा विष्णु को परब्रह्म मानने के कारण रामानुजीय सिद्धान्त को वैष्णवविशिष्टाद्वैत कहा जाता है । वीरशैवमत के अनुसार शिव की शक्ति वेदान्त की माया के समान मिथ्या नहीं है । रामानुज ने भी माया के मिथ्यात्व का खण्डन किया है । अत: वीरशैव सिद्धान्त रामानुज के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के समीप है किन्तु दोनों का सूक्ष्म भेद द्रष्टव्य है कि विशिष्टाद्वैत मत में ब्रह्म के चिदचिद्विशिष्ट होने के कारण उसमें जीव एवं जगत् के उत्पत्ति के बीज निहित हैं किन्तु वीरशैवमत के अनुसार शिव की शक्ति ही जीव-जगत् की उत्पत्ति में समर्थ है ।[49]

३.१.६ शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन

शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन का ही अपर अभिधान वीरशैवदर्शन है । इसे शिवाद्वैत, विशेषाद्वैत, अत्याश्रमी आदि अपर अभिधानों से भी जाना जाता है । तदनुसार वीरशैव भक्ति का उद्रेक है । भक्ति का चरमोत्कर्ष ही वीरता है न कि शौर्यादि वीरता है । जीव को शिव के प्रति जो समर्पण भाव उत्पन्न होता है वही वीरभक्ति कही जाती है । इस सन्दर्भ में कहा गया है कि जिस प्रकार से कामी को स्त्री, लोभी को द्रव्य की कामना रहती है उसी प्रकार जीव को यदि शिव की कामना हो तो वह वीरभक्ति ही है । इसमें समर्पण भाव होता है । वस्तुत पशुरूप जीव का पति शिव है , इसलिये ही उसे पशुपति कहा जाता है । वीरशैव प्राचीन पाशुपत सम्प्रदाय का आधुनिकतम रूप है ।

३.१.६.१ वीरशैव की आगममूलकता

वीरशैव कामिकादि से वातुल पर्यन्त आगमों के उत्तर भाग में निर्दिष्ट मतों का पालन करते हैं ।[50] पारमेश्वरतन्त्र में भी वीरशैव की आगममूलकता प्रदर्शित की गई है । तदनुसार वीरशैव,

---

[48] विशेषणं नाम अपृथक्सिद्धसम्बन्द्धेषु यन्नियमेन आधेयं नियम्यं नियोज्यश्च भवति तद् गौणम्, अतएव तद्विशेषणमित्युच्यते । आधारो नियामको नियोजकश्च मुख्यो भवतीति विशेष्यं इत्युच्यते । चिदचिदीश्वरेषु ईश्वरस्य नियामकत्वात् प्राधान्यं विशेष्यत्वञ्च । चिदचित्तोस्तु नियम्यत्वाद्गौणत्वं विशेषणत्वाच्च । एवं विशेष्यभूतस्येश्वरस्य चिदचितौ विशेषणभूते । वही पृ. सं. ११३

[49] भा. द. चि. धा., पृ. सं. ५४८

[50] सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे, कामिकाद्ये शिवोदिते । निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम् ॥ सि. शि. म., ५/८

वैष्णव, शाक्त, सौर, विनायक और कापाल ये छ: ही दर्शन हैं ।[51] पारमेश्वरागम के मत में आगमों के अन्तिम भाग में जङ्गम मत का वैभव अवस्थित है ।[52] वीर शैवों का प्रधान ग्रन्थ भी समस्त शैवतन्त्रों के उत्तर अर्थात् अन्तिम होने के कारण निरुत्तर ग्रन्थ-लोक में सिद्धान्त-शिखामणि के नाम से प्रसिद्ध है ।[53]

३.१.६.२ वीरशैव अभिधान योग्यता

बृहत् हिन्दी कोश के (पृष्ठ संख्या १०७९) अन्तर्गत वीर शब्द का अन्य अर्थों के साथ तान्त्रिक साधना का एक प्रकार भी दिया गया है । The Concise Sanskrit English Dictionary (पृष्ठ संख्या संख्या, ३२९) में वीर पद का अर्थ Mighty, A hero दिया गया है । वैदिक कोश (पृष्ठ संख्या १२९४) के अन्तर्गत वीर शब्द के पाँच अर्थ दिये गये हैं - (१) वि+ ईर + अच = वीर विविध प्रकार से गति का संचालन उत्पन्न करानेवाला विद्युत्, (२) वीर: क्रस्य वीर: को अपश्यदिन्द्रम्, ऋग्वेद, ५/३०/१, कौषितकी ब्राह्मण, २१/३, २४/५, २६/१२ (३) विविध लोकों या पदार्थों को विविध रूप से चलानेवाला परमेश्वर - सुप्रवाचनं तव वीर वीर्यम्, ऋग्वेद, २/१३/११ (४) वि + ईर (णिजन्त) + अच = वीर णि का लोप ईर धातु क्षेप, गति तथा कम्पन अर्थों में प्रयुक्त होता है । वीर: वीरयति अमित्रान् अर्थात् वीर विविध प्रकार से शत्रुओं को ईरयति अर्थात् प्रेरित करना, कपाता या मारता है अत: वह वीर है । (५) गत्यर्थक वि + रक = वीर गच्छत्येव असौ अभिमुखं शत्रून् अर्थात् यह शत्रुओं का सामना करता है । (६) विक्रान्त्यर्थक वीर + अच = वीर, वीर विक्रान्त होकर पराक्रमी बनाता है अत: वह वीर कहलाया, निरुक्त ७/१३ । (७) वीर = पुत्र अधा स वीरैर्दशभिर्वियूया:, ऋग्वेद ७/१०४/१५, ८/४/१५ और वह दश वीरों से वियुक्त हो ।
वीरशैव के नामकरण के विषय में सिद्धान्त शिखामणि में कहा गया है-

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका ।
तस्यां रमन्ते ये शैवा: वीरशैवास्तु ते मता: ॥
विद्यायां शिवरूपायां विशेषाद्रमणं यत: ।
तस्मादेते महाभागा वीरशैवा: इति स्मृता: ॥
वेदान्तजन्यं यज्ज्ञानं विद्येति परिकीर्त्यते ।
विद्यायां रमते तस्यां वीर इत्यभिधीयते ॥[54]

---

[51] पा. त., १/२२-२३

[52] अहो निबोधयाम्यद्य, श्रुणु जङ्गमवैभवम् । निगूढमागमान्तेषु, यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ॥ पा. आ., ४/३

[53] सर्वेषां शैवतन्त्राणामुत्तरत्वान्निरुत्तरम् । नाम्ना प्रतीयते लोके यत्सिद्धान्तशिखामणि: ॥
सि. शि. म. १/३१

[54] सि. शि. म. ५/१५-१६ पृ. सं. ५७-५८

सूक्ष्मागम में वीरशैव के विषय में कहा गया है -

वितरागादिदोषत्वादात्मतत्त्वविचारणात् ।
विकल्पाकल्पशून्यत्वात् वीरशैवमिति स्मृतम् ॥[55]
एवं य: कुरुते भक्त्या प्राणलिङ्गार्चनं सदा ।
वीरशैव: स विज्ञेय: सर्वशैवोत्तमोत्तम: ॥[56]

क्रियासार में वीर के वी अक्षर से विकल्प का बोध तथा र अक्षर से रहित का बोध किया गया है । तदनुसार वीरशैव का अर्थ विकल्प रहितशैव अथवा विरोधरहित शैव किया गया है ।[57] ध्यातव्य है कि विद्यायां रमते इस व्युत्पत्ति से विर शब्द निष्पन्न होता है न कि वीर । इस प्रश्न को डॉ. एस. एन. दासगुप्त ने भारतीय दर्शन के इतिहास (भाग ५) नामक ग्रन्थ में उपस्थित किया है, जिसका समाधान डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य ने सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा में निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया है । प्रथम समाधान तो यह है कि सिद्धान्तशिखा-मणिकार ने वीशब्देनोच्यते विद्या कहा है, न कि विशब्देनोच्यते विद्या । इस प्रकार वीर का वी शब्द विद्या का वाचक है न कि वि शब्द । अत: ह्रस्व वि कैसे दीर्घ हो गया यह शङ्का ही वहाँ पर नहीं है । द्वितीय समाधान यह है कि विद्यायां रमते वीर: इति इसमें दीर्घत्व का बाध नहीं हो रहा है । ईर् गतौ कम्पने च (अदादिगण १०८८) इस धातुपरक विद्यायामीर्ते गच्छति प्रवृत्तो भवतीति इस व्युत्पत्ति से विर् यह रूप निष्पन्न होता है । अन्येष्वपि दृश्यते (पाणिनिसूत्र ३/२/१०१) इस सूत्र से ड प्रत्यय करने पर विर तथा व्यत्ययो बहुलम् (पाणिनिसूत्र ३/१/८५) इस सूत्र से दीर्घ करने पर वीर शब्द निष्पन्न होता है ।

३.१.६.३ वीरशैव के पर्याय

वीरशैवदर्शन को विशेषाद्वैतदर्शन, शक्तिविशिष्टाद्वैत दर्शन, अत्याश्रम दर्शन, शिवाद्वैत दर्शन तथा लिङ्गायत दर्शन भी कहा गया है । शक्तिविशिष्टाद्वैत दर्शन का निर्वचन इस प्रकार है :-
शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां (शक्तीभ्यां) विशिष्टौ (ईश-जीवौ), तयो: शक्तिविशिष्टयो: (ईशजीवयो:) अद्वैतम् शक्तिविशिष्टाद्वैतम् ।[58]
जीव सङ्कुचितशक्तिविशिष्ट है तथा शिव विकसितशक्तिविशिष्ट है । शक्ति का सङ्कोच दूर होने से जीव शिवाकार हो जाता है और यही शक्ति की अद्वैतावस्था इस दर्शन को शक्ति-

---

[55] सू. आ. क्रि. पा., ७/२९

[56] वही, ६/५२

[57] क्रि. सा. प्र. भा., पृ. सं. ११

[58] कै. उ. प्र., पृ. सं. २४

विशिष्टाद्वैत पद से अलङ्कृत करती है। शिवाद्वैत का निर्वचन इस प्रकार है :- शिवश्च शिवश्च शिवौ तयोरद्वैतं शिवाद्वैतम्। वस्तुत: जीव और शिव में कोई अन्तर नहीं है, इस दृष्टि से यह दर्शन शिवाद्वैत है। विशेषाद्वैत कहने का तात्पर्य है वि पद परम शिव का वाचक है और शेष पद जीव का। फलत: दोनो का अद्वैत विशेषाद्वैत दर्शन कहलाता है - वि: च शेष: विशेषौ ईशजीवौ तयो: अद्वैतं विशेषाद्वैतम्। लिङ्गार्चना में पाशुपतव्रत, शिरोव्रत, अत्याश्रमव्रत तथा शाम्भवव्रत इत्यादि का वर्णन अथर्वशीर्ष, मुण्डकोपनिषद्, कैवल्योपनिषद्, श्वेताश्वत-रोपनिषद् तथा कालाग्निरुद्र उपनिषदों में वर्णित है। आदित्य पुराण के अनुसार अत्याश्रमव्रत सभी वेदान्तों (उपनिषदों) का सार है - सर्ववेदान्तसारोऽयमत्याश्रम इति श्रुति:। अत्याश्रम व्रत का अर्थ है लिङ्गाङ्गसंयोग और उस संयोग से विशिष्ट जीव अत्याश्रमी कहलाता है ।[59] वीरशैव का अपर नाम लिङ्गायत है। लिङ्गमायतिर्यस्य स लिङ्गायत: इस व्युत्पत्ति से जीवन के उत्तर काल में लिङ्ग ही प्रधान होता है। लिङ्गायतियों में सर्वोच्च लिंगी ब्राह्मण है। दूसरे लिङ्गायती उनके अनुयायी हैं। लिङ्गी ब्राह्मणों के भी दो भेद हैं - आचार्य एवं पंचम। आचार्य ब्राह्मण एवं पंचम वैश्य थे। ब्राह्मणों के द्विज कहलाए जाने के कारण दोनों की गणना लिङ्गी ब्राह्मणों में की जाती थी। ब्राह्मणों के उपनयन अथवा यज्ञोपवीत संस्कार के समान लिङ्गायतों में शिवलिङ्ग ग्रहण संस्कार किया जाता है जिसके अन्तर्गत यज्ञोपवीत के स्थान पर ये शिवलिङ्ग धारण करते हैं। (गायत्री मंत्र के स्थान पर) ऊँ नम: शिवाय इस पंचाक्षर मन्त्र का प्रयोग करते हैं। लिङ्गायत सदैव ग्रीवा (गर्दन) या बाहु में शिवलिङ्ग धारण करते हैं।[60] इस प्रकार दीक्षा के पश्चात् उत्तर काल में जिससे लिङ्ग-पूजा-ध्यानादि सम्पन्न होता है वह लिङ्गायत है।[61] लिङ्गायतियों के लिये लिङ्गपूजा प्राणसदृश है। उसी के साथ उनका जीवन और उसी के साथ उनका मरण होता है। इस प्रकार के लिङ्गधारी सामान्य मानव-जगत् के लिये विचित्र होते हैं किन्तु शिवलोक के लिये वे अपने शव के ऊपर भी शिवलिङ्गधारण करते हैं। फलत: महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में कहा है -

शैलादेन महाभागा: विचित्रा लिङ्गधारका:।
शवस्योपरि लिङ्गश्च ध्रियते च पुरातनै:॥
लिङ्गेन सह पञ्चत्वं लिङ्गेन सह जीवितम्।[62]

३.१.६.४ वीरशैव के अवान्तर भेद

---

[59] लिङ्गं शिवो भवेत्क्षेत्रमङ्गं संयोगाश्रय:। यस्तु लिङ्गाङ्गसंयुक्त: स एवाऽत्याश्रमी भवेत्॥
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थो यतिस्तु वा। यस्तु लिङ्गाङ्गसंयुक्त: स एवाऽत्याश्रमी भवेत्॥
कै. उ. प्र., पृ. सं. ३३-३५

[60] भा. द. चि. धा., पृ. सं. ५४८

[61] सि. शि. म. स., पृ. सं. १५

[62] स्क. पु. के. ख., ७/४१-४२

वीरशैव के भी आन्तरिक तीन भेद है। वें हैं - सामान्य, विशेष तथा निराभारि । कहा भी गया है -

सामान्यं प्रथमं प्रोक्तं विशेषश्च द्वितीयक:।
निराभारं तृतीयं स्यात् क्रमाल्लक्षणमुच्यते ॥[63]

३.१.६.४.१ सामान्यवीरशैव

गुरु के द्वारा प्रदर्शित मार्ग से नित्य भस्म और रुद्राक्ष धारण करता है। पञ्चाक्षर मन्त्र का जप नित्य बिना प्रमाद करता है और गुरु के द्वारा प्रदत्त इष्टलिङ्ग को सावधानी से धारण करता है। त्रिविध लिङ्गों (इष्टलिङ्ग, भावलिङ्ग तथा प्राणलिङ्ग) को पृथक् न मानकर उनकी एकीभाव से आराधना करता है। अपने पत्नी-पुत्र आदि के साथ भक्ति-भाव प्रदर्शित करता है। इनके शिवगोत्र, शिवनाम ही इनके नाम, सदाशिव-पार्वती ही इनके माता-पिता तथा शिव के किंकर ही इनके बन्धु हैं। शिव के प्रयोजन के लिये शरीरादि को समर्पित करनेवाले इनके परम मित्र हैं।[64]

३.१.६.४.२ विशेषवीरशैव

वीरशैवमत में विशेष धर्मों का अनुष्ठान करने के कारण शिवभक्त विशेष वीरशैव कहलाता है। यहाँ विशेष धर्म का अनुष्ठान ही उसकी विशिष्टता का द्योतन करता है। फलत: कहा भी गया है कि जो विशेष धर्म का अनुष्ठान करता है उसे विशेषवीरशैव कहते हैं -

विशिष्टधर्मानुष्ठानाद् विशेष इति कथ्यते।[65]

विशेष वीर शैवों को एक, दो या तीन माहेश्वरों को प्रतिदिन भोजन करा लेने के पश्चात् ही स्वयं उनका प्रसाद ग्रहण करना चाहिये। द्रोणपुष्प, विल्वपत्र, करवीरपुष्प, मल्लिका, उत्पल (कमल), पुन्नाग तथा जाति आदि में से किसी एक पुष्प को नित्य नियमपूर्वक इष्टलिङ्ग पर अर्पित करे। नित्य नैवेद्य, धूप और दीप आदि भी समर्पित करे। आवश्यकतानुसार जङ्गम को अपना सर्वस्व समर्पित करने में भी सङ्कोच न करें। जङ्गमों के द्वारा उपभुक्त पदार्थों को आदर पूर्वक ग्रहण करे। यदि पत्नी, पुत्र तथा परिवार के अन्य सदस्य शिवकार्य से विमुख हैं तो विशेषवीरशैव का आचरण करनेवाले भक्त को इनका परित्याग कर देना चाहिये।[66]

---

[63] सू. आ. क्रि. पा. , ७/२९-३०

[64] वही, ७/३०-३८

[65] वही, ७/३९

[66] सू. आ. क्रि. पा. ७/४०-४७

इनके लिये लिङ्गपूजा, लिङ्गभक्ति, लिङ्गसेवा, लिङ्गध्यान, लिङ्गमन, लिङ्गचर्या, लिङ्गश्रुति, लिङ्गार्पित, लिङ्गनिर्माल्य, लिङ्गालङ्कार, लिङ्गप्रदक्षिणा तथा लिङ्गनिष्ठा ही सर्वस्व है। अत: इनको लिङ्गपूजा को ही सर्वस्व समझना चाहिये -

लिङ्गभक्तिर्लिङ्गपूजालिङ्गसेवा तथाशिवे ।
लिङ्गध्यानं लिङ्गमनो लिङ्गचर्यापरौ करौ ॥
लिङ्गश्रुतिपरे श्रोत्रे लिङ्गार्पितरसादय: ।
लिङ्गनिर्माल्यसुरभिलाभो घ्राणस्य पार्वति ॥
लिङ्गालङ्कारसन्दर्शनासक्ते लोचनेऽपि च ।
लिङ्गप्रदक्षिणपरौ पादौ च गिरिसम्भवे ॥
लिङ्गस्य पुरतो नित्यं तदर्थं चाङ्गचेष्टनम् ।
लिङ्गार्थं दत्तसर्वस्वं लिङ्गनिष्ठेति गीयते ॥[67]

३.१.६.४.३ निराभारवीरशैव

वीरशैवमत के अन्तर्गत त्रिविध भेदों में जो द्विविध कर्मों (पुण्य एवं पाप) कर्मों के भार से मुक्त है वह निराभार वीरशैव कहा जाता है -

जन्तो: पुण्यं पापमिति कर्म द्विविधमुच्यते ।
निर्वृत्तकर्मभारत्वान्निराभार इति स्मृत: ॥[68]

यह जटाधारी, मुण्डित सिरवाला, शिखाधारी, काषायवस्त्रधारी, नि:स्पृह, निर्भय मौनव्रत-धारण करनेवाला, सभी प्राणियों पर दया भाव रखनेवाला, भिक्षाटन से भोजन ग्रहण करने वाला, भस्म एवं रुद्राक्षधारी तथा हस्तगत कमण्डलु एवं दण्ड धारी हो सकता है। माधुकरी भिक्षा (भ्रमर की सदृश अनेक पुष्पों से मधु का एकत्रीकरण) से मात्र उदर पूर्ति के लिये भिक्षाटन करे। शिवभक्ति, शिवज्ञान, शिवमुद्रा, शिवव्रत तथा शिवलिङ्ग की पूजा में श्रद्धा तथा चित् की असत् वृत्तियों का निरोध करने वाला ही वास्तविक निराभार वीरशैव कहलाता है।[69] चन्द्रज्ञानागम के मत में निराभारी वीरशैव के भी त्रिविध भेद होते हैं - स्वतन्त्र निराभारी, वैदिक निराभारी एवं नि:स्पृह निराभारी। इनमें स्वतन्त्र निराभारी

---

67 वही, ७/४८-५१

68 वही, ७/६४

69 सू. आ. क्रि. पा., ७/६५-७९

मुण्डित या जटावाला, वैदिक निराभारी शिखा और यज्ञोपवीतधारी तथा नि:स्पृह मौनी एवं सभी प्राणियों पर दयाभाव प्रकट करनेवाला होता है ।[70]
चन्द्रज्ञानागम के अनुसार जङ्गम तथा स्थावर ये दोनो भगवान् शिव के रूप हैं । इनमें स्थावर के भी दो भेद हैं - स्वयंव्यक्त तथा प्रतिष्ठित । काशी विश्वेश्वर आदि का स्वरूप स्वयंव्यक्त है और आचार्य के द्वारा भूमिकर्षण से लेकर प्रतिष्ठा-पर्यन्त क्रियाकलाप के द्वारा संपादित स्वरूप प्रतिष्ठित कहलाता है । जङ्गम भी दो प्रकार के शास्त्रों में वर्णित है - मान्त्रिक एवं सहज । मन्त्र की शक्ति से आवाहित शिवस्वरूप वाला यह जङ्गम लिङ्ग मान्त्रिक कहलाता है । इसका अपर अभिधान चरलिङ्ग है । सहज नाम का जङ्गम माहेश्वर कहलाता है । माहेश्वर, चर, भक्त, शैव, तथा जङ्गम ये सब ईश्वर के उपदेश के अनुसार सहज जङ्गमों के विभिन्न नाम हैं । इन सहज जङ्गम की त्रिविध स्थितियाँ हैं :- ब्रह्मचारी, गृही तथा निराभारी । इनमें क्रमश: प्रथम से अपर श्रेष्ठ है ।[71] पारमेश्वरागम के अनुसार अवधूत, संन्यासी, योगी, पाशुपत, शिव, लिङ्गी, वीर, वीरशैव, महामाहेश्वर और यति ये वीर शैवात्मक योगियों के पर्याय हैं ।[72]

३.१.६.५ वीरशैव के आचार्य

वीरशैव की आचार्य परम्परा शिव से प्रादूर्भूत होती है । वे सभी विद्याओं और कलाओं का प्रणेता हैं । मूल रूप से देखा जाये तो भारतीय संस्कृति के प्राय: सभी विद्याओं का सम्बन्ध शिव से ही है । आदिवैद्य, आदिनट आदि अभिधान भी शिव की आदिपरकता को ही सूचित करते हैं । अधिकांशत: वे स्वयं अवतार न लेकर अपने गणों को अवतरित करते हैं । जब कभी धर्म की ग्लानि भूतल पर होती है, तब शिव अपने गणों को प्रेषित करके धर्म की पुन: स्थापना करते हैं । इसी प्रकार सनातन वीरशैव धर्म की स्थापना शिव अपने शिवगण-स्वरूप पञ्चाचार्यों के द्वारा करते है :-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भूतले ।
तदा तदाऽवतारोऽयं गणेशस्य महीतले ॥[73]

३.१.६.५.१ वीरशैव के पञ्चाचार्य

वीर शैवों की वंशोत्पत्ति वीर, नन्दी, भृङ्गी, वृषभ और स्कन्द :- इन पञ्च शिवगणों से मानी जाती है । ये पाँच वीर शैवों के गोत्र पुरुष हैं । ये पाँच गण शिव के सद्योजात, वामदेव,

---

70 च. आ. क्रि. पा., १०/४३-४५

71 वही, ४/४-८

72 पा. आ. १०/६७-६८

73 सि. शि. म. स. पृ. सं. १७

अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान मुखों से प्रकट हुये थे । शिव के ही ईशान मुख से पञ्चवक्त्र शिवगण प्रकट हुये । उनके पञ्चमुखों से मखारि, कालारि, पुरारि, स्मरारि तथा वेदारि ये पाँच शिवभक्त प्रकट हुये । इन पाँच शिव भक्तों को पञ्चमशाली कहा जाता है । इसी तरह पूर्वोक्त नन्दी, भृङ्गी आदि शिवगणों के वंश में उद्भूत वीरशैवों को जङ्गम तथा पञ्चगणों से उत्पन्न वीरशैवों को पञ्चमशाली कहते है । वीरशैव परम्परा में जङ्गम तथा पञ्चम ये दो वंश प्रसिद्ध है । वीरशैव धर्म के संस्थापक पञ्चाचार्य प्रत्येक युग में शिव के पञ्चमुखों (सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान) से प्रकट होते हैं । युगभेद से इनके नाम भी पृथक्-पृथक् हैं । संक्षिप्त ज्ञान के लिये निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत है[74] :-

युग	नाम	शिव के मुख
सत्ययुग	एकाक्षरशिवाचार्य, द्व्यक्षरशिवाचार्य, त्र्यक्षरशिवाचार्य, चतुरक्षरशिवाचार्य एवं पञ्चाक्षरशिवाचार्य	सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष एवं ईशान
त्रेतायुग	एकवक्त्र, दिवक्त्र, त्रिवक्त्र, चतुर्वक्त्र एवं पञ्चवक्त्र	सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष एवं ईशान
द्वापरयुग	रेणुकशिवाचार्य, दारुकशिवाचार्य, घण्टाकर्णशिवाचार्य(शङ्कुकर्ण), धेनुकर्णशिवाचार्य एवं विश्वकर्णशिवाचार्य	सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष एवं ईशान
कलियुग	रेवणाराध्य, मरुळाराध्य, एकोरामाराध्य, पण्डिताराध्य एवं विश्वाराध्य	सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष एवं ईशान

[74] वही पृ. सं. १८

कलियुग में शिव के पञ्चमुखों से प्रकटित पञ्चाचार्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है[75] -

३.१.६.५.१.१ रेवणाराध्य

आन्ध्रप्रदेश के कुल्यपाक (कोनुलपाक) क्षेत्र के सोमेश्वर लिङ्ग से प्रादुर्भूत रेवणाराध्य ने धर्म के प्रचार के लिये कर्णाटक के चिक्कमगलूरूमण्डल के बालेहोन्नूर ग्राम में एक पीठ की स्थापना की। उसका आधुनिक नाम भी रम्भापुरी पीठ है। इन्होनें वीर गोत्र तथा षडविधि सूत्र का प्रतिपादन किया। इनके रेणुक शाखा सिंहासन को वीर सिंहासन कहा जाता है। इस पीठ परम्परा के आधुनिक ११९ वें पीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु प्रसन्नरेणुकवीररुद्रमुनिदेवशिवाचार्य है। सिद्धान्त-शिखामणि के अनुसार शिव ने सर्वप्रथम ब्रह्मा की सृष्टि की तथा उन्हें आदेश दिया कि वें समस्त लोकों की रचना करें किन्तु ब्रह्मा को यह समझ नहीं आया। ब्रह्मा के पुन: प्रार्थना करने पर शिव ने स्वयं सृष्टि का प्रादुर्भाव किया। उन्होनें प्रमथगणों को प्रकट किया। उन प्रमथगणों में शिव ने रेणुक और दारुक को (प्रिय होने के कारण) अपने अन्त:पुर का द्वारपाल नियुक्त किया। एक दिन ताम्बुल प्रसाद देने के लिये शिव ने रेणुक का आह्वान किया। शीघ्रतावशात् रेणुक दारुक को लांघकर शिव के पास गये। फलत: दण्डस्वरूप उसे मनुष्य योनि के लिये पृथ्वी पर प्रकटित होना पड़ा किन्तु बहुविध प्रार्थना करने के कारण (मनुष्ययोनि से नहीं अपितु) वें सोमेश्वर लिङ्ग से प्रकट हुये।[76] सिद्धान्तशिखामणि के इक्कीसवें परिच्छेद में इन्होनें ही रावण के भ्राता विभीषण को अभीष्ट (त्रिकोटि अवशिष्ट शिवलिङ्गस्थापना) प्रदान किया था।

३.१.६.५.१.२ मरूळाराध्य

मध्यप्रदेश के अवन्तिकानगर (उज्जैन) के वटक्षेत्र के सिद्धेश्वर महालिङ्ग से मरूळाराध्य प्रादुर्भूत हुये। कालान्तर में वे अवन्तिका को छोड़कर कर्णाटक के बल्लारि मण्डल के उज्जयि-नी ग्राम आए। वही उन्होनें धर्म प्रचार के लिये एक पीठ की स्थापना की। वह आज सद्धर्मपीठ नाम से विख्यात है। इन्होनें नन्दिगोत्र तथा वृष्टिसूत्र का प्रतिपादन किया। इनके सिंहासन को दारूकशाखा सिंहासन तथा सद्धर्मसिंहासन कहते है। मध्यप्रदेश के उज्जैनी नगर में भी सद्धर्मसिंहासन की एक शाखामठ थी, ऐसा सुना जाता है। इस पीठ परम्परा के आधुनिक १०९वें तथा ११०वें पीठाधीश्वर क्रमश: श्रीजगद्गुरु सिद्धेश्वर शिवाचार्य तथा मरूळाराध्य शिवाचार्य हैं।

---

[75] सि. शि. म. स. पृ. सं. १९-२२

[76] सि. शि. म. २/१४-३३ एवं ३/१-८८

३.१.६.५.१.३ एकोरामाराध्य

द्राक्षाराम क्षेत्र के रामनाथ लिङ्ग से प्रादूर्भूत एकोरामाराध्य ने धर्म प्रचार के लिये उत्तरप्रदेश के केदारेश्वर के समीप एक पीठ की स्थापना की । सम्प्रति उत्तराखण्ड राज्य के अन्तर्गत वही केदारपीठ कहा जाता है । इन्होनें भृङ्गी गोत्र तथा लम्बनसूत्र का प्रतिपादन किया । इनके सिंहासन को धेनुकर्ण (शङ्कुकर्ण) शाखा सिंहासन तथा वैराग्यसिंहासन कहा जाता है । यह वैराग्य सिंहासन आज ओखीमठ (ऊखीमठ) के नाम से प्रसिद्ध है । जन्मेजय महाराज ने अपने माता-पिता की शिवलोक प्राप्ति के लिये सूर्यग्रहण पर्व काल में वैराग्यसिंहासनाधीश्वर आनन्दलिङ्गजङ्गम को मन्दाकिनी- क्षीर-गङ्गा-सरस्वती आदि नदियों के मध्य में अवस्थित केदारक्षेत्र को दानरूप में समर्पित किया था । वह दानसूचक एक ताम्रपत्र आज भी ओखीमठ में स्थित है । इस दानपत्र के आधार पर इतिहासवेत्ता ओखीमठ (उषामठ) को ५००० वर्ष प्राचीन मानते हैं । इस पीठ के आधुनिक ३२३वें पीठाधीश्वर रावलश्रीजगद्गुरु सिद्धेश्वरलिङ्गशिवाचार्य है ।

३.१.६.५.१.४ पण्डिताराध्य

आन्ध्रप्रदेश के श्रीशैलक्षेत्र के मल्लिकार्जुन ज्योतिर्लिङ्ग से पण्डिताराध्य प्रादूर्भूत हुये । इन्होनें श्रीशैल क्षेत्र में एक पीठ की स्थापना की । वह आज सूर्यसिंहासनपीठ के नाम से प्रख्यात है । ये वृषभ गोत्र तथा मुक्तागुच्छ सूत्र के प्रवर्तक रहे । इनके सिंहासन को धेनुकर्ण-शाखासिंहासन तथा सूर्यसिंहासन नाम से जाना जाता है । इस परम्परा के आधुनिक पीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु उमापति-पण्डिताराध्य है ।

३.१.६.५.१.५ विश्वाराध्य

काशी क्षेत्र के विश्वनाथ ज्योतिर्लिङ्ग से विश्वाराध्य का प्रादुर्भाव हुआ । इन्होनें भी धर्म प्रचार के लिये काशी में एक पीठ की स्थापना की । उस ज्ञानपीठ को आज जङ्गमवाड़ी मठ के नाम से जाना जाता है । विश्वाराध्य स्कन्दगोत्र तथा पञ्चवर्णसूत्र के प्रतिपादक आचार्य माने जाते हैं । इनके सिंहासन को विश्वकर्ण शाखा सिंहासन तथा ज्ञानसिंहासन कहा जाता है । वाराणसी में विद्यमान यह मठ बहुप्राचीन माना जाता है । काशीनरेश जयनन्ददेव के द्वारा इस मठ को प्रदत्त दान पत्र के आधार पर इतिहासवेत्ता इसे ४००० वर्ष से भी अधिक प्राचीन मानते हैं । काशीनरेश जयनन्ददेव लिखित पृष्ठ अतीव जीर्ण हो जाने के कारण उन्हीं के वंशज प्रभुनारायणसिंह ने उसको पुन: ताम्रपत्र पर लिखवाकर मठ को प्रदान किया और यह दोनों पत्र आज भी इस मठ में अवस्थित हैं । एतदतिरिक्त हुमायूँ-अकबर-जहाँगीर-शाहजहाँ तथा औरंगजेब आदि मुगल राजाओं के भी दानपत्र इस मठ में उपलब्ध होते हैं । इस पीठ के ८५ वें पीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु-विश्वेश्वर-शिवाचार्य तथा सम्प्रति डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य हैं ।

इस जङ्गमवाड़ीमठ की एक शाखामठ नेपाल देश के भक्तपुर (भातगाँव) में है। सम्प्रति वहाँ भी नेपाल नरेश के द्वारा ६९२ विक्रमाब्द में प्रदत्त भूमिदानविषयक शिला विराजमान है।

३.१.६.५.२ वीरशैवमत के अन्य आचार्य

पञ्चाचार्यों के अतिरिक्त वीरशैव धर्म-दर्शन के अन्य आचार्यों का भी संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है :-

३.१.६.५.२.१ देवरदासिमय्य

वीरशैव के आचार्य अथवा संत शरण कहलाते हैं। जिनके वचन वीर शैवों के लिये पूजनीय हैं। वीरशैव के मत में वचनों की संख्या असंख्य हैं। सम्प्रति तीन सौ वचनकारों में द्वादश स्त्रियाँ हैं। बसव पूर्व प्रमुख वचनकारों में देवरदासिमय्य का स्थान सर्वप्रथम माना जाता है। इनके जीवन के बारे में अत्यल्प तथ्य ही परिज्ञात है। इनका जन्म ११वीं शती माना जाता है। ये जाति के जुलाहे थे। कहा जाता है कि इन्होंने जैनियों को शास्त्रार्थ में पराजित करके चालुक्यराजा जयसिंह प्रथम की रानी को वीरशैव की दीक्षा दी थी। यह एक आश्चर्यजनक संयोग की बात है कि हिन्दी के आदिसंत कबीर तथा कन्नड़ के प्रारम्भिक कालीन संत देवरदासिमय्य दोनों जुलाहे थे।[77]

३.१.६.५.२.२ बसवेश्वर

वीरशैव के प्रवर्तक मादीराज के पुत्र बसव थे। वे आराध्य सम्प्रदाय के ब्राह्मण थे। इनका वर्णन १८०५ ई० में पूजा से प्रकाशित बसवपुराण में मिलता है। बसव का वर्णन एक जैन विद्वान् रचित विञ्जलराय चरित ग्रन्थ में भी उपलब्ध होता है। बसव एक समाज सुधारक के रूप में भारत में ही नहीं अपितु विश्व-विख्यात हैं। महात्मा बसवेश्वर के प्रति डॉ. जाकिर हुसैन (भूतपूर्व राष्ट्रपति भारत सरकार) श्री वी. वी. गिरि (भूतपूर्व राष्ट्रपति, भारत सरकार), स्व. इन्दिरा गांधी (भूतपूर्व प्रधानमंत्री, भारत सरकार), डॉ. एस. राधाकृष्णन् (भूतपूर्व राष्ट्रपति, भारत सरकार), स्व. डॉ. डी. सी. पावटे (भूतपूर्व राज्यपाल, पञ्जाब सरकार), श्री एस. निजलिङ्गप्पा (भूतपूर्व मुख्यमंत्री, कर्णाटक सरकार), स्व. डॉ. सी. डी. देशमुख (भूतपूर्व वित्तमंत्री, भारत सरकार), स्व. के. एस. मुँशी (भूतपूर्व राज्यपाल, उत्तर प्रदेश सरकार एवं भूतपूर्व कुलपति भारतीय विद्यापीठ) एवं स्व. डॉ. सी. पी. रामस्वामी अय्यर (तिरूवाङ्कुर राज्य के भूतपूर्व दिवान) जैसे महान् आत्माओं ने सहानुभूति प्रकट की है। साथ ही एल. बी. भोपटकर, आर्थर मल्स एवं प्रो. के. एस. श्रीकण्ठन् ने भी बसव के प्रति अपने

---

[77] हि. क. सा. प्र. धा. तु. अ., पृ. सं. २३१

सद्विचार प्रकट किए हैं ।[78] सम्प्रति (११ नवम्बर २०१५) भारत के माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी ने बसवेश्वर की मूर्ति का अनावरण इग्लैण्ड के संसद के बाह्य-परिसर में किया है । तदनुसार जन्म, उद्योग, लिङ्ग, जाति और धार्मिक विश्वास के आधार पर निर्मित सभी प्रकार की असमानताएँ, विशेष योग्यताएँ, भेदभाव और व्यवच्छेद का पूर्णत: निषेध होना चाहिये । आधुनिक इतिहासज्ञ तथा दार्शनिक बसवेश्वर को वीरशैव धर्म का प्रचारक मानते हैं, न कि संस्थापक । यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वीरशैवमत में दीक्षित बसवेश्वर ने इस धर्म को पुन: जीवित किया । बसवेश्वर के विषय में डॉ. यदुवंशी[79] का मत है कि बसव वीरशैव के जन्मदाता न होकर इसके प्रबल सहायक थे । के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री[80] के मतानुसार इस प्राचीन परम्परा के आविष्कारक पञ्चाचार्य ही थे । डॉ. एस. सी. नन्दीमठ तथ भण्डारकर[81] आदि के मत में बसवेश्वर ही वीरशैव के आद्याचार्य थे क्योंकि कन्नड़ तथा संस्कृत ग्रन्थों में ऐसा वर्णन है किन्तु इस मत का निराकरण स्वयमेव हो जाता है क्योंकि किसी भी कन्नड़ या संस्कृत के ग्रन्थों में ऐसा नहीं लिखा है कि बसवेश्वर ही वीरशैवमत के संस्थापक थे । मि. इ. थर्स्टन तथा डॉ. जे. एन. फर्क्युहर के मत में पञ्चाचार्य ही इसके संस्थापक थे, न कि बसवेश्वर ।[82] बसव भगवान शङ्कर के वाहन नन्दी के अवतार माने जाते हैं । बसव शब्द वृषभ का तद्भव है ।[83] आचार्य बसव के विषय में अधिक ज्ञान के लिये बसव समिति बेन्गलूरू द्वारा प्रकाशित बसव दर्शन नामक ग्रन्थ उपयोगी है ।

३.१.६.५.२.३ अक्कमहादेवी

अक्कमहादेवी (११६० ई.) का जीवन नारी प्रेम का अप्रतिम उदाहरण है । मीरा की भाँति वह बाल्यावस्था से ही प्रेम की पुजारिन थी । उनके आराध्य का नाम चेन्नमल्लिकार्जुन है । अधिकांशत: वीरशैवों की भाँति अक्कमहादेवी ने सगुण से निर्गुण की यात्रा तय की । अद्भुत सुन्दरी होते हुये भी उन्होंने भोग-विलास को त्याज्य समझा ।

३.१.६.५.२.४ प्रभुदेव

प्रभुदेव या अल्लमप्रभु (११५० ई.) बसवेश्वर के गुरु हैं । वे बसवेश्वर द्वारा स्थापित अनुभव मण्डप के अध्यक्ष थे । प्रभुदेव का नाम हठयोगप्रदीपिका में नाथ सिद्धों की पंक्ति में आया है -

---

[78] ब. द. पृ. सं. १२७-१३२

[79] सि. शि. म. स. पृ. सं. २४

[80] वही

[81] वही

[82] वही

[83] हि. क. सा. प्र. धा. तु. अ. पृ. सं. २३३

अल्लाम: प्रभुदेवश्च घोड़ा चौलींच टिटिणि: ।
भानुकी नरदेवश्च खण्ड: कापालिकस्तथा ॥[84]

कबीर के समान अल्लमप्रभु भी मूर्तिभञ्जक थे । तदनुसार वेद रटन्त बाते हैं, शास्त्र हाट की सूचना है, पुराण लम्पटों की गोष्ठी है, तर्क मेढ़ों की भिड़ंत है, भक्ति दिखाकर लाभ कमाने की वस्तु है एवं ईश्वर वांग्मनातीय वस्तु है ।

३.१.६.५.२.५ अगस्त्यमुनि

वशिष्ठ की ही भाँति ये मित्रावरुण के पुत्र थे ।[85] मित्रावरुण के वीर्यस्खलन को जब कमल के पुष्प ने स्थान दिया तो उस वीर्य से वशिष्ठ और अगस्त्य उत्पन्न हुये ।[86] ऋग्वेद में अगस्त्य सम्बन्धित अनेक सूक्त हैं । ऋग्वेद के १/१८५/१० तथा १/१६५/१४-१५ में अगस्त्य के अनेक विशेषणों की परिचर्चा हैं । अगस्त्यमुनि वीरशैवदर्शन के प्राचीन वक्ता माने जाते हैं किन्तु उपलब्ध सामग्री के अभाव में इनके विषय में अधिक ज्ञान नहीं प्राप्त होता है । ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य के मङ्गलश्लोक (१७) तथा सिद्धान्तशिखामणि में रेणुक-अगस्त्य संवाद की परिचर्चा के अतिरिक्त इनके विषय में वीरशैवसाहित्य में रिक्तता ही अवलोकित होती है । तदनुसार अगस्त्य मुनि कृत एवं वीरशैवदर्शन से सम्बन्धित ब्रह्मसूत्रवृत्ति (जो लघुसूत्रवृत्ति (अगस्त्यसूत्र)[87] के नाम से प्रसिद्ध थी) की एक प्रति कुम्भकोण नगर में है, ऐसा सुना जाता है । वे मुनिशार्दूल (अगस्त्य)[88] समस्त आगमों के ज्ञान में पारङ्गत थे और उन्होनें अपने रुचिभेद के कारण बहुत से शिवज्ञानात्मक सिद्धान्तों का रेवणाराध्य से श्रवण किया था ।

३.१.६.५.२.६ चेन्नबसव

यह बसव के भानजे थे । निष्ठा में यह अल्लमप्रभु से साम्य रखते थे । इन्होंने कथनी और करनी के मध्य संगति न रखने वालों की कटु निन्दा की है ।[89] वसवेश्वर के समान ये भी जाति-प्रथा के विरोधक थे और परिश्रम को अत्यधिक महत्त्व देते थे । इनके मत में बिना परिश्रम किये किसी को भी अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिये ।

३.१.६.५.२.७ सिद्धराम

---

[84] हि. क. सा. प्र. धा. तु. अ. पृ. सं. २३३

[85] ऋ. ७/३३/१३

[86] बृहद्. उ. ५/१३४

[87] भा. द. इ. प. भा., पृ. सं. ५०

[88] ब्र. सू. श्री. भा. द्वि. स., पृ. सं. ४४

[89] हि. क. सा. प्र. धा. तु. अ., पृ. सं. २४४

सिद्धराम (११५० ई.) योगी तथा कर्ममार्गी थे । ये प्रभुदेव के प्रभाव से ज्ञानमार्गी बने । देवालय, तडाग एवं सराय का निर्माण करवा कर वह जनमानस की सेवा कर रहे थे किन्तु अल्लमप्रभु ने उसे बताया कि आत्मज्ञान के बिना सर्वस्व व्यर्थ है । इस प्रकार उन्होंने कर्ममार्ग से ज्ञानमार्ग की यात्रा सम्पन्न की ।[90]

३.१.६.५.२.८ हरिहर

इन वचनों का श्रवण करने के पश्चात् राधवांक, केरेयपद्मरस, चामरस, षडक्षरी आदि कवियों ने प्रबन्धकाव्य की रचना कर शिव भक्ति का प्रचार किया, जिनमें हरिहर (१२०० ई.) का स्थान इनमें मूर्धन्य है । बिना राजाश्रय प्राप्त इस कवि ने गिरिजाकल्याण नामक चम्पू काव्य की रचना की, जिसमें कुमार-सम्भव की कथा वर्णित है । कर्णाटक एवं तमिलनाडु के शैव सन्तों पर उसने रगले छन्द में १०८ काव्य की रचना की, जिनमें बसवराजरगले इनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है । रक्षाशतक एवं पंपाशतक में हरिहर के भक्तिभाव से परिपूर्ण वृत्त हैं । हरिहर के पश्चात् वीरशैव भक्त कवियों में राधवांक (१२१५ ई.), केरेयपद्मरस, पालकुरिके सोमनाथ, मग्गेय, मायिदेव (१४३० ई.), चामरस (१४३० ई.), तोंटद सिद्धलिङ्गयति (१४७० ई.) एवं निजगुणशिवयोगी (१५०० ई.) आदि मुख्य हैं । परमार्थगीते निजगुणशिवयोगी का उल्लेखनीय ग्रन्थ है । षडक्षरी ने वीरशैव भक्ति को चम्पूकाव्य के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया । राजविलास, शेखरविलास एवं शवरशङ्करविलास आदि इनके ग्रन्थों में शिव भक्ति के बहुत ही मनोहर पद्य दृष्टिगोचर होते हैं ।[91]

३.१.६.५.२.९ शिवयोगी शिवाचार्य

सिद्धान्तशिखामणि के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध शिवयोगी शिवाचार्य इतिहासज्ञों द्वारा ८ वीं शताब्दी के माने जाते हैं । यह पद्यात्मक रचना उपलब्ध सभी वीरशैवदर्शन के ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन मानी जाती है । आज भी वीरशैवमतानुयायी सिद्धान्तशिखामणि का धर्मग्रन्थ के रूप में पारायण करते हैं । इसका लगभग १७ भाषाओं में अनुवाद हो चुका है । सिद्धान्तशिखामणि मोबाइल एप्प का भी प्रारम्भ किया गया है । वीरशैवमतानुयायी सभी सिद्धान्तों के मूर्धन्य मणि के रूप में इसे स्वीकार करते हैं । इस ग्रन्थ के विषय में डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य विरचित "सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा" द्रष्टव्य है । साथ ही पं. ब्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा सम्पादित "सिद्धान्तशिखामणिमीमांसा" भी इस विषय के लिये उपयोगी है । उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ वाराणसी द्वारा प्रकाशित हैं ।

---

[90] हि. क. सा. प्र. धा. तु. अ., पृ. सं. २४४

[91] वही, पृ. सं. २४६-२४८

३.१.६.५.२.१० नीलकण्ठ शिवाचार्य

वीरशैवाचार्य परम्परा में दो नीलकण्ठ शिवाचार्य हैं । उनमें प्रथम ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार है तथा द्वितीय उस भाष्यार्थ को कारिका रूप में संग्रह करनेवाले है । शङ्करदिग्विजय के अनुसार नीलकण्ठ शिवाचार्य का आद्यशङ्कराचार्य के साथ शास्त्रार्थ हुआ था ।[92] आद्य नीलकण्ठ शिवाचार्य द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्रनीलकण्ठभाष्य के काठिन्य को दूर करने के लिये आधुनिक नीलकण्ठ शिवाचार्य ने सरल कारिका में उसको उपनिबद्ध किया है । कारिका रूप में यह ग्रन्थ क्रियासार नाम से प्रसिद्ध है । इसका रचनाकाल १४०० ई. माना जाता है । इस ग्रन्थ का प्रकाशन मैसूर नगर में स्थित प्राच्यविद्यासंशोधनालय से तीन खण्डों में क्रमश: १९५४ ई., १९५७ ई. तथा १९५८ ई. में हुआ है । वीरशैवमत के आद्य आचार्य खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया को स्वीकार नहीं करते हैं । उनका मानना है कि जो श्रम हम किसी भी सम्प्रदाय का खण्डन करने में लगाते हैं, वही श्रम सत्यान्वेषण में लगाये तो वह उचित होगा । ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों ने विशेषत: आचार्य शङ्कर के अद्वैतमत को नहीं माना है और उनके खण्डन में सम्पूर्ण परिश्रम किया है । वीरशैवमत के पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने भी ऐसा किया है किन्तु आद्य आचार्यों ने खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया को स्वीकार नही किया है ।

३.१.६.५.२.११ श्रीपतिपण्डिताराध्य

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकर्ता श्रीपतिपण्डिताराध्य का काल ११वी शताब्दी माना जाता है । इनके भाष्य का अपर अभिधान श्रीकरभाष्य है । मैसूर के ही प्राच्यविद्या-संशोधनालय से यह ग्रन्थ दो खण्डों में क्रमश: १९७७-१९७८ ई. में प्रकाशित हुआ है । सी. हयवदनाराव ने भी इसका अंग्रेजी भाषा में विस्तृत भूमिका के साथ तीन भागों में प्रकाशन किया है । सी हयवदनाराव और एस. एन. दासगुप्त के मत में श्रीपतिपण्डिताराध्य का काल १४वी शताब्दी है किन्तु महादेव शिवाचार्य ने अपने ग्रन्थ शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में इस मत का युक्तियुक्त खण्डन करते हुये इनका काल ११वी शताब्दी निश्चित किया है । वीरशैवमत के लिये ब्रह्मसूत्र-श्रीकरभाष्य ग्रन्थ आकररूप है । इसमें वीरशैवमत की तार्किकता को भलीभाँति स्थान प्रदान किया है । मुख्यरूप से मीमांसक तथा शङ्कर के अद्वैतवेदान्त का खण्डन प्राप्त होता है । ब्रह्मसूत्रों की वीरशैवमतानुसार तार्किक व्याख्या की गयी है । शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन की प्रतिष्ठा में अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन करते हुये वीरशैवमत की प्रतिष्ठा की गयी है । इनके विषय में पर्याप्त अभिज्ञान के लिये डॉ. ब्रजेश कुमार पाण्डेय विरचित “श्रीकरभाष्य : सिद्धान्त एवं प्रतिपक्ष (ब्रह्मसूत्र विरोधपरिहाराध्याय के विशेष सन्दर्भ में)” द्रष्टव्य है । इसके अन्तर्गत श्रीपति के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर व्यापक प्रकाश डाला गया है ।

---

[92] श. दि., १५/४९

३.१.६.५.२.१२ मायिदेव

अनुभवसूत्र के रचयिता मायिदेव का काल १५ वीं शताब्दी माना जाता है । यह ग्रन्थ वातूलतन्त्र के अनुसार निर्मित है । एतदिरिक्त मायिदेव द्वारा वीरशैवोत्कर्ष, शतकत्रय तथा प्रभुगीता आदि का भी प्रणयन हुआ है । इस ग्रन्थ का प्रकाशन जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी द्वारा हुआ है ।

३.१.६.५.२.१३ नन्दिकेश्वर

लिङ्गधारणचन्द्रिका के रचयिता नन्दिकेश्वर को १५वीं शताब्दी का आचार्य माना जाता है । इस ग्रन्थ में लिङ्गधारण प्रक्रिया के वैदिकत्व का निरूपण किया गया है । इसका प्रथम प्रकाशन १९०५ ई. में तथा द्वितीय प्रकाशन (हिन्दी अनुवाद के साथ) काशी-जङ्गमवाड़ी मठ के द्वारा १९८८ ई. में हुआ है ।

३.१.६.५.२.१४ स्वप्रभानन्दशिवाचार्य

यह कश्मीर प्रदेश के वीर शैवाचार्य थे । इन्होनें शिवाद्वैतमञ्जरी नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया । इस ग्रन्थ में पूर्वपक्ष के रूप में अद्वैतवाद का मण्डन फिर उसका खण्डन करके शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन (वीरशैवदर्शन) को प्रतिष्ठापित किया है । यह ग्रन्थ काशीजङ्गमवाड़ी मठ से १९८६ ई. में प्रकाशित हुआ है । इनका काल इतिहासज्ञों के अनुसार १७ वीं शताब्दी है ।

३.१.६.५.२.१५ मरितोण्डदार्य

वीरशैवानन्दचन्द्रिका नामधेय स्वतन्त्र ग्रन्थ के रचयिता मरितोण्डदार्य का काल १७ वीं शताब्दी माना जाता है । एतदतिरिक्त इन्होनें सिद्धान्तशिखामणि की तत्त्वप्रदीपिका नामक व्याख्या भी लिखी है । इनकी व्याख्या-सहित सिद्धान्तशिखामणि १९०५ ई. में सोलापुर नगर में स्थित वारद प्रकाशन में दो खण्डों में प्रकाशित है ।

३.१.६.५.२.१६ केलदीबसवभूपाल

१७ वीं शताब्दी के कर्णाटक राज्य के केलदी संस्थान के ये राजा थे । इन्होने तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया - शिवतत्त्वरत्नाकर, सुभाषितसुरद्रुम तथा सुक्ति-सुधाकर । इनमें सुक्तिसुधाकर अनुपलब्ध है तथा मैसूर में अवस्थित प्राच्यविद्यासंशोधनालय में विद्यमान सुभाषितसुरद्रुम अभी तक अप्रकाशित है । शिवतत्त्वरत्नाकर नामक ग्रन्थ प्राच्यविद्यासंशोधनालय से १९६४ ई. में प्रथम भाग, १९६९ ई. में द्वितीय भाग तथा १९८८ ई. में तृतीय भाग प्रकाशित हुआ ।

३.१.६.५.२.१७ शङ्कर शास्त्री

इन्होने ईश-केन-मुण्डक तथा सिद्धान्तशिखोपनिषद् का भाष्य लिखा है। एतदतिरिक्त इन्होने व्याससूत्रों की वीरशैव के सिद्धान्तानुसार एक वृत्ति भी लिखी है। वह ब्रह्मसूत्रवृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है। ये सम्पूर्ण ग्रन्थ मैसूर से प्रकाशित हैं।[93]

वीरशैव के आचार्य स्वयं को शिवाचार्य पद से अलङ्कृत करते हैं। कुछ शिवाचार्यों के कालज्ञान के लिये कर्णाटकलिपि में मुद्रित यह पट्ट सबल प्रमाण है, जिसका हिन्दी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत है[94] -

क्रम संख्या	नाम	शक से	शक-पर्यन्त	अवधि	ऐक्यस्थान
१	श्रीगुरुसिद्धचैतन्यशिवाचार्य			१५०	पूवल्ली
२	श्रीगुरुशिवादित्यशिवाचार्य			९५	काञ्ची
३	श्रीगुरुविश्वेश्वरशिवाचार्य			७८	पूवल्ली
४	श्रीगुरुनीलकण्ठशिवाचार्य		८०	११७	हृषीकेश
५	श्रीगुरुचिद्धनशिवाचार्य	८०	११८	३८	श्रीशैल
६	श्रीगुरुशिवानुभवशिवाचार्य	११८	१९३	७५	पूवल्ली
७	श्रीगुरुस्वप्रभानन्दशिवाचार्य	१९३	२४०	३७	पूवल्ली
८	श्रीगुरुचिदम्बरशिवाचार्य	२३०	२४२	१२	नखपुर

इस पट्ट के पर्यालोचन से वीरशैव की परम्परा प्रथम शताब्दी तक जाती है। द्वितीय शताब्दी के वैशेषिक दर्शन के आचार्य शिवादित्य शिवाचार्य, जिन्होनें सप्तपदार्थी की रचना की वह भी शिवाद्वैतदर्पणकार शिवानुभव शिवाचार्य की परम्परा में अवस्थित है। वीरशैव गुरु-परम्परा नामक एक लघु पाण्डुलिपि में निम्नलिखित शिक्षकों के नाम प्राथमिकता क्रम में इस प्रकार दिए गए हैं - (१) विश्वेश्वर गुरु (२) एकोराम (३) वीरेश्वराध्य (४) वीरभद्र (५) विरणाराध्य (६) मणिकाराध्य (७) बच्चय्याराध्य (८) वीर माल्लेश्वरााराध्य (९) देशिकाराध्य (१०) वृषभ (११) अक्षक तथा (१२) मुख लिङ्गेश्वर।[95]

---

93 सि. शि. म. स. पृ. सं. २३-३०

94 शि. द. प्र., पृ. सं. १२

95 भा. द. इ. प. भा., पृ. सं. ४४

३.१.६.५.३ बीसवीं और ईक्कीसवीं शताब्दी के वीरशैव विद्वान्

बीसवीं शताब्दी के वीरशैव संस्कृत विद्वान् स्वामियों में काशी जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य का अनुपम स्थान है । ये न केवल काशी जगद्गुरु हैं अपितु शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के संस्थापक हैं । आप संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से पीएच. डी और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से डी. लिट. शोधोपाधि प्राप्त विश्वविख्यात आचार्य हैं । इन्होंने रूस में लगभग २०० लोगों को वीरशैवमत में दीक्षित किया है । संस्कृत, कन्नड़, मराठी, तेलगु आदि कई भाषाओं के ये प्रखर विद्वान् एवं वक्ता हैं । वीरशैवपरक संगोष्ठियों का आयोजन इनके निर्देशन में निरन्तर होता रहता है । इसमें न केवल भारत के अपितु विदेशी विद्वान् भी अभिरुचि प्रकट करते हैं । इनके निर्देशन में वीरशैवपरक अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन कई भाषाओं में भी हो चुका है । सिद्धान्तशिखामणि का विभिन्न विद्वानों द्वारा आपने निवेदन करके प्राय: भारतीय और विदेशी १६ भाषाओं में अनुवाद कराया है । जिनमें संस्कृत, मराठी, गुजराती, तेलगु, अंग्रेजी, तमिळ, अवधी पद्य, हिन्दी, भोजपुरी, नेपाली, रूसी आदि भाषायें सम्मिलित हैं । इनके निर्देशन में वर्ष २०१५ में सिद्धान्तशिखामणि मोबाइल एप्प का प्रारम्भ हो चुका है । इसके साथ ही वीरशैवशिवाचार्य, शिवानन्द राजेन्द्रस्वामी, गौरीशङ्कर स्वामी, मरि शान्तिवीरस्वामी, वीरूपाक्ष वडेयर स्वामी, रुद्रमुनिदेव शिवाचार्य, वागीश पण्डिताराध्य शिवाचार्य, शिवकुमार स्वामी, मृत्युञ्जय स्वामी, गङ्गाधर राजयोगीन्द्र महास्वामी, मल्लिकार्जुन मुरुघराजेन्द्र शिवाचार्य, चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी, शिवरुद्रस्वामी, इम्मडी शिवबसव स्वामी, शान्तकुमार स्वामी, आयुर्वेदाचार्य शिवकुमार स्वामी, बसवलिंग स्वामी, लिंगस्वामी, शिवबसवस्वामी, शिवलिङ्गस्वामी, नीलकण्ठ शिवाचार्य, गुरुसिद्धदेव शिवाचार्य, अन्नदानीश्वर स्वामी, डॉ. ज. च. नि. पालाक्षस्वामी, नन्दीश्वरस्वामी, निजलिंगेश्वर, संगन बसव स्वामी, मरुलसिद्ध शिवाचार्य आदि तथा गृहस्थ वीरशैव विद्वानों में उमचगी शङ्कर शास्त्री, गुरुशान्त शास्त्री, विलोचन शर्मा, गंगाधर शास्त्री, वै. नागेश शास्त्री, पण्डित काशीनाथ शास्त्री, कन्दगल् पर्वतशास्त्री, सिद्धप्पाराध्य, नंजुंडाराध्य, पडगदिन्नी बसवराज शास्त्री, डॉ. नन्दीमठ, चन्द्रशेखर शास्त्री, डॉ. एस. पी. मल्लदेवरु, डॉ. नन्दीमठ, चन्द्रशेखर शास्त्री, डॉ. एस. पी. मल्लदेवरु, डॉ. मरुलसिद्धय्या, डॉ. शिवकुमार स्वामी, सावलगी नीलकण्ठ शर्मा, उमेश्वरदेवरु, विद्वान् एम्. एस्. बसवराजय्या, छत्रहल्ली चन्द्रशेखर शास्त्री, चन्नबसवशास्त्री, रेवणसिद्धेश्वर शास्त्री, कालिगणनाथ शास्त्री, षण्मुख शास्त्री, गुरुलिङ्गदेवरु, ए. एल. हिरेमठ, डॉ. मल्लिकार्जुन परड्डी, चिद्धन शर्मा, शिवमूर्ति शास्त्री तथा प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी आदि हैं ।[96] अनुसन्धानपूर्वक यदि सब नाम देने हों तो ये सूची अतिदीर्घ हो जायेगी । तदतिरिक्त कन्नड़, मराठी, तेलगु, आङ्गल एवं तमिल भाषा में वीरशैवमत का विपुल साहित्य है । अल्लमप्रभु, चन्नबसव, माचय, गोग, सिद्धराम तथा महादेवी आदि भी वीरशैव के प्रमुख सहायक के रूप में विख्यात हैं ।[97]

---

[96] सं. वा. वी. शै. सा., पृ. सं. ७१

[97] वही, पृ. सं. ५०

३.१.६.६ वीरशैव-साहित्य

संस्कृत भाषा में वीरशैवमत का विशाल साहित्य अवलोकित होता है। इन साहित्य-ग्रन्थों के संक्षिप्त अवबोध के लिये काशीजगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखरशिवाचार्य ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्त-शिखामणिसमीक्षा (प्रथम परिच्छेद, पृष्ठसंख्या ३०-३३) में इसकी संक्षिप्त सूची प्रस्तुत की है, जिसके आधार पर निम्नलिखित तालिका निर्मित की गयी है -

क्रम संख्या	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थ-लेखक	उनका काल
१	अमृतेश्वरभाष्य	सर्वेश्वरयति	१६०० ई०
२	अनादिवीरशैवसारसंग्रह	गूलूरूसिद्धवीरणाचार्य	
३	आनन्दगीता	मल्लिकार्जुनपण्डिताराध्य	११३० ई०
४	एकोत्तरशतस्थली	जक्कणार्य	
५	कविकर्णरसायन	यत्नन्दूरूषडक्षरकवि	१६६५ ई०
६	कामिकाद्यष्टाविंशत्यागमवृत्ति एवं दीपिका	सकलागमाचार्य	११५० ई०
७	कैवल्योपनिषत्सदाशिवभाष्य	सदाशिवाचार्य	१९४८ ई०
८	कैवल्यसार	मरितोण्डदार्य	१६६० ई०
९	चन्नबसवपुराण	कुमार स्वामी शास्त्री	
१०	चोलरेणुकसंवाद (शिवाधिक्यशिकामणि)	सोसलेरेवणाराध्य	१६६० ई०
११	ज्ञानशतक	सर्पभूषणशिवयोगी	
१२	नन्दिकेश्वरकारिका	नन्दिकेश्वराचार्य	
१३	ब्रह्मसूत्रनीलकण्ठभाष्य	नीलकण्ठशिवाचार्य	८०० ई०
१४	पण्डिताराध्यचरित	गुरुराज कवि	
१५	प्रश्नरेणुक (हस्तलेख)	रुद्रमुनीश्वर	
१६	बसवराजीय	पाल्कुरिकेसोमनाथ	११८० ई०
१७	बसवेशविजय	कञ्चिशङ्कराराध्य	
१८	भक्ताधिक्यरत्नावलि	षडक्षरदेव	१६६५ ई०
१९	भगवद्गीतावीरशैवभाष्य	टी. जी. सिद्धप्पाराध्य	१९६६ ई०
२०	भीमेश्वरगद्य	मल्लिकार्जुनपण्डिताराध्य	११३० ई०

२१	महानारायणोपनिषद्भाष्य	वृषभपण्डिताराध्य	१४०० ई०
२२	माचिदेवमनोविलास	बसवलिङ्गशिवयोगी	
२३	रेणुकचम्पू	ईशानशिवगुरु	९५० ई०
२४	रेणुकविजयचम्पू	सिद्धनाथ शिवाचार्य	९६० ई०
२५	रेवणसिद्धचरित	ईशान शिवगुरु	९५० ई०
२६	लिङ्गराजीय	लिङ्गराज (कोडगुनृप)	१८०० ई०
२७	लिङ्गोद्भवकाव्य	मल्लिकार्जुनपण्डिताराध्य	११३० ई०
२८	वातुलोत्तरत्तरव्याख्यान	गुब्बिमल्लणार्य	
२९	वीरमाहेश्वराचारसंग्रह	नीलकण्ठनागनाथाचार्य	१३०० ई०
३०	वीरमाहेश्वराचारसारोद्धार	लक्ष्मीधराराध्य	
३१	वीरशैवधर्मशिरोमणि	षडक्षरमन्त्री	१७०० ई०
३२	वीरशैवप्रदीपिका	मरितोण्डदार्य	१६६० ई०
३३	वीरशैवविलास	पादपूजाबसवलिङ्गदेशिकेन्द्र	
३४	वीरशैवसदाचारसंग्रह	नागनाथाचार्य	
३५	वीरशैवान्वयचन्द्रिका	आराध्यवीरेश शास्त्री	
३६	वीरशैवाचारकौस्तुभ	मौनप्पपण्डित	१७०० ई०
३७	वीरशैवाचारप्रदीपिका	गुरुदेव कवि	
३८	वीरशैवाचारसुधानिधि	गुरुबसव	१७०० ई०
३९	वीरशैवाष्टावरणप्रमाणाष्टकाभरण	इक्टूनन्दिकेश्वर शास्त्री	
४०	वीरशैवेन्दुशेखर	पण्डित सदाशिव शास्त्री	१९२० ई०
४१	वीरशैवोत्कर्षसंग्रह	पी. आर. करिबसवशास्त्री	१९०८ ई०
४२	वीरभद्रदण्डक	षडक्षरदेव	१६६५ ई०
४३	विवेकचिन्तामणि	लिङ्गराज (कोडगुनृप)	१८०० ई०
४४	वीरशैवोत्कर्षप्रदीपिका	चन्नबसवदेशिक	
४५	वेदान्तसारवीरशैवचिन्तामणि	निट्टूरूनञ्जणाचार्य	
४६	श्वेताश्वतरोपनिषद्वीरशैवभाष्य	टी. जी. सिद्धप्पाराध्य	१९६५ ई०
४७	शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन (शोधप्रबन्ध)	टी. जी सिद्धप्पाराध्य	१९६५ ई०
४८	शङ्करगीता	मल्लिकार्जुनपण्डिताराध्य	११३० ई०
४९	शरणगीता (कन्नड़ वचनों का पद्यानुवाद)	टी. जी. सिद्धप्पाराध्य	१९६६ ई०
५०	शिवाधिक्यरत्नाकर	केलदीबसवभूपाल	१६०० ई०
५१	शिवाधिक्यरत्नावलि	षडक्षरदेव	१६६५ ई०

५२	शिवाद्वैतपरिभाषा	हूलीनीलकण्ठशिवाचार्य	१९२० ई०
५३	शिवाद्वैतदर्पण	शिवानुभव शिवाचार्य	
५४	शिवपञ्चस्तवव्याख्या	विश्वाराध्यपण्डित	
५५	शिवपञ्चविंशतिलीलाशीशतक (हस्तलेख)	काशीजगद्गुरुवीरभद्र-शिवाचार्य	१९४५ ई०
५६	शिवप्रसङ्गरत्नाकर	वृषभलिङ्गशिवयोगी	१०९० ई०
५७	शिवमन्त्रजपविधि (संग्रहात्मक)	मूरूसाविरमठगङ्गाधरस्वामी	१९२१ ई०
५८	शिवयोगप्रदीपिका	चन्नसदाशिवयोगी	
५९	शिवलिङ्गसूर्योदय (वीरशैवधर्मबोधकनाटक)	मल्लणाराध्य	
६०	शिवज्ञानदीपिका	मल्लार्यगुरु	१२०० ई०
६१	शिवसहस्रनामभाष्य	सङ्गमेश्वरयति	१७८० ई०
६२	शिवज्ञानप्रदीपिका	विश्वनाथाचार्य	
६३	शिवज्ञानबोध	शिवाग्रयोगीन्द्रशिवाचार्य	
६४	शिवज्ञानभाष्य	शिवाग्रयोगीन्द्रशिवाचार्य	
६५	शिवज्ञानसमुच्चय	जगदाराध्यनागेशगुरु	१२०० ई०
६६	शैवरत्नाकर	श्रीमज्ज्योतिर्नाथ	११०० ई०
६७	श्रीबसवोदाहरण	पाल्कुरिकिसोमनाथ	११८० ई०
६८	श्रुतिसारभाष्य	श्रीशिवपूजाशिवलिङ्गशिव-योगीन्द्र	१७४५ ई०
६९	सव्याख्या पञ्चश्लोकी	केलदीबसववसुमतीवास	
७०	सानन्दचरित	पद्मराज (केरेयपद्मरस)	११८० ई०
७१	सारोद्धार	लक्ष्मीदेवगुरु	१२०० ई०
७२	सिद्धान्तसारावलि	त्रिलोचन शिवाचार्य	
७३	सिद्धार्थबोधिनी (सिद्धान्तशिखामणि की कन्नड़ टीका)	सोसलेरेवणाराध्य	१६६० ई०
७४	स्तवनमञ्जरी	अभिनव कालिदास बसवप्प शास्त्री	
७५	हरलीला	उद्भटाराध्य	

संस्कृत भाषा में उपलब्ध वीरशैवसाहित्य की एक अन्य सूचिका भी सम्प्रति द्रष्टव्य है[98] :-

[98] सं. वा. वी. शै. सा., अध्याय १२(संस्कृत वीरशैवसाहित्य : एक सिंहावलोकन), पृ. सं. ५६-६६

महाकाव्य			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	कविकर्णरसायनम्	षडक्षरदेव	-
२.	गङ्गोदयकाव्यम्	अन्नदानीश	-
३.	प्रभुलीला	मुरिगा गुरुसिद्ध	१७०० ई.
४.	रेवणासिद्धचरितम्	ईशानगुरु	९५० ई.
५.	हरलीला	उद्भटाराध्य	-
पौराणिक काव्य			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	बसवेशविजयम्	कंचीशंकराराध्य	-
२.	पण्डिताराध्यचरितम्	गुरुराज	-
३.	विजयमहान्तेश चम्पू: और करडीशचम्पू:	पं. पर्वतशास्त्री कन्दगल मठ	-
४.	शम्भुलिङ्गेश्वरविजयचम्पू:	पण्डरीनाथाचार्य गलगली	-
५.	संहिता	कालिदास	१०२५ ई.
नाटक			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	मादरचन्नार्य:	एम. जी. नंजुंडाराध्य	
२.	शिवलिङ्गसूर्योदय:	मल्लनाराध्य	
गीतिकाव्य			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	गीतगङ्गाधरम्	केलदी नंजराज	१७०० ई.
योग			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	शिवयोगप्रदीपिका	चन्न सदाशिवयोगी	-
वैद्यकग्रन्थ			
क्रम	ग्रन्थ	लेखक	काल

संख्या			
१.	बसवराजीयम्	केलदी बसवराज	१७०० ई.
२.	रेवणसिद्धकल्पम् (रेवणसिद्धभाष्यम्)	रेवणसिद्ध	१०९५ ई.
३.	वैद्यसारसङ्ग्रह:	केलदी नंजराज	१७०० ई.
भरतशास्त्र (नाट्यशास्त्रपरक ग्रन्थ)			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	अभिनवभरसारसङ्ग्रह:	मुम्मडि चिक्कभूपाल	१६०० ई.
न्यायशास्त्रपरक ग्रन्थ			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	कणादसङ्ग्रहविवरणम्	केलदी नंजराज	१७०० ई.
सङ्ग्रहग्रन्थ			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	हरिमाहात्म्यदर्पण	केलदी बसवभूपाल	१६९८ ई.
२.	शिवप्रसङ्गरत्नाकर:	वृषभलिङ्ग शिवयोगी	-
विश्वकोश			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	शिवतत्त्वरत्नाकर:	केलदी बसवभूपाल	१६९८-१७१५ ई.
२.	लिङ्गराजीयम् (विवेकचिन्तामणि:)	-	१८०० ई.
सुभाषितग्रन्थ			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	सुभाषितसुरद्रुम:	केलदी बसवभूपाल	-
२.	सूक्तिसुधाकर: (संस्कृतकर्नाटकोभयभाषात्मक:)	केलदी बसवभूपाल	-
शतक			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
	आर्याशतकम्	अभिनवकालिदास बसवप्पशास्त्री	१८४३-१८९१ ई.
१.	ज्ञानशतकम्	सर्पभूषण	१८०० ई.

		शिवयोगी	
२.	त्रिपुरारीशतकम्	मग्गे माइदेव प्रभु	१४३० ई.
३.	शिवावल्लभशतकम्	मग्गे माइदेव प्रभु	१४३० ई.
४.	शिवाधवशतकम्	मग्गे माइदेव प्रभु	१४३० ई.
गीताग्रन्थ			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	आनन्दगीता	मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य	११३०-११६९ ई.
२.	प्रभुगीता	मग्गे माई देवरु	-
३.	शरणगीता	टी. जी. सिद्धप्पाराध्य	-
४.	श्रीमत्कुमारगीता	डॉ. पुट्टराजकविगवाई	-
५.	शङ्करगीता	मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य	११३०-११६९ ई.
गद्यग्रन्थ			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	अक्षराङ्कगद्यम्	पालकुरिके सोमनाथ	-
२.	नमस्कारगद्यम्	पालकुरिके सोमनाथ	-
३.	पञ्चप्रकारगद्यम्	पालकुरिके सोमनाथ	-
४.	बसवाक्षरमालागद्यम्	पालकुरिके सोमनाथ	-
५.	बसवोदाहरणगद्यम्	पालकुरिके सोमनाथ	-
६.	भीमेश्वरगद्यम्	मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य	-
७.	लिङ्गोद्भवगद्यम्	मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य	-
८.	वीरभद्रोदाहरणगद्यम्	षडक्षरकवि	-
एकोत्तरशतस्थल बोधकग्रन्थ			
क्रम	ग्रन्थ	लेखक	काल

संख्या			
१.	एकोत्तरशतस्थली	जक्कणार्य	
२.	कैवल्यसार:	विरक्त तोंटदार्य	
३.	वीरशैवाचारकौस्तुभ:	मानप्प पण्डित	
४.	वीरशैवानन्दचन्द्रिका	मरितोंटदार्य	
५.	सिद्धान्तशिखामणि:	शिवयोगी शिवाचार्य	
ब्रह्मसूत्रभाष्य			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	श्रीकरभाष्यम्	श्रीपतिपण्डित	१०२० ई.
२.	क्रियासार:	नीलकण्ठ शिवाचार्य	-
भाष्यग्रन्थ			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	अमृतेश्वरभाष्यम्	सप्पेश्वरयति	-
२.	ईश-कठ-केन-मुण्डकोपनिषद्भाष्यम्	उमचगी शङ्करशास्त्री	१९३० ई.
३.	एकोरामभाष्यम्	चिद्धनशर्मा	१९००
४.	कैवल्योपनिषत्सदाशिवभाष्यम्	सदाशिव शिवाचार्य गिरियापुर	१९६० ई.
५.	पुरुषसूक्तेभाष्यम्	वृषभपण्डित	-
६.	पुरुषसूक्तभाष्यम्	चिद्धनशर्मा	१९०० ई.
७.	भगवद्गीतावीरशैवभाष्यम्	डॉ. टी. जी. सिद्धप्पाराध्य	-
८.	मञ्चनपण्डितीयम्	चिद्धनशर्मा	१९०० ई.
९.	रेणुकभाष्यम्	चिद्धनशर्मा	१९०० ई.
१०.	वेदभाष्यम्	हरभक्त	(चन्नबसवपुराण में उल्लिखित, १२५० ई.)
११.	श्रुतिसारभाष्यम्	अज्ञातकर्तृक	-
१२.	श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्यम्	डॉ. टी. जी. सिद्धप्पाराध्य	-

१३.	शिवसहस्रनामभाष्यम्	सङ्गमेश्वरयति	-
१४.	सत्संवित्ति:	मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य	-
१५.	सोमनाथभाष्यम्	पालकुरिके सोमनाथ	-
आगम ग्रन्थ			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	कामिकादि अष्टाविंशत्यागमवृन्तातो दीपिकाश्च	सकलागमाचार्य	११५० ई. (नीलकण्ठाचार्य कन्नडाराध्यचरित म् से ज्ञात)
व्याकरण ग्रन्थ			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	कौमुदीव्याख्यानम्	त्रिविधकवीश्वर तृतीय (मुम्मडी) तम्मराजा के अनुज	१६६५ ई.
२.	काशकृत्स्न:	चन्नवीर	-
अलङ्कारग्रन्थ			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	कविसमयविलास:	सोसले रेवणाराध्य	१६२३ ई.
२.	रसिकमनोरञ्जनम्	तृतीय (मुम्मडी) तम्मराजा के अनुज	१६६५ ई.
व्याख्यानग्रन्थ			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	कविकर्णरसायन व्याख्या (सुधोदय:)	वेंगनसुधी	१७०० ई.
२.	क्रियासारव्याख्या	निर्वाणमन्त्री	१७०० ई.
३.	तात्पर्यसङ्ग्रहव्याख्या	शिवलिङ्गभूपति	
४.	लिङ्गधारणचन्द्रिका व्याख्या	पं. शिवकुमार शास्त्री	
५.	विक्रमोर्वशीय व्याख्या	वेमभूपाल	

६.	शाकुन्तल व्याख्या	वेमभूपाल	
७.	सिद्धान्तशिखामणि (तत्त्वप्रदीपिका) व्याख्यानम्	मरितोंटदार्य	१६२३ ई.
८.	हरिदत्ताचार्य कृत पञ्चश्लोकी व्याख्या	केलदी वीरभद्रनृपाल	

स्तोत्रकाव्य

क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	अम्बाषोडशमञ्जरी	अभिनवकालिदास बसवप्पशास्त्री	१८४३-१८९१ ई.
२.	अमरेश्वराष्टकम्	मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य	११३०-११६९ ई.
३.	अनादिसिद्धिलिङ्गाष्टकम्	षडक्षरदेव	१६६५ ई.
४.	इन्दुधरस्तोत्रम्	षडक्षरदेव	१६६५ ई.
५.	इष्टलिङ्गाष्टकम्	षडक्षरदेव	१६६५ ई.
६.	इष्टलिङ्गस्तवनम्	षडक्षरदेव	१६६५ ई.
७.	त्रिषष्टिपुरातनस्तव	अभिनवकालिदास बसवप्पशास्त्री	१८४३-१८९१ ई.
८.	तत्त्वत्रयस्तोत्रम्	षडक्षरदेव	१६६५ ई.
९.	दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्	अभिनवकालिदास बसवप्पशास्त्री	१८४३-१८९१ ई.
१०.	नमः शिवाष्टकम्	षडक्षरदेव	१६६५ ई.
११.	नीलाम्बिकास्तोत्रम्	षडक्षरदेव	१६६५ ई.
१२.	बसवाष्टकम्	षडक्षरदेव	१६६५ ई.
१३.	पर्वतवर्णनम्	मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य	११३०-११६९ ई.
१४.	रुद्रमहिमा	मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य	११३०-११६९ ई.
१५.	वृषभाष्टकम्	पालकुरिके सोमनाथ	११९५ ई.
१६.	शिवस्तवमञ्जरी	षडक्षरदेव	१६६५ ई.
१७.	शिवाद्वयष्टकस्तोत्रमणिमाला	पं. पर्वत शास्त्री कन्दगलमठ	-
१८.	शिवभक्तिसुधारसतरङ्गिणी	अभिनवकालिदास बसवप्पशास्त्री	१८४३-१८९१ ई.
१९.	शिवाष्टकम्	अभिनवकालिदास	१८४३-१८९१ ई.

		बसवप्पशास्त्री	
२०.	शिवस्तोत्रसुमङ्गली	षडक्षरदेव	१६६५ ई.
२१.	श्रीमुखदर्शनम्	मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य	११३०-११६९ ई.
२२.	षडक्षरमन्त्रस्तोत्रम्	षडक्षरदेव	१६६५ ई.
२३.	स्तुतिश्लोकपञ्चकम्	मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य	११३०-११६९ ई.
२४.	संसारमायास्तव:	मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य	११३०-११६९ ई.
विधिपरक एवं प्रयोग-प्रचलित ग्रन्थ			
क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	गर्भाधानादिविधय:	महान्तशास्त्री	
२.	ब्रह्मोपदेशविधि:	उमचिगी शङ्करशास्त्री	
३.	बिल्ववृक्षपूजाविधि:	अभिनवकालिदास बसवप्पशास्त्री	१८४३-१८९१ ई.
४.	विवाहविधि:	गुरुशान्तशास्त्री श्री सदाशिवाचार्य	
५.	वीरशैवदीक्षाविधि:	श्रीसदाशिव शिवाचार्य	
६.	वीरशैव-उत्तरप्रयोगरत्नम्	एम. जी. नंजुंडाराध्य	
७.	वीरशैवागमप्रयोगरत्नम्	एम. जी. नंजुंडाराध्य	
८.	वीरशैवान्त्येष्टिविधि:	पं काशी नाथ शास्त्री	
९.	वीरशैवपूर्वप्रयोगरत्नम्	एम. जी. नंजुंडाराध्य	
१०.	वीरशैवाचारकौस्तुभ: (क्रियाकाण्डम्)	मानप्प पण्डित	-
११.	वैदिकशिवपूजाविधि:	पं. काशी नाथ शास्त्री	
१२.	वैदिकषट्स्थललिङ्गपूजाविधि:	एम. जी. नंजुंडाराध्य	
धार्मिक प्रबन्ध			
क्रम	ग्रन्थ	लेखक	काल

संख्या			
१.	अनादिवीरशैवसारसङ्ग्रह:	सम्पादना सिद्धवीरणार्य	१६०० ई.
२.	अनुभवसूत्रम्	मग्गे माङ्देव प्रभु	१४३० ई.
३.	क्रियासार:	नीलकण्ठ शिवाचार्य	१४०० ई.
४.	कैवल्यसार:	मरितोंटदार्य	१७४४ ई.
५.	कर्मपाकप्रदीपिका	सोसले रेवणार्य	१६२३ ई.
६.	ज्ञानशतकम्	सर्पभूषण शिवयोगी	
७.	भक्ताधिक्यरत्नावली	षडक्षरदेव	१६६५ ई.
८.	माचिदेवमनोविलास:	आनन्दबसवलिङ्ग योगी	१७०० ई.
९.	लिङ्गधारणचन्द्रिका	नन्दिकेश्वर	१७०० ई.
१०.	विशेषार्थप्रकाशिका	मग्गे माङ्देव प्रभु	१४३० ई.
११.	वीरशैवसिद्धान्तप्रमथगणपद्धति:	सोसले रेवणार्य	१६२३ ई.
१२.	वीरमाहेश्वराचारसङ्ग्रह:	नीलकण्ठ नागनाथाचार्य	१३०० ई.
१३.	वीरशैवधर्मशिरोमणि:	षडक्षर मंत्री	१७०० ई.
१४.	वीरशैवानन्दचन्द्रिका	मरितोंटदार्य	१७४४ ई.
१५.	वीरशैवाचारसुधानिधि:	गुरुबसव	
१६.	वेदान्तसारवीरशैवचिन्तामणि:	निट्टूर नंजणार्य	
१७.	श्रीकरभाष्यम्	श्रीपतिपण्डित	
१८.	शतकत्रयम्	मग्गे माङ्देव प्रभु	१४३० ई.
१९.	शिवाधिक्यशिखामणि:	सोसले रेवणार्य	१६२३ ई.
२०.	शिवाद्वैतमञ्जरी	स्वभप्रभानन्द शिवाचार्य	
२१.	शिवयोगचिन्तारत्नम्	वृषभयोगीन्द्र	
२२.	शिवाधिक्यरत्नावलीसिद्धान्तप्रदीपिका	सर्वशम्भु	
२३.	शैवरत्नाकर:	ज्योतिर्नाथ	११०० ई.

धार्मिक प्रबन्ध (अनुपलब्ध)

क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	आत्मकर्ता चिन्तामणि:	निजगुण शिवयोगी	१५ वीं शताब्दी
२.	क्रियासार:	केरेय पद्मराज	

३,	क्रियातिलक:	केरेय पद्मराज	
४.	तत्त्वसार:	केरेय पद्मराज	
५.	दर्शनसार:	निजगुण शिवयोगी	
६.	लिङ्गसार:	केरेय पद्मराज	
७.	शिवज्ञानसमुच्चय:	जगदाराध्य नागेश गुरु	११६५ ई.
८.	शिवज्ञानदीपिका	मल्लनार्य	
९.	शिवतन्त्रैककर्ता	विश्वनाथदेशिक	
१०.	स्वच्छन्दललितभैरव:	केरेय पद्मराज	
११.	सानन्दचरितम्	केरेय पद्मराज	
१२.	सारोद्धार:	लक्ष्मीदेवगुरु	
१३.	सोमशम्भुपद्धति:	सोमशम्भु	११०० ई.

शोधप्रबन्ध संस्कृत गद्य

क्रम संख्या	ग्रन्थ	लेखक	काल
१.	शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शनम्	डॉ. टी. जी. सिद्धप्पाराध्य	
२.	शक्तिविशिष्टाद्वैत(वीरशैव)सम्मततत्त्वत्रयविमर्श:	सर्वदर्शनतीर्थ वेदान्ताचार्य जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी (ज्ञानपीठाधीश्वर, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी)	
३.	सिद्धान्तशिखामणि-समीक्षा	सर्वदर्शनतीर्थ वेदान्ताचार्य जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी (ज्ञानपीठाधीश्वर, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी)	१९८६

संस्कृतानुवाद ग्रन्थ

१.	कबीरदासशतकम्	डॉ. मल्लिकार्जुन परड्डी	
२.	बसश्वेश्वरशतकम्	डॉ. मल्लिकार्जुन परड्डी	
३.	बसववचनामृतम्	एम. जी. नंजुंडाराध्य	
४.	शरणगीता	डॉ. टी. जी. सिद्धप्पाराध्य	
५.	हानगल् श्रीकुमार-महाशिवयोगिजीवनचरितम्	बसवराजशास्त्री पदगदिन्नीमठ	

अन्य वीरशैव ग्रन्थ (अप्रकाशित)			
१.	अमृतसप्पेश्वरभाष्यम्	सप्पेश्वरशिवयोगी	
२.	अथर्वणशाखा साराटिका	अज्ञातकर्तृक	
३.	एकोत्तरशतस्थली	जक्कणार्य	
४.	एकोत्तरशतस्थलम्	रेवणसिद्ध शिवाचार्य	
५.	क्रियाकर्मद्योतक:	अघोरशिवाचार्य	
६.	गङ्गोदय:	मल्लिकार्जुन शिवाचार्य	
७.	तैत्तिरीय तथा महानारा-यणोपनिषद्भाष्य	वृषभेन्द्रपण्डितशिवाचार्य	
८.	दशग्रन्थि:	विश्वनाथाचार्य	
९.	दशग्रन्थी शिवज्ञान प्रदीपिका	वीरणार्य	
१०.	नन्दीश्वरविजयदण्डकम्	इम्मडी मुरिगा गुरुसिद्ध देशिकेन्द्र	
११.	पञ्चब्रह्मोदयभाष्यम्	सासलु चिक्क वीरणाराध्यरु	
१२.	परममूलज्ञानप्रशस्ति:	चिक्कवीरण्ण वडेयर	
१३.	पुरुषार्थसार:	विश्वेश्वरशिवदेव	
१४.	माचिदेवमनोविलास:	आनन्दबसवलिङ्ग यति	
१५.	लिङ्गराजीयम्	कोडगिन लिङ्गराज	
१६.	लोकाक्षी	वीरणाराध्य	
१७.	वीरभद्रपुराणम्	वीरभद्रार्यरु	
१८.	वीरभद्रसहस्रम्	चिक्कणाराध्य	
१९.	वीरशैवधर्मसिन्धु:	मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य	
२०.	वीरशैवाचारकौस्तुभ	मानप्प पण्डित	
२१.	वीरशैवसिद्धान्तप्रदीपिका	वीरभद्र देवरु	
२२.	वीरशैवाचार प्रदीपिका	गुरुदेव	
२३.	वीरमाहेश्वरसुधानिधि:	वेङ्कटाद्रि	
२४.	वीरमाहेश्वराचारसङ्ग्रह:	नीलकण्ठनागनाथाचार्य	
२५.	वीरशैवसुधानिधि:	गुरुबसवार्य	

२६.	वीरशैवान्वयचन्द्रिका	वीरेश्वर शास्त्री	
२७.	वीरशैवशिखामणिटीका	पलकुरिके सोमनाथ	
२८.	वेदान्तवीरशैवचिन्तामणि:	सिद्धनंजेश (पूवल्ली मठ)	
२९.	वेददीक्षाविधि:	चिक्कवीरार्यरु	
३०.	श्रीरेणुकविजयम्	सिद्धनाथ शिवाचार्य	
३१.	श्रुतिसारभाष्यम्	शिवपूजा शिवलिङ्ग श्री योगीन्द्र	
३२.	शिवकथार्णव	गिरिमल्लिकार्जुन	
३३.	शिवाधिक्य रत्नावली	सोसले रेवणाराध्य	
३४.	शिवप्रसङ्गरत्नाकर:	अज्ञातकर्तृक	
३५.	शिवज्ञानसमुच्चय:	जगदाराध्य नागेश गुरु	
३६.	शिवसहस्रनामभाष्यम्	सङ्गमेश्वर यति	
३७.	शैवरत्नाकर:	ज्योतिर्नाथ	
३८.	सामगानार्थखण्डनम्	सर्वेश्वरार्यरु	
३९.	सिद्धेश्वरचारित्रम्	ईशानशिवगुरु	
४०.	सुभाषितसुरद्रुम:	केलदी बसवभूपाल	
४१.	सूक्तिसुधाकर:	केलदी बसवभूपाल	
४२.	सोमनाथभाष्यम्	पालकुरिके सोमनाथ	
४३.	हरलीला	उद्भटाराध्य	
४४.	हलायुधस्तोत्रम्	हलायुध	

एतदतिरिक्त वीरशैवसाहित्य के अनेक ग्रन्थ अभी भी अप्रकाशित तथा अनुपलब्ध हैं। प्राय: इन कृतियों की संख्या ४०० है, जिनमें २८ शिवागम, २२५ आगम तथा २५३ उपागम हैं। मैसूर के प्राच्य विद्या संस्थान द्वारा मात्र ८-१० आगमों का ही प्रकाशन अभी तक हुआ है। जंगमवाड़ी मठ वाराणसी से भी कुछ आगमों का प्रकाशन हुआ है। इस दिशा में वीरशैव के धर्माचार्यों और विद्वानों को निष्ठापूर्वक उदारभावना से श्रमपूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।[99] एक अनुमान यह भी है कि केवल संस्कृत में सम्पूर्ण वीरशैवसाहित्य के ग्रन्थों की संख्या १००० है। अनेक ग्रन्थों के उल्लेख मात्र मिलते हैं और अनुपलब्ध ग्रन्थ भी अधिक हैं। न जाने कितनी

[99] सं. वा. वी. शै. सा., पृ. सं. ६६

कृतियाँ नष्ट हो गईं और हस्तलिखित ग्रन्थों को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता । ग्रन्थों के प्राचीन हस्तलेख (अप्रकाशित) मैसूर मद्रास (चेन्नई) आड्यार, तंजावूर, बाडोदरा (बड़ौदा) लन्दन तथा बर्लिन के ग्रन्थालयों, प्राच्य ग्रन्थालयों तथा वीरशैवमठों में उपलब्ध होते हैं । पारम्परिक तथा कुलक्रमागत गुरुओं और पण्डितों के निजी ग्रन्थ संग्रहों में भी ये ग्रन्थ अन्वेषण करने पर प्राप्त हो सकते हैं । वीरशैवसाहित्य की समृद्धि के लिये इन कृतियों का सम्पादन, व्याख्यान, प्रकाशन तथा प्रचार-प्रसार अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है । १९४०-५० तक दक्षिण कर्णाटक के बेंगलोर और मैसूर में स्थित संस्कृत महाविद्यालयों में वीरशैव संस्कृत साहित्य के अध्ययन की सुविधा न थी किन्तु वीरशैव मठों और शोलापुर, हुबली, धारवाड़, मैसूर, बल्लारी, यादगिरि शिवयोग मन्दिर सहित काशी तथा अन्य स्थानों में गुरुकुल और पाठशालाओं में धर्मगुरु और मठाधिपति एवं अन्य जंगम बनाने के इच्छित जनों को संस्कृत और संस्कृत में वीरशैवसाहित्य का अध्ययन करने की पूर्ण सुविधा तथा अनुमति थी । विगत पैंसठ वर्षों से मैसूर, बैंग्लोर, सिद्धगङ्गा तथा हुबली आदि स्थानों में संस्कृत विद्यालयों और अनेक बड़े मठों में संस्कृत पाठाशालाओं को आरम्भ कर सरकार द्वारा इच्छित और अनुरक्त जनों को संस्कृत का अध्ययन करने के के लिये प्रोत्साहित किया जाना सराहनीय है ।[100] दशवीं शताब्दी में कालामुखी, पाशुपत सम्प्रदाय के गुरुओं, आचार्यों, मठों, देवालयों के माध्यम से संस्कृत में उच्चस्तर के आध्यात्मिक तत्त्वों का बोध कराया जाता था । सालोगडी, बल्लिगावी, कुप्पूत्तर, सूडी, हुबली तथा श्रीशैल - इन स्थानों पर मठों-देवालयों सहित गुरुकुल, संस्कृत के माध्यम से आध्यात्मिक विद्या के केन्द्र बन गये थे । शरणों के काम से शिक्षा से को प्रमुखता प्राप्त हुई और शैव शाखा वीरशैव में रूपान्तरित हुई । शैव सम्प्रदाय से वीरशैव में आनेवाले सभी विद्वान् आचार्य अपने मठों, गुरुकुलों में वेदागमसिद्धान्तों की ही शिक्षा संस्कृत में देते रहे । शरणों की क्रान्ति के पश्चात् शिक्षा के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुये । लक्कण दण्डेश द्वारा रचित शिवतत्त्वचिन्तामणि लगभग ५० कायकों के विषय में जानकारी देती है । उस समय जंगम धार्मिक शिक्षण के साथ कायक शिक्षण भी दिया करते थे । वीरशैव में एक ऐसी भी प्रथा का उल्लेख मिलता है कि सरल सामान्य तत्त्वों की शिक्षा तो कन्नड़ में दी जाती थी किन्तु उच्च आध्यात्मिक तत्त्वों की शिक्षा संस्कृत के माध्यम से दी जाती थी । वीरशैव मठों का प्राथमिक कार्य लोगों को शिक्षित करना ही था जो जंगम मठों के नामकरण से अभिज्ञात होती है । यथा - ओली मठ (ओदिसुवमठ) अर्थात् सिखाने का मठ, सालीमठ, कूलीमठ अर्थात् वृत्ति शिक्षण मठ, ऐगल मठ अर्थात् शब्दमणिदर्पण मठ, टीकिन मठ अर्थात् टिप्पणी मठ, सम्पादनेय मठ अर्थात् कमाने के मठ । ये नाम हुबली, जमखंडी, अब्बिगेरी जैसे स्थलों पर अभी भी प्रचलित हैं । यह ऐतिहासिक प्रमाण यह द्योतित करते हैं कि संस्कृत में शिक्षा का प्रसार और ग्रंथ-रचना में जंगमों की पात्रता प्रमुख थी ।[101]

इस प्रकार भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में शैव एवं वीरशैवमत की परम्परा अपना विशिष्ट स्थान रखती है । सनातन परम्परा भी शैवमत के बिना अपूर्ण है । षड्-दर्शनों में शिव की

---

[100] सं. वा. वी. शै. सा., पृ. सं. ७०

[101] वही

शिवता समाविष्ट है । वेदान्त के प्राय: सभी सम्प्रदाय शिव से सम्बन्धित हैं । यही समन्वय-वादी दृष्टिकोण विश्वबन्धुत्व पद का प्रबल आधार रही है ।

चतुर्थ अध्याय : वीरशैवदर्शन में तत्त्वमीमांसा,प्रमाणमीमांसा एवं आचारमीमांसा

श्रुति भारतीय ज्ञान परम्परा का सर्वश्रेष्ठ चिन्तन है । स्मृति, इतिहास तथा पुराण भी श्रुतिमूलक होने से प्रमाण हैं । कहा भी गया है कि श्रुति और स्मृति के विरोध में श्रुति ही बलवती है । श्रुति का तात्पर्य संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् से है । जहाँ श्रुति मौन है, वहाँ स्मृति भी प्रमाण हो सकती है । स्मृति, इतिहास और पुराण में उत्तर की अपेक्षा पूर्व प्रबल है । इस प्रकार ज्ञानधारा अनेक हैं । प्रमुखरूप से एक श्रुतिसम्मत ज्ञानधारा है तो द्वितीय श्रुतिविरोधिनी ज्ञानधारा है । श्रुतिसम्मतधारा प्राय: आस्तिकदर्शन और श्रुति-विरोधिनी ज्ञानधारा नास्तिकदर्शन इस अपरनाम के द्वारा भी अभिज्ञात होते हैं । यह सर्वविदित है न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा ये आस्तिक दर्शन तथा बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि दर्शन नास्तिक दर्शन है । शैव दर्शन भी आस्तिक दर्शन[1] ही है क्योंकि प्राय: जो दर्शन वेद, पुनर्जन्म तथा ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं, वे आस्तिकदर्शन और जो दर्शन वेद, पुनर्जन्म तथा ईश्वर की सत्ता में विश्वास नही करते हैं, वे नास्तिक दर्शन अभिधान से परिज्ञात होते हैं । सभी दर्शनों का प्रमुख लक्ष्य है सुखप्राप्तिद्वारा दु:खनिवृत्ति । सुख भी द्विविध है - एक लौकिक सुख और अपर अलौकिक सुख । लौकिक सुख सर्वजन के लिये अनुकूलवेदनीयत्व पद से ज्ञात होता है और अलौकिकसुख भूमा पद के द्वारा व्यवहृत होता है । छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा गया है -

यो वै भूमा तत्सुखम् । यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।[2]

सभी प्राणियों के द्वारा सुख की कामना की जाती है किन्तु उन्हें दु:ख का भी अनुभव करना पड़ता है । इस सुख तथा दु:खानुभव की प्रक्रिया में सभी यही कहते हैं कि हमलोग दु:ख से पीड़ित हैं, अत: अनन्त सुख ही हमारा परम ध्येय है । सभी उस अनन्त सुख की प्राप्ति के लिये अनेक मार्गों का अनुशरण करते हैं । उन विविध मार्गों में से एक मार्ग है - वीरशैवदर्शन । वीरशैवदर्शन को शक्तिविशिष्टाद्वैत, शिवाद्वैत, विशेषाद्वैत, अत्याश्रमीव्रत, वीरव्रत और लिङ्गायत इन अपर अभिधानों के द्वारा जाना जाता है । वीरशैवमत प्रमुखरूप से सम्प्रति भारतवर्ष के कर्णाटक, आन्ध्रप्रदेश, गुजरात, मध्यप्रदेश, तमिलनाडु, केरल, उत्तर प्रदेश, हरियाणा तथा दिल्ली के साथ ही नेपाल राष्ट्र में प्रसिद्ध है । प्रत्यभिज्ञा दर्शन प्रमुख रूप से ग्रन्थों में अवलोकित होता है । उसके अनुयायी अत्यल्प हैं । वीरशैवमत का वर्णन केवल ग्रन्थों में ही नही है अपितु इसके करोड़ों अनुयायी भी हैं । वीरशैवमत में आचारमीमांसा का प्रमुखरूप से स्थान द्योतित होता है । तदनुसार षट्स्थल, पञ्चाचार, अष्टावरण तथा पञ्चयज्ञों की अत्यधिक प्रसिद्धि है । जिस प्रकार सनातन परम्परा में यज्ञोपवीत तथा गायत्रीमन्त्र का

---

[1] वेदधर्माभिधायित्वात् सिद्धान्ताख्य: शिवागम:
वेदबाह्यविरोधित्वाद् वेदसम्मत उच्यते ॥ सि. शि. म., ५/१२

[2] छान्द. उ. ७/२४/१

जप किया जाता है, उसी प्रकार वीरशैवमतानुयायी ग्रीवा (गले) में शिवलिङ्ग धारण करते हैं तथा "ऊँ नम: शिवाय" इस मन्त्र का जप करते हैं ।

सिद्धान्तशिखामणि वीरशैवमत का ग्रन्थ है । उस ग्रन्थ (के प्रारम्भिक १-५ परिच्छेदों) में उपवर्णित एक कथा के अनुसार स्वयम्भू शिव ने सर्वप्रथम ब्रह्मा को प्रकट किया । शिव ने ब्रह्मा को उपाय देकर सृष्टि के लिये उन्हें नियुक्त किया किन्तु ब्रह्मा सर्जन में समर्थ नही हो सके । अन्तत: ब्रह्मा ने शिव से प्रार्थना की कि "हे प्रभु ! मैं सृष्टिप्रक्रिया में असमर्थ हूँ । सर्वप्रथम आप सृष्टि कीजिये और उनको देखकर मैं पुन: सृष्टि करूँगा ।" ब्रह्मा की प्रार्थना को सुनकर शिव ने सर्वप्रथम पञ्चशिवगणों की उत्पत्ति की और उनको देखकर ब्रह्मा ने चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की । वीरशैवमतानुयायी उन्हीं पञ्चगणों से स्वयं को समुत्पन्न मानते हैं ।

एक बार शिव पार्वती के साथ कैलाश पर्वत पर बैठे थे । उनकी सेवा में सभी देवगण संलग्न थे । वहाँ पर शिव का एक गण रेणुक भी था । शिव ने प्रसन्न होकर रेणुक को ताम्बुल प्रसाद देने के लिये बुलाया । रेणुक शीघ्रता के कारण एक अन्य गण दारुक को लांघकर शिव के पास पहुँचा । शिव क्रुद्ध हो गये । उन्होंने कहा कि हे रेणुक ! तुमने मेरे भक्त का लंघन किया है और यह महान् अपराध है । तुमने मनुष्यों के सदृश कर्म किया है, अत: तुम मनुष्य योनि को प्राप्त हो जाओ । रेणुक ने कहा कि हे परमेश्वर ! मुझे कृपया क्षमा कर दीजिये । मेरे ऊपर कृपा करिये । मैं मनुष्य योनि में नही जाना चाहता हूँ । तदनन्तर शिव ने कहा हे रेणुक ! तुम मेरे शिवलिङ्ग से कर्णाटक प्रदेश में अवतरित होगे । इस प्रकार रेणुक ने शिवलिङ्ग से प्रादुर्भूत होकर वीरशैवमत की इस पृथ्वी पर स्थापना की ।

सिद्धान्त-शिखामणि ग्रन्थ के इक्कीसवे परिच्छेद के अनुसार रेणुकाचार्य ने परमशिवभक्त राक्षसराज रावण की इच्छापूर्ति के लिये उसके भ्राता विभीषण के अनुरोध पर लङ्का में अवशिष्ट त्रिकोटि (तीन करोड़) शिवलिङ्गों की स्थापना की । वीरशैवमत के अन्तर्गत वीर शब्द भक्तिसमुत्पादक है । परमसत्ता के विषय में जिज्ञासायुक्त जीव ही शिवसंस्कारसम्पन्न कहा जाता है और शिवसंस्कारसम्पन्न पुरुष में जातिभेद नही होता है । इस मत में परब्रह्म, लिङ्ग तथा स्थल शब्द परमसत्ता के पर्याय हैं । लिङ्गाङ्गस्थल में लिङ्ग का तात्पर्य शिव तथा अङ्ग का तात्पर्य जीव होता है ।

४.१ वीरशैवमत में अनुबन्ध चतुष्टय

वीरशैव वेदान्त अथवा उत्तरमीमांसा का ही अङ्ग है, अत: सामान्य रूप से वेदान्त के ही अनुबन्ध चतुष्टय वीर शैवों के भी अनुबन्ध के रूप में स्वीकार किये जाते हैं तथापि ब्रह्मश्रीशङ्करशास्त्री मुण्डकोपनिषद् के वीरशैव भाष्यान्तर्गत अनुबन्ध चतुष्टय की परिचर्चा करते हुये कहते हैं -बलवदनिष्टानुबन्धीष्टसाधकताज्ञानजन्यप्रवृत्तिप्रयोजकम् अनुबन्ध-चतुष्टयम् ।[3] अर्थात् जो प्रबलकारी अनिष्ट तत्त्वों से सम्बन्ध न रखकर अभीष्ट साधनों से प्रयोजनप्राप्ति की ओर प्रवृत्त करते हैं वें अनुबन्ध चतुष्टय हैं - १ विषय, २) प्रयोजन (३)

[3] श्वेत. उ. प्र. पृ. सं. ३१

सम्बन्ध तथा (४) अधिकारी । अनुबध्नन्ति अध्येतृन् इति अनुबन्धा:[4] इस निर्वचन के अनुसार जो अध्येताओं को बाँधे रखते हैं, उन्हें अनुबन्ध कहते हैं । ब्रह्मविद्या का अधिकारी परमशिव प्राप्ति का इच्छुक मुमुक्षु है । उसका प्रतिपाद्य विषय परशिव ब्रह्म है । इसका प्रयोजन सांसारिक प्रपञ्चों से पृथक् रहते हुये ब्रह्मसाक्षात्कार करना तथा इसका सम्बन्ध मुक्ति का ब्रह्मविद्या के साथ प्रकाश्य-प्रकाशकभाव सम्बन्ध है । कैवल्योपनिषत् के सदाशिवभाष्य के अनुसार वीरशैव का षड्-विध स्थल क्रम अनुबन्ध चतुष्टय के अनुसार है । तदनुसार वीरशैवदर्शनधर्मनिष्ठ मुमुक्षु अधिकारी, केवल शिवभक्ति से प्राप्तियोग्य लिङ्गाङ्ग-सामरस्यस्वरूपा परामुक्ति प्रयोजन १०१ स्थलों का ज्ञान विषय तथा ज्ञान का शास्त्र के साथ प्रकाश्यप्रकाशक भाव सम्बन्ध है । जैसा कि सिद्धान्तशिखामणि (५/२३) कहती है :-

शास्त्रं तु वीरशैवानां षड्-विधं स्थलभेदत: ।
धर्मभेदसमायोगादधिकारिविभेदत: ॥

इस श्लोक की व्याख्या श्रीमरितोण्डदार्य के अनुसार निम्नलिखित है -

अस्य शास्त्रस्य वीरशैवधर्मनिष्ठ: सन् मुमुक्षुर्भक्तोऽधिकारी, शिवभक्तिलभ्या शिवैक्यरूपपरा मुक्ति: प्रयोजनम्, एकोत्तरशतस्थलज्ञानं विषय:, ज्ञानस्य शास्त्रेण प्रकाश्यप्रकाशकभाव एव सम्बन्ध: । एवम् अनुबन्धचतुष्टयवत् एतत् शास्त्रम् ।[5]

सिद्धान्तशिखोपनिषद् के अनुसार अनुबन्धचतुष्टय अध्येताओं की प्रवृत्ति का अङ्ग है । तदनुसार लिङ्गाङ्गसामरस्य शक्तिविशिष्टाद्वैत का साधन रूप विषय है । शिव ही पञ्चाक्षर मन्त्र है तथा उसका प्रयोजन है, जीवात्मा का शुद्ध-बुद्ध परमानन्दमय परमशिवस्वरूप हो जाना । जो सभी अर्थतत्त्व का वेत्ता है, वही दीक्षित शिष्य इसका अधिकारी है तथा शास्त्र और विषय का परस्पर प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है ।[6]

निष्कर्षत: वीरशैव की यह प्राचीन परम्परा विविध संस्कृत, कन्नड़, मराठी एवं तमिल आदि भाषापरक ग्रन्थों तथा अनेक आचार्यों से सुशोभित है । इस परम्परा का आचार्यों ने धर्म तथा दर्शन द्विविध दृष्टि से अवलोकन किया है । वीरशैव ज्ञान-कर्मसमन्वयवादी है । धर्म जहाँ कर्म को प्राथमिकता प्रदान करता है, वही दर्शन ज्ञान को प्राथमिकता प्रदान करता है । उदाहरणत: औषधि का ज्ञान जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही उसका भक्षण या लेप भी आवश्यक है । फलत: ये द्विविध चिन्तन की धारायें सूक्ष्मतया पृथक् नही हैं । जहाँ धर्म को दर्शन माना गया है, वही दर्शन भी धर्म का ही पर्याय है । दोनों स्वात्मप्रत्यक्ष के महत्त्वपूर्ण साधन हैं । स्थूलता में सूक्ष्मता का दिग्दर्शन करना दोनों का ही प्रधान लक्ष्य है । वीरशैवमत

---

[4] श्वेत. उ. प्र. पृ. सं. ३०

[5] कै. उ. प्र. पृ. सं. ३३

[6] सि. शि. उ. १/२, पृ. सं. २१

के अनुयायी जहाँ व्यवहार सञ्चालन के लिये सनातन परम्परा का सम्यक् परिपालन करते हैं, वही वें प्रत्येक कण में परब्रह्म शिव की भी भावना रखते हैं। इन द्विविध चिन्तन-धाराओं के सम्यक् परिपालन से समाज की आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक उन्नति होती है क्योंकि एक ओर तो यह परम सत्ता स्थूलत: सप्रपञ्च, सोपाधिक, सविकल्पक, सखण्ड, सभेद, सद्वय, सक्रम तथा साकार है तो दूसरी ओर निष्प्रपञ्च, निर्विकल्पक, निरुपाधिक, अखण्ड अभेद, अद्वय, अक्रम तथा निराकार है।

४.२ तत्त्वमीमांसा

इस स्थूल सृष्टि में प्राणी के आविर्भाव के साथ ही सामान्यत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह कहाँ से आया है ? उस प्राकट्य के पृष्ठ में कौन-सा कारण है ? यही स्वात्मविषयक जिज्ञासा ही संसार की सर्वश्रेष्ठ जिज्ञासा है एवं इसका समाधान सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान। वह कौन ऐसी सत्ता है जिस एकमात्र का ज्ञान हो जाने के पश्चात् किसी द्वितीय ज्ञान की आवश्यकता नही रह जाती है ?[7] इत्यादि प्रश्नों के उत्तर के लिये दर्शन रूपी सोपान का प्रयोग विद्वानों ने किया है। उस परम सत्ता का साक्षात्कार करना सबका लक्ष्य है, भले ही अनुभव की भिन्नता के कारण उनके अन्वेषण-मार्ग पृथक्-पृथक् हो। इस दर्शन की प्रणाली का समुचित अवबोध करने के लिये ही आचार्यों तथा महर्षियों ने त्रिविध प्रमुख प्रणालियों का चयन किया है। प्रथम दृष्ट्या किसी भी कार्य को देखकर उसके कारण की जिज्ञासा होती है। सामान्य दृष्टि भी उसके मूल स्वरूप का ही अन्वेषण करना चाहती है क्योंकि उसके मूल स्वरूप का ज्ञान होने पर उसके विषय में सम्पूर्ण ज्ञान का होना स्वाभाविक है। यह कारण विषयक जिज्ञासा ही तत्त्वविषयक जिज्ञासा है। प्रस्तुत कार्य कौन-कौन से तत्त्वों का सम्मिलित रूप है ? यह ज्ञान हो जाने के पश्चात् व्यक्ति यह जानने का प्रयत्न करता है कि उसने किस साधन से उस ज्ञान को प्राप्त किया ? यह साधन विषयक जिज्ञासा प्रमाण विषयक जिज्ञासा है। इन दोनों का ज्ञान होने के पश्चात् प्राणी व्यवहार में उस ज्ञान का उपयोग करने की इच्छा प्रकट करता है और यह जिज्ञासा ही आचार विषयक जिज्ञासा है। इस प्रकार इन त्रिविध ज्ञान के पथों का अपने धर्म के अनुसार सम्यकतया निर्वाह करने पर मनुष्य इहलोक तथा परलोक में भी आनन्दित होते हुये अन्तत: मोक्ष को प्राप्त करता है। सभी दर्शनों या उनकी शाखाओं ने इन तथ्यों पर समुचित विचार किया हैं किन्तु प्रधानता या अप्रधानता के कारण उनके यहाँ इन त्रिविध तथ्यों में किसी का वर्णन अङ्गी रूप में है तो किसी का अङ्ग रूप में है। अस्तु ! जिस प्रकार न्याय दर्शन में प्रधानतया प्रमाण का वर्णन होने से उसे प्रमाणशास्त्र, वैशेषिक दर्शन में पदार्थ की प्रधानता होने से उसे पदार्थशास्त्र कहा गया है, उसी प्रकार शैव दर्शन में तत्त्वों की प्रधानता के कारण यदि इसे तत्त्वशास्त्र कहा जाए तो संभवत: अतिशयोक्ति न होगी।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये।

---

[7] कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति मु. उ. वी. शै. भा., १/१/३

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेति तत्त्वत: ॥[8]

उपर्युक्त श्रीमद्भगवद्गीता के वचनानुसार तत्त्व की प्रधानता सर्वत्र व्याप्त है । तत्त्वज्ञानी ही ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है । तत्त्व जहाँ प्रत्येक वस्तु की सूक्ष्मता को दर्शाता है, वही वह उसके सम्पूर्ण ज्ञान का प्रथम सोपान भी सिद्ध होता है क्योंकि ज्ञान की त्रिविध धाराओं (तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा एवं आचारमीमांसा) में प्रथमतया स्थान तत्त्व का ही अवलोकित होता है । जड़ या चेतन वस्तु का मूल रूप ही तत्त्व पद से अभिहित होता है । शास्त्रकारों के व्युत्पत्तिपरक अर्थानुसार सदसति तत् तस्य भाव: तत्त्वम् निश्चयात्मकता का भाव ही तत्त्व कहलाता है । जिस ज्ञान से नि:श्रेयस का अधिगम होता है, उसको भी वैशेषिक दर्शन में तत्त्व शब्द दिया गया है ।[9] वस्तु के मूल स्वरूप का ज्ञान मोक्षप्राप्ति में उपयोगी माना गया है, अत: उसका मूलस्वरूप ही तत्त्व पद का अधिकारी होता है । स्थूलता को देखकर सूक्ष्मता की जिज्ञासा, कार्य को देखकर कारण की जिज्ञासा ही तत्त्वविषयक जिज्ञासा है । कार्य के ज्ञान होने पर मूल कारण विषयक जिज्ञासा स्वभावत: हुआ करती है और वही जिज्ञासा ही तत्त्व की जननी है । सृष्टि का प्रतिपादन करनेवाली जितनी भी श्रुतियाँ हैं, उनकी एकवाक्यता बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद में गौण्यसम्भवात् तत्प्राक् श्रुतेश्च[10] इत्यादि सूत्रों में उत्तम प्रकार से की है । तदनुसार श्रुति में वर्णित सृष्टि क्रम के अनुसार ये तत्त्व पाये जाते हैं :- पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पञ्च भूत । पञ्च तन्मात्रा :- गन्ध, रस, रूप,स्पर्श और शब्द । इन तन्मात्राओं का ग्रहण करनेवाली श्रोत्र, त्वक्, अक्षि, रसना, और घ्राण, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और इनका प्रेरक मन । वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा इनके अध्यक्ष प्राण, बुद्धि, महान्-आत्मा और अव्यक्त पुरुष ये ही तत्त्व श्रुतियों की सृष्टि प्रक्रिया में परिगणित हैं । इन्हीं तत्त्वों में परस्पर कार्य-कारण भाव श्रुतियों ने दिखलाया है । इन्द्रियेभ्यश्च परा ह्यर्था: अर्थेभ्यश्च परं मन: इत्यादि कठ-श्रुतियों के द्वारा परापर भाव भी बतलाया गया है ।[11]

४.२.१ विभिन्न दार्शनिक मत में तत्त्व विचार

इस सृष्टि की भिन्न- भिन्न सम्प्रदायों ने मीमांसा की हैं । किसी के मत में सृष्टि में एक ही सत्ता है तो किसी के मत में अनेक की सत्ता है । तत्त्वों की संख्या भले ही प्रत्येक दर्शन में भिन्न-भिन्न हों किन्तु सभी ने अपनी मति के अनुरूप सूक्ष्मता का दिग्दर्शन करने का प्रयत्न किया हैं । आलोचनात्मक दृष्टि से हम किसी भी सम्प्रदाय के मार्ग को अनुचित नही कह सकते । खण्डन-मण्डन तर्क की प्रक्रिया है ; जिससे व्यवहार को सुचारु रूप से निर्वहण करने में हमें सहायता प्राप्त होती है । वाद-विवाद से कुछ नये तथ्य भी उपस्थित होते हैं, जिनकी ओर हमारा ध्यान

---

[8] श्रीमद्भ. ५/७

[9] प्रमाणप्रमेय.....तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगम : वै. सू. १/१/१

[10] ब्र. सू. श्री. द्वि. स. २/४/१/२, पृ. सं. १४०

[11] ष. द. र., पृ. सं. ४

पूर्व में नही गया होता है । इस प्रकार हमें ज्ञान की एक और नई धारा प्राप्त होती है । भारतीय दर्शन के द्विविध विभाजन किये गये हैं - आस्तिक एवं नास्तिक । इनमें वेदसम्मत, पूर्वजन्म में विश्वास रखनेवाला तथा ईश्वर को येन-केन प्रकारेण मानने वाला आस्तिक एवं तद्विपरीत नास्तिक मत है । आस्तिकों में प्रमुखतया न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा (वेदान्त) परिगणित हैं, जब कि प्रमुख नास्तिकों में चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शन का स्थान हैं । वेदान्त दर्शन भारतवर्ष की ऋषि-परम्परा का सूक्ष्मतम निदर्शन है, जो इहलौकिक तथा पारलौकिक द्विविध सत्य का आनुभविक ज्ञान सृष्टि को प्रदान करता हैं । मृग्याभेदेऽपि मार्गभेदस्य संभव: इस आधार पर भले ही सर्वोच्च सत्ता का अन्वेषण करना इन सबका परम लक्ष्य है, किन्तु साक्षात्कार-मार्ग के अनुभव की भिन्नता के कारण वेदान्त सम्प्रदाय की ग्यारह शाखाएँ हैं । सबने स्व-स्व मति के अनुसार इस सृष्टि की विवेचना की हैं । जिनमें कुछ प्रमुख वेदान्त सम्प्रदाय की तत्त्वविषयक चर्चा संक्षिप्त रूप में यहाँ प्रस्तुत है -

४.२.२ प्रमुख वेदान्त सम्प्रदाय के तत्त्व

वेदान्त के प्रमुख ग्यारह सम्प्रदाय हैं, जिनमें कुछ सम्प्रदायों के तत्त्वों की संक्षिप्त चर्चा यहाँ प्रस्तुत है-

रामानुजाचार्य के मत में सकल पदार्थ-समूह प्रमाण और प्रमेय भेद से दो प्रकार का माना गया है । प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण हैं । प्रमेय तीन प्रकार का है- द्रव्य, गुण तथा सामान्य । पुन: द्रव्य छ: प्रकार के माने गए हैं :- ईश्वर, जीव, नित्यविभूति, ज्ञान, प्रकृति और काल । गुण दस प्रकार के हैं :- सत्त्व, रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति । द्रव्य गुण उभयात्मक ही सामान्य है । ईश्वर के पाँच प्रकार हैं :- पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, और अर्चावतार । व्यूह के भी चार प्रकार हैं :- वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ।

माध्व मत में दस पदार्थ माने जाते हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव । तदनुसार बीस द्रव्य (परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृताकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महतत्त्व, अहङ्कार, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब) एवं रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, गुरुत्व, लघुत्व, मृदुत्व, काठिन्य, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, आलोक, शम, दम, कृपा, तितिक्षा, बल, भय, लज्जा, गाम्भीर्य, सौन्दर्य, धैर्य, स्थैर्य, शौर्य, औदार्य आदि अनेक गुण इनके पदार्थ-संग्रह आदि ग्रन्थों में पाए जाते हैं । शङ्कराचार्य के मत में सृष्टि में एकमात्र तत्त्व है । उसी तत्त्व से विश्व का प्राकट्य तथा लय होता है । प्रत्येक कण-कण में वह विद्यमान है । इस प्रकार वेदान्त सम्प्रदाय के प्रवर्त्तकों में शङ्कर को छोड़कर प्राय: सभी ने द्वैत का ही समर्थन किया है ।

४.३ वीरशैवदर्शन में तत्त्वमीमांसा

सच्चिदानन्द स्वरूप परशिव ब्रह्म में अविनाभाव सम्बन्ध से विद्यमान विमर्शशक्ति के स्फुरण से छत्तीस तत्त्वों का जगत् उत्पन्न होता है। इनके नाम इस प्रकार हैं-

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, तथा सद्विद्या :- पञ्च शुद्धतत्त्व
माया, काल, नियति, कला, विद्या, राग तथा पुरुष :- सप्त शुद्धाशुद्ध तत्त्व
प्रकृति, मन, बुद्धि, अहङ्कार, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, घ्राण, जिह्वा, वाक्, पाणि, पाद, पायु,
उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी [12]

इस प्रकार शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों का सङ्कोच तथा विस्तार चलता है। शिवावस्था हो या फिर जीवावस्था पञ्चकृत्य (सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह तथा तिरोधान) निरन्तर चलता रहता है। शिव माया के प्रभाव से पञ्चकञ्चुकों से युक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है और त्रिविध मलों (मायीय, कार्म तथा आणव) से युक्त होकर जीवावस्था को प्राप्त होता है। इस दर्शन में शक्तिविशिष्ट परशिव ही जगत् से अभिन्न निमित्त तथा उपादान कारण स्वीकार किया जाता है :-

आत्मशक्तिविकासेन, शिवो विश्वात्मना स्थित :।
कुटीभावाद्यथा भाति, पट: स्वस्य प्रसारणात् ॥[13]

सृष्टि प्रपञ्च में विद्यमान वस्तुओं को न्याय-वैशेषिक पदार्थ शब्द से अभिहित करते हैं किन्तु सांख्य-योग तथा वीरशैवदर्शन के आचार्यों द्वारा तत्त्व शब्द का व्यवहार किया जाता है। ये छत्तीस तत्त्व शक्तिविशिष्ट परशिव के विकास रूप हैं, अत: ये मिथ्या नही हैं। तत्त्व शब्द का तात्पर्य है -

तत्त्वं नाम अनारोपितं रूपम् प्रमितिविषयत्वं वा।[14]

अर्थात् जिस सत्ता पर किसी रूप का आरोपण न हुआ हो या जो प्रमिति (प्रमा) का विषय हो, वह तत्त्व कहा जाता है। वातुलशुद्धाख्यतन्त्र के अनुसार तत्त्व निष्कल (कला से अपरामृष्ट) स्वरूप का अपर नाम है -

---

[12] ब्र. सू. श्री. प्र. भा., पृ. सं. १०१

[13] सि. शि. म. स. १०/२, पृ. सं. १८७-१८८

[14] वही, पृ. सं. ३४९

निष्कलं तत्त्वमित्युक्तं सकलं मूर्तिरुच्यते ॥[15]

इस सृष्टि में ज्ञानियों की अपेक्षा अज्ञानियों की संख्या अत्यधिक हैं । शङ्कराचार्य के अद्वैत-वेदान्त के अनुसार जगत् प्रपञ्च को मिथ्या कह देने से यद्यपि ज्ञानीजन प्रपञ्च में आस्था का परित्याग करके परब्रह्म में निष्ठावान हो जायेगें किन्तु उनके वचनों के उपदेश से अज्ञानीजन नित्यनैमित्तिकादि कर्मों से विमुख होकर नास्तिक हो जाएगें । फलत: लौकिक जीवन में निराशा उत्पन्न हो जाएगी । अत: प्रत्येक कण को शिवस्वरूप सत्य मानते हुये आनन्दमय जीवन व्यतीत करना चाहिये । फलत: कहा भी गया है -

जीव: सत्यं जगत्सत्यम् शिव: सत्यं स्वभावत: ।
तयोरभेद: सत्यं वा क्रिमिभ्रमरयोरिव ।।[16]
पत्रशाखादिरूपेण यथा तिष्ठति पादप: ।
तथा भूम्यादिरूपेण शिवो एको विराजते ॥[17]

४.३.१ छत्तीस तत्त्वों में शिव-तत्त्व

शिव शब्द का अर्थ है स्वयंप्रकाश । इस तत्त्व से बढ़कर कोई तत्त्व नही है - शिवतत्त्वात् परं नास्ति यथा तत्त्वान्तरं महत् ।[18] धातुपाठ में परिगणित कान्ति (प्रकाश) अर्थ के वाचक वश् धातु (वश् कान्तौ) से वर्णविपर्यय करने पर शिव शब्द की निष्पत्ति हुयी है । इसमें निम्नलिखित वचन प्रमाण है -

हिंसिधातो सिंहशब्दो, वशकान्तौ शिव: स्मृत: ।
वर्णवत्ययत: सिद्ध:, पश्यक: कश्यपो यथा ॥[19]

शिव शब्द पर अमरकोष की सुधा व्याख्या के अनुसार अर्श आद्यच् (अष्टाध्यायी, ५/२/१२७) । शिवयतीति वा । तत्करोति (वार्तिक, ३/१/२) इससे तथा ण्यन्तात् पचाद्यच् (अष्टाध्यायी,

---

[15] वा. शु. तं., १/४०

[16] सि. शि. म. स., पृ. सं. ३५०

[17] वही १०/९, पृ. सं. १८९

[18] वही ८/२, पृ. सं. १३०

[19] सि. शि. उ., पृ. सं. ३४

३/१/१३४) सूत्र की सहायता से शिव शब्द निष्पन्न होता है ।[20] शिव स्वरूप दो अक्षरों में अकार ऋक् एवं साम का, इकार यजुष का, शकार अथर्व का एवं वकार व्याकरण शास्त्र का सम्मिलित रूप होने से वह सभी वेदवेदाङ्गों का सार है ।[21]
सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की जननी चिच्छक्ति के साथ अविनाभावसम्बन्ध से रहनेवाला निर्गुण निष्कल परशिवलिङ्गस्वरूप ब्रह्म ही शिव पद से अभिहित होता है । परमात्मा परब्रह्म को शिव इसलिये भी कहा जाता है कि उसमें स्वाभाविक रूप से अनादिकालीन मल-संश्लेष का प्रागभाव रहता है, अत: वह अत्यन्त परिशुद्ध आत्मा कहलाता है । सम्पूर्ण कल्याणमय गुणों का एकमात्र पिण्डस्वरूप ईश्वर के सदृश, आश्रितों का अत्यन्त शिवप्रद होने के कारण विद्वान् उसे शिव कहते हैं । जैसा कि कहा गया है :-

अनादिमलसंश्लेषप्रागभावात् स्वभावत: ।
अत्यन्तपतिशुद्धात्मेत्यतोऽयं शिव उच्यते ॥
अथवाऽशेषकल्याणगुणैकघन ईश्वर : ।
आश्रिताऽत्यन्तशिवद: शिव इत्युच्यते बुधै : ॥[22]

महाभारत के कर्णपर्व के अनुसार "मेरे लिये वे सभी समान हैं, जो दानव और मानव हैं । मैं सभी जीवों का शिवकारक हूँ, अत: मेरा शिवत्व प्रतिपादित होता है । अनुशासन पर्व में कहा गया है कि सभी प्रयोजनों के प्रारम्भ में नित्य मनुष्यों के शिव (मंगल) की कामना करते हुये देदीप्यमान रहनेवाला शिव कहलाता है :-

समा भवन्ति ते सर्वे दानवा मानवाश्च ये ।
शिवोऽस्मि सर्वभूतानां शिवत्वं तेन मे स्मृतम् ॥
समेधयति यन्नित्यं सर्वार्थानामुपक्रमे ।
शिवमिच्छन् मनुष्याणां तस्मादेष शिव: स्मृत: ॥[23]

शिव अपनी इच्छा से अन्त:करण में भी स्थित हैं तथा बाह्य-जगत में भी वही हैं । योगी के जैसे वह बिना उपादान कारण के भी सम्पूर्ण विषयों का प्रकाशन करते हैं ।[24] जिस प्रकार से पत्र-पुष्पादि के रूप में वृक्ष एक ही कहलाता है, उसी प्रकार भूम्यादि के रूप में शिव भी

---

[20] प. व. म. सू. भा. प्र., पृ. सं. ५

[21] सि. शि. म. ८/२, पृ. सं. १३०

[22] सि. शि. उ., पृ. सं. ३४-३५

[23] वही, पृ. सं. ३५

[24] ब्र. सू. श्री. द्वि. स. ८/३७, पृ. सं. ४५

एकात्मक ही हैं ।[25] तन्तु से उत्पन्न पट जिस प्रकार तन्तु पटमय ही कहा जाता है, उसी प्रकार शिव से उद्भूत यह चराचर शिवमय है ।[26] भृङ्ग के ध्यानादि के कारण, जिस प्रकार कीट भी भृङ्ग बन जाता है, उसी प्रकार शिव के ध्यानादि से जीव भी शिव ही हो जाता है ।[27] कूर्म पुराण के अनुसार सूर्य पृथक् देव न होकर वह भी शिवात्मक हैं ।[28] शिव तत्त्व के विषय में पञ्चवर्णसूत्रमहाभाष्यकार कहते हैं-

सिद्धसर्वज्ञं सर्वैश्वर्यसम्पन्नं सर्वानुग्राहकं सर्वकर्मसमाराध्यनिरस्तसमस्तदोषकलङ्कं निरतिशयमाङ्गल्यगुणरत्नाकरं स्वभावनिर्मलदृक्क्रिया लक्षणशक्तिविशिष्टं शिवतत्त्वमभिधीयते ।[29]

अर्थात् यह शिवतत्त्व सर्वज्ञ, सभी ऐश्वर्यों से सम्पन्न, सब पर अनुग्रह करनेवाला, सभी प्रकार के कर्मों से समाराधनीय सभी प्रकार के दोष-रूपी कलङ्क से अस्पृष्ट, अनन्त प्रकार के मङ्गलमय कल्याण गुणों का समुद्र, स्वभावत: निर्मल दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्ति से सम्पन्न हैं । पञ्चवर्णमहासूत्र है- शिव एव आत्मा । यहाँ एव शब्द अन्य धर्मों का परिहारक है । तदनुसार शरीर, प्राण, बुद्धि एवं शून्य इत्यादि को आत्मा नही माना जा सकता क्योंकि यह शिव ही शरीर, प्राण एवं बुद्धि इत्यादि के रूप में कल्पित प्रमाता में अकल्पित अहंविमर्शमय सत्य प्रमाता के रूप में स्फुरित होता है । जैसा कि कहा गया है-

परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
शिवत्वमात्मनो रूपं सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥[30]

शिव किसी भी उपाधि से विवर्जित होते हुये भी लोक व्यवहार के लिये अनेक अभिधानों से व्यवहृत होते हैं किन्तु प्रत्येक अभिधान के पृष्ठ में कोई न कोई कारण अवश्य होता है । यह उपास्य-उपासक भेद उस परम आत्मतत्त्व की स्वशक्ति से अकस्मात् क्रमश: स्वयं प्राप्त हुआ है । अशिव जीव को अनेक कोटि जन्मों में भी शिवोपासना का लाभ प्राप्त नही होता । शिव जीव को ही शिवोपासना का लाभ प्राप्त होता है । एतद्विषयक अनेक श्रुतियाँ प्रमाणरूप में हैं । वह परशिवात्मक स्थल सत्-चित् और आनन्दात्मक लक्षणवाला है । इस प्रकार पूर्वोक्त शिवस्थल लिङ्ग, अङ्ग, शिव और जीव (आत्मा) के भेद से चतुर्विध हो जाता है । जैसे चैतन्य शिव और जीव भेद से दो प्रकार का हो जाता है, तथैव वह परात्मक शिवस्थल लिङ्ग और अङ्ग भेद से दो प्रकार का हो जाता है । स्थल चित् मात्र है, लिङ्ग साक्षात् शिव है और

---

[25] ब्र. सू. श्री. द्वि. स. ८/३७, पृ. सं. ४५

[26] वही

[27] वही

[28] वही पृ. सं. ५०

[29] प. व. सू. म. भा., पृ. सं. ४

[30] वही, पृ. सं. ७

जीव अङ्गस्थल है, इस प्रकार वीरशैवसिद्धान्त की स्थिति है ।[31] वीरशैवदर्शन के स्थलात्मक ब्रह्म के परिप्रेक्ष्य में शिव तथा जीव का स्वरूप निम्न तालिका से स्पष्ट हो पाता है[32] :-

<table>
<tr><td colspan="12">स्थल (परब्रह्मशिव)</td></tr>
<tr><td colspan="6">लिङ्गस्थल (ईश)</td><td colspan="6">अङ्गस्थल (जीव)</td></tr>
<tr><td colspan="2">भावलिङ्ग-स्थल (ईश्वर)</td><td colspan="2">प्राणलिङ्ग-स्थल (हिरण्यगर्भ)</td><td colspan="2">इष्टलिङ्ग-स्थल (विराट्)</td><td colspan="2">योगाङ्ग-स्थल (प्राज्ञ)</td><td colspan="2">भोगाङ्ग-स्थल (तैजस)</td><td colspan="2">त्यागाङ्ग-स्थल (विश्व)</td></tr>
<tr><td>महालिङ्ग स्थल</td><td>प्रसाद-लिङ्ग-स्थल</td><td>चरलिङ्ग-स्थल</td><td>शिव-लिङ्ग-स्थल</td><td>गुरुलिङ्ग-स्थल</td><td>आचार-लिङ्ग-स्थल</td><td>ऐक्य-स्थल</td><td>शरण-स्थल</td><td>प्राणलिङ्गि-स्थल</td><td>प्रसादि-स्थल</td><td>महेश-स्थल</td><td>भक्त-स्थल</td></tr>
</table>

शिवाधिक्यरत्नावलिकार के अनुसार शाङ्करभाष्य में जिस परा चित् शक्ति को ब्रह्म कहा गया है, श्रीभाष्य में उसी को परा वैष्णवी शक्ति के रूप में परब्रह्म निर्धारित किया गया है । श्रीकण्ठ भाष्य में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता इस प्रस्थानत्रयी के प्रमाण उपस्थित करते हुये चित्-शक्ति को परम शिव की शक्ति स्वीकार करते हुये चित्-शक्ति विशिष्ट परम शिव को ही परब्रह्म सिद्ध किया गया है ।[33] वह शिवतत्त्व एक है तथा सभी तत्त्वों में गुप्त रूप से विद्यमान है । वह सर्वव्यापक होते हुये भी सभी प्राणियों के अन्त:करण में निवास करता है । वह सभी प्राणियों के पाप-पुण्य का साक्षी है एवं मोक्ष के आनन्दानुभव में लीन शक्ति सङ्कोच के कारण निर्गुण भी है । जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है

एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास:
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥[34]

यह सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परब्रह्म अपने में ही प्रकाशित हो रही इच्छाशक्ति का स्फुरण होने पर छत्तीस तत्त्वों के रूप में विभक्त हो जाता है । आगमानुसार आदि और अन्त से रहित, शान्त स्वरूप, सबके परम कारण भगवान् शिव से प्रथमत: इच्छाशक्ति और तब ज्ञान

---

[31] अनुभवसूत्र, २/१४-१८

[32] शि. म., पृ. सं. ३८

[33] मु. उ. वी. शै. भा. २/१/२, पृ. सं. १५६

[34] श्वेत. उ., ६/११

और क्रियाशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। तत्पश्चात् चतुर्दश भुवनों और उसके निवासी भूतों की उत्पत्ति होती हैं। इनमें चिदचिद्शक्ति से विशिष्ट परब्रह्म शिव की गणना अनौपचारिक ही है क्योंकि वास्तव में तत्त्वों के अन्तर्गत इनकी गणना ही नही होती।[35] वातुलशुद्धाख्य तन्त्र के अनुसार शिवतत्त्व निष्कल है।[36] ज्ञान के कारण जब परब्रह्म शिव तत्त्व का साक्षात्कार होता है, तब अद्वैत की प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है। ज्ञानरहित मनुष्य को यह कदापि प्राप्त नही होती-

साक्षात्कृतं परं तत्त्वं यदा भवति बोधत:।
तदाद्वैतसमापत्तिर्ज्ञानहीनस्य न क्वचित्॥[37]

उस ज्ञान के सम्बन्ध में कहा गया है - वह न कारण है न कार्य है तथा जो समस्त उपाधियों से रहित है वह ब्रह्म है और मैं भी वही हूँ ऐसी दृढ़ निष्ठा ज्ञान पद से अभिहित होती है :-

अकारणमकार्यं यदशेषोधिवर्जितम्।
तद्ब्रह्म तदहं चेति निष्ठा ज्ञानमुदीर्यते॥[38]

वीरशैवदर्शन के अन्तर्गत शिव का एक महत्त्वपूर्ण अभिधान लिङ्ग है। इस नामकरण के पृष्ठ में निम्नलिखित कारण हैं :-

लीयते गम्यते यत्र येन सर्वं चराचरम्।
तदेतल्लिङ्गमित्युक्तं लिङ्गतत्त्वपरायणै:॥
लयगत्यर्थयोर्हेतुभूतत्वात् सर्वदेहिनाम्।
लिङ्गमित्युच्यते साक्षाच्छिव: सकलनिष्कल:॥[39]

अर्थात् समस्त स्थावर-जङ्गमात्मक सृष्टि का लय एवं उत्पत्ति जिससे होती है, उस परमतत्त्व शिव को ही तत्त्वविद् लिङ्ग कहते हैं। समस्त प्राणियों की लयावस्था और गत्यवस्था में हेतुभूत परमतत्त्व शिव ही है। एतदर्थ परमतत्त्व शिव को ही लिङ्ग कहते हैं। वह लिङ्गात्मक शिव कला से उपहित एवं कला से अनुपाहित दोनो प्रकार का है। यह लिङ्गस्थल तीन प्रकार का होता है :- भावलिङ्ग, प्राणलिङ्ग एवं इष्टलिङ्ग। इन तीनों में प्रथम भावलिङ्ग कलारहित है और सर्वोत्कृष्ट होते हुये भाव का विषय है। विद्वानों का कथन है कि भावलिङ्ग (त्रिकालाबाधित) सत् है। द्वितीय प्राणलिङ्ग सकल एवं निष्कल

---

35 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. ९

36 वा. शु. तं., १/१५

37 सि. शि. म. १०/४१, पृ. सं. सं. १९१

38 वही १९/४९, पृ. सं. ४०२

39 अ. सू., ३/३-४

उभयविध है अर्थात् सावयव और निरवयव दोनों रूप है । वह मनोगोचर प्राणलिङ्ग प्राण एवं मन में अवस्थित है । इष्टलिङ्ग कलायुक्त होते हुये चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य है अर्थात् सावयव होने से प्रत्यक्ष का विषय बनता है । इष्टलिङ्ग भक्तों के दु:खों का परिहार करके अभीष्ट अर्थ को सम्पादित करता है । इष्टलिङ्ग के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को ध्यान में रखते हुये यह कहा जाता है कि पूजा और पूजा से भक्ति-पुरस्सर अर्चनीय होने के कारण लिङ्गपूजक आचार्यों ने उसे इष्टलिङ्ग कहा है ।[40] यह भी कहा गया है कि अपने भक्तों के अभीष्ट अर्थों का सर्वदा सम्पादन करने के कारण भी उसे इष्टलिङ्ग कहा जाता है । इन तीनों लिङ्गों के स्वरूप को निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं[41] :-

भावलिङ्ग	प्राणलिङ्ग	इष्टलिङ्ग
सत्	चित्	आनन्द
कारणरूप	सूक्ष्मरूप	स्थूलरूप
परतत्त्व	आभ्यन्तर तत्त्व	बाह्य तत्त्व
आत्मस्थानीय	प्राणस्थानीय	देहस्थानीय
प्रयोगरूप	मन्त्ररूप	क्रियारूप
कला	नाद	बिन्दु
असि	त्वं	तत्

४.३.१.१ शिव के विशेषण

शिव साक्षात् चिन्मय, आनन्दस्वरूप, विभु, सर्वव्यापक, निर्विकल्पक, निराकार, निर्गुण, निष्प्रपञ्चक, अमेय (अपर्याप्त रमणीय गुणों का अभाव), अनिर्वचनीय, अगम्य, जन्म-मृत्यु-जरा-मोह-काम-क्रोधादि से रहित, परात्पर, सूक्ष्म, नित्य, सर्वान्त:स्थित, अव्यय, निन्दारहित, अतुलनीय, अप्रमेय, आमयरहित, परमतत्त्व, सर्वगत, सर्वान्तर्यामी, क्षयरहित, अनुपम, अप्रमेय, गुणातीत, अनामय, साम्ब, हर, ईशान, ईश, कपर्दी, त्रिलोचन, शम्भु, एकादश रुद्र (अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, सुरेश्वर, जयन्त, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वैवस्वत, सावित्र और हर)[42], डिंडिम, महादेव, देवाधिदेव, स्वयंभू, विश्वाधिक, विश्वमय, शङ्कर, वरेण्य, विश्वान्तर्यामी, विश्वमय, विश्वोत्तीर्ण, महेश, चिच्छक्तिविशिष्ट, ज्ञानगुह्य, माहेश्वर, उमासहाय, परमेश्वर, प्रभु, त्रिलोचन, नीलकण्ठ, प्रशान्त, भूतयोनि, समस्तसाक्षि, विकारातीत, त्रिपुरारि, शम्भु, भोला एवं औढरदानी हैं ।[43] अमरकोश में शम्भु, ईश,

---

40 अ. सू., ३/५-१०

41 वही, ३/११-१५

42 सि. शि. उ., पृ. सं.१२७

43 वही, पृ. सं. ३६-३९

पशुपति, शिव, शूली, महेश्वर, ईश्वर, शर्व, ईशान, शङ्कर, चन्द्रशेखर, भूतेश, खण्डपरशु, गिरीश, गिरिश, मृड, मृत्युञ्जय, कृत्तिवास, पिनाक, प्रमथाधिप, उग्र, कपर्दी, श्रीकण्ठ, शितिकण्ठ, कपालभृत्, वामदेव, महादेव, विरूपाक्ष, त्रिलोचन, कृशानु, सर्वज्ञ, धूर्जटि, नीललोहित, हर, स्मरहर, भर्ग, त्र्यम्बक, त्रिपुरान्तक, गङ्गाधर, अन्धकरिपु, ऋतुध्वंशी, वृषभध्वज, व्योमकेश, भव, भीम, स्थाणु, रुद्र, उमापति, अहिर्बुध्न्य, अष्टमूर्ति, गजारि, महानट, कपर्द, जटाजूट, पिनाकोऽजगव धनु, प्रमथ आदि नाम दिये गये हैं।[44]

४.३.१.२ शिव नाम का महत्त्व

शिव नाम शैवों के लिये अत्यधिक पवित्र हैं। तदनुसार जो मनुष्य अज्ञानवश भी शिव शब्द स्वीकार करता है, वह किसी भी काल में भयङ्कर पापों से मुक्त हो जाता है। जो भक्तिपूर्वक शिव-शिव नाम का प्रलाप करता है, उसके लिये वज्र पुष्प बन जाता है तथा अग्नि हिमशिला बन जाती है। जलनिधि समुद्र पृथ्वी, शत्रु मित्र तथा विष भी अमृत हो जाता है। जिस वाणी में शिव इस प्रकार का परम मङ्गल नाम रहता है, उसके सात जन्मों में किए हुये पाप भस्मसात् होते हैं :-

योऽज्ञानाद् वा शिवशब्दं गृह्यान: ।
पापैघौरैर्मुच्यते, वा कदाचित् ॥
कुलिशं कुसुमति दहनस्तुहिनति वारांनिधिर्ध्रुवं स्थलति।
शत्रुर्मित्रति विषमप्यमृतति शिव शिवेति प्रलपतो भक्त्या ॥
शिवेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते ।
सप्तजन्मकृतं पापं भस्मीभवति तस्य वै ॥[45]

४.३.१.३ आभासवाद एवं अविकृत परिणामवाद

यद्यपि स्थूल दृष्टि से पृथिवी आदि अचेतन (जड़) हैं, जीवात्म अल्पज्ञ है एवं परमात्मा सर्वज्ञ हैं, अत: इनकी एकरूपता नही हो सकती है किन्तु सूक्ष्मतया यह चराचर शिव से उद्भूत है अत: इन सम्पूर्ण तत्त्वों में अभेदात्मक स्थिति ही है, जिस प्रकार मिट्टी से उत्पन्न कुम्भादि मिट्टी से भिन्न नही होते हैं। समुद्र से उत्पन्न फेन समुद्र से भिन्न नही होते अथवा तन्तु से उत्पन्न तन्तु से भिन्न नही होते, उसी प्रकार शिव से आविर्भूत यह चराचर जगत् उनसे अभिन्न ही है। इतने महत्त्वपूर्ण तथ्यों के अतिरिक्त हमें परब्रह्म शिव में सम्पूर्ण विश्व का आभास ही होता है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प का, शुक्तिका में रजत् का, स्थाणु में मनुष्य का, आकाश में गन्धर्वनगर का एवं रेत (मरीचि) में जल का आभास होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दलक्षण अभेदात्मक शिव में विश्व आभासित होने लगता है।[46] यह प्रक्रिया आभासवाद के अभिधान

---

[44] अ. को. स्व. व., श्लो. सं. ३०-३५

[45] सि. प्र. ९, पृ. सं.५२-५३

[46] सि. शि. म. १०/६८-६९, पृ. सं. २००

से अभिहित होती है। वीरशैवदर्शन शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन है अत: वह सृष्टि-प्रक्रिया के लिये अविकृत परिणामवाद को स्वीकार करता है। तदनुसार यह सृष्टि परशिव की शक्ति का विकास (सृष्टि) एवं सङ्कोच (प्रलय) रूप है। शिव-शक्ति की अभिन्नता चन्द्र-चन्दिका इव होती है, अत: शक्ति के विकास या सङ्कोच से परशिव ब्रह्म में किसी प्रकार की विकृति नही आती है। सम्पूर्ण जगत् परमशक्ति के विकास का परिणाम है एवं वह विकसित सृष्टि शक्तिविशिष्ट-परशिव का परिणाम है। अविकारी परम शिव के द्वारा सृष्टि एवं संहार होने के कारण उसे अविकृत परिणामवाद कहते हैं।[47] परब्रह्म के अक्षरब्रह्म का सृष्टि-क्रम इस प्रकार हैं[48] -

क्रम	मंत्र	पञ्चब्रहम	लिङ्-पञ्चक	कला (शक्ति)	पञ्चभूत	विषय	देवता	शक्ति	अङ्ग-स्थल
१	य	ईशान	प्रसाद	परा	आका-श	शब्द	सदाशि-व	व्यापिनी	शरण
२	वा	तत्पुरुष	चर	आदि	वायु	स्पर्श	ईश्वर	स्पन्दन	प्राण-लिङ्गी
३	शि	अघोर	शिव	इच्छा	अग्नि	तेज	रुद्र	ज्वलन	प्रसादी
४	म:	वामदेव	गुरु	ज्ञान	जल	रस	विष्णु	आप्याय-न	माहेश्व-र
५	न	सद्योजात	आचा-र	क्रिया	पृथ्वी	गन्ध	ब्रह्मा	धृति	भक्त
६	ऊँ	परब्रह्म	महा-लिङ्ग	शान्त्य-तीतोत र		नि:-विष-य		चित्-शक्ति	ऐक्य

४.३.१.४ पञ्चकृत्य

शिवद्वारा सम्पादित कृत्यों का पञ्चविध विभाग शास्त्रान्गर्गत प्राप्त होता है। पञ्चब्रह्मस्वरूप परशिव स्वयं पञ्चकृत्य के लिये अधिकृत हैं। उन पञ्चकृत्यों का स्वरूप निम्नलिखित हैं-

४.३.१.४.१ सृष्टि

शिव महापुराण के विद्येश्वर संहिता के दसवे अध्याय के अनुसार संसार के आरम्भ का नाम सृष्टि (सर्ग) है। परशिवलिङ्ग के सद्योजात (आचारलिङ्ग) मुख के द्वारा चतुर्मुख ब्रह्मदेव को

---

[47] मु. उ. वी. शै. भा., पृ. सं. १७०

[48] वही, पृ. सं. १६६

सृष्टि कर्म के लिये अधिकृत किया जाता है :-सद्योजाताऽपरनामकाचारलिङ्गेन चतुर्मुखस्य सृष्टिकर्मणि नियमितत्वात् ।[49]

४.३. १. ४.२ स्थिति

शिव महापुराण के विद्येश्वर संहिता के दसवे अध्याय के अनुसार संसार के स्थापन का नाम स्थिति है । परशिवलिङ्ग के वामदेव (गुरुलिङ्ग) मुख के द्वारा चतुर्भुज नारायण को स्थिति कर्म के लिये अधिकृत किया जाता है :- वामदेवेन गुरुलिङ्गेन विष्णो: स्थितिकर्मणि नियमितत्वात् ।[50]

४.३.१.४.३ संहार

शिव महापुराण के विद्येश्वर संहिता के दसवे अध्याय के अनुसार संसार के विनाश का नाम संहार है । परशिवलिङ्ग के अघोर (शिवलिङ्ग) मुख के द्वारा कालरुद्र को संहार कर्म के लिये अधिकृत किया जाता है :- अघोरेण शिवलिङ्गेन कालरुद्रस्य संहारकर्मणि नियमितत्वात् ।[51]

४.३.१.४.४ नियमन

शिव महापुराण के विद्येश्वर संहिता के दसवे अध्याय के अनुसार संसार के परिवर्तन का नाम तिरोधान है । परशिवलिङ्ग के तत्पुरुष (चरलिङ्ग) मुख के द्वारा ईश्वर को नियमन कर्म के लिये अधिकृत किया जाता है :- तत्पुरुषेण चरलिङ्गेन ईश्वरस्य नियमनकर्मणि नियुक्तत्वात् ।[52]

४.३.१.४.५ अनुग्रह

शिव महापुराण के विद्येश्वर संहिता के दसवे अध्याय के अनुसार संसार के सर्गादि से मुक्ति ही अनुग्रह है । परशिवलिङ्ग के ईशान (प्रसादलिङ्ग) मुख के द्वारा सदाशिव को अनुग्रहा-त्मक कर्म के लिये अधिकृत किया जाता है :- ईशानेन प्रसादलिङ्गेन सदाशिवस्य अनुग्रहा-त्मकबन्धमोचनकर्मणि नियुक्तत्वात् ।[53]

फलत: परब्रह्म शिव ही अपने विभिन्न रूपों में आविर्भूत होकर यथाक्रम पृथक्-पृथक् पञ्चकृत्यों का सम्पादन करता है । वह ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र सभी देवताओं का जनक है एवं उनके द्वारा उपास्य भी है-

---

[49] मु. उ. वी. शै. भा., पृ. सं. ७७

[50] वही

[51] वही

[52] वही

[53] वही

पञ्चकृत्यनियन्तारं पञ्चब्रह्मात्मकं बृहत् ।
ब्रह्मविष्ण्वादिभि: सेव्यं सर्वेषां जनकं परम् ॥[54]

समस्त विश्व परम शिव का ही रूप है । द्युलोक उसका सिर, चन्द्र और सूर्य उसके दोनों नेत्र, पूर्वादि दिशाएँ उसके कर्ण, वेद उसकी वैखरी वाणी, महावायु उसके विश्व-शरीर में अन्त:सञ्चार करने वाला प्राणवायु, चराचर विश्व उसका हृदय, पृथिवी उसके दोनों पाद और स्वयं वह सर्वान्तर्यामी समस्त विश्व में उसी प्रकार अवस्थित रहता है, जिस प्रकार पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर में उसी का अंशस्वरूप जीवात्मा ।[55]

४.३.२ छत्तीस तत्त्वों में शक्तितत्त्व

शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन में शक्तितत्त्व शिव से अभिन्न है । इसके बिना शिव शव हो जाता है । इस शक्ति के स्वरूप के विषय में सिद्धान्तशिखामणि का द्विविध कथन है -

तदीया परमा शक्ति सच्चिदानन्दलक्षणा ।
समस्तलोकनिर्माणसमवायस्वरूपिणी ॥[56]
एवं गुणत्रयात्मिका शक्ति: ब्रह्मनिष्ठा सनातनी ॥[57]

इस प्रकार शक्ति का द्विविध स्वरूप वर्णित हैं । यद्यपि शक्ति एक ही है किन्तु इसकी दो अवस्थायें हैं :- अविभागापरामर्शाख्या तथा विभागापरामर्शाख्या । अविभागापरामर्श अवस्था में यह शक्ति परशिववत्, सच्चिदानन्दस्वरूपा (तद्बोधरूपा) होती है । सच्चिदानन्द स्वकीय परशिव की जो त्रिगुणात्मिका शक्ति है, वह विभागपरामर्शाख्या शक्ति है । इसी शक्ति का अपर अभिधान चिच्छक्ति और विमर्शशक्ति हैं ।[58] वीरशैवसिद्धान्त के मतानुसार विमर्शशक्ति जगत् के उत्पत्ति काल में इच्छाज्ञानादि के रूप में विभागपरामर्श दशा को प्राप्त होती है तथा सत्वादित्रिगुणात्मिका होने के कारण माया हो जाती है । इस प्रकार सच्चिदानन्दरूपविमर्शशक्तिविशिष्ट परशिव निर्गुण तथा त्रिगुणात्मकमायाशक्तिविशिष्ट शिव सगुण कहे जाते हैं । कहा भी गया है :-

विमर्शाख्या पराशक्तिर्विश्ववैचित्र्यकारिणी ।

---

[54] मु. उ. वी. शै. भा., पृ. सं. ७७

[55] वही, २/१/४, पृ. सं. १७३

[56] सि. शि. म., २/१२

[57] वही, ५/३५

[58] श. वि. त. त्र. वि., पृ. सं. २९

यस्मिन् प्रतिष्ठिता ब्रह्म तदिदं विश्वभाजनम् ॥
यथा चन्द्रे स्थिरा ज्योत्स्ना विश्ववस्तुप्रकाशिनी ।
तथा शक्तिर्विमर्शाख्या प्रकाशे ब्रह्मणि स्थिरा ॥[59]
यथा घट इति ज्ञाने घटत्वं स्यात् विशेषणम् ।
तथा ब्रह्मणि वैशिष्ट्यं शक्तिरित्यभिधीयताम् ॥[60]

अनुभवसूत्र के वचनानुसार भी जिस प्रकार स्थल द्विविध (लिङ्ग एवं अङ्ग) होता है ठीक उसी प्रकार शक्ति भी द्विविध होती है । वह असीम और अप्रतिम शक्ति शिव की साक्षात् सहधर्मिणी समस्त कर्मों की साक्षिणी, सर्वव्यापिनी एवं विकल्परहित महेश्वरी है । भक्तों को अभय प्रदान करने वाली वह शक्ति शिव की समानधर्मिणी होने से एवं स्व-स्वतन्त्रता से दो रूपों में विभक्त हुयी है । यह दो प्रकार की शक्ति लिङ्गस्थलाश्रित तथा अङ्गस्थलाश्रित होती है । अनुभवसूत्र के अनुसार लिङ्गस्थलाश्रित शक्ति को कला कहा जाता है :-

लिङ्गस्थलाश्रया काचित् काचिदङ्गस्थलाश्रया ।
लिङ्गस्थलाश्रया शक्तिः कलारूपा प्रकीर्तिता ॥[61]

द्वितीय अङ्गस्थलाश्रित शक्ति को संसार सागर से पार कराने वाली भक्ति कहते हैं । जिस प्रकार अग्नि-ज्वाला एक होने पर भी दीपक आदि से भिन्न प्रतीत होती है, उसी प्रकार ईश्वर की प्रधान शक्ति एक होने पर भी भक्ति रूप से भिन्न प्रतीत होती है । धूम के संपर्क से जैसे अग्नि किंचित् मन्दप्रभ और दीपक अमल प्रकाशक होता है तथैव शक्ति वासनायुक्त और भक्ति वासनारहित होती है । इस हेतु भक्ति शक्ति से श्रेष्ठ, शुद्ध, मनोहर, उत्तम तथा सूक्ष्म है :-

अङ्गस्थलाश्रया शक्तिर्भक्तिरूपा भवापहा ।
यथा महानलज्वाला विभक्ता दीपिकाकृतिः ॥
तथा महेश्वरी शक्तिर्विभक्ता भक्तिरूपिणी ।
ज्वाला तमस्विनी यस्माद् दीपिका सुप्रकाशिनी ॥
तस्मात् सवासना शक्तिर्भक्तिर्निर्वासना मता ।
भक्तिर्महत्तरा शुद्धा सुसूक्ष्मा शोभना परा ॥[62]

---

[59] सि. शि. म., २०/३१-३२

[60] क्रिया. प्र. भा. श्लो. सं. ९३-९६

[61] अ. सू., २/२२

[62] वही, २/२३-२५

सच्चिदानन्दस्वरूपा भक्ति सुखभोग और मुक्ति को प्रदान करने वाली है । शक्ति ही नित्य भक्ति है और भक्ति ही शक्ति है । परमार्थत: भक्ति और शक्ति में कोई भेद नही है । यह कहा जाता है कि भक्ति ही निवृत्ति है और शक्ति प्रवृत्ति है । अनुभवसूत्र के वचनानुसार शिक्त तत्त्व से स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् की सृष्टि होती है और भक्ति से जगत् रूप प्रपंच का लय होता है । शक्ति की विचित्रता के ही कारण रूपरहित वस्तु भी सरूप हो जाती है और भक्ति वैचित्र्य से साकारता को प्राप्त वस्तुएँ भी निराकार हो जाती हैं क्योंकि जगत् सर्ग की सतत इच्छा शक्ति का नैसर्गिक गुण है । शक्ति के द्वारा उत्पन्न स्थावर-जङ्गमात्मक प्रपञ्च का लय करना भक्ति का स्वाभाविक गुण है । सृष्टि का सृजन करने के कारण शक्ति अधोमुखी और लयकर्त्री होने से भक्ति ऊर्ध्वमुखी है । शक्ति माया से अवच्छिन्न है और भक्ति माया से निरवच्छिन्न है । लिङ्गस्थल में उपास्यत्व रहने से तद्रूता शक्ति उपास्यत्व और अङ्गस्थल में उपासकत्व रहने से तद्रूता भक्ति उपासकत्व रूप से अवस्थित है ।[63] उपर्युक्त तथ्य को निम्नलिखित तालिका से सरलतया अवबोध किया जा सकता है :-

शक्ति	भक्ति
प्रवृत्ति	निवृत्ति
जगत् की सृष्टि	जगत् का लय
रूपरहित वस्तुओं का सरूप होना	सरूप वस्तुओं का निराकार होना
सर्गकर्त्री	लयकर्त्री
मायावच्छिन्ना	मायानिरवच्छिन्ना
उपास्यत्व	उपासकत्व
अधोमुखी	ऊर्ध्वमुखी

वातुलशुद्धाख्यतन्त्र के अनुसार चिच्छक्तिविशिष्ट परशिव से पञ्चशक्तियाँ क्रमश: एक के सहस्रांश से प्रादुर्भूत होती हैं :-

योगिनामुपकाराय स्वेच्छया चिन्त्यते शिव: ।।
तच्छिवे तु पराशक्ति: सहस्रांशेन जायते ।
तच्छक्तेस्तु सहस्रांशादिशक्तिसमुद्भव: ।।
आदिशक्तिसहस्रांशाद् इच्छाशक्तिसमुद्भव: ।
इच्छाशक्तिसहस्रांशाद् ज्ञानशक्तिसमुद्भव: ॥
ज्ञानशक्तिसहस्रांशाद् क्रियाशक्तिसमुद्भव: ।
एता वै शक्तय: पञ्च निष्कलाश्चेति कीर्तित: ॥[64]

---

[63] अ. सू., २/२६-३२

[64] वा. शु. तं., १/२४-२७

शक्ति की विभिन्नता को निम्नलिखित तालिका से समझा जा सकता है -

शक्ति	
कलाशक्ति	भक्तिशक्ति
चिच्छक्ति (शान्त्यातीतोत्तराकला)	समरसभक्ति
पराशक्ति (शान्त्यातीताकला)	आनन्दभक्ति
आदिशक्ति (शान्तिकला)	अनुभवभक्ति
इच्छाशक्ति (विद्याकला)	अवधानभक्ति
ज्ञानशक्ति (प्रतिष्ठाकला)	नैष्ठिकभक्ति
क्रियाशक्ति (निवृत्तिकला)	श्रद्धाभक्ति

परशिव की शक्ति अपने मूल स्वरूप में अक्रमावस्था में सर्वप्रथम मयूराण्डरसन्याय से सृष्टि को अपने आभ्यन्तर में अभिन्न रूप में धारण करती है। पश्चात् पत्र, पुष्प, शाखा एवं फल आदि के पृथक्-पृथक् होने पर भी यह एक ही वृक्ष है यह स्थिति होती है, उसी प्रकार यह अनेक विधात्मक विश्व को एक रूप में प्रकट करती है। तत्पश्चात् कछुये के द्वारा अपने अङ्गों की भाँति इस संसार का अपने आभ्यन्तर में संहरण भी कर लेती है।

परशिव में यह निष्ठित शक्ति जगत् का उपादान कारण है। शिवाद्वैतपरिभाषा के अनुसार भी उपादानत्वम्, अपृथक्सिद्धधर्मत्वं वा शक्तेर्लक्षणम्[65] यही सिद्ध होता है। शिवाद्वैतमञ्जरी के अनुसार भी शक्ति की उपादानता अवलोकित होती है - स्वेच्छाशक्तेर्बहिरङ्गरूपक्रियांश-प्रविष्टोद्योग एव भाविविश्वोपादानकारणं शक्तितत्त्वं भवति।[66] अर्थात् शिव की स्वाभाविकी शक्ति से बहिरङ्ग रूप में सृष्टि-क्रिया के लिये अंश रूप में उपस्थित, भविष्य के विश्व की उपादान कारणभूत सृष्ट्यादि-उद्योग में प्रविष्ट सत्ता शक्तितत्त्व पद से अभिहित होती है। इसी शक्ति का पुरुष भावात्मक विलास नारायण है। शक्ति के बिना शिव नाम धाम से रहित हो जाता है :- शक्तया बिना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते।[67] शक्ति एवं शिव एक दूसरे के पूरक हैं। शक्ति के बिना न शिव का अस्तित्व है और शिव के बिना शक्ति का भी अस्तित्व नही है :- न शिवेन बिना शक्तिर्न शक्तिरहित: शिव:।[68] श्वेताश्व-तरोपनिषद् के अनुसार शिव की शक्ति उन्हीं में विविध रूप में समाहित है -

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रुयते

---

65 शि. प., पृ. सं.६

66 शि. म., पृ. सं. सं ३३

67 श. सं. त. का. ख., १/९८ पृ. सं.१२३

68 वी. श. च., पृ. सं.७

स्वभाविकी ज्ञानबला क्रिया च ।[69]
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्ति: स्वगुणैर्निगूढाम् ।[70]

परशिव में अवस्थित यह शक्ति षड्-विध है - चिच्छक्ति, पराशक्ति, आदिशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, एवं क्रियाशक्ति । श्रुति के अनुसार यदा परब्रह्मशिव इच्छा करते हैं, तदा वह शक्ति बहुविध प्रकटित होती है- स ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति[71] स ईक्षां चक्रे[72] स ऐक्षत लोकानसृजत[73] यथापूर्वमकल्पयत्[74] । ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य के मत में शक्ति विनियोग काल में शिव के प्रसाद से चतुर्विधा हो जाती है :-

शिवस्य शक्तिर्विनियोगकाले
चतुर्विधाभूयच्छिवसत्प्रसादात् ।
भोगे भवानी समरे च दुर्गा
क्रोधे च काली पुरुषेषु विष्णु: ॥[75]

यह शक्ति सदाशिव से भूमि पर्यन्त सम्पूर्ण छत्तीस तत्त्वों की अभिव्यक्ति में समर्थ है । परशिव से अभिन्नात्मक इस शक्ति का जब प्रसार (उन्मेष) होता है, तब विश्व का भी प्रसार होता है । इस शक्ति का प्रसार जब अवरुद्ध हो जाता है तो सम्पूर्ण विश्व का निमेष हो जाता है । इस प्रकार शक्ति ही सम्पूर्ण विस्तार एवं संकोच की कारयित्री है । इसके बिना कोई भी क्रिया या प्रतिक्रिया सम्भव नही है । शिव भी इसके बिना पञ्चकृत्यों (सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान एवं अनुग्रह) को सम्पादित नही कर सकते क्योंकि शक्ति के बिना वे अक्रिय हैं । शक्ति ही उनमें सक्रियता का सञ्चार करती है । मूलत: यह सम्पूर्ण सृष्टि ही शक्ति से विशिष्ट अद्वैतात्मक सत्ता है ।

---

69 श्वेत. उ., श्लो. सं. ६/७-८

70 वही, श्लो. सं. १/२

71 बृहद्. उ., १/२/५

72 प्र. उ., ६/३

73 ऐ. उ., १/१-२

74 ऋ., १०/१९०/३

75 ब्र. सू. श्री. द्वि. स. २/३/१५/४२, पृ. सं.१३२

४.३.३ छत्तीसतत्त्वों में सदाशिव :-

वीरशैवमत में तृतीय तत्व के रूप में सदाशिवतत्त्व की प्रतिष्ठा है। तात्विकरूप से सदाशिव-तत्त्व की स्थिति आगम में द्विविध वर्णित है। उनके स्वरूप को निम्नलिखित प्रकार से अवबोध किया जा सकता है -

"अथैवंविधशक्तितत्त्वमेव स्वेच्छाशक्त्यन्तरङ्गभूतज्ञानशक्त्युद्रेकावस्थाप्रविष्टं सद् जलाधि-वासितचणकादिवत् पूर्वावस्थावैलक्षण्येनाङ्कुरायमाणेदन्ताप्रथनरूपं गर्भावरकवत् स्वाहन्त-याऽऽच्छाद्य वर्तमानविश्वस्फुरणरूपं सादाख्यरुद्रतत्त्वं (सदाशिवांशीभूतम्) भवति।"[76]

यही शक्तितत्त्व अपनी इच्छाशक्ति के अन्तरङ्ग स्वरूप ज्ञानशक्ति में प्रकट अवस्था में जब प्रविष्ट होता है, तो उस समय जल में भिगोये चने के बीज के समान पूर्व अवस्था से विलक्षण अङ्कुरोन्मुख अवस्था में प्रविष्ट होकर, इदन्ता रूपी अवस्था को गर्भावस्था के समान अपनी अहन्ता से आच्छादित कर वर्तमान विश्व का गर्भावस्था के समान अपनी अहन्ता से आच्छादित कर वर्तमान विश्व का स्फुरण कराने के लिये सादाख्य रुद्रतत्त्व (सदाशिव तत्त्व) हो जाता है। यह सदाशिव तत्त्व सकल-निष्कलात्मक होता है।[77] ध्यातव्य है कि सदाशिव से पृथ्वी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों की परिभाषा "शिवाद्वैतमञ्जरी" में भी वर्णित है।[78]
"वातुलशुद्धाख्यतन्त्र" के अनुसार योगियों, यतियों, ज्ञानियों और मन्त्रशास्त्र के ज्ञाताओं के ध्यान और पूजा (आन्तर एवं बाह्य उपासना) की सिद्धि के लिये निष्कल तत्त्व सकल का रूप धारण कर लेता है। यह सकल स्वरूप ही सादाख्य तत्त्व (सदाशिव) कहलाता है। निरन्तर शिवभाव की स्थिति रहने के कारण इसका नाम सादाख्य है।[79] इसका समुद्भव पराशक्ति तथा आदिशक्ति से होता है।[80] इसके पञ्चभेद हैं - शिवसादाख्य (सदाशिव), अमूर्तसादाख्य (ईश), मूर्तसादाख्य (ब्रह्मेश), कर्तृसादाख्य (ईश्वर) एवं कर्मसादाख्य (ईशान)।[81] इनका संक्षिप्त स्वरूप निम्नलिखित है -

४.३.३.१ सादाख्यात्मक भेद

---

[76] प. व. म. सू. भा., पृ. सं. ९

[77] वा. शु. तं., १/१६

[78] शि. म., पृ. सं. ३३

[79] वा. शु. तं., १/४०

[80] वही, १/२८-२९

[81] वही, १/३०-३२

सदाशिव के सादाख्यात्मक भेद में पाँच प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। वातुलशुद्धाख्यतन्त्र के मत में उनका स्वरूप निम्नलिखित है -

४.३.३.१.१ शिवसादाख्य (सदाशिव)

पराशक्ति (शान्त्यातीता) के दशांश से शिवसादाख्य तत्त्व प्रादुर्भूत होता है। यह सूक्ष्मरूप एवं ज्योतिरूप है। आकाश में विद्युत् इव सर्वत्र प्रत्यक्ष रूप से भासमान तथा समस्त तत्त्वों का आलय है।[82]

४.३.३.१.२ अमूर्तसादाख्य (ईश)

आदिशक्ति (शान्ति) के दशांश से अमूर्तसादाख्य तत्त्व का समुद्भव होता है। यह कलारहित, सूर्य के सदृश प्रकाशमान, लिङ्गतत्त्व के समान तथा ज्योतिस्तम्भस्वरूप है।[83]

४.३.३.१.३ मूर्तसादाख्य (ब्रह्मेश)

इच्छाशक्ति (विद्या) के दशांश से मूर्तसादाख्य तत्त्व प्रकटित होता है। इच्छाशक्ति के गुणों के कारण इसको मूर्त कहते है। कला एवं रूप से संयुक्त यह एक मुख से सुशोभित, दिव्य लिङ्ग जैसी आकृति वाला तत्त्व मूर्त सादाख्य कहलाता है।[84]

४.३.३.१.४ कर्तृसादाख्य (ईश्वर)

ज्ञानशक्ति (प्रतिष्ठा कला) के दशांश से कर्तृसादाख्य तत्त्व की उत्पत्ति होती है। ज्ञानशक्ति का अधिकरण होने के कारण इसको कर्तृसादाख्य तत्त्व नाम दिया गया है। सभी शोभन अवयवों से तथा सभी प्रकार के आभरणों से सुशोभित यह ईश्वर लिङ्ग कर्तृसादाख्य के नाम से प्रसिद्ध है।[85]

४.३.३.१.५ कर्मसादाख्य (ईशान)

---

82 वा. शु. तं., १/४४-४७

83 वही, १/४८-५२

84 वही, १/५३-५७

85 वही, १/५८-६४

क्रियाशक्ति (निवृत्ति कला) के दशांश से कर्मसादाख्य तत्त्व का प्रकटीकरण होता है । शिव तत्त्व पर आश्रित शिव सादाख्य तत्त्व होता है । शिवसादाख्य तत्त्व पर अमूर्तसादाख्य तत्त्व तथा अमूर्तसादाख्य पर मूर्तसादाख्य तत्त्व आश्रित होता है । मूर्तसादाख्य तत्त्व पर कर्तृसादाख्य तत्त्व तथा कर्तृसादाख्य तत्त्व पर कर्मसादाख्य तत्त्व आश्रित होता है । अत: पञ्चतत्त्वात्मक कर्मसादाख्य तत्त्व सभी तत्त्वों का आधार माना गया है । इसको पिण्डकाय भी कहते है । पाँचों सादाख्य तत्त्वों के रूप में विद्यमान यह पिण्ड पञ्चतत्त्वों का स्वरूप धारण करता है । इन विभिन्न देहों को धारण करने से गुणभेद के आधार पर यह पञ्चानन (पञ्चब्रह्मस्वरूप) हो जाता है ।[86] इसी पञ्चमुखवाले देह से महेशादि (ईश्वरादि) की सृष्टि होती हैं । उन पञ्चमुखों के सगुण स्वरूप का वर्णन निम्नलिखित है :-

४.३.३.२ पञ्चमुखात्मक भेद

सदाशिव के पञ्चमुखात्मक भेद में पाँच प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं । वातुलशुद्धाख्यतन्त्र के मत में उनका स्वरूप निम्नलिखित है -

४.३.३.२.१ सद्योजात-स्वरूप

शिव के पञ्चमुखों में प्रथम मुख के रूप में सद्योजात-स्वरूप की गणना की जाती है । यह गोक्षीर और शङ्ख के समान श्वेत वर्ण, जटामुकुटालङ्कृत, चतुर्मुख, चतुर्बाहु, द्वादश नेत्र से संयुक्त तथा सर्वाभरण से संयुक्त हैं ।[87]

४.३.३.२.२ वामदेव-स्वरूप

यह शिव का द्वितीय मुख वामदेव-स्वरूप है । जपापुष्प के सदृश रक्तवर्ण वाला, जटामुकुटालङ्कृत, चतुर्मुख, चतुर्बाहु, द्वादशनेत्रसंयुक्त, सर्वाङ्ग-सुन्दर, रक्तवस्त्रधारी, दक्षिण हस्त में टङ्क एवं अभय तथा वाम हस्त में वरमुद्रा तथा शूल धारी, लालचन्दन से लिप्त शरीर वाला एवं लाल पुष्पों की माला धारण किया हुआ वामदेव का स्वरूप है ।[88]

४.३.३.२.३ अघोर-स्वरूप

---

[86] वा. शु. तं., १/६५-८५

[87] वही, ७/४०-४१

[88] वही, ७/४२-४५

तृतीय मुख के रूप में अघोर-स्वरूप का वर्णन किया गया है । इनका स्वरूप घने काजल के समान भयङ्कर, जटामुकुटालङ्कृत, चतुर्मुख, चतुर्बाहु, द्वादश नेत्र से संयुक्त, लम्बी डाढ़ों वाला, व्याघ्र चर्म वस्त्रधारी, यज्ञोपवीतधारी, पादनुपुरालङ्कृत, सर्वाभरणभूषित, दिव्यगन्ध से तथा दिव्य पुष्प से अलङ्कृत, दक्षिण हस्त में टङ्क तथा शूल एवं वाम हस्त में वर एवं अभय मुद्रा से सुशोभित, सर्वाङ्ग सुन्दर तथा सर्वशुभ लक्षणों से सम्पन्न है ।[89]

४.३.३.२.४ तत्पुरुष-स्वरूप

चतुर्थ मुख के रूप में तत्पुरुषस्वरूप वर्णित है । तत्पुरुष का स्वरूप कुंकुम के सदृश पीतवर्ण का है । जटामुकुटालङ्कृत, चतुर्मुख, चतुर्बाहु, द्वादश नेत्र से संयुक्त, सर्वाङ्गसुन्दर, पीताम्बरधारी, सर्वाभरणभूषित, दक्षिण हस्त में टङ्क एवं अभय मुद्रा से तथा वाम हस्त में शूल एवं वादमुद्रा, दिव्यगन्ध एवं दिव्यपुष्पों से इनका स्वरूप सुशोभित है ।[90]

४.३.३.२.५ ईशान-स्वरूप

पञ्चम मुख के रूप में ईशान-स्वरूप का वर्णन किया गया है । यह मूर्ति स्फटिक के सदृश श्वेत वर्ण, जटामुकुटालङ्कृत, चतुर्मुख, चतुर्बाहु, द्वादश नेत्र से संयुक्त, चारों हाथों में टङ्क, शूल, वर तथा अभयमुद्रा से सुशोभित है । यह भी दिव्यगन्ध एवं दिव्यपुष्पों से सुवासित है ।[91]
इनमें अघोर का स्वरूप भयावह एवं शेष सभी सौम्यात्मक हैं । सद्योजात मूर्तसादाख्य, वामदेव अमूर्तसादाख्य, अघोर कर्तृसादाख्य, तत्पुरुष कर्मसादाख्य तथा ईशान शिवसादाख्य है ।

४.३.४ ईश्वरतत्त्व

वीरशैवमत में चतुर्थतत्त्व के रूप में ईश्वरतत्त्व को स्वीकार किया गया है । इसका तात्त्विक स्वरूप निम्नलिखित है :-

अथ तच्छक्तितत्त्वमेव स्वक्रियाशक्त्युद्रेकदशायां प्रविष्टं सत् कृतवस्तुवदङ्कुरितमिदन्तारूपं स्वाहन्तयाच्छाद्य स्थितविश्वस्फूर्तिमयमीश्वरतत्त्वं भवति ।[92]

---

89 वा. शु. तं., ७/४६-४९

90 वही, ७/५०-५३

91 वही, ७/५४-६०

92 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. ९

वही शक्तितत्त्व अपनी क्रियाशक्ति से प्रकट अवस्था में आने पर निर्मित वस्तु के रूप में अङ्कुरित बीज के समान, अपने इदन्ता रूप को अपनी अहन्ता से आच्छादित कर वर्तमान विश्व का स्फुरण कराने वाला ईश्वर तत्त्व बन जाता है । यह ईश्वरतत्त्व (महेश तत्त्व) सकल रूप में जाना जाता है ।[93] यह तत्त्व शक्तितत्त्व का पुरुष भावात्मक रूप होता है तथा यह लीला स्वरूप नारायणादि नाम से प्रचलित है ।[94]

४.३.५ सद्विद्यातत्त्व

वीरशैवमत में पञ्चमतत्त्व के रूप में सद्विद्यातत्त्व को स्वीकार किया गया है । इसका स्वरूप निम्नलिखित है -

अथ क्रियाप्रधानेदन्तायाः संविद्रूपाहन्ताऽन्तर्गतत्वेन भासमानत्वाद् विभागनिबन्धनभेद-घटितसागरतरङ्गन्यायेनाहन्तेदन्तयोरैक्यप्रतिपत्तिर्ब्रह्मापरपर्यायशुद्धविद्यातत्त्वं भवति ।[95]

वही शक्तितत्त्व क्रियाशक्ति-प्रधान इदन्ता के संवित्स्वरूप अहन्ता के अन्तर्गत भासित होने पर विभागावस्था की कारणस्वरूप भेददशा के व्यक्त हो जाने पर सागर-तरङ्ग न्याय से अहन्ता और इदन्ता में जब एकात्मकता की प्रतिपत्ति होने लगती है, तो यही स्थिति शुद्धविद्या तत्त्व के नाम से जानी जाती है । यह तत्त्व ब्रह्म का अपर पर्याय भूत है तथा गुरु के द्वारा प्राप्त निर्मल संवित्ति तक ही शुद्धविद्या रहती है ।[96] यहाँ तक पञ्च शुद्ध तत्त्व हैं ।

४.३.६ मायातत्त्व एवं पञ्चकञ्चुक

वीरशैवमत में षष्ठतत्त्व के रूप में मायातत्त्व को स्वीकार किया गया है । मायातत्त्व से ही अशुद्ध अर्थात् त्रिविधमल से संयुक्त मायीय सृष्टि का प्रारम्भ होता है और इसी तत्त्व के पञ्चकञ्चुकों से जीव आवृत होकर अपने वास्तविक पतिरूप शिवस्वरूप को विस्मृत कर देता है और पशु हो जाता है । इस तत्त्व का स्वरूप निम्नलिखित है -

---

93 वा. शु. तं., १/१६

94 शि. म., पृ. सं. ३३

95 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. ९-१०

96 शि. म., पृ. सं. ३३

शुद्धविद्यातत्त्वमेवाण्डरसन्यायेन स्वान्तर्लीनेषु भवनक्रियोन्मुखेषु भावेष्वन्योन्याभाव-निबन्धनभेदबुद्धिप्रधानं सद् मायातत्त्वं भवति।[97]

यह शुद्धविद्या तत्त्व ही अण्डरसन्याय से अपने अन्तर्गत क्रियोन्मुख होते हुये भावों में लीन परस्पर पृथक्-पृथक् रूप में निबन्धित भावों की प्रधान भेद बुद्धि के कारण होने से माया तत्त्व पद से अभिहित होता है। इसकी शब्द की निरुक्ति के आधार पर कहा गया है कि जो मं (म् = परब्रह्मरूपीशिव एवं अम् = जाना) रूपी परब्रह्मशिव को स्वभावत: प्राप्त कर लेती है, उस ब्रह्मनिष्ठ सनातन शक्ति का नाम लोक में माया है -

मं शिवं परमं ब्रह्म प्राप्नोति स्वभावत:।
मायेति प्रोच्यते लोके ब्रह्मनिष्ठा सनातनी ॥[98]

श्वेताश्वतरोपनिषद् के वचनानुसार माया को प्रकृति तथा मायी को महेश्वर जानना चाहिये एवं इन दोनों का अवयवी भूत ही यह सम्पूर्ण संसार है :-

मायां तु प्रकृति विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्याऽवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥[99]

इस मत में माया के पञ्चकञ्चुक की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इनको कञ्चुक कहने का कारण निम्नलिखित है -

शङ्करशासनादपरिच्छिन्नस्वस्वरूपावरणहेतुत्वात् कञ्चुकमित्यागमेषूच्यते।[100]

परब्रह्मशिव के शासन से पुरुष के अपरिच्छिन्न स्वरूप को आवृत्त करने के कारण ही इनका नाम आगमों में कञ्चुक रखा गया है। ये पञ्च हैं -

४.३.७ कलातत्त्व

---

97 शि. म. पृ. सं. ३३

98 ब्र. सू. श्री. प्र. भा. , पृ. सं.३८२

99 श्वेत. उ., श्लो. सं. ४/१०

100 शि. म., पृ. सं. ३५

अस्य पुरुषस्य महेश्वराद् विभक्तत्वेन मायापहृतैश्वर्यत्वात् असङ्कुचित-तत्कर्तृताशक्तिरेव किञ्चित्कर्तृतालक्षणकलातत्त्वं भवति ।[101]

इस पुरुष (संसारी या जीव) का महेश्वर से विभाग कराने के कारण तथा माया के द्वारा इसके ऐश्वर्य का हरण कराने के फलस्वरूप वह असङ्कुचित पुरुष की कर्तृता शक्ति ही किञ्चित्कर्तृता शक्ति (लक्षणात्मिका) कला शक्ति तत्त्व कहलाती है । इस प्रकार पुरुष की सर्वकर्तृता शक्ति किञ्चित्कर्तृताशक्ति में परिणत हो जाती हैं ।

४.३.८ विद्या

ज्ञातृताशक्तिरेव किञ्चिज्ज्ञत्वलक्षणविद्यातत्त्वं भवति ।[102]

पुन: पुरुष की ज्ञातृता शक्ति ही स्वयं को किञ्चित्ज्ञातृता में परिणत करने के कारण विद्या तत्त्व कहलाती है । फलत: पुरुष सर्वज्ञ से किञ्चित् जानने वाला हो जाता है ।

४.३.९ राग

पूर्णताशक्तिरेवापूर्णतां प्राप्य स्रक्चन्दनवनितादिविषयासक्तिलक्षणं रागतत्त्वं भवति ।[103]

पूर्णता शक्ति ही अपूर्णता को प्राप्त करके स्रक्, चन्दन तथा वनिता आदि विषयों में पुरुष को आसक्त करने के कारण राग तत्त्व रूप कञ्चुक हो जाती है । फलत: पुरुष अपनी पूर्णता को विस्मृत कर विषयों की ओर आकृष्ट होने के कारण अपूर्ण हो जाता है ।

४.३.१० काल

नित्यता ह्यनित्यतां प्राप्य भूतभविष्यद्वर्तमानरूपक्रमाकरकालतत्त्वं भवति ।[104]
नित्यता तथा अनित्यता को प्राप्त करके भूत, भविष्यद् एवं वर्तमान रूप के क्रम में नियोजित करनेवाला काल तत्त्व रूप कञ्चुक कहलाता है । परिणामत: नित्य पुरुष अनित्यता की श्रेणी में काल तत्त्व नामधेय कञ्चुक के कारण ही प्रवेश करता है ।

---

101 शि. म., पृ. सं. ३४

102 वही

103 वही

104 वही

४.३.११ नियति

व्यापकता ह्यव्यापकता प्राप्य ममेदं कर्त्तव्यमिति नियमहेतुभूतनियतितत्त्वं भवति ।[105]

व्यापकता तथा अव्यापकता को प्राप्त कर के पुरुष "यह मेरा कर्त्तव्य है" ऐसी प्रतीति करने लगता है । इस नियम का कारण भूत नियति तत्त्व नामक कञ्चुक होता है । नियति तत्त्व रूप कञ्चुक के कारण ही पुरुष की व्यापकता सङ्कुचित होकर अव्यापकता को प्राप्त होती है ।

४.३.१२ छत्तीस तत्त्वों में पुरुष-तत्त्व

आणवकार्ममायीयबैन्दवरोधशक्त्यात्मकपाशपञ्चकबद्धसंसारी पुरुष: ।[106]

आणव, कार्म, मायीय, बैन्दव तथा रोध शक्त्यात्मक पञ्चपाशों से आबद्ध होने के कारण वह सत्ता संसारी या पुरुष कहलाती है । ध्यातव्य है कि सिद्धान्त शैवों के उपर्युक्त पञ्चपाश ही वीर शैवों के त्रिविध मलों के अन्तर्गत आ जाते हैं । तदनुसार बैन्दव शक्ति का मायीय एवं रोध शक्ति का कार्म मल में अन्तर्भाव हो जाता है । परमेश्वर के द्वारा अपने अन्तर्गत लीन चराचरों से पुरुष का आविर्भाव होता है । तदनुसार पञ्चकञ्चुकों से आच्छादित आत्मा उसी प्रकार विभक्त हो जाता है, जैसे अग्नि और काष्ठ के योग से चिन्गारियाँ निकलती है, । माया शक्ति के अधीन वह प्रकाश यदा प्रतिबिम्ब के रूप में प्रविष्ट होता है, तो वह पुरुष तत्त्व कहलाता है । माया शक्ति से आक्रान्त होने के कारण यह प्रकाश परतन्त्र हो जाता है क्योंकि वह महेश्वर से विलक्षण स्वरूप का हो जाता है । विष्णुसहस्रनाम के शाङ्करभाष्यानुसार पुरुष का निर्वचन इस प्रकार है :- सर्वस्मात् पुरा सादनात् सर्वपापस्य सादनात् वा पुरुष: । शयनाद् वा पुरुष: ।[107] कैवल्योपनिषद् (मन्त्र २०) में पुरुष शब्द का सदाशिव भाष्य इस प्रकार है :- पुरि शरीरे पुरीतति नाड्यां वा शयनाद् पुरुष: आत्मेष्टलिङ्गरूपशिव:, समस्तचेतनाचेतनप्राणिदेहान्तर्वर्ति पुरुषशब्दवाच्य: शिवलिङ्गरूप: परमेश्वर इत्यर्थ: ।[108] अर्थात् पाशमुक्त तथा मल से रहित पुरुष साक्षात् शिव ही कहा गया है । चिति-सङ्कोचचित्तविशिष्टो जीव:[109] के अनुसार चिच्छक्ति के सङ्कोच के कारण सङ्कुचित चित्त से विशिष्ट तत्त्व जीव कहलाता है । ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य के मत में पुरुष षोडश कला का द्रष्टा

---

105 शि. म. पृ. सं. ३४

106 सि. प्र., पृ. सं. २

107 कै. उ. प्र. पृ. सं. २४

108 वही

109 सि. शि. म., १०/६८-६९, पृ. सं. २००

है :- एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष: । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमा: षोडश कला: ।[110] तदनुसार पुरुष सुख दु:खादि के भोक्तृत्व का हेतु है :- पुरुष: सुखदुखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।[111] पुरुष को वीरशैव के अन्तर्गत अङ्ग नाम भी दिया गया है :-

अमिति ब्रह्म सन्मात्रं गच्छतीति गमुच्यते ।
रूप्यतेऽङ्गमिति प्राज्ञैरङ्गतत्त्वविचिन्तकै: ॥[112]

"अं" का अर्थ है परब्रह्म शिव और उसकी प्राप्ति का इच्छुक जीव अङ्ग कहलाता है । वीरशैवमत में स्थल शब्द परब्रह्म का वाचक है ।[113] इस प्रकार अङ्ग-स्थल के भी त्रिविध भेद होते हैं, जिन्हें त्रिविध शरीर पद से अभिहित किया जाता है :-

४.३.१२.१ पुरुष के त्रिविध शरीर

वीरशैवमत में पुरुष के त्रिविध शरीर माने गये हैं । आगमों में इनके स्वरूप का वर्णन भी प्राप्त होता है । जो संक्षिप्त रूप में यहाँ उल्लिखित हैं -

४.३.१२.१.१ योगाङ्ग-स्थल

यह परब्रह्म शिव और जीव के मध्य योग का सबसे महत्त्वपूर्ण शरीर माना जाता है, अत: इसका नाम योगाङ्ग है । जीव का मायावृत प्राथमिक शरीर कारण शरीर होता है । अनुभवसूत्र के अनुसार यह शरीर कारण शरीर, सुषुप्त्यावस्था, आनन्द द्रव्य तथा प्राज्ञ का बोधक है ।

४.३.१२.१.२ भोगाङ्ग-स्थल

जीव का पञ्चकञ्चुकावृत शरीर भोगाङ्ग है । इस शरीर में भोग करने की इच्छाएँ अवशिष्ट रह जाती हैं, अत: इसको भोगाङ्ग कहा गया है । अनुभवसूत्र के अनुसार यह शरीर सूक्ष्म शरीर, स्वप्नावस्था, प्रविविक्त द्रव्य तथा तैजस् का बोधक है ।

४.३.१२.१.३ त्यागाङ्ग-स्थल

---

110 ब्र. सू. श्री. द्वि. स., पृ. सं. १०८

111 वही, पृ. सं. ११६

112 अ. सू., ४/४

113 वही, २/४-५

जीव का पाञ्चभौतिक शरीर त्यागाङ्ग होता है क्योंकि उसका त्याग करना पड़ता है । यह त्याग के योग्य होता है, अत: इसको त्यागाङ्ग कहते हैं । अनुभवसूत्र के अनुसार यह शरीर स्थूल शरीर, जाग्रतावस्था, स्थूल द्रव्य तथा विश्व का बोधक है । जैसा कि कहा गया है :-

योगाङ्गं कारणं प्रोक्तं भोगाङ्गं सूक्ष्मुच्यते ।
त्यागाङ्गं स्थूलमित्युक्तमेवं भेदोपभेदत: ॥
सुषुप्त्यवस्था योगाङ्गं भोगाङ्गं स्वापनाभिधा ।
जाग्रदित्युदितास्था त्यागाङ्गमिति कथ्यते ॥
योगाङ्गं प्राज्ञ एव स्याद् भोगाङ्गं तैजसो भवेत् ।
त्यागाङ्गं विश्व एव स्याद् परमार्थनिरूपणे ॥[114]

इन तीनों के भी क्रमश: दो-दो भेद होते हैं । वे निम्नलिखित हैं[115] :-

योगाङ्ग स्थल :- ऐक्यस्थल एवं शरणस्थल
भोगाङ्ग स्थल :- प्राणलिङ्गीस्थल एवं प्रसादीस्थल
त्यागाङ्ग स्थल :- माहेश्वरस्थल एवं भक्तस्थल

पुरुष की अन्य परिभाषाओं में उसे वीरशैवमतान्तर्गत लिङ्ग से भी संयुक्त किया गया है, क्योंकि लिङ्ग परब्रह्मशिव का अपर अभिधान है । तदनुसार पुर्षु (नगरेषु) स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरेषु इष्ट-प्राण-भावलिङ्गरूपेण शेते तिष्ठतीति पुरुष: ।[116] समस्त प्राणियों के अन्त:करण में स्थित आत्मा भी मल से संसक्त होने के कारण आदि अर्थात् प्राचीनतम कर्म से नियन्त्रित होता हुआ अणु बनकर रहता है :-

आत्मापि सर्वभूतानामन्त:करणमाश्रित: ।
अणुभूतो मलासङ्गादादिकर्मनियन्त्रित: ॥[117]

बाल के अग्रभाग के सौवे भाग के सदृश वह जीव हृदय में स्थित होता हुआ कर्मफल का भोग न करता हुआ दीपक के समान प्रकाशित होता रहता है और प्रकाशित करता है ।[118] जिस

---

114 अ. सू., ४/८-१०

115 वही, ४/१२-१८

116 कै. उ. प्र., पृ. सं. ३०

117 सि. शि. म., १८/७, पृ. सं. ३५७

प्रकार घटरूप उपाधि से युक्त आकाश स्वरूपत: परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा परिपूर्ण होकर प्रकाशित होता है ।[119]
त्रिविध मलों के श्रृङ्खला के द्वारा आबद्ध होने के कारण पुरुष का अपर नाम संसारी भी है । जैसा कि कहा गया है -
स्वान्तर्लीनचराचरात् परमेश्वरात् काष्ठयोगेन वह्नेर्विस्फुलिङ्गाविर्भावात् तदिच्छा-शक्तिवशात् विभक्त: सन् उक्तलक्षणमायाशक्तौ प्रतिबिम्बगत्या प्रविष्टो य: प्रकाश:, स पुरुषतत्त्वं भवति । मलत्रयश्रृङ्खलित्वादेव संसारीत्युच्यते ।[120]

४.३.१२.२ पुरुष से सम्बन्धित त्रिविध मल

पुरुष को आवृत करनेवाले त्रिविध मल हैं- आणव, कार्म एवं मायीय । जिनका संक्षिप्त स्वरूप निम्नलिखित है :-

४.३.१२.२.१ कार्म मल

क्रियाशक्ति की सङ्कुचित अवस्था का नाम कार्म मल है । कहा भी गया है :-

क्रियाशक्ते: क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वाप्ते: कर्मेन्द्रियरूपसङ्कोचग्रहणपूर्वमत्यन्तं परिमिततां प्राप्तं शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्ममलम् ।[121]

अर्थात् क्रियाशक्ति में सङ्कोच होने के कारण सर्वकर्तृत्व-शक्ति किञ्चित्कर्तृत्व-शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है । तदुपरान्त वह कर्मेन्द्रियों के रूप में सङ्कुचित होकर अत्यन्त परिमित स्थिति में पहुँच जाती है । यह सङ्कोच शुभ और अशुभ कर्मों में प्रवृत्त कराने के कारण कार्म मल अभिधान से जाना जाता है ।

४.३.१२.२.२ आणव मल

इच्छाशक्ति की सङ्कुचित अवस्था का नाम आणव मल है । कहा भी गया है :-

---

118 वही, १८/६, पृ. सं. ३५६

119 सि. शि. म., १९/५२, पृ. सं. ४०३

120 शि. म., पृ. सं. ३४

121 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १६

अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति: सङ्कुचिता सती अपूर्णम्मन्यतारूपमाणवमलम् ।[122]

अर्थात् इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता सदा अवबाधित रहती है, किन्तु उसमें जब सङ्कोच का अवभास होने लगता है । तत्पश्चात् वह सङ्कुचित जीवात्मा स्वयं को अपूर्ण मानने लगता है । यह स्थिति आणव मल के अभिधान से जानी जाती है ।

४.३.१२.२.३ मायीय मल

ज्ञानशक्ति की सङ्कुचित अवस्था का नाम मायीय मल है । कहा गया है :-

ज्ञानशक्ते: क्रमेण सङ्कोचाद् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिज्ञत्वाप्तेरन्त:करणबुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वम-त्यन्तसङ्कोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीय मलम् ।[123]

अर्थात् ज्ञानशक्ति के सङ्कोच के क्रम में भेद-ज्ञान उपस्थित होने से एवं सर्वज्ञता का सङ्कोच के क्रम में भेद-ज्ञान के प्रकट हो जाने से (सर्वज्ञता का सङ्कोच हो जाने पर) त्रिविध अन्त:करण और पञ्चविध ज्ञानेन्द्रियों के रूप में जीव में अल्पज्ञता प्रवेश कर जाती है । इसके कारण यह जो भेद-बुद्धि पैदा होती है, उसे मायीय मल कहा जाता है ।
त्रिविध मलों से आबद्ध संसारी या पुरुष त्रिविध दु:खों आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक से ग्रस्त होकर विषयासक्त होने लगता है । इनमें प्रथम आध्यात्मिक दु:ख बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का कहा गया है । जिनमें वात, पित्त एवं श्लेष्मा आदि से उत्पन्न दु:ख बाह्य आध्यात्मिक दु:ख एवं राग-द्वेषादि से प्राप्त दु:ख आभ्यन्तर आध्यात्मिक दु:ख कहा जाता है । ग्रह तथा यक्षादि से उत्पन्न दु:ख आधिदैविक है । जो दु:ख राजा आदि के कारण उत्पन्न हो वह आधिभौतिक दु:ख कहा जाता है । इन दु:खों से युक्त तथा कर्म से बद्ध जीव के लिये स्वर्ग में या पृथिवी पर अल्पमात्र भी सुख नही है ।[124]
पुरुष की इन सम्पूर्ण अवस्थाओं को निम्नलिखित तालिका के माध्यम से सरलतया अवबोध किया जा सकता है[125] :-

क्रम	शरीर	जीव	मल	भक्ति	लिङ्ग	शक्ति
१.	स्थूल शरीर (योगाङ्ग)	विश्व	कार्ममल	विधेयभक्ति	इष्टलिङ्ग	क्रियाशक्ति

[122] वही

[123] प. व. म. सू. भा. पृ. सं. १६

[124] सि. शि. म., ५/६७-७०, पृ. सं. ८८

[125] कै. उ. प्र., पृ. सं. ३०

२.	सूक्ष्म शरीर (भोगाङ्ग)	तैजस्	आणवमल	विचारभक्ति	प्राणलिङ्ग	ज्ञानशक्ति
३.	कारण शरीर (योगाङ्ग)	प्राज्ञ	मायीयमल	विशुद्धभक्ति	भावलिङ्ग	इच्छाशक्ति

यहाँ तक सप्त शुद्धाशुद्ध तत्त्व हैं - माया कालो नियति: कलाऽविद्या राग: पुरुष इति शुद्धा-शुद्धानि सप्त ।[126]

४.३.१३ छत्तीस तत्त्वों में प्रकृति-तत्त्व एवं त्रिविध अन्त:करण

अथौन्मुख्यगर्भितेच्छाशक्तिरेव प्रतिस्फुरणगत्या स्वगतज्ञानक्रियान्योन्याभावलक्षणमायाप्रति-स्फुरणरूपसुखदु:खमोहप्रदसत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थालक्षणमहङ्कारादिभूम्यन्तत्रयोविंश-तितत्त्वमूलकारणं प्रकृतितत्त्वं भवति ।[127]

गर्भ से बाह्य होने को उत्सुक इच्छाशक्ति ही जब अग्निस्फुलिङ्गन्याय[128] से बाहर निकलती है, तब वह आभ्यन्तर में स्थित क्रिया और ज्ञान शक्ति का अन्योन्याभाव हो जाने पर मायाशक्ति के प्रतिस्फुरण से सुख दु:ख मोहात्मक सत्त्व, रज और तम नामक तीनों गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति तत्त्व में परिणत हो जाती है । यह प्रकृति तत्त्व अहङ्कार से लेकर भूमि पर्यन्त तेईस तत्त्वों की मूल कारण है । यह सम्पूर्ण सृष्टि पुरुष एवं प्रकृति के संयोग से निर्मित है । प्रकृति शक्ति है, पुरुष शक्तिमान् है । इन दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है । पुरुष के संसर्ग से प्रकृति ही समस्त प्राणिजगत् को, समस्त विकारों को और अखिल गुणों को उत्पन्न करती है ।[129] लौकिक व्यवहार में नर पुरुष का तथा नारी प्रकृति का प्रतीक मानी जाती है । दोनों के कर्मक्षेत्र पृथक्-पृथक् होने पर भी वे एक ही शरीर के दक्षिण और वाम अङ्गों की भाँति एक ही शरीर के दो संयुक्त भाग हैं ।
इच्छाशक्तिप्रधान सुखादि वेद्य वस्तुओं की ओर ध्यानाकृष्ट कराने के कारण इसका नाम अन्त: करण है । चुँकि सुखादि की वेद्यता शरीराभ्यन्तर ही होती है, अत: शरीर के आभ्यन्तर करण होने के कारण इनका नाम अन्त:करण है । जैसा कि कहा गया है -

सुखादिवेद्यावधानकरणरूपत्वादन्त:करणम् इच्छाशक्तिप्रधानम् ।[130]

---

126 मु. उ. वी. शै. भा., पृ. सं. १६६

127 शि. म., पृ. सं. ३४

128 मु. उ. वी. शै. भा., २/१/१

129 श्रीमद्भ., १३/१९

130 शि. म., पृ. सं. ३४

४.३.१४ अहङ्कारतत्त्व

अहं ममेदमित्यभिमानसाधनमहङ्कारतत्त्वं भवति ।[131]

प्रकृत्ति तत्त्व से "अहं ममेदम् (यह मैं हूँ, यह मेरा है)" एतादृक् अभिमान के उद्भावक साधन अहङ्कार की सृष्टि होती है । जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक मणि जपाकुसुम के साथ संयुक्त होने पर लाल रङ्ग का हो जाता है, उसी प्रकार अहङ्कार के सम्बन्ध से आत्मा भी देहाभिमानी हो जाता है -

जपायोगाद्यथा राग: स्फटिकस्य मणेर्भवेत् ।
तथाऽहङ्कारसम्बन्धादात्मनो देहमानिता ॥[132]

४.३.१५ बुद्धितत्त्व

निश्चयहेतुर्बुद्धितत्त्वं भवति ।[133]

पुन: निश्चय की अवस्था को प्राप्त कराने वाली स्थिति का कारण बुद्धितत्त्व होती है । यह प्रकृति की द्वितीय उद्भावना रूप है । यह बुद्धितत्त्व विवेकी विषयों के प्रति विरक्त आत्मा में अनुरक्त मनुष्य की बुद्धि संसारदु:ख को नष्ट करने के लिये प्रवृत्त होती है -

विवेकिनो विरक्तस्यविषयेष्वात्मरागिण: ।
संसारदु:खविच्छेदहेतौ बुद्धि: प्रवर्तते ॥[134]

४.३.१६ मनस्तत्त्व एवं पञ्चज्ञानेन्द्रिय

स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सङ्कल्पविकल्पसाधनं मनस्तत्त्वम् ।[135]

---

131 शि. म. पृ. सं. ३४

132 सि. शि. म., १८/८, पृ. सं. ३५७

133 शि. म., पृ. सं. ३४

134 सि. शि. म., ५/ ७६, पृ. सं. ९०

135 शि. म., पृ. सं. ३४

"यह स्थाणु है या पुरुष" इस प्रकार की सङ्कल्प-विकल्प के साधन का नाम मनस् तत्त्व है । यह प्रकृति तत्त्व की तृतीय उद्भावना है । अन्त: करण में परिगणित मन उभयात्मक (सङ्कल्प- विकल्पात्मक) होता है । मनोलिङ्ग अथवा महालिङ्ग मन को मानस व्यापार के लिये प्रेरित करता है । मन रूपी अन्त:करण का अधिष्ठाता या प्रेरक मनोलिङ्ग या महालिङ्ग कहा गया है । हृदयाङ्गे महालिङ्गम्[136] उपर्युक्त कथन में यह वचन प्रमाण है । ज्ञान शक्ति की प्रधानता के कारण इसका अभिधान ज्ञानेन्द्रिय है । इनका प्रमुख कार्य तत्विषय से सम्बन्धित इन्द्रियों के ज्ञान का प्रकाशन करनाहै - "ज्ञानशक्तिप्रधानत्वाज्ज्ञाने-न्द्रियन्द्रियमुच्यते ।[137] इन पञ्चज्ञानेन्द्रियों का स्वरूप वीरशैवमतानुसार निम्नलिखित है -

४.३.१७ श्रोत्र

शरीरबाह्यलग्नं सत् शब्दज्ञानैककरणं श्रोत्रम् ।[138]

शरीर के बाह्य विषय से संलग्न होते हुये शब्द ज्ञान का एकत्रीकरण करने वाला साधन श्रोत्र कहलाता है । शब्द मात्र श्रोत्र के द्वारा ही ग्राह्य है । पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्य के अनुसार शरीर के बाह्य विषय से सम्बद्ध होते हुये शब्द का ग्रहण करने वाला श्रोत्र पद से अभिहित होता है- शरीरबाह्यविषयसम्बद्धं सत् शब्दग्राहकं श्रोत्रम् ।[139] श्रोत्रेन्द्रिय के शब्दविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान का अधिष्ठाता या प्रेरक श्रोत्रलिङ्ग है, जिसे प्रसादलिङ्ग भी कहा गया है । श्रोत्राङ्गे तु प्रसादकम्[140] उपर्युक्त कथन में यह वचन प्रमाण है ।

४.३.१८ त्वक्

शरीरबाह्यलग्नं सत् स्पर्शज्ञानैककरणं त्वक् ।[141]

शरीर के बाह्य विषय से संलग्न होते हुये स्पर्श ज्ञान का एकत्रीकरण करने वाला साधन त्वक् कहलाता है । स्पर्श मात्र त्वक् के द्वारा ही ग्राह्य है । पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्य के अनुसार शरीर के बाह्य विषय से सम्बद्ध होते हुये स्पर्श का ग्रहण करने वाला त्वक् पद से अभिहित होता है-

---

136 के. उ. वी. शै. भा., १/२, पृ. सं. १२

137 शि. म., पृ. सं. ३४

138 शि. म., पृ. सं. ३४

139 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १२

140 के. उ. वी. शै. भा., १/२, पृ. सं. १२

141 शि. म., पृ. सं. ३४

शरीरबाह्यविषयसम्बद्धं सत् स्पर्शग्राहकं त्वक् ।[142] त्वगिन्द्रिय स्पर्शविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान का अधिष्ठाता या प्रेरक त्वक्-लिङ्ग है, जिसे चरलिङ्ग भी कहा गया है । त्वगङ्गे तु चरलिङ्गकम्[143] इस कथन में यह वचन प्रमाण है ।

४.३.१९ चक्षु

शरीरबाह्यलग्नं सत् रूपज्ञानैककरणं चक्षु: ।[144]

शरीर के बाह्य विषय से संलग्न होते हुये रूप ज्ञान का एकत्रीकरण करने वाला साधन चक्षु कहलाता है । रूप मात्र चक्षु के द्वारा ही ग्राह्य है । पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्य के अनुसार शरीर के बाह्य विषय से सम्बद्ध होते हुये रूप का ग्रहण करने वाला चक्षु पद से अभिहित होता है- शरीरबाह्यविषयसम्बद्धं सत् रूपग्राहकं चक्षु: ।[145] चक्षु-इन्द्रिय के रूप विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान का अधिष्ठाता या प्रेरक चक्षुर्लिङ्ग है, जिसे शिवलिङ्ग भी कहा गया है । दृगङ्गे शिव-लिङ्गकम्[146] उपर्युक्त कथन में यह वचन प्रमाण है ।

४.३.२० जिह्वा

शरीरबाह्यलग्नं सत् रसज्ञानैककरणं रसनम् ।[147]

शरीर के बाह्य विषय से संलग्न होते हुये रस ज्ञान का एकत्रीकरण करने वाला साधन रसना (जिह्वा) कहलाता है । रस मात्र रसना (जिह्वा) के द्वारा ही ग्राह्य है । पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्य के अनुसार शरीर के बाह्य विषय से सम्बद्ध होते हुये रस का ग्रहण करने वाला रसना (जिह्वा) पद से अभिहित होता है - शरीरबाह्यविषयसम्बद्धं सत् रसग्राहकं रसनम् ।[148] रसनेन्द्रिय के रस विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान का अधिष्ठाता या प्रेरक गुरुलिङ्ग है । रसनेन्द्रिये गुरुलिङ्गकम्[149] उपर्युक्त कथन में यह वचन प्रमाण है ।

---

142 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १२

143 के. उ. वी. शै. भा., १/२, पृ. सं. १४

144 शि. म., पृ. सं. ३४

145 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १२

146 के. उ. वी. शै. भा., १/२, पृ. सं. १२

147 शि. म., पृ. सं. ३४

148 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १२

149 के. उ. वी. शै. भा., १/२, पृ. सं. १४

४.३.२१ घ्राण

शरीरबाह्यलग्नं सत् गन्धज्ञानैककरणं घ्राणम् ।[150]

शरीर के बाह्य विषय से संलग्न होते हुये गन्ध ज्ञान का एकत्रीकरण करने वाला साधन घ्राण कहलाता है । गन्ध मात्र घ्राण के द्वारा ही ग्राह्य है । पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्य के अनुसार शरीर के बाह्य विषय से सम्बद्ध होते हुये गन्ध का ग्रहण करने वाला घ्राण पद से अभिहित होता है - शरीरबाह्यविषयसम्बद्धं सत् गन्धग्राहकं घ्राणम् ।[151] घ्राणेन्द्रिय के गन्ध विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान का अधिष्ठाता या प्रेरक आचारलिङ्ग है । आचारलिङ्गं घ्राणाख्यं भक्तस्थलसमाश्रयम्[152] उपर्युक्त कथन में यह वचन प्रमाण है ।
ये पञ्चविध ज्ञानेन्द्रियाँ केवल अपने अपने शब्दादि विषयों का ही विशेष रूप से ग्रहण करती है, फलत: यहाँ अतिव्याप्ति दोष नही उपस्थित होता है । जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों में व्याप्त अधिष्ठाता लिङ्गदेवता उन्हें उनके विषयों की ओर प्रवृत्त करते हैं, उसी प्रकार कर्मेन्द्रियों में व्याप्त अधिष्ठाता लिङ्गदेवता उन्हें उनके कर्मों की ओर प्रवृत्त करते हैं :-

यथा ज्ञानेन्द्रियाङ्गेषु क्रमाल्लिङ्गं प्रतिष्ठितम् ।
तथा कर्मेन्द्रियाङ्गेषु क्रमाल्लिङ्गं प्रतिष्ठितम् ॥[153]

क्रियाशक्ति की प्रधानता के कारण ही इनका नाम कर्मेन्द्रिय है । इनका प्रमुख कार्य इन्द्रियों के तत्विषयक कर्म का प्रकाशन करना है । जैसा कि कहा गया है - क्रियाशक्तिप्रधानत्वात् कर्मेन्द्रियमित्युच्यते ।[154] ये पाँच हैं -

४.३.२२ वाक्

उच्चारणक्रियाहेतुर्वाक् ।[155]

---

150 शि. म., पृ. सं. ३४

151 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १२

152 के. उ. वी. शै. भा., १/२, पृ. सं. १४

153 वही

154 शि. म., पृ. सं. ३५

155 वही पृ. सं. ३४

इन कर्मेन्द्रियों में उच्चारण क्रिया के करण को वाक् पद से अभिहित किया जाता है । वागिन्द्रिय को उसका अधिष्ठाता वाक्-लिङ्ग वैखरी वाणी के उच्चारण के लिये प्रेरित करता है । इस वाक्-लिङ्ग को प्रसादलिङ्ग भी कहते है । कहा भी गया है :- वाच: वागिन्द्रियस्य वचनजनकस्य वाचं वागङ्गावच्छिन्नप्रसादलिङ्गम् ।[156]

४.३.२३ पाणि

दानादानादिक्रियाहेतु: पाणि: ।[157]

दान तथा आदानादि क्रिया का हेतु होने के कारण इसका अभिधान पाणि है । ध्यातव्य है कि यहाँ आदि पद से प्रदान, उपदान तथा अनुदान आदि पद का ग्रहण किया जा सकता है ।

४.३.२४ पाद

गमनागमनादिक्रियासाधनं पादम् ।[158]

गमन एवं आगमनादि क्रिया का साधन होने के कारण इसका नाम पाद है । यहाँ भी आदि पद से तिर्यग्गमन तथा ऊर्ध्वगमनादि का बोध किया जा सकता है ।

४.३. २५ पायु

भुक्तर्जीणमलपरित्यागसाधनं पायु: ।[159]

भुक्त पदार्थों के पच जाने पर मल के रूप में परित्याग करने के साधन को पायु पद से अभिहित किया जाता है ।

४.३.२६ उपस्थ

रेतोमूत्रपरित्यागक्रियासाधनमुपस्थकम् ।[160]

---

156 के. उ. वी. शै. भा., १/२, पृ. सं. १३

157 शि. म., पृ. सं. ३४

158 वही

159 वही

वीर्य एवं मूत्र के परित्याग क्रिया के साधन को उपस्थ इन्द्रिय पद प्रदान किया जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप रस एवं गन्ध रूप तन्मात्राओं के गुणों के क्रमश: ध्वनि-वर्ण, शीत-उष्ण, नील-पीत, मधुर-अम्ल तथा सुरभि-असुरभि जैसे विभागों की अभिव्यक्ति न होने तक इनकी सामान्य स्थिति रहती है। वही सामान्य स्थिति तन्मात्र शब्द से व्यवहृत होती है। जैसा कहा गया है- ध्वनिवर्णशीतोष्णनीलपीतमधुराम्लसुरभ्यसुरभित्वादिविभागशून्यत्वेन सामान्यरूपत्वात् तन्मात्ररूपत्वेन व्यपदेश:।[161] इन पञ्चतन्मात्राओं का स्वरूप निम्नलिखित है -

४.३.२७ शब्द

श्रोत्रैकवेद्य: शब्द:।[162]

श्रोत्रेन्द्रिय मात्र के द्वारा वेद्य होने वाला शब्द है। इसके ध्वनि-वर्णादि विभाग शास्त्रों में अवलोकित होते हैं। पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यकार के मत में श्रोत्र के द्वारा जो ग्राह्य है, वही शब्द है - श्रोत्रग्राह्य: शब्द:।[163] स्कन्द पुराण के अनुसार सदाशिव ही शब्दमूर्ति है - सदाशिवश्शब्दमूर्ति:।[164]

४.३.२८ स्पर्श

त्वगेकवेद्य: स्पर्श:।[165]

त्वगेन्द्रिय मात्र के द्वारा वेद्य होने वाला स्पर्श है। इसके शीत-उष्णादि विभाग शास्त्रों में अवलोकित होते हैं। पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यकार के मत में त्वग् के द्वारा जो ग्राह्य है, वही

---

160 वही, पृ. सं. ३४-३५

161 शि म., पृ. सं. ३५

162 वही

163 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १२

164 ब्र. सू. श्री. द्वि. स. ७/१३, पृ. सं.९९

165 शि. म., पृ. सं. ३५

स्पर्श है - त्वग्ग्राह्य: स्पर्श: ।[166] स्कन्द पुराण के अनुसार महेश्वर ही स्पर्शमूर्ति है :- स्पर्श-मूर्तिर्महेश्वर: ।[167]

४.३.२९ रूप

नेत्रैकवेद्यं रूपम् ।[168]

चक्षु-इन्द्रिय मात्र के द्वारा वेद्य होने वाला रूप है । इसके नील-पीतादि विभाग शास्त्रों में अवलोकित होते हैं । पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यकार के मत में चक्षु के द्वारा जो ग्राह्य है, वही रूप है- चक्षुर्ग्राह्यं रूपम् ।[169] स्कन्द पुराण के अनुसार रुद्र ही रूपमूर्ति है -रुद्रस्तेजोमयस्साक्षाद्" ।[170]

४.३.३० रस

रसनैकवेद्यो रस : ।[171]

रसनेन्द्रिय मात्र के द्वारा वेद्य होने वाला रस है । इसके मधुर-अम्लादि विभाग शास्त्रों में अवलोकित होते हैं । पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यकार के मत में रसना (जिह्वा) के द्वारा जो ग्राह्य है, वही रस है- रसनाग्राह्यो रस: ।[172] स्कन्द पुराण के अनुसार में जनार्दन ही रसमूर्ति है - रसमूर्तिर्जनार्दन: ।[173]

४.३.३१ गन्ध

घ्राणैकवेद्यो गन्ध: ।[174]

---

166 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १२

167 ब्र. सू. श्री. द्वि. स. ७/१३, पृ. सं.९९

168 शि. म., पृ. सं. ३५

169 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १२

170 ब्र. सू. श्री. द्वि. स. ७/१३, पृ. सं.९९

171 शि. म., पृ. सं. ३५

172 प. व. म. सू. भा. पृ. सं. १२

173 ब्र. सू. श्री. द्वि. स. ७/१३, पृ. सं.९९

174 शि. म., पृ. सं. ३५

घ्राणेन्द्रिय मात्र के द्वारा वेद्य होने वाला गन्ध है। इसके सुरभि-असुरभि-आदि विभाग शास्त्रों में अवलोकित होते हैं। पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यकार के मत में घ्राण के द्वारा जो ग्राह्य है, वही गन्ध है - घ्राणग्राह्यो गन्ध: ।[175] स्कन्द पुराण के अनुसार चतुर्वक्त्र ही गन्धमूर्ति है - गन्ध-मूर्तिश्चतुर्वक्त्र ।[176]
आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी यें पञ्च महाभूत कहे जाते हैं। इनके सम्मिश्रण से स्थूल शरीर की सृष्टि होती है। कहा भी गया है - आकाशादीनि महाभूतानीत्युच्यन्ते ।[177] इन पञ्चमहाभूतों का स्वरूप निम्नलिखित है -

४.३.३२ आकाश

मरुदग्न्यम्बुभूमीनामवकाशप्रदं शब्दैकगुणकमाकाशम् ।[178]

वायु, अग्नि, जल तथा भूमि को अवकाश प्रदान कर शब्द रूपी एकमात्र गुण वाला आकाश पद से अभिहित होता है। वह एक तथा नित्य है। आत्मा से आकाश की सृष्टि हुयी है, इसमें यह वचन भी प्रमाण है :- तच्चैकंनित्यम्, आत्मन: आकाश: सम्भूत: ।[179] मुण्डकोपनिषद्वीर-शैवभाष्य के अनुसार अक्षर ब्रह्म से आकाश की सृष्टि होती है :- सदाशिवाऽऽपरपर्याय-शरणाङ्गं चिद्व्यापनशक्तिविशिष्टमाकाशं शब्दैकगुणकम् । ईशानादाकाशम् ।[180] अर्थात् परा चित् शक्ति से विशिष्ट ईशान (न) नामक अक्षर ब्रह्म को प्रसादलिङ्ग भी कहते है। उस ब्रह्म से पञ्चभूतों में अन्यतम आकाश का आविर्भाव होता है। उस आकाश का एकमात्र गुण शब्द है तथा वह चित् की व्यापन शक्ति से विशिष्ट सदाशिव अथवा शरण नामक अङ्गस्थल से अभिन्न है। चिद्व्याप्त्या व्योम:[181] अर्थात् चैतन्य की व्याप्ति के कारण आकाश का अपर अभिधान व्योम है। आकाश में परमेश्वर की विभुता (विभ्वी) शक्ति निवास करती है :- नभसि व्यापकशिवैकीकरणप्रवीणानुग्रहात्मिका विभुताशक्ति: ।[182] आकाश को ब्रह्म भी कहा गया है तथा ब्रह्मशब्दवत् आकाश की उत्पत्ति मुख्य है :- खं ब्रह्म। आकाशोत्पत्तिर्मुख्यैव। कुत: ? ब्रह्मशब्दवत् ।[183]

---

175 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १२

176 ब्र. सू. श्री. द्वि. स. ७/१३, पृ. सं.९९

177 शि. म., पृ. सं. ३५

178 वही

179 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १३

180 मु. उ. वी. शै. भा. २/१/३, पृ. सं. १५७

181 सि. शि. म., १०/६८-६९, पृ. सं. २०१

182 वही, १८/३४, पृ. सं. ३६७

183 ब्र. सू. श्री. द्वि. स. पृ. सं. ८९

४.३.३३ वायु

कम्पभ्रमणशोषणवेगवान् स्पर्शैकगुणो वायु: ।[184]

कम्पन, भ्रमण, शोषण तथा वेगवान स्वभाव वाला एवं स्पर्श रूपी एकमात्र गुण वाला वायु पद से अभिहित होता है। वह अनेक तथा अनित्य है। आकाश से वायु की सृष्टि हुयी है, इसमें यह वचन भी प्रमाण है :- स चानेकोऽनित्यश्च, आकाशाद्वायु: ।[185] मुण्डकोपनिषद्वीरशैव-भाष्य के अनुसार अक्षर ब्रह्म से वायु की भी सृष्टि होती है :- आदिशक्तिविशिष्टचरलिङ्गा-ऽऽपरपर्यायतत्पुरूषब्रह्मरूपात् वायु:, चित्स्पन्दनशक्तिविशिष्ट-प्राणलिङ्ग्याभिधानेश्वराङ्गं स्पर्शैकगुणकम्, तत्पुरुषाद्वायु: ।[186] अर्थात् आदिशक्ति से विशिष्ट तत्पुरुष (म) नामक अक्षर ब्रह्म को चरलिङ्ग भी कहते है। उस ब्रह्म से पञ्चभूतों में अन्यतम वायु का आविर्भाव होता है। उस वायु का एकमात्र गुण स्पर्श है तथा वह चित् की स्पन्दन शक्ति से विशिष्ट ईश्वर का प्राणलिङ्गी नामक अङ्गस्थल है। परमानन्दस्पन्दनेन वायु:[187] अर्थात् परमानन्द के स्पन्दन के कारण इसको वायु तत्त्व कहा जाता है। वायु में परमेश्वर की संहार (स्पन्दा) शक्ति निवास करती है :- वायौ शोषकतालक्षणा संहारशक्ति: ।[188]

४.३.३३.१ प्राण

शरीरान्त:सञ्चारी पञ्चवृत्यात्मकवायु: क्रियाशक्तिप्रधान: ।[189]

अर्थात् शरीर के आभ्यन्तर में सञ्चरण करने के कारण, यह पञ्चवृत्त्यात्मक वायु क्रियाशक्ति-प्रधान होता है । उसी अक्षर परब्रह्म से प्राण की उत्पत्ति होती है । परमशिव स्वरूप अक्षरब्रह्म क्रियाशक्ति प्रधान होता है, तब उससे शरीर के आभ्यन्तर में सञ्चार करनेवाले पञ्चवृत्तिस्वरूप क्रियाशक्तिप्रधान पञ्चप्राणवायु स्वरूप प्राणवायु का आविर्भाव होता है। यें पञ्चवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं-

---

184 शि. म., पृ. सं. ३५

185 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १३

186 मु. उ. वी. शै. भा., २/१/३, पृ. सं. १५७

187 सि. शि. म., १०/६८-६९, पृ. सं. २०१

188 वही, १८/३४, पृ. सं. ३६७

189 वही, २/१/३, पृ. सं. १५९

हृदि प्राणे गुदेऽपान: समानो नाभिमण्डले ।
उदान: कण्ठदेशे स्याद् व्यान: सर्वशरीरग: ॥[190]

हृदय में प्राण नामधेय प्राणवायु, गुदाप्रदेश में अपान नामक प्राणवायु, नाभिमण्डल में समान नामक प्राणवायु, कण्ठदेश में उदान नामक प्राणवायु तथा व्यान नामक प्राणवायु सम्पूर्ण शरीर में विचरण करता है । इस प्रकार परशिव से आविर्भूत प्राणवायु का सञ्चार शरीर के आभ्यन्तर में अपनी क्रियाशीलता का परिचय देता है । मुण्डकोपनिषद्वीरशैवभाष्य के मतानुसार शिव के सम्पूर्ण विश्वमय शरीर के अन्तर्गत सञ्चरण करनेवाला वायु प्राण कहा जाता है :- प्राण: विश्वमयशरीरान्त:सञ्चारी वायु: ।[191] यह पञ्चभौतिकतत्त्वों के अन्तर्गत ही होता है, अत: इसकी गणना छत्तीस तत्त्वों में नही की जाती है ।[192] यह प्राण भी एक प्रकार का वायु तत्त्व ही है अत: इसका अपर अभिधान प्राणवायु है । सप्त धातुओं (अन्न, रस, रुधिर, मांस, चर्बी, अस्थि, मज्जा और वीर्य) से समावृत यह शरीर शिव का पुर कहा जाता है । यह छत्तीस तत्त्वों से रचित शुद्ध मन रूपी कमलपीठ से युक्त तथा बोध से प्रकाशित शिव का आवास भी कहा जाता है । जिस प्रकार अग्नि में डाला गया काष्ठादि तत्स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार चित्स्वरूप शिव को समर्पित यह समस्त चराचर शिवमय हो जाता है । शिव का साक्षात्कार होने पर सृष्टि का प्रत्येक कण शिवमय ही अवलोकित होता है ।

४.३.३४ तेज (अग्नि)

दाहकं पाचकं रूपवत् तेज: (अतश्चन्द्रादिशीततेजसि दाहकत्वाभावेऽपि सस्यादिवर्धनरूप-पाचकस्थितेर्नाव्याप्ति:) ।[193]

दाहक एवं पाचक शक्ति वाला तथा रूप एकमात्र गुण वाला तेज पद से अभिहित होता है । वह अनेक तथा अनित्य है । चन्द्र जैसे शीतल स्वभाव के तेज में भी दाहकता के न रहने पर उसमें अन्न की वृद्धि एवं पाचन क्रिया के रूप यह विद्यमान है, अत: तेज के प्रस्तुत लक्षण में अतिव्याप्ति की प्रसक्ति नही हो रही है । वायु से अग्नि की सृष्टि हुयी है, इसमें यह वचन भी प्रमाण है - तच्चानेकमनित्यम्, वायोरग्नि: ।[194] तत्तेजोऽसृजत ।[195] मुण्डकोपनिषद्वीरशैवभाष्य के अनुसार अक्षर ब्रह्म से अग्नि की भी सृष्टि होती है :- इच्छाशक्तिविशिष्टशिवलिङ्गाऽऽपर-

---

190 मु. उ. वी. शै. भा., २/१/३, पृ. सं. १५९

191 वही, पृ. सं. १७५

192 सि. शि. म., २०/९-१०, पृ. सं. ४२३

193 शि. म., पृ. सं. ३५

194 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १३

195 ब्र. सू. श्री. द्वि. स. ७/१३ पृ. सं. ९३

पर्यायाऽघोरब्रह्मरूपात् ज्योति:, चिदुज्वलनशक्ति-विशिष्टप्रसादाभिधं रुद्राङ्गं तेजो रूपैक-गुणकम् । अघोराद्वह्नि: ।[196] अर्थात् इच्छा शक्ति से विशिष्ट अघोर (शि) नामक अक्षर ब्रह्म को शिवलिङ्ग भी कहते है । उस ब्रह्म से पञ्चभूतों में अन्यतम अग्नि का आविर्भाव होता है । उस अग्नि का एकमात्र गुण रूप है तथा वह चित् की उज्ज्वल शक्ति से विशिष्ट रुद्रदेवता का प्रसाद नामक अङ्गस्थल है । उज्ज्वलतया तेज:[197] अर्थात् उज्जवलता के कारण अग्नि का अपर अभिधान तेज है । अग्नि में परमेश्वर की सृष्टि (भास्वती) शक्ति निवास करती है :- तेजसि विश्वप्रकाशितालक्षणा सृष्टिशक्ति: ।[198]

४.३.३५ जल

द्रावकं प्लावकमाप्यायकं रसैकगुणकं सलिलम् ।[199]

रस रूपी एकमात्र गुण वाला, द्रावक, प्लावक तथा आप्यायक शक्ति वाला जलतत्त्व है । वह अनेक तथा अनित्य है । अग्नि से जल की सृष्टि हुयी है, इसमें यह वचन भी प्रमाण है :- तच्चा-नेकमनित्यम्, अग्नेराप:।[200] मुण्डकोपनिषद्वीरशैवभाष्य के अनुसार अक्षर ब्रह्म से जल की सृष्टि भी होती है :- ज्ञानशक्तिविशिष्टगुरुलिङ्गाभिधानवामदेवब्रह्मरूपात् आप:, चिदाप्या-यानशक्तिविशिष्टमहेशाभिधविष्ण्वङ्गं जलं रसैकगुणकम् । वामदेवादुदकम् ।[201] अर्थात् ज्ञान शक्ति से विशिष्ट वामदेव (वा) नामक अक्षर ब्रह्म को गुरुलिङ्ग भी कहते हैं । उस ब्रह्म से पञ्चभूतों में अन्यतम जल का आविर्भाव होता है । उस जल का एकमात्र गुण रस है तथा वह चित् की आप्यायन शक्ति से विशिष्ट विष्णु देवता का महेश नामक अङ्गस्थल है । करुणया जलम्[202] अर्थात् करुणा के कारण आप का अपर अभिधान जल है । जल में परमेश्वर की पालन (ह्लादिनी) शक्ति निवास करती है :- जले पुष्टिलक्षणा पालनशक्ति: ।[203]

४.३.३६ पृथ्वी

---

196 मु. उ. वी. शै. भा., २/१/३, पृ. सं. १५७

197 सि. शि. म., १०/६८-६९, पृ. सं. २०१

198 वही, १८/३४, पृ. सं. ३६७

199 शि. म., पृ. सं. ३५

200 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १३

201 मु. उ. वी. शै. भा., २/१/३, पृ. सं. १५८

202 सि. शि. म., १०/६८-६९, पृ. सं. २०१

203 वही, १८/३४, पृ. सं. ३६७

गन्धैकगुणकं जलतत्त्वाधारकं छेद्यं पाच्यं भूतत्त्वमिति ।[204]

गन्ध रूपी एकमात्र गुण वाला, जल तत्त्व को धारण करने वाला, पाच्य तथा छेद्य स्वभाव वाला भू तत्त्व पद से अभिहित होता है । वह अनेक तथा अनित्य है । जल से पृथ्वी की सृष्टि हुयी है, इसमें यह वचन भी प्रमाण है :- तच्चानेकानित्या, अद्भ्य: पृथिवी ।[205] तद्यदपां शर आसीत् । तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत् ।[206] मुण्डकोपनिषद्वीरशैवभाष्य के अनुसार अक्षर ब्रह्म से पृथ्वी की भी सृष्टि होती है :- क्रियाशक्तिविशिष्टाऽऽचारलिङ्गाभिधानसद्योजातब्रह्म-रूपात्, चिद्धृतिशक्तिविशिष्टात् पृथिवी, भक्ताभिधंब्रह्माङ्गं गन्धैकगुणकम् । सद्योजातात् पृथिवी ।[207] अर्थात् क्रिया शक्ति से विशिष्ट सद्योजात (य) नामक अक्षर ब्रह्म को आचार-लिङ्ग भी कहते हैं । उस ब्रह्म से पञ्चभूतों में अन्यतम पृथिवी का आविर्भाव होता है । उस पृथिवी का एकमात्र गुण गन्ध है तथा वह चित् की धारण शक्ति से विशिष्ट ब्रह्मदेवता का भक्त नामक अङ्गस्थल है । धृत्या धरणि:[208] अर्थात् धृति के कारण पृथ्वी का अपर अभिधान धरणी है । पृथ्वी में परमेश्वर की तिरोधान (धूमावती) शक्ति निवास करती है :- भूम्यां धूमावत्यापरपर्याया तिरोधानशक्ति: ।[209] परब्रह्म पृथिवी में रहते हुये पृथिवी शरीर वाले हैं :- य: पृथिव्यां तिष्ठन् यस्य पृथिवी शरीरम् ।[210] पृथिवी से ओषधियों की उत्पत्ति श्रुतियों ने प्रतिपादित किया है :- पृथिव्या ओषधय:।[211] इन कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय के सम्यक् अवबोध के लिये निम्नलिखित तालिका द्रष्टव्य है[212] -

क्रम	इन्द्रिय	विषय	भूत	देवता	प्रतिदेवता
१.	श्रोत्रेन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) वागिन्द्रिय (कर्मेन्द्रिय)	शब्द	आकाश	सदाशिव	ईशान (न)
२.	त्वगिन्द्रिय(ज्ञानेन्द्रिय) पाणि (कर्मेन्द्रिय)	स्पर्श	वायु	ईश्वर	तत्पुरुष (म)
३.	चक्षुरिन्द्रिय(ज्ञानेन्द्रिय) पाद (कर्मेन्द्रिय)	रूप	अग्नि	रुद्र	अघोर (शि)

204 शि. म., पृ. सं. ३५

205 प. व. म. सू. भा., पृ. सं. १३

206 ब्र. सू. श्री. द्वि. स. ७/१३, पृ. सं. ९५

207 मु. उ. वी. शै. भा., २/१/३, पृ. सं. १५८

208 सि. शि. म., १०/६८-६९, पृ. सं. २०१

209 वही, १८/३४, पृ. सं. ३६७

210 ब्र. सू. श्री. द्वि. स. ७/१३, पृ. सं. ९५

211 वही, पृ. सं. ९३

212 मु. उ. वी. शै. भा., पृ. सं. ३०१

४.	रसनेन्द्रिय(ज्ञानेन्द्रिय) उपस्थ (कर्मेन्द्रिय)	रस	जल	विष्णु	वामदेव (वा)
५.	घ्राणेन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) पायु (कर्मेन्द्रिय)	गन्ध	पृथ्वी	ब्रह्मा	सद्योजात (य)

श्रोत्रवाचोर्न भेदोऽस्ति अनुभवसूत्र के इस वचन के अनुसार यद्यपि श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय है तथा वागिन्द्रिय कर्मेन्द्रिय, तथापि उन दोनों का एक ही विषय है :- शब्द । श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है शब्दविषयक श्रावणप्रत्यक्षज्ञान और वागिन्द्रिय का विषय है उच्चार्यमाण शब्द (वैखरी वाक्) । वीरशैवदर्शन में इन दोनों का अधिष्ठाता एक ही प्रसादलिङ्ग है । इसी प्रकार शेष कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के विषय में भी अवबोध करना चाहिये ।

इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया में उसी अक्षरात्मक परब्रह्म शिव से अग्नि, सूर्य, चन्द्र, पर्जन्य, मनुष्य, स्त्री, वनस्पति, ऋचा, दीक्षा, क्रतु, संवत्सर तथा लोक का आविर्भाव हुआ ।[213] सप्त समुद्र (लवणसमुद्र, इक्षुसमुद्र, सुरासमुद्र, सर्पिसमुद्र, दधिसमुद्र, क्षीरसमुद्र और शुद्धोदक समुद्र)[214] गिरि तथा नदियों का आविर्भाव हुआ । तत्पश्चात् शिव के पञ्चमुखों (सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान) से क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा शिवगणों का प्रादुर्भाव हुआ -

सद्योजातात् ब्राह्मणा: सम्बभूवु:,
वामदेवात् क्षत्रिया विशश्च ।
अघोरात् शूद्रास्तत्पुरुषात् शिवस्य
पञ्चात्मकस्य गणा: ईशानत: स्यु: ॥[215]

स्थूल जगत् के मनुष्य दो प्रकार के होते हैं - विशुद्ध और प्राकृत । जिनमें शिवसंस्कारसम्पन्न मनुष्यों को विशुद्ध तथा तद्विहीन मनुष्यों को प्राकृत कहा गया है :-

विशुद्धा: प्राकृताश्चेति द्विविधा मानुषा: स्मृता: ।
शिवसंस्कारिण: शुद्धा: इतरे प्राकृता: मता: ॥[216]

इस प्रकार शिव से पृथ्वी पर्यन्त छत्तीस तत्त्व ही सृष्टि का नियोजन करते हैं । इन छत्तीस तत्त्वों का रूपान्तर होता है न कि इनका नाश । अत: शिव इव ही ये सत्य हैं । ये परब्रह्मशिव

---

213 मु. उ. वी. शै. भा., २/१/५-६, पृ. सं. १७८-१७९

214 वही, पृ. सं. १८७

215 सि. शि. उ., ११

216 सि. शि. म., १०/३४

के विकास रूप है अत: ये मिथ्या नही है। यदा श्रुति कहती है सर्वं खल्विदं ब्रह्म या सर्वो वै रुद्र: तो यह कहना न्यायोचित नही होगा कि यह सृष्टि मिथ्या है।

४.४ वीरशैवदर्शन में प्रमाणमीमांसा

न केवल दर्शनशास्त्र में प्रमाणों का अत्यधिक महत्त्व है अपितु लोकव्यवहार भी प्रामाणिक तथ्य को ही समुचित मानकर उनका अनुपालन करता है। प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय:[217] के अनुसार प्रमाणों के द्वारा विषय की परीक्षा करना ही न्याय है। प्रामाणिक तथ्यों को ही सर्वत्र प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, अप्रामाणिक तथ्य कपोलकल्पना कहे जाते हैं। प्रमाणों के द्वारा तथ्यों को पुष्ट किया जाता है। प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि[218] भी उपर्युक्त कथन को ही व्याख्यायित करता है। यही कारण है कि प्रमाणों की विद्वत्-समाज में अत्यधिक प्रसिद्धि है। प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने कथन को पुष्ट करने के लिये प्रमाणों का आश्रय लिया है। ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य, शिवाद्वैतपरिभाषा, शिवाद्वैतमञ्जरी तथा शिवाद्वैतदर्पण आदि ग्रन्थ वीरशैवदर्शन के प्रमाणमीमांसीय ग्रन्थ माने जाते हैं किन्तु ये सम्पूर्ण ग्रन्थ १३वीं शताब्दी से लेकर १७वीं शताब्दी के मध्य प्रणीत हैं। परवर्ती ग्रन्थ होने के कारण प्राचीन न्याय और नव्य न्याय की तर्क पद्धति का सम्मिश्रण इन ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है। जिनमें शिवाद्वैतपरिभाषा तो पूर्णरूपेण नव्यन्याय की शैली में प्रणीत है। किसी भी मत को पुष्ट करने के लिये प्रमाणों की आवश्यकता होती है और प्रमाणों के आधार पर भी कोई भी तथ्य या मत प्रामाणिक माना जाता है, इस कारण से विद्वानों के मध्य प्रमाणों की अत्यधिक प्रतिष्ठा है किन्तु प्रमाणों की भीत्तिका पर खण्डन-मण्डन, पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष, वाद-विवाद तथा सम्प्रदायों का भी उद्भव होता रहा है। यह भी भारतीय संस्कृति की विशिष्टता ही है कि अनेक सम्प्रदायों की पोषिका होते हुये भी वह सत्य के अन्वेषण में विशुद्ध तर्कप्रणाली का विकास करती है और मार्ग भिन्न होते हुये भी उनमें परस्पर सौहार्द्र और बन्धुता का भी निर्मल सञ्चार करती रहती है।

प्रमाणमीमांसा के अन्तर्गत प्रमा/प्रमिति, प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता तथा प्रमाणों की संख्या एवं उनके स्वरूप की समुचित मीमांसा की जाती है। श्रुति भी तर्क को ज्ञान की प्राप्ति में सहायक मानती है।[219] यह तर्क साधन है न कि साध्य। यह सत्यस्वरूप न होकर सत्य की प्राप्ति में सहायक है। अत: तर्क ससीम है।[220] मात्र सत्य के अन्वेषण में इन प्रमाणों की योजना करनी चाहिये। प्रमाणमीमांसा सत्य के अन्वेषण का प्रमुख सोपान मानी जाती है। यह एक विशुद्ध और सुनियोजित चिन्तन पद्धति है जो सूक्ष्मातिसूक्ष्मज्ञान को उद्घाटित करने का प्रयत्न करती है। प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय की प्रमाणमीमांसा भिन्न है। फलत: प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय

---

[217] न्या. भा. १/१/१

[218] सां. का., ४

[219] तांस्तर्केन योजयेत्, ब्र. सू. श्री. प्र. भा. २/१/२७

[220] नैषा तर्का मतिरापनेया, ब्र. सू. श्री. द्वि. स. ४/३५/७३, तर्काप्रतिष्ठानात् ब्र. सू. २/१/११

के प्रमाणों के स्वरूप में भेद भी द्योतित हुआ है। न केवल प्रमाणों के स्वरूप में ही भिन्नता है अपितु उनकी संख्या एवं प्रत्येक भेदोपभेद के स्वरूप में भी भिन्नता दृष्टिगोचर होती रही है। वीरशैव खण्डन-मण्डन की पद्धति को उचित नही मानता है।[221] रुचिभेद के कारण भिन्न आचारवाले तथा भिन्न विषयों के प्रतिपादक अनेक सिद्धान्त संसार में विख्यात है।[222] इसलिये प्राचीन आचार्यों ने कहा है कि हम किसी का खण्डन नही करते हैं और हम अपने मार्ग पर चलते हैं इसलिये कोई भी सम्प्रदाय हमारा खण्डन न करें। खण्डन करने की अपेक्षा व्यवहार पर अत्यधिक बल होना चाहिये। जो बौद्धिक परिश्रम हम किसी भी सम्प्रदाय का खण्डन करने में लगाते हैं, वह बौद्धिक क्षमता हम स्वयं का मार्ग प्रशस्त करने में भी लगा सकते हैं। यह खण्डन-मण्डन की पद्धति यदि सुचारु रूप से हो तो निश्चय ही एक विशुद्ध तार्किक प्रणाली को जन्म देती है किन्तु इसमें वाद-विवाद भी होते हैं और यह कभी-कभी विकराल रूप भी धारण कर लेती है। हम यदि किसी भी सम्प्रदाय का खण्डन करते हैं तो वास्तविक सत्य के अन्वेषण से पृथक् हो जाते हैं और हमारा सम्पूर्ण ध्यान उस खण्डन में ही लग जाता है। "अन्य सम्प्रदाय का मार्ग अनुचित है और हमारा मार्ग उचित" यह सिद्धान्त प्रत्येक सम्प्रदाय अपनाये हुये है किन्तु इस पद्धति को अपनाने से कहीं न कहीं सत्यता प्रभावित होती है। गोस्वामी तुलसीदास भी भक्ति के लिये इस सिद्धान्त को अनुचित मानते हैं।[223] सम्भवत: इसलिये वीरशैवमत के प्राचीन आचार्यों ने खण्डन-मण्डन की पद्धति हो नही अपनाया। इनके लिये तत्त्व और आचार ही प्रबल रूप से व्याख्या के विषय रहे और इस तात्विक या आचारपरक व्याख्या में भी इन्होंने किसी भी सम्प्रदाय का खण्डन नही किया अपितु अपने मत की व्याख्या की है। पश्चाद्वर्ती वीरशैव के कुछ आचार्यों ने निश्चित रूप से ऐसा कार्य किया है। शिव के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त नामक तन्त्र ही शैवतन्त्र कहा गया है। सम्पूर्ण वेदों का तात्पर्यरूप होने के कारण इसका प्रामाण्य वेद के ही सदृश है।[224]

४.४.१ प्रमा

प्रमा यथार्थानुभव अथवा यथार्थज्ञान को कहते हैं। प्रमा का अपर अभिधान प्रमिति भी है। यह फलरूपा है। शिवाद्वैत के मत में चित्-शक्ति को ही ज्ञानशक्ति कहा जाता है। यह

---

221 सांख्यं योग: पाञ्चरात्रं वेदा: पाशुपतं तथा
एतानि मानभूतानि नोपहन्यानि युक्तिभि: ॥ एतानि शास्त्राणि मानभूतानि प्रमाणभूतानि युक्तिभिर्नोपहन्यानि तर्कयुक्तिभिर्न खण्डनीयानि, "त्रयी सांख्यं योग: (पशुपतिमतं) वैष्णवमिति" इति महिम्नस्तोत्रसिद्धत्वादित्यर्थ: सि. शि. म., ५/४, पृ. सं. ५७

222 अगस्त्य खलु सिद्धान्ता विख्याता रुचिभेदत:
भिन्नाचारसमायुक्ता भिन्नार्थप्रतिपादका: ॥ वही, ५/३, पृ. सं. ५७

223 भाव कुभाव अनख आलसहु रा. च. मा. उ. का.

224 शैवतन्त्रमिति प्रोक्तं सिद्धान्ताख्यं शिवोदितम्
सर्ववेदार्थरूपत्वात् प्रामाण्यं वेदवत् सदा ॥ सि. शि. म., ५/४, पृ. सं. ५७

शक्तिविशेष ही ज्ञान है न कि ज्ञानविशेष ही शक्ति है ।[225] यह ज्ञान अनुभव, स्मृति, संशय और विपर्यय भेद से चार प्रकार का होता है । अवस्थित व्यवहार के उत्पादक ज्ञान को अनुभव कहा जाता है ।[226] संशय से भिन्न करने के लिये अवस्थित पद का प्रयोग किया गया और कालादि में अतिव्याप्ति के निवारण के लिये ज्ञानपद का प्रयोग किया गया है । अनुभवजन्य ज्ञान स्मृति पद का वाचक होता है । परस्पर विरुद्ध द्विकोटिक ज्ञान संशय है । विरुद्ध ज्ञान विपर्यय है ।

अनुभव दो प्रकार के हैं - भ्रमा और प्रमा । जो जैसा नही है उसमें उस प्रकार का ज्ञान होना ही भ्रमा है । एक प्रकार से अयथार्थानुभव अथवा अप्रमा को भ्रमा पद से शिवाद्वैत-वादियों ने अभिहित किया है । प्रमा में अतिव्याप्ति नही होने से लक्षण में अयथा पद का प्रयोग किया गया है । जो जैसा है उसमें उस प्रकार का ज्ञान होना ही प्रमा है । इस प्रमा को यथार्थानुभव अथव प्रमिति पद से दार्शनिकों ने अभिहित किया है ।[227]

४.४.२ प्रमाण

यथार्थज्ञान जिस साधन से प्राप्त होता है उसे प्रमाण कहते हैं ।[228] यह प्रमा अर्थात् यथार्थानुभव का करण (साधन) होता है । भगवान् शिव की सर्वज्ञता के कारण प्रमिति तथा प्रमाण के विभाग की अपेक्षा नही है किन्तु हम जीवों के ज्ञानक्रियादि के अनित्य होने के कारण इस प्रकार के विभाग की अपेक्षा होती है । जैसा कि शिवाद्वैतपरिभाषा में कहा भी गया है -

---

225 चिच्छक्तिरेव ज्ञानशक्तिपर्यायेणोच्यते अत: शक्तिविशेष एव ज्ञानम्, न तु ज्ञानविशेष एव शक्तिरिति शिवाद्वैतसिद्धान्तस्थिति: शि. प. तृ. प्र., पृ. सं. ३३

226 तच्च ज्ञानं चतुर्विधम्, अनुभव-स्मृति-संशय-विपर्ययभेदात् तत्र अवस्थितव्यवहारजनकत्वे सति ज्ञानत्व-मनुभवस्य लक्षणम् संशयेऽतिप्रसक्तिवारणायावस्थितपदम् कालादृष्टादावतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानपदम् अनुभवजन्यत्वे सति ज्ञानत्वं स्मृतेर्लक्षणम् अनुभवेऽतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम् अनुभवजन्यभावना-ख्यसंस्कारे तद्वारणाय विशेष्यदलम् परस्परविरुद्धकोटिद्वयोपस्थापकत्वे सति ज्ञानत्वं संशयस्य लक्षणम् अनुभवादावतिप्रसङ्गवारणाय सत्यन्तम् तादृशोपस्थितिजनकेच्छायां तद्वारणाय ज्ञानपदम् विरुद्धो-पस्थितिमात्रजनकत्वे सति ज्ञानत्वं विपर्ययस्य लक्षणम् इच्छादावतिप्रसक्तिवारणाय विशेष्यदलम् अनु-भवादौ तद्वारणाय सत्यन्तम् संशयेऽतिव्याप्तिवारणाय मात्रपदम् उपस्थितिर्नाम प्रवृत्तिविशेष: प्रवृत्तौ चिकीर्षादीनां कारणत्वं सर्वसम्मतम् शि. प. तृ. प्र., पृ. सं. ३३

227 अनुभवो द्विविध:, भ्रमाप्रमाभेदात् तत्र अयथावस्थितव्यवहाराजनकत्वे सति ज्ञानत्वं भ्रमाया लक्षणम् प्रमायामतिव्याप्तिवारणाय अयथेति कालादृष्टादिषु अतिप्रसक्तिवारणाय ज्ञानपदम् यथावस्थितव्यवहार-जनकत्वे सति ज्ञानत्वं प्रमाया लक्षणम् भ्रमायामतिव्याप्तिवारणाय यथावस्थितेति व्यवहारविशेषणम् अनवस्थितव्यवहारजनके संशये तद्वारणायावस्थितपदम् व्यवहारो नाम हानोपादानादि: शब्दप्रयोगश्च, तज्जनकं नाम व्यवहारजननस्वरूपयोग्यत्वं विवक्षितम् वही

228 प्रमितिस्तत्करणत्वं वा प्रमाणस्य लक्षणम् वही

भगवत: परशिवस्य सर्वज्ञत्वशक्तौ प्रमितिप्रमाणविभागो नापेक्ष्यते । अपेक्ष्यते चास्मदादी-नाम्, जीवानां ज्ञानक्रियादीनामनित्यत्वात् ।[229]

यथार्थख्याति का अनुसरण करके ही प्रमिति और करणत्व का निरूपण किया गया है । यह सर्प है, यह रजत है इस प्रकार के वाक्यों में यथार्थख्याति को स्वीकार किया गया है । रस्सी में सर्प अथवा सीपी में रजत आदि अवयवों का सद्भाव वहाँ पर उपस्थित सर्प रजत आदि ज्ञान के यथार्थत्व को द्योतित करता है ।[230] शिवाद्वैत मत में तीन प्रकार के प्रमाण स्वीकृत हैं - प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ।

४.४.२.१ प्रत्यक्ष प्रमाण

जो साक्षात्कारिणी प्रमिति का करण और स्मृति से भिन्न हो वह प्रत्यक्ष प्रमाण है । यहाँ पर साक्षात्व कहने का तात्पर्य जातिरूप अथवा उपाधिरूप ज्ञाननिष्ठ स्वभावविशेष से है । तदनुसार "मैं इस विषय का साक्षात्कार करता हूँ" यह स्वानुभव ही प्रामाणिक है ।[231] प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है - नित्य और अनित्य । ईश्वर का प्रत्यक्ष नित्य है और मनुष्यादि का प्रत्यक्ष अनित्य है । मनुष्यादि के प्रत्यक्ष भी दो प्रकार के हैं - यौगिक प्रत्यक्ष और अयौगिक प्रत्यक्ष ।[232] यह मनुष्यादि का प्रत्यक्ष दृष्टलोकादि के साथ इन्द्रियजन्य है । दृष्टसामग्री के उपस्थित होने से प्रतिविषय यह पाँच प्रकार का होता है - श्रोत्रज प्रत्यक्ष, त्वक्-जन्य प्रत्यक्ष, चाक्षुष-प्रत्यक्ष, जिह्वाजन्य प्रत्यक्ष, घ्राणज प्रत्यक्ष ।[233]
योगधर्म प्रमाण का सज्ञानत्व ही यौगिक प्रत्यक्ष का लक्षण है और योगधर्म आसन, मुद्रा, बन्धनादि साधनों के द्वारा अन्तर्लिङ्ग का अनुसन्धानरूप ध्यानयोगविशेष अथवा हठयोग है । शिवागमोक्त प्रक्रिया के अनुसार अष्टावरण, पञ्चाचाररूपक्रियासहित षट्स्थलज्ञानयुक्त

---

229 शि. प., द्वि. प्र., पृ. सं. ३२

230 'अयं सर्प:', 'इदं रजतम्' इत्यादिषु यथार्थख्यातिमङ्गीकृत्यैव सिद्धान्तत्त्वानुसरणम्, रज्जुसर्पशुक्तिरजता-दिज्ञानेषु पञ्चीकरणप्रक्रियानुसारेण रज्जुशुक्त्यादिषु सर्परजताद्यवयवसद्भावेन तत्र सर्परजतादिज्ञानानामपि यथार्थत्वात् यथार्थख्यातिमनुसृत्यैव प्रमितितत्करणयोर्निरूपणं कृतम् शि. प. तृ. प्र., पृ. सं. ३३

231 तदेतदुक्तलक्षणं प्रमाणं त्रिविधं भवति, प्रत्यक्षानुमानशब्दभेदात् तत्र साक्षात्कारि-प्रमितितत्करणत्वम्, ज्ञानकरणज्ञानान्यत्वे सति स्मृतिभिन्नत्वं वा प्रत्यक्षस्य लक्षणम् साक्षात्वं नाम जातिरूप उपाधिरूपौ वा कश्चिद् ज्ञाननिष्ठ: स्वभावविशेष: 'अहमिदं साक्षात्करोमि' इति स्वस्वभानुभवप्रमाणिक: अनुमित्यादौ अतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम् स्मृतावतिप्रसङ्गवारणाय विशेष्यदलम् तदेतल्लक्षणं जीवेश्वरप्रत्यक्ष-साधारणम् नैयायिकोक्तदिशा प्रत्यक्षलक्षणविवक्षणे इन्द्रियसन्निकर्षाजन्ये ईश्वरीयनित्यप्रत्यक्षे, इन्द्रिया-जन्यत्वपक्षमाश्रित्य योगिप्रत्यक्षे चाव्याप्ति: स्यात् वही

232 प्रत्यक्षं द्विविधम्, नित्यानित्यभेदात् ईश्वरप्रत्यक्षं नित्यम्, अस्मदादिप्रत्यक्षं त्वनित्यम् तथा अस्मदादिप्रत्यक्षमपि द्विविधम्, योगिप्रत्यक्षायोगिप्रत्यक्षभेदात् वही, पृ. सं. ३४

233 तदिदमस्मदादिप्रत्यक्षमदृष्टालोकादिसहकृतेन्द्रियजन्यम् दृष्टसामग्रीविशेषात् प्रतिनियत-विषयं श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-र्जिह्वा-घ्राणरूपासाधारणकरणभेदात् पञ्चविधम् विषयेन्द्रिय-सम्बन्धश्च द्रव्येषु सयोग:, द्रव्याश्रितेष्टद्रव्येषु संयुक्ताश्रितत्वम्, न तु नैयायिकोक्तं सन्निकर्षान्तरं ग्राह्यम् वही

लिङ्गाङ्गसमरसयोग ध्यानयोग कहा जाता है । यही योग राजयोग भी कहा जाता है ।[234] पुन: प्रत्यक्ष सामान्यरूप से दो प्रकार का होता है - सविकल्पक और निर्विकल्पक । सप्रत्य-वमर्श प्रत्यक्ष सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है और उससे रहित प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है । तत्त्व का उल्लेख ही प्रत्यवमर्श है । यह प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है -जात्यादिविशिष्ट-वस्तुविषयक और अविशिष्टवस्तुग्राही ज्ञानरूपी शशश्रृङ्ग के सदृश ।[235]

४.४.२.२ अनुमान प्रमाण

अनुमान प्रत्यक्ष का उपजीवी होता है । अनुमिति का असाधारण कारण अनुमान कहलाता है ।[236] चिह्नविशेष से अनुमान किया जाता है ऐसा लोकव्यवहार में भी देखा जाता है ।[237] अनुमितिज्ञान के ज्ञाता को अनुमाता कहते हैं । अनुमातापक्ष में हेतु के दर्शन के कारण पूर्व में अनुभूत व्याप्ति का स्मरण करके उस साध्य का निश्चय करता है । जैसे पर्वत पर धूम का दर्शन होने से पूर्व महानसादि में अनुभूत "धूम वह्निव्याप्य होता है" इस प्रकार का स्मरण करके वह्नि से व्याप्य धूमवाला यह पर्वत है इस प्रकार के परामर्श के द्वारा यह पर्वत वह्निमान् इस प्रकार के ज्ञान को सम्पादित करता है । इस ज्ञान को अनुमितिज्ञान कहते हैं ।[238] परामर्श

---

[234] तत्र योगधर्मसहकृतमानसज्ञानत्वं योगिप्रत्यक्षस्य लक्षणम् योगधर्मश्च आसनमुद्राबन्धनादिसाधनैरन्त-र्लिङ्गानुसन्धानरूपो ध्यानयोगविशेषो हठयोगो वा शिवागमोक्तप्रक्रियानुसारेण अष्टावरणपञ्चाचाररूप-क्रियासहकृतषट्स्थलज्ञानगम्यो लिङ्गाङ्गसमरस-योग ध्यानयोग इत्युच्यते, "लिङ्गाङ्गसंगमो योगी ध्यानयोगी स उच्यते" इति स्मृते: अयमेव योगो राजयोग इति पर्यायेणोच्यते, हठयोगस्तु यमनियमाद्यष्टा-ङ्गसाधनगम्यश्चित्त-वृत्तिनिरोधरूप इत्युच्यते, शि. प. तृ. प्र. पृ. सं. ३४

[235] पुनश्च प्रत्यक्षं सामान्यतो द्विविधम्, सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात् तत्र सप्रत्यवमर्शप्रत्यक्षं सविकल्प-कम्, तद्रहितं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम् विमर्शस्तत्त्वोल्लेख: द्विविधमपीदं प्रत्यक्षं जात्यादिविशिष्टवस्तुविष-यकमेव, अविशिष्टवस्तुग्राहिणो ज्ञानस्य शशश्रृङ्गायमाणत्वात् नैयायिकोक्तनिर्विकल्पकसाधकानुमानानां बाधितत्वं सोपाधिकत्वं सत्प्रतिपक्षत्वं व्यर्थद्वोधसहकृतेन्द्रियजन्यं ज्ञानं सविकल्पकम् केवलचक्षुरादीन्द्रि-यजन्यं ज्ञानं निर्विकल्पक-मिति निष्कृष्टलक्षणं फलितम्, वही

[236] अथ प्रत्यक्षमात्रोपजीवित्वात् प्रत्यक्षानन्तरमनुमानं निरूप्यते तत्र अनुमित्यसाधारणकारणत्वमनुमान-स्य लक्षणम् प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिवारणायानुमितीति अनुमिति-कारणे परामर्शरूपव्यापारेऽतिप्रसङ्गवार-णाय असाधारणेति अनुमित्यसाधारणधर्मेऽनिमितित्वे तद्वारणाय कारणत्वदलम् तच्च प्रमाणमेव, प्रमिति-करणतावच्छेदकरूपवत्त्वात् यत् प्रमितिकरणतावच्छेदकव्याप्ति-ज्ञानत्वरूपधर्मवत्त्वाद् लक्षणसमन्वय: तच्च परामर्शद्वाराऽनुमिति जनयतीति परामर्शसहकृतत्वेन कारणत्वं बोध्यम् परामर्शस्तु व्याप्तिविशिष्टपक्ष-धर्मताविषयत्वेन कारणं भवतीति तत्कुक्षिनिक्षिप्तव्याप्ति-वैशिष्ट्यज्ञानस्यावश्यमनुमितिहेतुत्वमभ्युपेयमिति व्याप्तिज्ञानस्य प्रमाणत्वम् वही. च. प्र., पृ. सं. ३५

[237] "लिङ्गादत्रामुमर्थं निश्चिनोमि" इति सर्वेषां लोकानां प्रवर्तमानानुभवव्यवहारौ तन्मूलकप्रवृत्ती च अनु-मिते: संशयरूपत्वाभावे निश्चयरूपत्वे च प्रमाणम् अनुमानाप्रामाण्यग्राहकप्रमाणाभावादनुमानस्य प्रामाण्यं सर्वैरङ्गीकृतमित्यनुमानस्य पृथक्प्रामाण्यमवश्यमभ्युपेयम् , वही

[238] प्रथममनुमाता पक्षे हेतुदर्शनात् पूर्वानुभूतव्याप्ति स्मृत्वा तत्र साध्यं निश्चिनोति यथा पर्वते धूमदर्शनाद् महानसादौ पूर्वानुभूतां "धूमो वह्निव्याप्य:" इति व्याप्तिं स्मृत्वा, तत: "वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत:" इति परामर्शद्वारा "पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारकज्ञानं संपादयति तदेव "अनुमितिज्ञानम्" इत्युच्यते, वही

के कारण ही पक्ष साध्यवान् है, इस प्रकार की अनुमिति उत्पन्न होती है ।[239] इस प्रकार व्याप्य-व्यापकभाव से निष्पन्न नियतसम्बन्ध ही व्याप्ति है और उस व्याप्ति का ज्ञान ही अनुमान है ।[240]

व्याप्य निरुपाधिक सम्बन्धविशिष्ट है । उपाधि साधन के अव्यापक होने और साध्य के समव्यापक होने पर साधन के धर्म से भिन्न धर्मत्व है । सोपाधिकहेतु के द्वारा अनुमिति के उत्पन्न न होने के कारण उसका ग्रहण नही होता है । हेतु के अपर अभिधान व्याप्य, लिङ्ग और साधन आदि हैं । जो सत्-हेतु होता है वह प्रपञ्चावसर प्राप्त होने पर पाँच प्रकार का हो जाता है । जैसे - पक्षवृत्तित्व, सपक्षत्व, विपक्षवृत्तित्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रति-पक्षत्व । जिनमें सिषाधयिषाभावविशिष्ट सिध्यभाववान् पक्षवृत्तित्व है । जैसे धूमहेतु के द्वारा वह्निसाधन में पर्वतादि: । निश्चित साध्यवाला सपक्ष होता है । जैसे धूमहेतु के द्वारा वह्नित्व का निश्चय महानसादि में पूर्वदृष्ट वह्नि से । निश्चित साध्य के अभाववाला विपक्ष होता है । जैसे जलह्रदादि । पक्ष में प्रबल प्रमाण के द्वारा निश्चित साध्य के अभाव होने से अबाधितविषयत्व होता है । जैसे पर्वत के परभाग में वह्निमान् । परस्परविरुद्धहेतु का परामर्शत्व सत्प्रतिपक्ष कहलाता है । जैसे पृथ्वी अङ्कुरादि का कर्ता है उनके कार्य होने से । अनुकूलतर्क के कार्य प्रबल होने से असत्प्रतिपक्षत्व है ।[241]
व्याप्ति भी दो प्रकार की है - अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति ।
साधनविधि में साध्यविधिरूप के द्वारा प्रवर्तमान व्याप्ति अन्वयव्याप्ति कही जाती है । जैसे - जो धूमवान् है वह वह्निमान् है । जो साध्य के निषेध के द्वारा साधननिषेधरूप से प्रवर्तमान व्याप्ति व्यतिरेक व्याप्ति होती है । जैसे जो वह्निमान् होता है वह धूमवान् नही होता है ।

---

239 परामर्शात् पक्ष: साध्यवान् इत्येवानुमितिर्जायते, वही

240 एतादृशव्याप्यव्यापकभावापन्ननियतसम्बन्ध एव, व्याप्तिस्तज्ज्ञानमनुमानमिति निष्कर्ष:, शि. प. च. प्र. पृ. सं. ३५

241 व्याप्यं च निरुपाधिकसम्बन्धविशिष्टमेव ग्राह्यम् उपाधित्वं च साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसम-व्याप्यत्वे सति साधनधर्मभिन्नधर्मत्वम् सोपाधिकहेतुनाऽनुमित्यनुदयेन स न गृह्यते हेतुश्च व्याप्यं लिङ्गं साधनं चेति पर्यायेणोच्यते अत: सद्धेतुप्रपञ्चावसरे पञ्चरूपाणि भवन्ति यथा - पक्षवृत्तित्वम्, सपक्षत्वम्, विपक्षावृत्तित्वम्, अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति तत्र सिषाधयिषाभावविशिष्टसिध्यभाववान् पक्ष: यथा धूमहेतुना वह्निसाधने पर्वतादि: तद्वृत्तित्वं च पक्षनिष्ठाधिकरणतानिरूपिताधेयतावत्त्वम् निश्चितसाध्य-वान् सपक्ष: यथा धूमहेतुना निश्चितवह्निमान् महानसादि: तद्वृत्तित्वं च सपक्षनिष्ठाधि-करणताधेयतावत्त्वम् निश्चितसाध्याभाववान् विपक्ष: यथा जलह्रदादि: तदवृत्तित्वं च विपक्षनिष्ठा-धिकरणतानिरूपितवृत्तित्वाभाव: पक्षे प्रबलप्रमाणनिश्चितसाध्याभावावत्त्वं बाध: यथा पर्वत: परभागे वह्निमान् पर्वतावच्छेदकविशिष्टे पर्वताग्रभागे वह्न्यभाववत्त्वात् तत्साधकहेतोर्बाधितत्वम् तन्न भवती-त्यबाधित्वम् परस्परविरुद्धहेतो: परामर्शत्वं सत्प्रतिपक्षत्वम् यथा क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् इत्यत्र क्षित्यङ्कुरादिकं कर्त्रजन्यं शरीरजन्यत्वात् इत्यत्र च उभयहेतो: परामर्शसत्त्वाद् उभयो: सत्प्रतिपक्ष-त्वम् तन्न भवति, अनुकूलतर्कादिना न संभवतीति, असत्प्रतिपक्षत्वम् अनुकूलतर्कस्तु कार्यत्वं यदि कर्तृ-जन्यत्वव्यभिचारि स्यात् तर्हि किं स्यात् ? कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभावो न स्यात् इत्यनुकूलतर्कस-त्त्वात् कार्यत्वहेतो: सबलत्वाद् असत्प्रतिपक्षत्वम् तथा शरीराजन्यत्वरूपस्य नास्तिकहेतोस्तादृशानुकूल-तर्काभावाद् दुर्बलत्वम्, अतस्तस्यैव सत्प्रतिपक्षत्वम्, वही

व्यापित् अनुसन्धान के बल के द्वारा प्रतिज्ञादिपञ्चावयववात्मक प्रयोग द्वारा सत् हेतु में व्याप्तिनिश्चय करके पक्ष में साध्य का निश्चय किया जाता है ।[242] अनुमानप्रयोग के घटक वाक्य अवयव कहे जाते हैं। ये पाँच प्रकार के हैं -

प्रतिज्ञा - दूसरे की अनुमिति की इच्छा के दारा साध्यविशिष्ट पक्ष का निर्देश प्रतिज्ञा कहलाता है। जैसे - पर्वत वह्निमान् है।

हेतु - ज्ञापकत्व बोधक पञ्चमी विभक्ति से युक्त निर्देशवाक्य हेतु कहलाता है। जैसे - धूमवान् होने से (धूमात्/धूमवत्वात्)।

उदाहरण - समुचित प्रकार से व्याप्ति का निर्देश करते हुये दृष्टान्तवचन उदाहरण कहा जाता है। जैसे "जो धूमवान् होता है, वह वह्निमान् होता है" जैसे महानसादि।

उपनय - हेतु का उपसंहारक वाक्य उपनय कहलाता है। जैसे वह्नि से व्याप्य धूमवाला यह पर्वत है।

निगमन - पक्ष में साध्य का उपसंहारक वाक्य निगमन कहलाता है। यथा - इस प्रकार से यह पर्वत वह्निमान् है यह सिद्ध हुआ।[243]

४.४.२.३ शब्द प्रमाण

आकाङ्क्षादि मे प्रयुक्त पद उससे पद-पदार्थसम्बन्धी विषयता को निरूपित करनेवाला ज्ञान शाब्दबोध है। शाब्दबोध में पदज्ञान का पदार्थ की उपस्थिति के द्वारा असाधारणकारण होने से सर्वत्र लक्षण का समन्वय होता है। इस वृत्ति के द्वारा पद का प्रयोग और उसका पदार्थ में अन्वय किया गया। वृत्ति को ही शक्ति कहा जाता है।[244] पद के साथ पदार्थ का सम्बन्ध ही

---

[242] तत्र व्याप्तिर्द्विविधा, अन्वयव्याप्तिः व्यतिरेकव्याप्तिभेदात् तत्र साधनविधौ साध्यविधिरूपेण प्रवर्तमाना व्याप्तिरन्वयव्याप्तिः यथा - यो धूमवान् स वह्निमान् इति तथा साध्यनिषेधेन साधननिषेधरूपेण प्रवर्तमाना व्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिः यथा 'यो वह्निमाश्च भवति स धूमवान्न भवति' इति च एतदन्यतरव्याप्यनुसन्धानबलेन प्रतिज्ञादिपञ्चावयववात्मकप्रयोगद्वारा सद्धेतौ व्याप्तिनिश्चयं कृत्वा पक्षे साध्यं निश्चिन्वन्ति शि. प. च. प्र., पृ. सं. ३५

[243] तत्र अनुमानप्रयोगघटकवाक्यत्वमवयवसामान्यलक्षणम् तत् पञ्चविधम् प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण-उपनय-निगमनभेदात् तत्र परानुमितिच्छया साध्यविशिष्टपक्षनिर्देशः प्रतिज्ञा यथा पर्वतो वह्निमान् इति ज्ञापकत्वबोधकपञ्चमीविभक्तिव्याहृतविपर्ययप्रसङ्गादन्यतमयुक्तनिर्देशवाक्यं हेतुः यथा धूमात् इति सम्यग्व्याप्तिनिर्देशपूर्वकदृष्टान्तवचनमुदाहरणम् यथा यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसः इति हेतूपसंहारकवाक्यम् उपनयः यथा वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः इति पक्षे साध्योपसंहारकवाक्यं निगम-नम् यथा तथा च पर्वतो वह्निमान् इति इत्येवं पञ्चावयववात्मकप्रयोगद्वारा पक्षे साध्यनिश्चयतत्त्वानुसरणं सर्वशास्त्रकारैरभिमतमिति वही

[244] अथ प्रत्यक्षानुमानोभयोपजीवित्वात् तदनन्तरं शाब्दं निरूप्यते तच्च आकाङ्क्षादिमत्पदप्रयोज्यतत्त्वत्पदपदार्थसम्बन्धविषयताकत्वे सति ज्ञानत्वं शाब्दबोधस्य लक्षणम् शाब्दबोधे पदज्ञानस्य पदार्थोपस्थितिद्वाराऽसाधारणकारणत्वात् सर्वत्र लक्षणसमन्वयः अत्र वृत्त्या पदप्रयोज्यत्वं तत्तत्पदार्थेऽन्वयः वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतररूपा तथा च शक्त्या लक्षणया वा आकाङ्क्षादिमत्पदप्रयोज्यतत्तत्पदार्थोपस्थितिपूर्वकशाब्दबोधोदयेन न कश्चिद् दोषः, वही प. प्र., पृ. सं. ३६

शक्ति कही जाती है । इस पद से इस अर्थ का बोध करना चाहिये यह ईश्वरेच्छारूपा शक्ति होती है । उस ज्ञान का ही शाब्दबोध में उपयोग होता है । नही तो पूर्व शक्तिज्ञान के अभाव में पदज्ञान का स्मरण नही होगा और इस प्रकार पदार्थ के स्मरण का अभाव होने से शाब्दबोध अनुपपन्न हो जायेगा । शक्तिज्ञान व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहारादि के द्वारा सत् शाब्दबोध को उत्पन्न करता है ।[245]

वाक्य दो प्रकार के हैं - पौरुषेय और अपौरुषेय । इनमें स्वतन्त्ररूप से उच्चरितविषयत्व वाले वाक्य पौरुषेय कहे जाते हैं । जैसे मन्वादिमहर्षियों और कालिदासादि कवियों के द्वारा प्रथित स्मृतिरूप और काव्यादिरूप वाक्य पौरुषेय है । पूर्व पूर्व से उच्चरित सापेक्ष उच्चारण विषयत्व वाले वाक्य अपौरुषेय कहे जाते हैं । जैसे चार वेद, अट्ठाईस दिव्यागम वाक्य अपौरुषेय वाक्य हैं । वीरशैवमत में वेद और आगम में भेद नही है । सर्वविद्या के निवासस्थान भगवान् शिव के नि:श्वासरूप वेदों और स्पष्टोच्चारणरूप दिव्यागमों में परस्पर अभेद ही है ।[246]

पद चार प्रकार के हैं - योग, रुढ़, योगरुढ और लक्षक । जिस पद से अवयव पदार्थ का ही अवबोध हो वे पद यौगिक कहे जाते हैं । जैसे पाचकादि पद । जिस पद से अवयवशक्ति की अपेक्षा न होकर समुदायशक्ति मात्र से ही पदार्थ का बोध हो वह रुढ कहलाता है । जैसे गोमण्डलादि पद । जिस पद से अवयवशक्तिसहित समुदायशक्ति के द्वारा अर्थबोध हो वह योगरुढ होता है । जैसे पङ्कजादि पद । जैसा पूर्व पद उस प्रकार के अर्थद्योतन के शक्ति से शून्य होने पर उससे सम्बन्धित अन्य अर्थ का बोधन करानेवाला पद लक्षक होता है । जैसे "गंगा में झोपड़ी है (गंगायां घोष:)" ।[247]

---

[245] शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्ध: सा च अस्मात् पदाद् अयमर्थो बोद्धव्य: इतीश्वरेच्छारूपा तज्ज्ञानस्यैव शाब्दबोधे उपयोग: अन्यथा पूर्वं शक्तिज्ञानाभावे पदज्ञानासंभवेन पदार्थस्मरणाभावात् शाब्दबोधाऽनुपपत्ते: शक्तिज्ञानं तु व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्यादिभिर्जनितं सत् शाब्दबोधमुत्पादयतीति तस्य व्याकरणादिसहकृतत्वमवश्यमभ्युपेयम्, शि. प. प. प्र. पृ. सं. ३६

[246] वाक्यं द्विविधम्, पौरुषेयापौरुषेयभेदात् तत्र स्वतन्त्रोच्चारणविषयत्वे सति वाक्यत्वं पौरुषेयस्य लक्षणम् पूर्वपूर्वोच्चारणसापेक्षोच्चारणविषयत्वे सति वाक्यत्वमपौरुषेयस्य लक्षणम् तत्र मन्वादिमहर्षिभि: कालिदासादिकविभिश्च प्रग्रथितं स्मृतिरूपं काव्यादिरूपं च वाक्यजातं पौरुषेयम् तथा चतुर्वेदरूपम्, अष्टाविंशतिदिव्यागमरूपं च वाक्यजातमपौरुषेयम् न वयं वेदागमयो: परस्परभेदं पश्याम:, सर्वविद्यानिवासस्य स्वतन्त्रस्य भगवत: परशिवस्य नि:श्वासरूपाणां वेदानां स्पष्टोच्चारणरूपाणां दिव्यागमानां च परस्पराभेदस्यैव पर्यवसानात् अतो भगवान् वेदराशि: निगमागमाम्नाश्रुयतीति पर्यायवाचकशब्दै: प्रयुज्यते वही, पृ. सं. ३७

[247] पदं चतुर्विधम्, योग-रूढ-योगरूढ-लक्षकभेदात् तथाहि - यत्पदाद् अवयवार्थ एव बुध्यते तद् यौगिकम्, यथा पाचकादिपदम् यत्पदाद् अवयवशक्तिनैरपेक्ष्यात् समुदायशक्तिमात्रेणार्थबोधस्तद्रूढम्, यथा गोमण्डलादिपदम् यत्पदाद् अवयवशक्तिसहितसमुदायशक्त्या अर्थबोधस्तद्योगरूढम् यथा पङ्कजादिपदम् अनयैवायवशक्त्या पङ्कजनिकर्तृत्वरूपार्थस्य समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण पद्मरूपार्थस्य बोधो भवति वस्तुत: सन्निहितत्वेन समुदायशक्त्युपस्थितपद्मेऽवयवार्थपङ्कजनिकर्तुरन्वयो भवतीति योगरूढ इत्युच्यते एवं यादृशानुपूर्व्यवच्छिन्नं पदं यादृशार्थनिरूपितशक्तिशून्यत्वे सति यादृशार्थसम्बन्धवन्निरूपित-शक्तिमत् तादृशानुपूर्व्यवच्छिन्नं तत्पदं तादृशार्थे लक्षकम् यथा "गंगायां घोष:" इत्यत्र गंगापदम् तत्र गंगापदं तीरादावसंकेतितं तत्सम्बन्धिनीरादिशक्तत्वेन गृहीतमेव तीराद्यन्वयं बोधयतीति तत् तत्र लक्षकम्, वही

जहाँ पर वाच्य की अनुपपत्ति हो वहाँ लक्षणा होती है । अभिधेय की अविनाभूत प्रवृत्ति लक्षणा है । यह तीन प्रकार की है - जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा । अशेष वाच्यार्थ को छोड़कर उससे सम्बन्धित अर्थान्तरवृत्ति जहल्लक्षणा है । जैसे गङ्गा में झोपड़ी (गंगायां घोष:) ।[248] वाच्यार्थपरित्याग से तत्सम्बन्धी वृत्ति अजहल्लक्षणा है । जैसे - लाल (घोड़ा) दौड़ता है (शोणो धावति) ।[249] वाच्यार्थ के एकदेश का परित्याग के द्वारा एक देशवृत्ति जहदजहल्लक्षणा है । जैसे तत्त्वमसि (वह तुम हो) इस महावाक्य में सूक्ष्मस्थूल-प्रपञ्चाकारशक्तिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षण वाच्यार्थांश के विरोध से विरुद्ध सूक्ष्मस्थूलांश को परित्याग करके अविरुद्ध नामरूपविभाग से रहित सूक्ष्मचिद्रूपशक्तिविशिष्ट शुद्ध चैतन्यमात्र को लक्षित करता है । यहाँ पर जहदजहल्लक्षणा स्वीकार की जाती है । तत्त्वमसि इस पद में तत् पद से सूक्ष्मचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्ट लिङ्गरूप परशिव का बोध होता है । त्वं इस पद से स्थूलचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्ट अङ्गरूप जीव का बोध होता है और असि पद से इन दोनो का ऐक्य द्योतित होता है ।[250]

उपर्युक्त तथ्य को चिद्धनाचार्य ने भी कहा है -

---

[248] यत्र वाच्यार्थानुपपत्तिस्तत्र लक्षणा वाच्यार्थोपपत्तयेऽन्वयोपपत्तेस्तात्पर्योपपत्तेश्च पूर्वमावश्यकत्वात्त-दनुपपतौ वाच्यार्थनुपपत्तिरिति लक्षणास्वीकार: यथा "गंगायां घोष:" इत्यत्रान्वयान्पपत्ति:, "विषं भुक्ष्व" इत्यत्र च तात्पर्यानुपपत्ति:, अतो वाच्यार्थानुपपत्तौ लक्षणा स्वीक्रियते तत्र अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तिर्लक्षणा सा च त्रिधा, जहल्लक्षणा-अजहल्लक्षणा-जहदजहल्लक्षणा चेति भेदात् वाच्यार्थमशेषत: परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा यथा "गङ्गायां घोष:" इत्यत्र गङ्गाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाच्यार्थस्य विरुद्धत्वाद् वाच्यार्थमशेषत: परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे तीरे लक्षणा तथा च जहल्लक्षणया "गङ्गातीरे घोष:" इति शाब्दबोध: शि. प. प. प्र., पृ. सं. ३७

[249] वाच्यार्थपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनि वृत्तिरजहल्लक्षणा यथा "शोणो धावति" इत्यत्र शोणगुणगमन-लक्षणस्य वाच्यार्थस्य विरुद्धत्वेऽपि तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया अर्थबोधाद् अजहल्लक्षणा तथा च "शोणगुणगमनवानश्वो धावति" इति शाब्दबोध: वही

[250] वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहदजहल्लक्षणा यथा "तत्त्वमसि" इति वाक्यं तदर्थो वा सूक्ष्मस्थूलप्रपञ्चाकारशक्तिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाच्यार्थांशे विरोधाद् विरुद्धसूक्ष्मस्थूलांशं परित्या-ज्याविरुद्धनामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिद्रूपशक्तिविशिष्टं शुद्धचैतन्यमात्रं लक्षयतीति तत्र जहदजहल्लक्षणा स्वीक्रियते तथा च - "तत्त्वमसि" इत्यत्र तत्पदेन सूक्ष्मचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्टो लिङ्गरूप: परशिव उच्यते त्वंपदेन स्थूलचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्टोऽङ्गरूपो जीव उच्यते असिपदेन तयोरैक्यमुच्यते इदं तत्त्वमसीति महावाक्यं शिवजीवयोर्विरुद्धधर्मविशिष्टयो: साक्षादैक्यप्रतिपादकत्वाभावेऽपि लक्षणया सम्बन्धत्रयेणार्थं प्रतिपादयति तत्र विरुद्धसूक्ष्मस्थूलांशं परित्यज्याविरुद्धनामरूप-विभागानर्हचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्टयो: शिवजीवयोरैक्यं जहदजहल्लक्षणयाऽवगन्तव्यम् सम्बन्धत्रयं च पदयो: सामानाधिकरण्यम्, पदार्थयो-र्विशेषणविशेष्यभाव: प्रत्यगात्मतद्धर्मयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति तत्र पदयो: सामानाधिकरण्यं च भिन्नप्रवृत्ति-निमित्तयो: पदयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्ति: तच्च "सोऽयं देवदत्त:" इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालतद्देशवैशिष्ट्यं तत्पद-प्रवृत्तिनिमित्तम् एतत्कालैतद्देशवैशिष्ट्यम् अयं पदप्रवृत्तिनिमित्तम् तथा च भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयो: सोऽयं पदयोरेकस्मिन् देवदत्तपिण्डे तात्पर्यसम्बन्ध: तद्वत् तत्त्वमसीति महावाक्येऽपि सूक्ष्मचिदचिद्रूप-शक्तिवैशिष्ट्यं तत्पदप्रवृत्तिनिमित्तम् स्थूलचिदचिद्रूपशक्तिवैशिष्ट्यं त्वंपदप्रवृत्तिनिमित्तम् तथा च भिन्न-प्रवृत्तिनिमित्तयोस्तत्त्वंपदयोरेकस्मिन् नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्टे शुद्धचैतन्ये तात्प-र्यसम्बन्ध: सामानाधिकरण्यम् प्रवृत्तिनिमित्तं च शक्यतावच्छेदकमित्यर्थ:, वही, पृ. सं. ३८

एकात्मकत्वाज्जहती न संभवेत् तथाऽजहल्लक्षणता विरोधत: ।
सोऽयं पदार्थाविव भागलक्षणा युज्येत तत्त्वंपदयोरदोषत: ॥[251]

शैवागम भी उपर्युक्तवचन को ही पुष्ट करते हैं -

तत्पदेनोच्यते लिङ्गं त्वंपदेनाङ्गमीरितम् ।
अनयोरैक्यभावोऽयं सम्बन्धोऽसिपदेन च ॥
लिङ्गाङ्गपदवाच्यार्थं हित्वा सम्यग्धिया पुन: ।
लक्षार्थं लक्षयित्वा तं सोऽहमेवेति चिन्तयेत् ॥[252]

सर्वं खल्विदं ब्रह्म[253], सर्वो वै रुद्र:[254] आदि श्रुतिवाक्यों के द्वारा सर्वपदवाच्यत्व परशिव को प्रतिपादित करते हैं । सृष्टि की सम्पूर्णता परशिवता है । दार्शनिकों में चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करते हैं । बौद्ध और वैशेषिक दर्शन दो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण को स्वीकार करते हैं । सांख्य दर्शन और वीरशैवदर्शन तीन प्रत्यक्ष, अनुमान और शाब्द प्रमाण को स्वीकार करते हैं । नैयायिक चार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण को स्वीकार करते हैं । प्राभाकर मीमांसक पाँच प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति प्रमाण को स्वीकार करते हैं । भाट्ट मीमांसक और अद्वैतवेदान्ती छ: प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण को स्वीकार करते हैं । पौराणिक और ऐतिहासिक आठ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव और ऐतिह्य स्वीकार करते हैं । वीरशैवदर्शनानुसार प्रत्यक्ष में अनुपलब्धि का अन्तर्भाव हो जाता है । अनुमान में उपमान, अर्थापत्ति और सम्भव का अन्तर्भाव हो जाता है तथा शब्द में ऐतिह्य का अन्तर्भाव हो जाता है ।[255] यथार्थ ज्ञान का साधन प्रमाण शब्द से अभिहित होता है । वीर शैवमत में त्रिविध प्रमाण स्वीकृत हैं - प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द । इन्हीं तीनों प्रमाणों में अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है । प्रत्यक्ष प्रमाण में अनुपलब्धि का, अनुमान प्रमाण मे उपमान, अर्थापत्ति तथा सम्भावना का एवं शब्द प्रमाण में ऐतिह्य का अन्तर्भाव हो जाता है, फलत: अन्य प्रमाण मानने की आवश्यकता नही रह जाती है । वीरशैवदर्शन श्रुति को परम प्रमाण मानता है, तत्पश्चात् शैवागमों का स्थान है । जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण से शिव का बाह्य

---

[251] शि. प., प्र. प्र., पृ. सं. १

[252] शि. द., पृ. सं. ५६

[253] छान्द. उ., ३/१४/१

[254] महाना. उ., अनु. २२

[255] वीरशैवाभिमते प्रमाणत्रितये प्रत्यक्षे अनुपलब्धिरन्तर्भवति अनुमाने तु उपमान-अर्थापत्ति-सम्भावनामन्तर्भाव: शब्दे ऐतिह्यमन्तर्भवतीति तस्मादत्र न प्रमाणान्तरस्वीकृतिप्रसङ्ग: ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू., पृ. सं. १९८

और मानस प्रत्यक्ष होता है, वहीं अनुमान प्रमाण से उस बाह्य प्रपञ्च में शिव तत्त्व का अनुमान किया जाता है । एतदर्थ श्रुति तथा शैवागम के शब्द ही प्रमाण स्वरूप उद्धृत किये जातें हैं ।

शिवाद्वैतमञ्जरीकार ने अविद्या के सद्भाव में प्रमाण का अन्वेषण किया है और वीरशैवमत की स्थापना के लिये अविद्या का खण्डन किया है । जब सबकुछ सत्य है तो असत्य अथवा अविद्या की परिकल्पना न्यायोचित नही है । अविद्या के सद्भाव (होने) में क्या प्रमाण है ? क्या वहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम या आन्तरिक अनुभव प्रमाण रूप में कहे जाते हैं ?

उसके (अविद्या के) दृश्यमान नही होने पर भी दृश्य कार्य के जैसे अन्यथा उपपति होने पर, "विद्यां चाविद्यां च"[256] (विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म)) इस श्रुति प्रमाण के द्वारा 'मैं अज्ञानी हूँ' इस प्रकार के अनुभव होने पर अनादि, अनिर्वचनीय, ब्रह्माश्रित, जीवविषयिणी और भावरूप कोई अविद्या है ; यह निश्चित होने पर प्रश्न उपस्थित होता है कि उस प्रमाण और अविद्या का भेद है या अभेद ?

इसमें प्रथम तो हो नही सकता है क्योंकि अविद्यातिरेक के विद्यात्व में प्रमाण होने से और विद्या की एकरूपता अवश्यंभावी होने से यहाँ तीन प्रकार के सत्य प्रस्तुत हो रहे हैं । (नोट :- अविद्या के सद्भाव (होने) में प्रथम प्रश्न यह है कि श्रुतिप्रमाण या अनुभव प्रमाण से अविद्या का अभेद है या भेद ? यदि अभेद है तो अविद्या विद्या (ज्ञान) में प्रमाण है ; ऐसा नही हो सकता । इस प्रकार विद्या की एकरूपता को बनाए रखने के कारण तीन प्रकार के सत्य उपस्थित होते हैं :- (१) विद्या और अविद्या में अभेद है (२) विद्या और अविद्या दोनों में भेद है और (३) अविद्या विद्या (ज्ञान) में प्रमाण है ।)

और उस प्रमाण की अविद्या कार्यरूप होने के कारण भेद को स्वीकार करने पर दोष नही है यह नही कहना चाहिये क्योंकि कार्य और कारण में भेद तन्तु-पट के जैसे भिन्न स्वभाव होने से अकारणत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होता है और यदि अभेद को स्वीकार करके कहा जाय कि यह कार्य है और यह कारण है तो फिर विभाग असम्भव होगा । भेद और अभेद में विरोध होने से अस्वीकार करना चाहिये । अत: (अविद्या के सद्भाव में) मिट्टी और घट के दृष्टान्त को दूर रखना चाहिये । (नोट :- अविद्या के सद्भाव (होने) में द्वितीय प्रश्न यह है कि क्या उस श्रुतिप्रमाण या अनुभव प्रमाण से अविद्या का भेद है ? तो यह भी स्वीकार करने में समस्या है क्योंकि श्रुति प्रमाण या अनुभव प्रमाण और अविद्या दोनों कार्यरूप हो जायेंगे । यदि इस सन्दर्भ में तन्तु और पट का उदाहरण ध्यातव्य है । तन्तु और पट दोनों का भिन्न स्वभाव है । दोनों के कार्यरूप होने से अकारण का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । पुन: यदि हम यह कहें कि अभेद है तो यह कारण है और यह कार्य इस प्रकार का विभाग भी असम्भ ही है क्योंकि भेद और अभेद में सर्वथा विरोध ही होता है ।)

यदि भेद ही इष्ट हो तो भी यह संभव नही है क्योंकि दोनों का तादात्म्य असम्भव प्रतीत होता है । दण्ड के नाश होने पर भी घट रहता है क्योंकि जो कारण रूप में अविद्या है उसकी निवृत्ति होने पर भी उस कार्यरूप प्रपञ्च की निवृत्ति नही हो सकती है । यदि इस इष्ट पर

---

256 ईश. उ., ११

आपत्ति हो तो भी मुक्ति संभव नही क्योंकि जो बन्ध (सम्बन्ध) है वह भी प्रपञ्च के अन्तर्गत ही आता है। (नोट :- पुन: यदि भेद इष्ट है तो भी दोनों (श्रुति प्रमाण या अनुभव प्रमाण और अविद्या) में तादात्म्य का होना असम्भव है। अविद्या एक कारणात्मिका और अपरा कार्यात्मिका है। कारण रूपा अविद्या की निवृत्ति होने पर भी कार्यरूपा अविद्या रहती है और कारण और कार्य के सम्बन्ध भी प्रपञ्च के अन्तर्गत ही आते हैं। अत: इष्ट की आपत्ति होने पर भी मुक्ति सम्भव नही है।) इसमें द्वितीय (अभेद) भी उचित नही है। प्रमाण और प्रमेय में अभेदादि का निर्णय इसलिए नही हो सकता क्योंकि यह प्रमाण है और यह प्रमेय है इस प्रकार का विभाग हो ही नही सकता। यदि अपने सद्भाव में स्वयं ही प्रमाण रूप में उपस्थित होता है तब भी अपने को प्रकाश रूप मानने में आपत्ति है क्योंकि आत्मवत् होते हुए किसी अन्य की निरपेक्ष भावना से भासमान होने के कारण यह सम्भव नही है।

क्योंकि न ही कोई व्यवहार करता हुआ अपने सद्भाव में प्रमाण की इच्छा करता है। यदि वह अभीष्ट भी है, तब भी विद्या ही होगी, अविद्या की वार्ता का प्रसङ्ग ही उपस्थित नही होता। विद्या भी वहाँ प्रमाण नही हो सकती क्योंकि उसके तब तक निरञ्जन (निष्क्रिय) और उपराग (कलादि) के शून्य होने से इस अविद्या का भी स्फुरण असम्भव होगा। अत: अविद्या के सद्भाव में प्रमाण का अन्वेषण करना चाहिये।[257]

अत: दो प्रकार के सत्य का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर भी अविद्या को स्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि ब्रह्मातिरेक से कोई अविद्या नही है (इस को स्वीकार करने के कारण)। न ही अधिष्ठानगत सत्ता ही अविद्या में और उसके कार्य के सदृश प्रतिभासित होती है और उसके विषय में उक्त दोष का कथन भी नही करना चाहिये। पुन: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सत् और असत् के मध्य अविद्या में वह सत्ता आभासित होती है या विकल्प से असत्य में आभासित होती है ? इसमें प्रथम नही हो सकता क्योंकि पूर्व ही सद्रूप में उसकी स्थिति कही गयी है और पुन: सत्ता के अन्तर संबन्धों की अनपेक्षा होने से भी सद्रूप में अविद्या आभासित नही हो सकती। और वह अविद्या न ही सदसद्विलक्षण है। इस उक्त दोष को भी नही कहना चाहिये, क्योंकि उसके रूप को सत्य और असत्य में भी विकल्प से जाना जाता है अत: पूर्वोक्त दोष की ही अनुवृत्ति हो रही है। इस प्रकार जहाँ-तहाँ अविद्या को स्वीकार करने पर भी

---

[257] अत्रेदं चिन्त्यते :- अविद्यासद्भावे किं मानमिति ? तत्र प्रत्यक्षमुतानुमानमाहोस्विदागमा: किमान्तरीयानुभवो वा उच्यते। तस्या अचाक्षुषत्वेऽपि दृश्यकार्यन्यथानुपपत्या, इति श्रुते: अहमज्ञ इत्यनुभवाच्च अनाद्यनिर्वचनीया ब्रह्माश्रिता जीवविषयिणी भावरूपा काचिद्विद्यास्तीति निश्चीयत इति चेत्, तत्प्रमाणस्याविद्यायाश्च भेदो वा यद्यभेदो वा ? नाद्य: अविद्यातिरेकस्य विद्यात्वेन तत्प्रमाणस्यापि विद्यैकरूपतावश्यं भावेन तत्त्रिसत्य-त्वप्रसङ्गात्। न च तत्प्रमाणस्याविद्याकार्यत्वेन भेदाङ्गीकारान्न दोष इति वाच्यम्, कार्यकारणयोर्भेदे तन्तुपटयोरिवै भिन्नस्वभावत्वेनाकारणत्वप्रसङ्गात्, अभेदे सत्येकरूपत्वेन कार्यमिति कारण-मिति विभागासंभवात्, भेदाभेदयोर्विरोधेन अनङ्गीकारात्, तत एव मृद्घटदृष्टान्तस्यापि दूरापास्तत्वात्। यदि भेद एवेष्टस्तदा तादात्म्यासंभवात् दण्डनाशेऽपि घटस्थितिरिव कारणीभूताविद्यानिवृत्तावपि तत्कार्यरूपप्रपञ्चनिर्वृत्तिर्न स्यात्। इष्टापत्तौ मुक्तिरेव न स्यात्, बन्धस्य प्रपञ्चा-न्तर्गतत्वात्। नापि द्वितीय: प्रमाणप्रमेययोरभेदादिदं प्रमाणमिदं प्रमेयमिति विभागासंभवात्। यदि स्वसद्भावे स्वयमेव प्रमाणमेव, तदा स्वप्रकाशतापत्ति:, आत्मवदन्यनिरपेक्षतया भासमानत्वात्। शि. म. पृ. सं. ३२

ब्रह्म और अविद्या में आश्रय-आश्रयिभाव संभव ही नही है क्योंकि दोनों के मध्य प्रकाश और अन्धकार के जैसा विरोध उत्पन्न उपस्थित हो रहा है ।[258] उलूक नेत्र[259] जैसे प्रकाश के अन्धकार को आक्रान्त करता है । प्रकाश और अन्धकार में सर्वत्र विरोध का अभाव होता है । ऐसा नही कहना चाहिये । "दिवान्धा: प्राणिन: केचिद्रात्रा-वन्धास्तथापरे । केचिद् दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टय: ॥" (कुछ प्राणियों को दिन में नही दिखायी देता है, ठीक इसके विपरीत कुछ जीव रात्रि में नही देख पाते । इनके अतिरिक्त कुछ जीव ऐसे भी होते हैं जो समान रूप से दिन और रात्रि में देख सकते हैं ।) उपर्युक्त श्लोक के द्वारा सप्तशती का स्मरण करके उसके (उलूक नेत्र के)[260] सूर्य के तेज से अभिभूत होने पर भी अल्पदृष्टि के कारण वेद्य का ग्रहण नही हो सकता ।[261] नही तो रात्रि में भी चन्द्र और चन्द्रिकादि के होते हुए भी यदि दर्शन शून्य है तो उसको सदान्ध[262] ही कहना चाहिये उसको दिवान्ध[263] कहने का प्रसङ्ग ही उपस्थित नही होता ।

४.४.३ प्रमेय

प्रमेय पदार्थ, विषय, अभिधेय, ज्ञेय अथवा तत्त्व का अपर अभिधान है । पदार्थ और तद्विषयक ज्ञान के विषय-विषयीभाव सम्बन्ध के कारण प्रमेयत्व अथवा अभिधेयत्व पदार्थ

---

[258] नहि कश्चिद् व्यवहरन् स्वसद्भावे प्रमाणमिच्छति । यदि साऽपीष्टा, तदा विद्यैव स्यात्, अविद्येति वार्तैव न स्यात् । विद्याऽपि न तत्र प्रमाणं भवितुमर्हति, तस्यास्तावन्निरञ्जनत्वेन चैत्योपरागशून्यत्वात्, असावविद्येति स्फुरणासंभवात् । तस्मादविद्यासद्भावे मानमन्वे-षणीयम् । अथ द्विसत्यत्वप्रसङ्गादप्यविद्याङ्गीकारो न संभवति, ब्रह्मातिरेकेण काचिदविद्या नास्ती-त्यङ्गीकरणीयत्वात् । न चाधिष्ठानगतसत्तैवाविद्यायां तत्कार्ये न प्रतिभातीति नोक्तदोषे इति वाच्यम्, सदसतो: सत्यामविद्यायां सा सत्ता भासते वा यद्यसत्यां वेति विकल्पात् । तत्र नाद्य: पूर्वमेव सद्रूपेण स्थितत्वात् पुन: सत्तान्तरसंबन्धानपेक्षणात् । न चाविद्या सदसद्विलक्षणेति नोक्तदोष इति वाच्यम्, तद्रूपेणापि सत्यामसत्यां वेति विकल्पे पूर्वोक्तदोषस्यैवानुवृत्ते: । अथ यथाकथञ्चिदविद्याङ्गीकारेऽपि ब्रह्माविद्ययोराश्रयाश्रयिभावो न संभवति, तयोस्तेजसि-मिरयोरिव विरोधात् । शि. म. पृ. सं. ३६

[259] उलूक (उल्लू) केवल रात्रि में देखता है, वह दिन में नही देख पाता है ।

[260] सर्वत्र विरोधाभावात् तद्वत् संभवतीति वाच्यम्,
दिवान्धा: प्राणिन: केचिद्रात्रावन्धास्तथापरे ।
केचिद् दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टय: ॥ दु. स. १/४८-४९
इति सप्तशत्यां स्मृतत्वेन तस्याल्पदृष्टित्वेन सौरतेजोभिभूतत्वेन वेद्यग्रहणापाटवत्वात् । अन्यथा रात्रावपि चन्द्रचन्द्रिकादिवेद्यदर्शनशून्यत्वेन सदान्ध: स्यात्, तस्य दिवान्ध इति व्यपदेश एव न स्यात् । शि. म. पृ. सं. १३५

[261] न चोलूकनेत्रतेजस्यन्धकाराक्रान्तत्वेन तेजस्तिमिरयो । विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसंघवत् ॥
अर्थात् जैसे प्रकाश अन्धकार को नष्ट कर डालता है वैसे ही विद्या (ज्ञान) से अविद्या (अज्ञान) का नाश होता है आ. बो., ३

[262] जिस प्राणी को सर्वदा कुछ भी दृष्टिगोचर नही होता ।

[263] जिस प्राणी को केवल दिन में ही दृष्टिगोचर नही होता (ऊलूक आदि) ।

का लक्षण है । प्रमेयत्व का तात्पर्य प्रमाज्ञानविषयत्व से है । अभिधेयत्व शब्दशक्तित्व है ।[264] शक्तिविशिष्टाद्वैत दर्शन अथवा वीरशैवदर्शन में शिव, जीव और शक्ति ये तीन पदार्थ हैं । एकमेवाऽद्वितीयम्[265] तथा एको रुद्र: न द्वितीयाय तस्थे[266] आदि श्रुतियों के द्वारा लिङ्ग, ब्रह्म, परमस्थलादि वाचक शिव का एकत्व प्रतिपादित होता है ।[267] जीव अङ्ग, पुरुष, संसारी तथा क्षेत्रज्ञ आदि शब्दों के द्वारा जाना जाता है । वह प्रतिशरीर भिन्न और अनन्त है ।[268] जैसा कि कहा गया है -

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीव: स विज्ञेय: स चान्त्याय कल्पते ॥[269]
नैव स्त्री न पुमानेष न चैवाऽयं नपुंसक: ।
यच्छरीरमाधत्ते तेन तेन स युज्यते ॥[270]

भगवान् बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्र में अंशो नानाव्यपदेशात्[271] सूत्र के द्वारा भी यही प्रतिपादित किया है । सूक्ष्मस्थूलात्मकविश्व ही शक्ति है । वह परा, प्रज्ञा, विमर्श, धर्म, माया, प्रकृति आदि अभिधानों से अभिहित की जाती है । वह अनेक प्रकार की है किन्तु सामान्यत: उसे तीन भागों में विभक्त किया जाता है - शुद्धा, शुद्धाशुद्धा एवं अशुद्धा ।[272] इस तथ्य की पुष्टि के लिये निम्नलिखित श्रुतिवचन प्रमाण हैं -
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च[273], प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी[274], मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्[275] शक्तिरेतत्जगत्सर्वं शक्तिमांस्तु

---

[264] तत्र प्रमेयमभिधेयत्वं वा पदार्थसामान्यलक्षणम्, पदार्थतद्ज्ञानयोर्विषयविषयीभाव-सम्बन्धात् प्रमेयत्वं हि प्रमाज्ञानविषयत्वमित्यर्थ: अभिधेयत्वं च शब्दशक्त्यत्वमित्यर्थ: "अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य:" इतीश्वरेच्छारूपशक्ते: शब्दार्थसम्बन्धरूपतावगमात् सर्वत्र लक्षणसमन्वय: शि. प., द्वि. प्र., पृ. सं. ३

[265] छान्द. उ., ६/२/१

[266] श्वेत. उ., ३/२

[267] तत्र प्रमेय: पदार्थ: स च 'अभिधेय' इति पर्यायेणोच्यते शिवजीवशक्तय इति त्रय: पदार्था: तत्र शिवो लिङ्ग-ब्रह्म-परम-स्थलादिशब्दैर-भिधीयते स तु एक एव शि. प., प्र. प्र., पृ. सं. ३८

[268] जीवस्तु अङ्ग-पुरुष-संसारि-क्षेत्रज्ञादिशब्दैरभिधीयते स तु प्रतिशरीरं भिन्नस्त्वनन्तश्च, वही

[269] श्वेत. उ., ५/९

[270] श्वेत. उ., ५/१०

[271] ब्र. सू., २/३/४३

[272] सूक्ष्मस्थूलात्मकविश्वमेव शक्ति: सा च परा-प्रज्ञा-विमर्श-धर्म-माया-प्रकृत्याद्यभिधा-नैरभिधीयते सा अनेकविधाय सामान्यतस्त्रिधा, शुद्धाशुद्धाशुद्धा-अशुद्धेतिभेदात् शि. प., प्र. प्र., पृ. सं. १

[273] श्वेत. उ., ६/८

[274] वही, ४/१८

[275] वही, ४/१०

महेश्वर:[276], मं शिवं परमं ब्रह्म प्राप्नोति स्वभावत: । मायेति प्रोच्यते लोके ब्रह्मनिष्ठा सनातनी ॥[277] सिद्धान्तशिखामणि में भी श्रीरेणुकभगवत्पाद ने कहा है -

यथा चन्द्रे स्थिरा ज्योत्सना विश्ववस्तुप्रकाशिनी ।
तथा शक्तिर्विमर्शाख्या प्रकाशे ब्रह्मणि स्थिरा ॥[278]

शुद्धा शक्ति भी चार प्रकार की है - शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या । शुद्धाशुद्धाशक्ति भी छ: प्रकार की है - माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति । ये ही छ: तत्त्व जीवात्मा के स्वरूप को आवृत्त करने के कारण षट्कञ्चुक कहे जाते हैं । इनसे आवृत्त जीव अज्ञ कहा जाता है । यह जीव शुद्धाशुद्ध होता है । सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है । अन्त:करण तीन हैं - बुद्धि, अहङ्कार और मनस् । ज्ञानेन्द्रिय पञ्च हैं - श्रोत्र, त्वक्, चक्षु:, जिह्वा और घ्राण । कर्मेन्द्रिय पञ्च हैं - वाक्, पाणि, पाद्, पायु और उपस्थ । तन्मात्र भी पञ्च हैं - शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध । भूत भी पञ्च हैं - आकाश, वायु, वह्नि, जल और पृथिवी ।[279]

इस प्रकार से यहाँ छत्तीस तत्त्वों में शिवादि (शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर) से लेकर शुद्धविद्या तक अङ्कुरायमाण अङ्कुरित विश्वरूप होने से अपर है । उस अहन्ता (मैं इस प्रकार का भाव) के द्वारा इच्छादि (इच्छाशक्ति, चिच्छक्ति, आनन्दशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति आविर्भूत हैं ; अत:) तत्त्वों से परे है ।[280] इसी प्रकार परापर है । मोक्ष के कारण होने से तुरीय (अपर, पर और परापर से अतिरिक्त चतुर्थावस्था) है । सागरतरङ्ग न्याय (जिस प्रकार समुद्र में अनेक तरङ्ग उत्पन्न होती हुई हमें दृष्टि-गोचर होती हैं और पुन: उसी में विलीन हो जाती हैं ; उसी प्रकार शिव में जगत् दृष्टिगोचर होता है और पुन: उसी में विलीन हो जाता है) के द्वारा अभेद में उसका विभाग पर्यवसित रूपी सम्बन्ध से भेद बुद्धि

---

[276] श्वेत. उ. ४/१०

[277] वही

[278] सि. शि. म., २०/३२

[279] तत्र शुद्धा शक्तिश्चतुर्विधा, शक्ति-सदाशिव-ईश्वर-शुद्धविद्येतिभेदात् शुद्धाशुद्धाशक्ति-रपि षड्विधा, माया-कला-विद्या-राग-काल-नियतिभेदात् सेयं षट्तत्त्वात्मिका जीवात्मन: स्वस्वरूपावरककञ्चुकप्राय-त्वात्, षट्कञ्चुकमित्यभिधीयते तदावृतस्वस्वरूपत्वाज्जीवोऽयं 'अज्ञ' इत्युच्यते अयमपि शुद्धाशुद्ध एव तत्र सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति: अन्त:-करणं त्रिविधम्, बुद्धि-अहङ्कार-मनोभेदात् ज्ञानेन्द्रियं पञ्चविधम्, श्रोत्र-त्वक्-चक्षु:-जिह्वा-घ्राणभेदात् कर्मेन्द्रियं पञ्चविधम्, वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थभेदात् तन्मात्रं पञ्चविधम्, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धभेदात् भूतं च पञ्चविधम्, आकाश-वायु-वह्नि-जल-पृथिवीभेदात् शि. प., प्र. प्र., पृ. सं. २

[280] शि. म. पु., ७/२/३५/४३

प्रधान रूप मायातत्त्व के बन्धन का कारण और अन्योन्याभाव (अन्य (घट) में अन्य (पट) का अभाव) सम्बन्ध से भेद बुद्धि है और इस प्रकार स्थूल विश्वमय होने के कारण अपर है ।[281]
यहाँ मन, बुद्धि, अहङ्कार प्रकृति सहित पुरुष के लिए श्रोत्रादि से लेकर भूमि पर्यन्त विंशति तत्त्व (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, वह्नि, सलिल और भूमि) जाग्रत अवस्था में प्रवेश करके स्पर्श के वाच्य होते हैं । कलादि (निवृत्तिकला, प्रतिष्ठाकला, विद्याकला, शान्तिकला और शान्त्यतीतकला) पञ्च आभ्यन्तर में अवस्थित होने के कारण और उसके (पुरुष के) स्वप्नावस्था में प्रवेश करके उसका वाच्य होती हैं । मोहरूप होने के कारण माया एकात्मिका होते हुए सुषुप्त्यावस्था की तत्त्व है ।
अवश्य ही - "पञ्चविंशतिरात्मा भवति" (आत्मा पच्चीस प्रकारक होता है) इस प्रकार की श्रुति के द्वारा तत्त्वों की संख्या पञ्चविंशति (पच्चीस) होने से कैसे (तत्त्व) छत्तीस रूपात्मक हैं । (यह प्रश्न उपस्थित होने पर कहते हैं कि) ऐसा नही है । जिस प्रकार (न्याय-वैशेषिक दर्शन में) षोडश पदार्थों (प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, जल्प, वाद, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह[282]) का सप्त पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव[283]) में अन्तर्भाव हो जाता है ; वैसे ही छत्तीस तत्त्वों की संख्या पच्चीस हो जाती है । क्योंकि कलादि (कला, अविद्या, राग, काल और नियति) के माया के कार्य होने के कारण, मायादि षट् कञ्चुकों के भी कञ्चुक पुरुष के अन्तर्गत होने से, मायादि (माया, कला, अविद्या, राग और काल) से लेकर नियति पर्यन्त उन कञ्चुकों के द्वारा उसके (पुरुष के) अन्तर्गत होने से, प्रकृति आदि (प्रकृति, अहङ्कार और बुद्धि) से लेकर मनस् पर्यन्त इन चारों के पुरुष के अन्त:करण रूप होने से, प्रकृति के चित्त् का अपर पर्याय होने से । श्रोत्रादि से लेकर उपस्थ पर्यन्त उसके (पुरुष के) ज्ञान के कर्म रूप होने से, पञ्चतन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) के उसके (पुरुष के) भोज्य (उपभोग योग्य) रूप होने से, पञ्चभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) के उसके (पुरुष के) शरीर रूप होने से, शिवादिपञ्चक (शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या) का तो ऊष्माक्षर के वाच्य होने से, ऊष्माक्षरों का शक्ति रूप होने से, शक्तियों के परमशिव के स्वभाव होने के कारण, उसके (परमशिव के) शुद्ध अनुसन्धान रूप होने से, उसके (परमशिव के) एकरूप से विरोध नही है । ऐसा जानना चाहिये ।[284]

---

281 अत्रैवंविधषट्त्रिंशत्तत्त्वेषु शिवादिशुद्धविद्यान्तमङ्कुरायमाणाङ्कुरितविश्वरूपत्वादपरम् । तस्याहन्तये-च्छादितत्त्वात्परम् । एवं परापरम् । मोक्षहेतुत्वात् तुरीयम् । सागरतरङ्गन्याये-नाभेदपर्यवसायिविभाग-निबन्धनभेदबुद्धिप्रधानरूपत्वात्, मायातत्त्वस्य बन्धहेतुत्वात्, स्थूलविश्वमयत्वाच्च अपरम्, अन्योन्याभाव-निबन्धनभेदबुद्धिरूपत्वात् । शि. म. पृ. सं. ३५

282 प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगम: न्या. सू., १/१/१

283 द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावा: सप्तपदार्था: त. सं., पृ. सं. ४

284 अत्र मनोबुद्ध्यहङ्कारप्रकृतिसहितपुरुषाय श्रोत्रादिभूम्यन्तविंशतितत्त्वानि जाग्रदवस्था-प्रविष्टानि स्पर्श-वाच्यत्वात् । कलादिपञ्चकं स्वप्नदशाप्रविष्टम्, अन्त:स्थितत्वेन तद्वाच्यत्वात् । मायैका सुप्तिदशातत्त्वम्,

इस प्रकार छत्तीस तत्त्वात्मक विश्व है :- (या शिव को प्रणव (ऊँ) कहा गया है या प्रणव (ऊँ) (ही) शिवात्मक है। इस प्रकार वाच्य और वाचक में कही भी अत्यन्त भेद नही है।)
इस प्रकार की पौराणिक उक्ति से, "सदाशिवोऽम्[285]" इस श्रुति से, हे देवि ! अहम् (मैं) यह पद अक्रम, आक्रान्त, जगद्रूपी, त्रिविधमण्डलात्मक और वीरेन्द्र (स्वरूप) है। यही शाम्भवनिर्णय है। सभी वर्णों में अकार (अ) अग्रगण्य, प्रकाशस्वरूप और परमशिवस्वरूप तथा अन्तिम हकार (ह) कलारूपात्मक और विमर्श अभिधानात्मक कहा गया है।[286] इन दोनों (अकार और हकार) के समरस (साहचर्यरूपी) आकार से ही अहम् (पद) निर्मल (मलों से रहित) है।[287]

इस प्रकार की आगम की उक्त से और "अहमस्मि प्रथमजा"[288] (मैं प्रथम उत्पन्न हूँ) इस श्रुति के द्वारा मूल एकविग्रहात्मक प्रणव (ऊँ) पूर्ण अहन्तात्मक (मैं इस प्रकार का भाव) शिव में मयूराण्डरसन्याय (मयूर के अण्डे में जैसे चित्र-विचित्र वर्ण वाले पक्षी का आकार छिपा रहता है, उसी प्रकार परमशिव में यह समस्त विश्व छिपा हुआ है। शिव इस पद में वर्णचतुष्टय (श्, इ, व्, तथा अ) की भासमानता दृष्टिगोचर हो रही है।[289] त्रिंशिकाशास्त्र में स्थिति वकार (व) का मायातत्त्व के वाचक है। माया से लेकर शेष एकतीस तत्त्व (माया, कला, विद्या, राग,

---

मोहरूपत्वादिति विवेक:। ननु :- "पञ्चविंशतिरात्मा भवति" इति श्रुतेस्तत्त्वानां पञ्चविंशत्या परिमितत्वात् कथं षट्त्रिंशद्रूपत्वमिति चेन्न, इत्थम् षोडशपदार्थानां सप्तपदार्थान्तर्भाव इव। तथाहि कलादीनां माया-कार्यत्वेन मायादिषट्कञ्चुकस्यापि कञ्चुके पुरुषान्तर्गतत्वात्, मायादिनियत्यन्तस्य तत्कञ्चुकेन तदन्तर्गत-त्वात्, प्रकृत्यादिमानसान्तचतुष्टयस्य तदन्त:करणरूप-त्वात्, प्रकृतेश्चित्तापरपर्यायत्वात्, श्रोत्राद्युपस्थान्तानां तदीयज्ञानकर्माक्षरूपत्वात्, तन्मात्रपञ्चकस्य तद्भोज्यरूपत्वात्, भूतपञ्चकस्य तच्छरीरत्वात्, शिवादिपञ्च-कस्य तूष्माक्षरवाच्यत्वात्, ऊष्मणां शक्तिरूपत्वात्, शक्तीनां परमशिवस्वभावत्वेन तदीयशुद्धानुसन्धानरूप-त्वेन तदेकरूपत्वान्न विरोध इति विवेक:। शि. म. पृ. सं. ३७

285 महाना. उ., अनुक्र., ४७

286 शि. पु., वि. सं., ७/१/५/१३

287 विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहारेण वा अकृत्रिमोऽहमिति स्फुरणम
अर्थात् अहम् इस प्रकार का स्वाभाविक स्फुरण ज्ञान ही विमर्श शक्ति है, यही शक्ति जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलयका कारण है यद्यपि पूर्णाहंभाव या शुद्धाहन्ता ही ब्रह्मरूप है तथापि जैसे सम्मुखस्थ दर्पण में प्रतिबिम्बित हुये बिना अपना मुख नही दिखता है, उसी प्रकार विमर्श शक्ति में प्रतिबिम्बित हुये बिना आत्मा की स्पष्ट अभिव्यक्ति नही हो सकती है अत: अहंभाव विमर्शमय है लिखा भी है - "नास्त्येव सा चिदपि यद्यविमृष्टरूपा" सुरेश्वराचार्य भी बृहदारण्यवर्तिक में लिखते हैं:- "ना त्वात्मा त्वया नहि", इस अहंभावरूप शिवशक्ति सम्पुट म अ ह और अनुस्वार ये तीन वर्ण हैं इनमें अकार प्रकाशरूप है "अकार: सर्ववर्णाग्रय: प्रकाश: परम: शिव: " हकार विमर्श शक्तिरूप है:- हकारोऽन्त्यकलारूपो विमर्शाख्य: प्रकीर्तित:" अनुस्वार बिन्दुरूप है और उन दोनों के अविवेक पार्थक्य के अभाव अर्थात एकरूपता का सूचक है अतएव इस पूर्णाहन्ता को शिवभाव अथवा मोक्ष कहा गया है :- "चयति चोन्नमिताहमशात" मा. च. वि. पृ. सं. ४८

288 तै. उ., ३/३/१.

289 परा. त्रि. वि., ७

नियति, पुरुष, प्रकृति, अहङ्कार, बुद्धि, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, वह्नि, सलिल और भूमि) और उसके वाचक क से लेकर व पर्यन्त (क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल और व) अक्षर भी वकार के अन्तर्गत ही हैं । कलादि से लेकर भूम्यन्त तीस तत्त्वों (कला, विद्या, राग, नियति, पुरुष, प्रकृति, अहङ्कार, बुद्धि, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, वह्नि, सलिल और भूमि) के उसके वकाररूपी मायातत्त्व के कार्य होने से, "वाय्यग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम्" अर्थात् वायु, अग्नि, सलिल और इन्द्र अवधारणा के चतुष्टय हैं । इस प्रकार की उक्ति के कारण भी वर्णचतुष्टय की भासमानता ही दृष्टिगोचर हो रही है) और शुद्ध विद्यादि (शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव) से लेकर शक्ति पर्यन्त तत्त्व चतुष्टय उसके (शिव के) वाचक शकार (श) है । (अत: ये तत्त्वचतुष्टय) " तदूर्ध्वं शादिविख्यातं पुरस्ताद् ब्रह्मपञ्चकम्"[290] (उससे (माया से) ऊपर शादि के रूप में समक्ष ही ब्रह्मपञ्चक (शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और शिव) हैं) इस प्रकार उक्त होने से शकार (श) में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं । अकार (अ) में तो अनुग्रहात्मक षोडशकला से परिपूर्ण सदाशिव तत्त्व है और उसके (सदाशिव तत्त्व के) कला के वाचक षोडश स्वर भी उसी के अन्तर्गत हैं । शकार के मस्तक पर स्थित इकार में तो यह साधनभूत उसकी (शिव की) एक ही शक्ति है । अनुत्तरादि षट् स्वर शक्तियों में इकार की इच्छा (शक्ति होने) के विधान से (इकार शिव की करणीभूत शक्ति है) । समष्टि (समाहार) के द्वारा परमशिव है और यह विश्व शिवाद्वैतरूपी कल्पवृक्ष की मञ्जरी है । ऐसा विमर्श करना चाहिये ।[291]

ऐसे ही अहम् (मैं) पद में यहाँ भी, यहाँ मकार (म्) के पुरुष तत्त्व के वाचक होने के कारण ।[292] (हे सुव्रते (सुन्दर व्रत करनेवाली उमा) ! पृथिवी (जल, अग्नि, वायु और आकाश) आदि से लेकर पुरुष आदि तत्त्व क्रम से कादि (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग) वर्गो से लेकर

---

290 परा. त्रि. वि., ७

291 एवंविधषट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकं विश्वम् :- "शिवो वा प्रणव: प्रोक्त: प्रणवो वा शिवात्मक: । वाच्यवाचकयो-र्भेदो नात्यन्तं विद्यते क्वचित् ॥" इति पौराणिकोक्ते:, "सदाशिवोऽम्" इति श्रुते:, "अहमित्यक्रमाक्रान्तजग-त्त्रितयमण्डल: । वर्तते देवि वीरेन्द्र इति शाम्भवनिर्णय: ॥" "अकार: सर्ववर्णाग्रय: प्रकाश: परम: शिव: । हकारोऽन्त्य: कलारूपो विमर्शाख्य: प्रकीर्तित: ॥ अनयो: समरसाकारादहमित्येव निर्मल: ॥" इत्यगमोक्ते:, "अहमस्मि प्रथमजा" इत्यादिश्रुतेश्च मूलप्रणवैकविग्रहकपूर्णाहन्तात्मकशिवे मयूराण्डरसन्यायेन सामरस्येन संक्षिप्तम् । तथाहि शिव इत्यत्र वर्णचतुष्टयस्य भासमानत्वात्, त्रिंशिकाशास्त्रस्थित्या वकारस्य मायातत्त्व-वाचकत्वात्, मायान्तैकत्रिंशत्तत्त्वानि तद्वाचककादिवान्ताक्षराणि च वकारान्तार्गतानि, कलादिभूम्यन्त-त्रिंशत्त्वानां तत्कार्यत्वात्, "वाय्यग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम्" इत्युक्तत्वात् । शुद्धविद्यादिशक्त्यन्त-तत्त्वचतुष्टयं तद्वाचक-शवर्णश्च शकारेऽन्तर्भूत: "तदूर्ध्वं शादिविख्यातं पुरस्ताद् ब्रह्मपञ्चकम्" इत्युक्तत्वात् । अकारे त्वानुग्रहात्मकषोडशकलापरिपूर्णसदाशिवतत्त्वम्, तत्कलावाचकषोडशस्वाराश्चान्तर्गता: । शकार-मस्तकस्थितेकारे त्वेतत्करणीभूत-तच्छक्तिश्चकास्ति, अनुत्तरादिषट्स्वरशक्तिष्विकारस्येच्छाविधानात् । समष्ट्या परमशिव इति विश्वं शिवाद्वैतकल्पपादपमञ्जरीरूपं विमर्शनीयम् । शि. म. पृ. सं. ३७

292 एवमहमित्यत्रापि, अत्र मकारस्य पुरुषतत्त्ववाचकत्वात्,

"पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु ।
क्रमात् कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ॥ वही ६

मकारान्त में रहते हैं ।) इस प्रकार उक्त होने से (पुरुष तत्त्व मकार का वाचक है) । माया पर्यन्त (एकतीस) तत्त्व पुरुष के अन्तर्गत (ही) हैं । "पुरुष: प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्" (क्योंकि प्रकृति में स्थित पुरुष ही प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थों को भोगता है ।) इस प्रकार गीता के श्रवण होने से (माया पर्यन्त एकतीस तत्त्व का पुरुष ही उपभोग करता है) ।[293] अन्य सभी पहले जैसे ही हैं । उसके (शक्ति के) विमर्श वाचक और प्रदर्शित होने से कारणीभूत शक्ति हकारादि है । इस प्रकार ओम् यहाँ भी उसके (ओम्) के अकार (अ), उकार (उ) तथा मकार (म्) रूप होने के कारण (ओम् में तीन पद हैं) । हकार का सूक्ष्मरूप उकार है ; ऐसा वर्णन त्रिंशिकातत्त्वविवरण (परात्रिंशिका) में प्रकट किया गया है । अन्य सभी पहले जैसे ही हैं । इसी प्रकार ओम् और शिवोऽहम् का एकार्थ में ही विश्रान्ति होती है । इसका मातृकासंग्रहरूप में श्रुति द्वारा वर्णन किया गया है और महेश्वर के प्रतिपादक होने के कारण (ओम्) महामन्त्र रूप है । "तमेव विद्वानमृत इह भवति" [294] (वही विद्वान् अमृतस्वरूप यहाँ होता है) इस प्रकार श्रुति होने के कारण मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा रखनेवाले) को इसी प्रकार से अनुसंधानवाला ही होना चाहिये । इस प्रकार उक्त क्रम के द्वारा शिवसूत्र (शिव एव आत्मा) से संयुक्त दृक् (ज्ञान शक्ति) तथा क्रिया (शक्ति) स्वरूपात्मक चैतन्य के प्रतिपादक ब्रह्मसूत्रों के द्वारा षट्त्रिंशत् तत्त्व (छत्तीस) तत्त्वों से युक्त षट्स्थलात्मक (भक्त, माहेश्वर, प्रसादि, प्राणलिङ्ग, शरण तथा ऐक्य) ब्रह्म को जाननेवाला इस जन्म में इसी देह में अमृतस्वरूप होता है । आहारव्यवहारादि के द्वारा लौकिक (जीवन) के जैसे वर्तमान (जीवन) में भी जन्मान्तर के अभाव से (वह) जीवन्मुक्त है । शरीर रूपी पिण्ड के पतन के अनन्तर अर्थात् मृत्यु के उपरान्त सर्वज्ञताशक्ति के विकास से अवश्य ही साक्षात् मुक्त होता है । अवश्य ही इस मन्त्र के पुरुष सूक्त के अन्तर्गत होने के कारण । इससे पूर्व दृक् क्रियात्मक चैतन्य और षट्स्थलात्मक ब्रह्म स्वरूपात्मक छत्तीस तत्त्वों के महामन्त्र को प्राप्त किये बिना ही उक्त अर्थ की सिद्धि कैसे होगी ? (इस प्रश्न के उपस्थित होने पर कहते हैं कि) "सहस्राक्ष:[295]" (हजारो आँखों वाला) इससे, "स भूमि विश्वतो वृत्त्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।[296] उतामृतत्वस्येशान: ।[297] एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुष: ।[298]" (वह (विराट् पुरुष) विश्व को आवृत्त करता हुआ हृदय प्रदेश में दस अङ्गुल आभ्यन्तर में स्थित है और उसी अमृतस्वरूप ईशान की महिमा से इस पुरुष की उत्पत्ति हुई है ।) इस प्रकार की श्रुति होने के कारण, जो परमशिव का चैतन्य दृक् (ज्ञान) और क्रियारूप है । वह स्वातन्त्र्य शक्ति से युक्त यही देवात्मा है । उससे ही यह परमशिव है ।[299]

---

[293] श्रीमद्भग., १३/२१

[294] महावा. उ., १९

[295] ऋ. पु. सू., १./९./१

[296] वही, १./९./१

[297] वही, १./९./२

[298] वही, १./९./३

[299] शिव. सू. वा., १/१/२

ज्ञातृता शक्ति से सहस्राक्षत्व (हजारों चक्षुवाले) के प्रकट होने के कारण, ईशान (उतामृत्तत्वस्येशान) इस मन्त्रान्त से विश्व की उत्पत्ति के द्वारा होते हुए मोक्ष की कर्तृतालक्षणात्मक क्रिया शक्ति से और एतावान् महिमा (उसकी महिमा) इस मन्त्र से जडजीव लक्षणात्मक ज्ञान-क्रिया शक्ति से युक्त स्वतन्त्र चैतन्य के प्रकटित होने के कारण, अत: ज्यायान् (उत्पत्ति हुई) इस पद के द्वारा उक्त अर्थ को कहा गया ।

इस प्रकार शिवसूत्र वार्तिक में स्थित श्लोक से उसके (पुरुष सूक्त के मन्त्र के) एकार्थ होने से "पादोऽस्य विश्वा भूतानि[300]" (इसके (विराट् पुरुष के) पैर विश्व के भूत हैं) इस श्रुति से और छत्तीस तत्त्वों के उसके (विराट् पुरुष के) अन्तर्गत होने से, "त्रिपादस्यामृतं दिवि त्रिपादूर्ध्वमुदैत् पुरुष:[301]" (इसके एक पैर में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाहित है और तीन पैर में अमृत और द्युलोक है । तीनों पैरों की सीमा से ऊपर वह पुरुष अवस्थित है) इस प्रकार की श्रुति से और षट्स्थलात्मक (भक्त, माहेश्वर, प्रसादि, प्राणलिङ्गि, शरण तथा ऐक्य) ब्रह्म के महामन्त्रतम के प्राप्त होने से (वेद और आगम की एकार्थता सिद्ध होती है) । तत्पश्चात् इस प्रकार के परामर्श के जैसे "आलाप एव जप:" (शिव का आलाप ही जप है ।), तत्प्रवृत्तिरेव व्रतम् (शिव के प्रति प्रवृत्ति ही व्रत है ।), कथा जप:[302] (शिव की कथा ही जप है ।), शरीरप्रवृत्तिर्व्रतम् (शिव के प्रति शरीर की प्रवृत्ति ही व्रत है), इस प्रकार शिव द्वारा संसूचित किया है । उससे (शिव के द्वारा सूचित करने से) सम्पूर्ण (चराचर) शिवाक्षरचतुष्टय (श्, इ, व् और अ) से संपन्न है अत: यह सब कुछ शिवमय है ।[303]

---

[300] छान्द. उ., ३/१२/५ तै. आ., ३/१२

[301] वही, ३/१२/५

[302] शि. सू., ३/२७

[303] इत्युक्तत्वात्, मायान्तत्त्वानि पुरुषेऽन्तर्गतानि, "पुरुष: प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।" इति गीतत्वात् । अन्यत् सर्वं पूर्ववत् । कारणीभूता शक्तिस्तु हकारादेव, तस्य विमर्शवाचकत्वात्, तथा प्रदर्शितत्वात् । एवमोमित्यात्रापि तस्याकारोकारमकाररूपत्वात्, उकारस्य हकारसूक्ष्मत्वेन त्रिंशिकातत्त्वविवरणे प्रकटीकृतत्वात् । अन्यत् पूर्ववत् । एवमों शिवोहमेकार्थविश्रान्तत्वेन मातृकासंग्रहरूपत्वे श्रौतत्वाच्च, महेश्वरप्रतिपादकत्वेन च महामन्त्ररूपत्वात् । मुमुक्षुरेवंविधानुसंधानवानेव भवेत्, "तमेव विद्वानमृत इह भवति" इति श्रुते: । एवमुक्तक्रमेण शिवसूत्रसंप्रतिपन्नदृक्क्रियात्मकचैतन्यप्रतिपादकब्रह्मसूत्रषड्स्थलब्रह्मषट्त्रिंशत्तत्त्वमहामन्त्रपरिज्ञानवान् इह जन्मनि अस्मिन्नेव देहेऽमृतो भवति । आहारव्यवहारादिना लौकिकवद् वर्तमानोऽपि जन्मान्तराभावाज्जीवन्मुक्त: । पिण्डपातानन्तरं सर्वज्ञतादिशक्तीनां विकासात् साक्षान्मुक्तो भवतीति नूनम् । ननु अस्य मन्त्रस्य पुरुषसूक्तान्तर्गतत्वात्, इत: पूर्वं दृक्क्रियात्मकचैतन्यस्य षट्स्थलब्रह्मण: षट्त्रिंशत्तत्त्वानां महामन्त्रस्य चाप्राप्तत्वात् कथमुक्तार्थसिद्धिरिति चैत्, "सहस्राक्ष:" इति, "स भूमि विश्वतो वृत्त्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् । उतामृतत्वस्येशान: । एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुष: ।" इति श्रुतत्वात्, सहस्राक्षत्वप्रकटत्वेन ज्ञातृताशक्ते:, ईशान इत्यन्तेन विश्वतदुत्तीर्णतया भवनमोक्षकर्तृतालक्षणक्रियाशक्ते:, एतावानस्य महिमेत्यनेन जडजीवलक्षण ज्ञानक्रियास्वतन्त्रचैतन्यस्य चोपात्तत्वात्, अतो ज्यायानित्युक्तत्वात्, चैतन्यं दृक्क्रियारूपं शिवस्य परमस्य यत् । स्वातन्त्र्यमेतदेवात्मा ततोऽसौ परम: शिव: ॥ इति शिवसूत्रवार्तिकस्थितेस्तदेकार्थत्वात्, "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" इति श्रुते: षट्त्रिंशत्तत्त्वानां तदन्तर्गतत्वात्, "त्रिपादस्यामृतं दिवि त्रिपादूर्ध्वमुदैत् पुरुष:" इति श्रुतत्वेन षट्स्थलब्रह्मणां महामन्त्रतमस्य च प्राप्तत्वात् । अथैवंविधपरामर्शवत् आलाप एव जप:, तत्प्रवृत्तिरेव व्रतम्, "कथा जप:", "शरीरप्रवृत्तिर्व्रतम्" इति शिवेन सूचितत्वात् । तस्मात् सर्वस्यापि शिवाक्षरचतुष्टयसंपन्नात् शिवम् । शि. म. पृ. सं. ३९

४.४.४ प्रमाता

यथार्थज्ञाता प्रमाता पद से अभिहित होता है । वीरशैवमत में प्रत्यक्ष प्रमा, अनुमिति प्रमा और शब्द प्रमा का ज्ञाता ही प्रमाता है । वस्तुत: परम प्रमाता तो परमशिव ही है किन्तु जीव भी स्थूलचिदचिद्रूपशक्ति से विशिष्ट होने कारण प्रमाता है । यहाँ पर स्थूल का तात्पर्य मलत्रय (आणव, मायीय और कार्म) की विशिष्टता से है । परशिवांश जीव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर विशिष्ट, त्यागाङ्ग, भोगाङ्ग और योगाङ्ग रूप से व्यपदिष्ट होता है । जीव का शरीर सुखदु:खादि भोगों का आयतन है । यह शरीर भी चतुर्विध है - जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज । इनमें जरायुज मनुष्यपश्वादि हैं, अण्डज पक्षीसर्पादि हैं, स्वेदज कृमिकीटादि हैं और उद्भिज वृक्षलतादि हैं । जीवात्मा ही उन उन प्रारब्ध कर्मों के तारतम्य के कारण ईश्वर की इच्छा से नियन्त्रित होते हुये भिन्न-भिन्न शरीर को प्राप्त करके इस संसार में सुखदु:खोपभोगी होकर निरन्तर संसरण करता रहता है । इस प्रकार भगवान् नियन्ता परमेश्वर ही पति है और उनके द्वारा नियुक्त शरीरभोगवाला जीव पशु है । उस भोगसाधनविषयकजाल को शैवागमों ने पाश कहा है । इस प्रकार पति-पाश-पशुरूप तीनपदार्थ के पर्यायवाचक शिव-जीव-मल रूप तीन पदार्थ का प्रतिपादक महापाशुपतव्रतरूप शिवाद्वैतमत का ही अपर अभिधान शैवागमों का प्रतिपादक है । इस प्रकार शिवाद्वैत और महापाशुपतमत में भेद नही है ।[304] जीव के विषय में सिद्धान्त-शिखामणि में कहा गया है -

सतीव रमणे यस्तु शिवे शक्तिं विभावयन् ।
तदन्यविमुख: सोऽयं ज्ञात: शरणनामवान् ॥[305]
पतिव्रताया यच्छीलं पतिरागात् प्रशस्यते ।
तथा शिवानुरागेण सुशीलो भक्त उच्यते ॥[306]

---

304 एवं परशिवांशोऽपि जीवो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूपावस्थात्रयनिबन्धनस्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरविशिष्ट-स्त्यागाङ्ग:, भोगाङ्ग:, योगाङ्ग: इति व्यपदिश्यते, अवस्थाभेदेन भेदस्वीकारात् तस्य शरीरं तु सुखदु:खा-दिभोगायतनम् तच्च चतुर्विधम्, जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जभेदात् तत्र जरायुजं मनुष्यपश्वादीनाम् अण्डजं पक्षिसर्पादीनाम् स्वेदजं कृमिकीटादीनाम् उद्भिज्जं च वृक्षलतादीनाम् जीवात्मनो हि तत्तत् प्रार-ब्धकर्मातारतम्यवशाद् ईश्वरेच्छानियन्त्रितत्त्वेन भिन्न-भिन्नशरीराणि संप्राप्य संसारेऽस्मिन्नसंसारे सुखदु:खो-पभोगिनो भूत्वा सततं संसरन्ति, अतो भगवतो नियन्तु: परमेश्वरस्य पतित्वम् तन्नियुज्यशरीर-भोगवतां जीवानां पशुत्वम् तद्भोगसाधनविषयजालस्य पाशत्वमाचक्षते शिवागमा: अत: पति-पशु-पाशरूपपदार्थ-त्रयपर्यायवाचकशिव-जीव-मलरूपपदार्थत्रयप्रति-पादकं महापाशुपतव्रतं शिवाद्वैतमतस्यैवा-पराभिधानमिति शिवागमानां सुगमा: पन्था: न वयं शिवाद्वैतमहापाशुपतमतयो: किञ्चिद् भेदं पश्याम: शि. प., द्वि. प्र., पृ. सं. ८

305 सि. शि. म., १३/५, पृ. सं.२९

306 वही

सम्प्रदायान्तर में प्रमाता और प्रमेय में भेद को स्वीकार नही करते हैं। जबकि लोकव्यवहार में प्रमाता और प्रमेय का भेद स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है। और ऐसा नही है कि व्यवसाय को प्रत्यनुव्यवसाय के प्रामाण्य के सदृश ही स्वीकार करना चाहिये। यह घट है यह वाक्य व्यवसाय है, 'मैंने इस घट का ज्ञान प्राप्त कर लिया' यह अनुव्यवसाय है। इस प्रकार व्यवसाय की विश्रान्ति व्यवसाता में होती है। व्यवसाता व्यवसाय करनेवाला होता है। जिस प्रकार हम कहते हैं कि 'यह घट है' उस प्रकार 'यह ज्ञान है' यह नही कहते हैं। घट विषय है अत: वह प्रमेय पदवी को प्राप्त करता है। व्यवसाय और अनुव्यवसाय दोनों ही घट (विषय) पर आधारित हैं। अनुव्यवसाय की व्यवसाय की प्रतिभा से घट (विषय) को आत्मसात करने के पश्चात् यह अनुभव होता है कि 'मैंने इस घट का ज्ञान प्राप्त कर लिया' इस प्रकार का ज्ञान होता है।) अन्यथा (यदि ऐसा न हो तो) घट में घटान्तर (घट के अतिरिक्त विषय तन्तु, पट आदि) का भी प्रामाण्य स्वीकार करना पड़ेगा। घट में घटत्व जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है अत: घट घटत्वावच्छिन्न होता है। घटत्वावच्छिन्न घट सर्वदा ही प्रमेय (विषय) है। कभी भी घट में घटत्व रहेगा ही। ऐसा कदापि नही होगा कि घट में घटत्व जाति नही रहे। यदि ऐसा नही होगा तो घट में घट के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं यथा तन्तु, पट आदि का भी ज्ञान उपस्थित हो जायेगा। घट की घटत्व जाति अन्य विषयों से उसे (घट को) व्यावर्तित करती है क्योंकि तुल्यता दो विषयों (घट-पटादि) में ही होगी। ज्ञान की विश्रान्ति ज्ञाता में होती है किन्तु यह ज्ञान कभी भी प्रमेय पद को प्राप्त नही करता है। यथार्थ ज्ञान को प्रमा या प्रमिति कहते हैं। प्रमा प्रमेय (विषय) पर अवलम्बित होती है। प्रमा के साधन या करण को प्रमाण कहते हैं। जिसको प्रमा का ज्ञान होता है उसे प्रमाता कहते हैं। इस प्रकार प्रमा, प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता यह विषय की चतुर्विध कोटियाँ परिगणित हैं। इस तथ्य के विषय में न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट कहते हैं :- प्रमाताप्रमाणंप्रमेयंप्रमितिरिति चतसृषु विधासु अर्थ-तत्त्वं परिसमाप्यते[307] अर्थात् प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति इन चार विधाओं के द्वारा अर्थतत्त्व का अभिज्ञान होता है।। इस प्रकार ज्ञान को प्रमेय नही कहा जा सकता। फलत: शिवाद्वैतमञ्जरीकार ने ज्ञाता में विश्रान्त ज्ञान में प्रमेय पद का अभाव माना है।

इस प्रकार सजातीय पदार्थों में विषयविषयिभाव संभव ही नही है। अन्यथा यह प्रमाण है और यह प्रमेय है इस प्रकार की व्यवस्था ही नही होगी। प्रमाणरूप प्रमिति की भी प्रमेयता को स्वीकार करने से। प्रमिति और प्रमाण इसको भी स्वीकार करने के कारण। ज्ञान की प्रक्रिया में त्रिविध विभाग होते हैं :- सजातीय, विजातीय और स्वगत। सजातीय भेद उसे कहते हैं एक ही वस्तु का नाम भिन्न होने से उसमें पृथक् जाति होती है। जैसे :- घटत्व का कलशत्व से भेद। विजातीय भेद उसे कहते हैं जिसमें स्वयं की जाति का दूसरी जाति से भेद होता है। जैसे :- वृक्षत्व का मनुष्यत्व से भेद। स्वगत भेद के अनुसार विषय के आभ्यन्तर में जो भेद होता है वह स्वगत पद से जाना जाता है। जैसे :- मनुष्य के शरीर में हस्त का पाद से भेद। प्रसङ्गानुकूल सजातीय पदार्थों में विषयविषयीभाव इसलिए सम्भव नही है क्योंकि

---

[307] न्या. म., पृ. सं. २३

घट विषय है और घट का ज्ञान करनेवाला विषयी है । दोनों का सम्बन्ध विषयविषयीभाव पद से अभिज्ञात होता है । घटत्वावच्छिन्न घट और कलशत्वावच्छिन्न कलश एक ही पदार्थ है । केवल अभिधान पृथक्-पृथक् है । एक ही पदार्थ का विषयी को पृथक्-पृथक् ज्ञान नही होगा । अत: यहाँ विषयविषयीभाव सम्भव ही नही है । प्रमाण और प्रमेय की व्यवस्था इसलिए बनायी गयी है जिससे विषय का स्पष्ट ज्ञान हो सके । नही तो प्रमाण और प्रमेय भिन्न ही नही होते । यदि प्रमाणरूप प्रमिति की भी प्रमेयता स्वीकार करते हैं तब भी प्रमाण और प्रमेय की व्यवस्था को स्वीकार करना पड़ेगा और यदि प्रमाण और प्रमिति को पृथक् मानते हैं तब भी प्रमाण-प्रमिति की व्यवस्था को शिरोधार्य करना पड़ेगा ।[308] ऐसे ही आत्मा का भी प्रमेयत्व संभव नही है, प्रमातृ होने से । अन्यथा उसके भी प्रमेयत्व में प्रमाता के अन्तर सापेक्ष होने से अनवस्था प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा, प्रमेय और प्रमाता में भेद उपस्थित होने से । जिस प्रकार ज्ञान का प्रमेयत्व सम्भव नही है वैसे ही आत्मा का भी प्रमेयत्व सम्भव नही है क्योंकि वास्तविक प्रमाता तो आत्मा है । यदि आत्मा को प्रमेय मान जाए तो आत्मा के प्रमेयत्व का ज्ञान किस प्रमाता को होगा ? इस प्रकार से अनवस्था दोष आ जाएगा । अत: यह निश्चित है कि प्रमाता और प्रमेय में भेद है ।[309]

४.५ वीरशैवदर्शन में आचारमीमांसा

आचारमीमांसा व्यवहार के लिये अत्यावश्यक है । न केवल बौद्धिक विलास के लिये अपितु जीवन यापन के लिये उचित आचरण का होना अत्यन्त आवश्यक है । कहा भी गया है कि ज्ञानी को आचारवान् होना चाहिये । सामान्यत: आचरण से ही मूर्ख और विद्वान् का अभिज्ञान होता है तथापि तत्त्वमीमांसा से तत्त्व का अभिज्ञान, प्रमाणमीमांसा से तत्त्व-मीमांसीय सम्बन्धी साधनों का अभिज्ञान और इन सबके द्वारा उनका अनुपालन ही आचार है । भारतीय संस्कृति में आचरण के कारण ही आचार्य पद का अत्यधिक महत्त्व है । आचार्य ज्ञान और कर्म का समन्वय होता है । आचारमीमांसा भी तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा की आधारभित्तिका है । कोई भी शिक्षा पद्धति व्यवहार का सुनियोजित सञ्चालन करने के

---

[308] न च व्यवसायं प्रत्यनुव्यवसायस्य प्रामाण्याङ्गीकारान्नायं नियम इति वाच्यम्, व्यवसायस्य व्यवसातरि विश्रान्तत्वेन ज्ञानस्य घटादिवत् कदापीदमित्यप्रतीयमानत्वेन सदा प्रमेय-पदवीमुत्तीर्णत्वात्, व्यवसायानुव्यवसाययोर्घटस्यैव विषयत्वात्, अनुव्यवसायस्य व्यवसाय-प्रतिभातघटहृदयङ्गमीभावरूपत्वात्, मया घटोऽयं ज्ञात इति । अन्यथा घटे घटान्तरस्यापि प्रामाण्यमङ्गीकरणीयं स्यात् । यदि घटत्वावच्छिन्नघटस्येदमिति सदा प्रमेयपदनिष्ठत्वेन कदापि तदुत्तीर्णताभावाद् घटे घटान्तरं न प्रमाणमिति चेदत्रापि तौल्यात्, ज्ञानस्य ज्ञातृप्रविश्रान्तत्वेन कदापीदमिति प्रमेयपदप्रविष्टत्वाभावादिति । तस्मात् सजातीयपदार्थयोर्विषयविषयिभावो न संभवत्येव । अन्यथा प्रमाणमिति, प्रमेयमिति व्यवस्थैव न स्यात्, प्रमाणरूपप्रमितेरपि प्रमेयताङ्गीकारात् । प्रमिति: प्रमाणमित्य-प्यङ्गीकृतत्वात् । शि. म. पृ. सं. ३६

[309] एवमात्मानोऽपि प्रमेयत्वं न संभवति, प्रमातृत्वात् । अन्यथा तस्यापि प्रमेयत्वे प्रमात्र-न्तरसापेक्षत्वेनानवस्थाप्रसङ्ग: स्यात्, प्रमेयप्रमात्रोर्भेदघटितत्वात् । वही, पृ. सं. ३७

लिये निर्मित की जाती है । तर्क कर्त धातु से निर्मित है । इसका काम कर्तन करना होता है, वह केवल विद्वानों के बौद्धिक विलास की वस्तु है । हमें किस साधन से ज्ञान की प्राप्ति हो रहा है, इससे अधिक यह जानना होता है वह ज्ञान हमारे व्यवहार के लिये कितना उपयोगी है । "ज्ञानं भार: क्रियां बिना" को समझे बिना ही यदि हम केवल साधन में ही उलझ कर रह जाये तो फिर वह ज्ञान हमारे व्यवहार के लिये भी अनुपयोगी हो जाएगा । वीरशैवमत जातिप्रथा का विरोध करता है । शिवसंस्कारसंपन्न व्यक्ति में जातिभेद करना मानव के लिये घातक है क्योंकि प्रत्येक मानव ही नही प्रत्येक कण शिवस्वरूप है और ऐसी स्थिति में मानव को वेदादि के ज्ञान से वञ्चित नही किया जा सकता है -

शिवसंस्कारसम्पन्ने जातिभेदो न विद्यते ।[310]

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रास्त्रियश्चाधिकारिण: ।[311]

आचार सभी का अलङ्कार है । आचारहीन पुरुष लोक में निन्दित होता है । आचार परम धर्म और परम धन है । आचारहीन ज्ञान सिद्धि की प्राप्ति नही कराता है । जिस प्राणी को परमसत्ता के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है वही शिवसंस्कार सम्पन्न है और उस व्यक्ति से जातिभेद करना पाप समझा जाता है । लिङ्गाङ्ग स्थल में लिङ्ग का तात्पर्य शिव तथा अङ्ग का तात्पर्य जीव होता है । इसके अवान्तर प्रभेद भी दृष्टिगोचर होते हैं । सिद्धान्तशिखामणि में आचार को अत्यधिक प्राथमिकता प्राप्त होती है । वीरशैवमत के महनीय ग्रन्थों में सिद्धान्तशिखामणि का अपूर्व स्थान है । इस ग्रन्थ को वीरशैवमतानुयायी धर्मग्रन्थ के रूप में स्वीकार करते हैं । इस प्रकार यह मानवीय मूल्यों का महान् धर्मग्रन्थ है । यह शिवाद्वैत का वह महान् ग्रन्थ है जो कि श्रीजगद्गुरुरेणुकाचार्य और महर्षि अगस्त्य के संवादात्मक स्वरूप में हैं । इसके प्रणेता शिवयोगी शिवाचार्य ने इसे ग्रन्थाकार स्वरूप प्रदान कर मानवता के लिये समर्पित किया है । यह एक विश्वप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है । भगवान् शिव प्रोक्त कामिकागम से लेकर वातुलागम तक अष्टाविंशति (२८) आगम सिद्धान्तागम कहे जाते हैं । इन शैवागमों के उत्तरभाग में वर्णित सिद्धान्त को वीरशैव सिद्धान्त कहा जाता है । इन शैवागमों के उत्तरभाग में वर्णित सिद्धान्तों के द्वारा ही वीरशैवमत प्रतिपादित हुआ है । यह सिद्धान्त श्रीशिवयोगी शिवाचार्य के लिये ग्रन्थ लेखन का आधार रहा है । ग्रन्थ के नामकरण में इन्होंने सभी सिद्धान्तों के मध्य वीरशैवमत को सर्वोच्च अर्थात् शिखा-आभूषण के रूप में सिद्धान्तत: प्रतिपादित किया है । यह सिद्धान्त भगवान् शिव द्वारा उपदेश स्वरूप प्रतिपादित किया गया है । भगवान् शिव के अनुग्रह स्वरूप यह ग्रन्थ निश्चय ही मानवता के लिये उपकारक है । अत: यह भगवान् शिव का अनुग्रह-ग्रन्थ ही है । इसलिये जो इस ग्रन्थ की पूजा करते हैं उन्हें यहाँ भोग प्राप्त होता है और कालान्तर में मोक्ष की भी प्राप्ति होती है, इस विषय को श्रीशिवयोगी शिवाचार्य ने ग्रन्थ के अन्त में फलश्रुति के रूप में बताया है । सिद्धान्तशिखामणि वीरशैवधर्म का धर्मग्रन्थ होने पर भी सम्पूर्ण मानवता के कल्याण के

---

[310] ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू. पृ. सं.२३

[311] वही पृ. सं.२७

साधना मार्ग को प्रशस्त करता है । अत: यह वैश्विक दर्शन का भी ग्रन्थ है । अत: काशी के ज्ञान-सिंहासन-पीठ द्वारा सम्पूर्ण मानव-जाति के कल्याण के लिये इसके धार्मिक-प्रयोग, काव्यशास्त्रीय प्रयोग, शिवयोग एवं दार्शनिक अभिज्ञान का उद्देश्य परिलक्षित किया गया है । इस पीठ के जगद्गुरु विश्वाराध्य जन कल्याण प्रतिष्ठान की अंग संस्था शैव भारती शोध प्रतिष्ठान के द्वारा श्रीसिद्धान्तशिखामणि का अनुवाद देशी एवं विदेशी भाषाओं में विविध विद्वानों के द्वारा कराया गया है और उसका प्रकाशन भी हो चुका है । वर्तमान में वीरशैवमत के आचरण और ग्रन्थ-पारायण की सुलभता के लिये कन्नड़, तेलगु, तमिळ, मलयालम, मराठी, उड़िया, हिन्दी, भोजपुरी, अवधी, मैथिली, गुजराती, नेपाली तथा रूसी भाषाओं में सिद्धान्तशिखामणि का अनुवाद हो चुका है और भविष्य में यह अनुवाद कार्य उर्दू तथा अन्य विदेशी भाषाओं में भी होने के लिये प्रस्तावित है । आजकल जो नवीन पीढ़ी है वो सारा ज्ञान अपने मोबाइल के द्वारा प्राप्त करना चाहती है । इसलिये काशी जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य ने इस श्रीसिद्धान्तशिखामणि का एक मोबाइल एप्प तैयार करवाया है । इस एप्प को तैयार करने में बैन्गुलुरु shaivashap.com के बी. टी. वीरेश, गोलसर इन्डिया टेक्नालॉजी प्रा. लि. कम्पनी के श्री बसवराज स्वामी और श्री विवेक का महान् योगदान प्राप्त हुआ है ।

४.५.१ पञ्चयज्ञ

यज्ञ का तात्पर्य कर्म से है, फलत: शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा गया है । यज्ञ ऐसा कर्म है जो भौतिक रूप से पर्यावरण की परिशुद्धि तो करता ही है, साथ ही आध्यात्मिक अर्थ में आत्मा-परमात्मा के संयोग का प्रमुख साधन है । वेदों में अग्नि को प्रमुख देवता के रूप में उपस्थित करने का कारण भी उनका यज्ञत्व सम्पादन ही है । वीरशैवमत में निम्नलिखित पञ्चयज्ञ प्रसिद्ध हैं -

तप: कर्म जपो ध्यानं ज्ञानं चेत्यनुपूर्वकं ।
पञ्चधा कथ्यते सद्भिस्तदेव भजनं पुन: ॥[312]

४.५.१.१ तप

जब भी हम कोई भी कार्य करना चाहते हैं, तब हमारे समक्ष द्विविध परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं । यथा - हानि-लाभ, उष्णता-शैत्य, जीवन-मरण, सुख-दु:ख, यश-अपयश आदि । इन परस्पर विरुद्ध परिस्थितियों में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सन्तुलन ही तप कहा जाता है । तपस्या का अपर अभिधान द्वन्द्वसहन है । इस प्रकार से शिव के लिये इस प्रकार का सन्तुलन वीरशैवमत में तप है ।

---

[312] ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू. पृ. सं. १८०

४.५.१.२ कर्म

प्रत्येक मनुष्य बिना कर्म के एक भी क्षण नही रहता है । वीरशैवमतानुसार इस प्रकार के कर्मों को दो प्रकार से विभाजित करते हैं - पतिकर्म और पशुकर्म । इनमें आकांक्षा से रहित कर्म पतिकर्म कहा जाता है और आकांक्षासहित कर्म पशुकर्म कहा जाता है । इन द्विविध कर्म में पतिकर्म को श्रेष्ठ माना गया है । इस कर्म में त्यागपूर्वक भोग की भावना निहित होती है । त्यागपूर्वक जीवन मनुष्य के लिये आवश्यक है । इस प्रकार से सम्पूर्ण कर्म शिव को समर्पित कर देना ही वीरशैवमत में कर्म है ।

४.५.१.३ जप

किसी भी कार्य की पूर्णता के लिये उसका अभ्यास आवश्यक है । अभ्यास के बिना विद्या भी विष सदृश हो जाती है । वह भौतिककर्म हो अथवा आध्यात्मिक कर्म सबके लिये अभ्यास आवश्यक है । इस प्रकार पञ्चाक्षर अथवा प्रणव का अभ्यास करना ही वीरशैवमत में जप है ।

४.५.१.४ ध्यान

अभ्यास के लिये आधार आवश्यक होता है और उस अभ्यासिक आधार के माध्यम से इष्ट के स्वरूपादि का ध्यान आवश्यक होता है । ध्यान कर्म में रूचि प्रकट करता है और मन को एकाग्र करने के लिये ध्यान सर्वश्रेष्ठ साधन है । इसलिये शिव के रूपादि का ध्यान करना वीरशैवमत में वास्तविक ध्यान है ।

४.५.१.५ ज्ञान

तप, कर्म, अभ्यास तथा ध्यान द्वारा शिवतत्त्व का ज्ञान ही लिङ्गसामरस्य की ओर प्रेरित करता है । साथ ही शिवतत्त्व से सम्बन्धित वेदागमादि शास्त्रों का अभिज्ञान भी आवश्यक है ।[313] इस प्रकार संक्षिप्त रूप में तप शिव के लिये शरीर का सम्यक् सन्तुलन, कर्म शिवपूजन, जप पञ्चाक्षर या प्रणव का अभ्यास, ध्यान शिव के रूपादि की ध्यान तथा ज्ञान शैवागमों के अर्थ का ज्ञान वीरशैवमतानुसार प्रसिद्ध हैं ।[314]

---

[313] ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू. पृ. सं. १८०

[314] वही

४.५.२ पञ्चाचार

वीरशैवमत में पञ्चयज्ञों के अतिरिक्त पञ्चाचार का भी सम्यक् अनुपालन होता है । तदनुसार लिङ्गाचार, सदाचार, शिवाचार, भृत्याचार और गणाचार ये पञ्चाचार कहे जाते हैं -

लिङ्गाचार: सदाचार: शिवाचारस्तथैव च ।

भृत्याचारो गणाचार: पञ्चाचारा: प्रकीर्तिता: ॥[315]

४.५.२.१ लिङ्गाचार

जीव का शिवस्वरूप प्राप्ति के लिये उपदिष्ट आचार लिङ्गाचार कहलाता है । शरीर से लिङ्गपूजन, मन से उनका चिन्तन, भावना से उनका निदिध्यासन ही लिङ्गाचार कहलाता है ।[316] गुरु के द्वारा शिवदीक्षामुख से दत्त लिङ्ग के अतिरिक्त और कोई देव इस पृथ्वी पर नही है इस भावना का जब भक्त के द्वारा अनुसन्धान किया जाता है तो वह लिङ्गाचार कहलाता है ।[317]

४.५.२.२ सदाचार

शिवभक्तों का सन्तोषप्रद आचरण ही सदाचार पद से अलङ्कृत होता है, जिसमें दान का अत्यधिक महत्त्व है ।[318] फलत: सदाचार अष्टशीलाढ्य है । वह सदाचार अङ्कुर, उत्पन्न, द्विदल, प्रवृद्ध, सप्रकाण्ड, सशाख, सपुष्प और सफल भेद से अष्टधा विभक्त है । इनमें गुरुकारुण्य से सुशोभित षडध्वन्यास से शोभित यह शरीर अप्राकृत है यह भाव बीजभूत अङ्कुर है । शिवदीक्षा से संयुक्त पत्न्यादि के साथ सहवास से उत्पन्न शील है । भस्मादि का बिना प्रमाद के धारण द्विदल शील है । शिवधर्म के महात्म्य का विभावन प्रवृद्ध शील है । इष्टलिङ्ग की बिना पूजा किये भोजन ग्रहण नही करना सप्रकाण्ड शील है । इष्टलिङ्ग को बिना अर्पित किये किसी भी द्रव्य को नही लेना सशाख शील है । शिवार्पितप्रसाद का परित्याग नही करना सपुष्पशील है । गुरु-लिङ्ग-जङ्गमों में एकत्व-भावना सफलशील है ।[319]

४.५.२.३ शिवाचार

पञ्चकृत्य से युक्त शिव ही परब्रह्म है, ऐसा चिन्तन ही शिवाचार कहलाता है । शिवशास्त्रोक्तमार्ग द्वारा द्रव्य, क्षेत्र और गृहादि षोडश की शुद्धि शिवाचार है । इनमें भक्त के हाथ में

---

315 सि. शि. म.स. पृ. सं.३८५

316 वही

317 ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू. पृ. सं. १८५

318 सि. शि. म. स. पृ. सं.३८५

319 ब्र. सू. श्री. प्र. भा., पृ. सं. १७९-१८०

फलमूलादि को भस्म के द्वारा शुद्ध करना द्रव्यशुद्धि है । नन्दिमुद्राङ्कित शिलाद्वारादि का परिशोभन क्षेत्रशुद्धि है । भक्तों के द्वारा निर्मित शिवलिङ्गाङ्कित वासस्थान गृहशुद्धि है । भक्तों के द्वारा निर्मित शिवलिङ्गाङ्कित भाण्ड भाण्डशुद्धि है । भस्म से संस्कृत तृणादि का ग्रहण तृणशुद्धि है । भस्म से संस्कृत काष्ठ का ग्रहण काष्ठशुद्धि है । भस्म से संस्कृत ताम्बूल का ग्रहण वीटिकाशुद्धि है । शिवदीक्षा से सम्पन्न भक्तों के द्वारा पकाया हुआ, अशिवभक्त के अनवलोकित भोज्य का ग्रहण पाकशुद्धि है । भैंसादि के घृत-दधि-दुग्ध को छोड़कर सर्वदा गव्य का ग्रहण करना ही रसशुद्धि है । काम्यकर्म का परित्याग करना भवशुद्धि है । सभी प्राणियों पर दयाभाव दर्शाना भूतशुद्धि है । सभी कामनाओं का परित्याग करके सर्वदा शिवभाव में संलग्न रहना भावशुद्धि है । मार्ग में पैरों से पिपीलिकादि की भी हिंसा न हो, इस प्रकार का गमन मार्गशुद्धि है । शास्त्रों से संशोधित निश्शब्द में शिवलिङ्ग की आराधना करना कालशुद्धि है । अनृत (मिथ्या), परुष (कठोर), कुत्स (अनुचित), बिभत्स (घृणास्पद), दांभिक (गर्वयुक्त) वाक् का परित्याग वाक्-शुद्धि है । आसन, शयन, यान, गोष्ठी सर्वत्र सर्वदा सद्भक्तजन की सङ्गति जनशुद्धि है ।[320]

४.५.२.४ गणाचार

भक्तगणों के द्वारा अनुष्ठीयमान आचार ही गणाचार कहलाता है, जिसमें अपने भगवान् की निन्दा करना और सुनना पाप माना जाता है । इसमें चतुषष्टि (६४) शील हैं -
इसमें वाचिक शील सप्तविध हैं - यथार्थभाषण प्रथम शील है । अप्रिय सत्य नही बोलना, असत्य प्रिय भी नही बोलना, केवल प्रिय और सत्य बोलना ही द्वितीय शील है । प्रतिदिन वेद, आगम, पुराणादि सत्-शास्त्रों का अध्ययन करना तृतीय शील है । शिव की, शिवभक्तों की विशेषत: गुरु की प्रशंसा करना चतुर्थ शील है । अन्यदेवताओं की मनुष्यों की अथवा प्राणियों की प्रशंसा का परित्याग करना पञ्चम शील है । आत्मस्तुति का परित्याग षष्ठ शील है । परनिन्दा नही करना सप्तम शील है ।[321]
हस्तगत शील पञ्चविध हैं - गुरु,जङ्गम तथा लिङ्गनस्कार करना प्रथम शील है । पूजा के परिकर का सम्पादन द्वितीय शील है । रुद्राक्षमाला के द्वारा मूलमन्त्र का प्रतिदिन जप तृतीय शील है । गुरु, लिङ्ग और जङ्गमों की प्रतिदिन आराधना चतुर्थ शील है । गुरु, जङ्गम और शिवधर्म के लिये यथाशक्ति दान पञ्चम शील है ।[322]
पादगत शील चतुर्विध हैं - गुरु, माहेश्वर के लिये अभिगमन प्रथम शील है । गुरु, माहेश्वर की भक्ति से प्रदक्षिणा करना द्वितीय शील है । पूजा परिकर सम्पादन के लिये गमन तृतीय शील है । इष्टलिङ्ग की पूजा के लिये स्थिर आसन चतुर्थ शील है ।[323] त्वक्-सम्बद्ध शील द्विविध हैं

---

[320] ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू., पृ. सं. १८६-१८७

[321] वही, पृ. सं. १८७-१८८

[322] वही,

[323] वही, पृ. सं. १८७-१८८

- नित्य इष्टलिङ्ग का अवियोग स्पर्श करना प्रथम शील है । इष्टलिङ्ग के स्पर्श से उत्पन्न रोमाञ्च समलङ्कृति द्वितीय शील है ।[324]

चक्षुर्गत शील द्विविध हैं - अश्रान्त और अनुरागसहित इष्टलिङ्ग का निरीक्षण करना प्रथम शील है । इष्टलिङ्ग के ईक्षण से उद्भूत आनन्द वाष्प का समुद्गम द्वितीय शील है ।[325] जिह्वागत एक शील है - प्रतिदिन निवेदित प्रसादीय का रसास्वाद करना । घ्राणगत शील एक है - निर्माल्य गन्धपुष्पादि के सुगन्ध का घ्राणन । श्रोत्रगत शील दो हैं - गुरु, शिव और भक्तों के स्तोत्रों का श्रवण करना प्रथम शील है । गुरु, शिव और भक्तों की निन्दा का श्रवण नही करना द्वितीय शील है ।[326]

शरीर की शुद्धिकरनेवाले शील पञ्चविध हैं - गुरु, इष्ट और चर के ही प्रसाद से शरीर की शुद्धि प्रथम शील है । निषिध विषयों के प्रति इन्द्रियों का निग्रह करना द्वितीय शील है । अस्पृश्य वस्तु के संस्पर्श करने पर जल से अथवा भस्म से स्नान करना तृतीय शील है । आसन, शयन और गोष्ठी में सांसारिक सम्बन्ध को वर्जित करना चतुर्थ शील है । विभूति, रुद्राक्ष और लिङ्ग का शरीर में धारण करना पञ्चम शील है ।[327]

मानसिक शील पञ्चत्रिंशत् (३५) हैं - निषिद्ध भोग के विषय में संकल्पराहित्य ब्रह्मचर्य का पालन करना प्रथम शील है । भक्ति में निरत कार्य को सम्पादित करना न कि प्राणिगत विषयों में रत कार्यों को सम्पादित करना द्वितीय शील है । क्रोध का अधर्म में निर्वाह करना, शत्रुओं में नही, तृतीय शील है । लोभ शिव की आराधना में करे, न कि धनादि में, चतुर्थ शील है । मोह भक्तजन में करे, न कि पत्नी और पुत्रादि में, पञ्चम शील है । मात्सर्य करण में ही हो न कि प्राणियों में इस प्रकार से अमात्सर्य षष्ठ शील है । माया के जय में मद करे न कि धर्म में और नही सम्पत्ति में इस प्रकार अमद ही सप्तम शील है । गुरु अथवा चर में गुणाणुण-विमर्श का परित्याग अष्टम शील है । प्राणियों के लिये किसी भी प्रकार की बाधा और हिंसा नही करना इस प्रकार से अहिंसा ही नवम शील है । दया प्राणियों और दु:खियों पर दिखाना दशम शील है । क्रिया और वचन में दूसरों से अथवा स्वयं से आर्जव एकादश शील है । शत्रु और पुत्र में भी विषमता का परित्याग करना द्वादश शील है । गुरु द्वारा कथित निगमागम वचन में विश्वास त्रयोदश शील है । विपत्ति में अथवा कष्ट में धर्म का परित्याग नही करना अर्थात् धैर्य धारण करना चतुर्दश शील है । शत्रुओं में और अपकारियों में भी दोष नही होने पर क्षमा पञ्चदश शील है । मानसिक रूप से भोगासक्ति से च्युत होना षोडश शील है । क्रिया अथवा वचन में प्रमादरहितस्थितिवाली बुद्धि सप्तदश शील है । शिवान्य वस्तु का संकल्पवर्जन रूप दम अष्टादश शील है । परद्रव्य का अपरिग्रह अस्तेय एकोनविंशति शील है । अलब्धवस्तुविषयव्यसनाभावरूप सन्तुष्टि विंशति शील है । नित्य परमेश्वर के नाम रूप का स्मरण एकविंशति शील है । शम्भुनाम के गुणादि का निरन्तर चिन्तन द्वाविंशति चिन्तन है । सर्वदा शम्भु के पदसंवाहनादि की भावना त्रयोविंशति शील है । शम्भु के आवहनादि के द्वारा

---

[324] ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू., पृ. सं. १८७-१८८

[325] वही पृ. सं. १८९

[326] वही १८९-१९०

[327] वही

मानसिक अर्चना चतुर्विंशति शील है । शम्भु के चरणकमलों में नित्य मानसिक प्रणाम पञ्चविंशति शील है । शम्भु का मन से किङ्कररूप दास्यभावना षड्विंवशति शील है । शम्भु कल्याणरूप के साथ सख्यभावन सप्तविंशति शील है । बन्धमोचन भार का ईश्वर के प्रति समर्पण अथवा आत्मार्पण अष्टाविंशति शील है । मूलमन्त्र का सर्वदा मन से जप उनत्रिंशत् शील है । शम्भु के दिव्यरूपानुसन्धान का ध्यान त्रिंशत् शील है । तैलधारा के सदृश अविच्छिन्न जिसको धारण किया जाता है वह धारणा है और यह एकत्रिंशत् शील है । निर्वातदीप के सदृश ध्यान में मन की स्थिति समाधि द्वात्रिंशत् शील है । शिव की सोऽहं भाव से ध्यान करते हुये उसका इन्द्रियमुख से ही स्वीकार करना त्रयत्रिंशत् शील है । महेश के अपरिच्छिन्नरूप का अनुसन्धान चतुर्त्रिंशत् शील है । देव के अनन्तरूप में निजरूप की भावना करते हुये शिवानन्द के कारण आत्मा को विस्मृत करते हुये अचल रहना पञ्चत्रिंशत् शील है ।[328] इस प्रकार गणाचार के अन्तर्गत चतुषष्टि शील का पालन वीरशैवमतानुयायियों को करना चाहिये । जो ऐसा करता है वह शिव ही हो जाता है । इनका निरन्तर अभ्यास करने से शिवसायुज्य की प्राप्ति होती है ।[329]

४.५.२.५ भृत्याचार

सभी जनों का मैं दास हूँ, ऐसी भावना ही भृत्याचार कहालाती है । भृत्यभाव तथा वीरभृत्यभाव रूप से यह आचार भी द्विविध होता है । सबकी सेवा करना भृत्यभाव तथा सर्वस्वसमर्पण वीरभृत्यभाव कहलाता है ।[330] गुरु, लिङ्ग और जङ्गमों के प्रति किंकराचरण भृत्यभाव और गुरु (देशिक) के लिये शरीर, शम्भु (लिङ्ग) के लिये चित्त और जङ्गम को धन समर्पित करके दासोऽहं[331] भावना से रहना वीरभृत्यभाव है ।[332]

४.५.३ अष्टावरण

"आव्रियते देहादिकं येन तत् आवरणम्"[333] अर्थात् जिससे देहादि को आवृत्त किया जाता है उसे आवरण कहते हैं । तदनुसार स्वरूप का आच्छादन और रक्षा का कवच आवरण पद का निहितार्थ है । वेदान्तशास्त्र में अज्ञान की दो शक्तियाँ स्वीकृत हैं - आवरण और विक्षेप शक्ति । सांख्यशास्त्र में भी पञ्चावरणों को स्वीकार किया गया है - प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार,

---

328 ब्र. सू. श्री. प्र. भा., भू., पृ. सं. १८९-१९१

329 यश्चतुष्षटिशीलाढ्य: शिव एव न चापर: एतदभ्यासयोगेन शिवसायुज्यमश्नुते ॥ वही, पृ. सं. १९१

330 सि. शि. म.स. पृ. सं.३८५ - ३९३

331 शरीरादिपादार्थाश्च दत्वा दानं समर्पणम् समर्प्य सोऽहमस्मीति दासोऽहम्भाव उच्यते ॥ ब्र. सू. श्री. प्र. भा., भू., पृ. सं. १८४

332 मुक्तिमेव परां कांक्षमाणो यदवतिष्ठते तन्मतं वीरभृत्यत्वं शिवानुग्रहसाधनम् ॥ वही, पृ. सं. १९१

333 वी. शै. अ. वि., पृ. सं. २

पंचतन्मात्रायें, पञ्चमहाभूत । ये पूर्व-पूर्व के स्वरूप के आवरक होते हैं । योगशास्त्र में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि अष्टावरण हैं । ये देह, मन तथा बुद्धि की सुरक्षा करके परमतत्त्व के साक्षात्कार में सहायक होते हैं । इसी प्रकार वीरशैवमत में अष्टावरण की प्रसिद्धि है -

भस्म रुद्राक्षकं लिङ्गं गुरुर्मन्त्रं तथा चर: ।

पादोदकं प्रसादश्च शैवावष्टावरणानि हि ॥[334]

वीरशैवमत में आठ प्रकार के रक्षा कवचों को अष्टावरण पद से अभिहित किया गया है । वे हैं - गुरु, लिङ्ग, जंगम, विभूति, रुद्राक्ष, मन्त्र, पादोदक और प्रसाद । चन्द्रज्ञानागम में गुरु, लिङ्ग, जंगम, पादोदक, प्रसाद, विभूति, रुद्राक्ष और मन्त्र यह क्रम उपलब्ध होता है ।[335]

४.५.३.१ गुरु

प्रथम आवरण गुरु है । जगत् में भटकनेवाले शिष्य को दीक्षा प्रदान कर काम-क्रोधादि वृत्तियों से रक्षा करता है । गुरु अपनी समस्त शक्तियों से शिष्य के लिये एक सुदृढ़ रक्षा-कवच का निर्माण करके आवरण पद से अभिहित होता है ।[336]

४.५.३.२ लिङ्ग

लिङ्ग दूसरा आवरण है । यह इष्टलिङ्ग, प्राणलिङ्ग तथा भावलिङ्ग भेद से त्रिविध हो जाता है । वीरशैवमतानुयायी अपने गुरु के उपदेश से मन और बुद्धि में भगवान् के अस्तित्व को प्राणलिङ्ग तथा भावलिङ्ग के रूप में जानते हुये क्रियादीक्षा में प्राप्त इष्टलिङ्ग को अपने स्थूल शरीर के उर:स्थल में सर्वदा धारण करके स्थूल शरीर से इष्टलिङ्ग की पूजा तथा मन और बुद्धि से प्राणलिङ्ग एवं भावलिङ्गों का निरन्तर अनुष्ठान करता हुआ पने त्रिकरण को परिशुद्ध कर लेते हैं । ये त्रिविध लिङ्ग उपासना के माध्यम से साधक को अध:पतन से बचाते हैं । फलत: वीरशैवाचार्यों ने लिङ्ग को दूसरा आवरण माना है ।[337]

४.५.३.३ जंगम

---

[334] ब्र. सू. श्री. प्र. भा. पृ. सं.१८१

[335] वी. शै. अ. वि., पृ. सं. २

[336] वही, पृ. सं. V

[337] वही

जंगम तीसरा आवरण है । इसका अर्थ है शिवज्ञान सम्पन्न महापुरुष । समाज में भक्त और साधकों को अपने आचरण एवं आत्मज्ञान का बोध कराकर उन्हें पतित होने से बचानेवाले एक महापुरुष की नितान्त आवश्यकता होती है । इस आवश्यकता की पूर्ति करनेवाला वीरशैवमत में जंगम पद से अभिहित होता है । यह जीवन्मुक्त महापुरुष जंगम शिष्य के रक्षा-कवच के रूप में तीसरा आवरण माना गया है ।[338]

४.५.३.४ भस्म

भस्म चौथा आवरण है । देशी गाय के शुद्ध गोमय से भस्म तैयार किया जाता है । इसके निर्माण की विधि कल्प, अनुकल्प, उपकल्प और अकल्प नाम से चतुर्विध है । इनमें कल्पविधि से तैयार भस्म श्रेष्ठ माना जाता है । शिवभक्त नित्य, नैमित्तिक, काम्य तथा प्रायश्चित्तादि कर्म करते समय ललाट आदि पंद्रह स्थानों में भस्मधारण करते हैं । इसका विस्तृत विधान सिद्धान्तशिखामणि में बताया गया है । गोमय से बने भस्म में विविध चर्मरोगों के निवारण की शक्ति बतायी गयी है । निरुपाधिभस्मरूपी शिव का चिन्तन करने से चित्त परिशुद्ध रहता है । भस्म भक्तों के बाह्य शारीरिक चर्मरोगों तथा आन्तर विषय-वासनाओं से रक्षा करने में साधना मार्ग में सहायक होता है ।[339]

४.५.३.५ रुद्राक्ष

पाँचवा आवरण रुद्राक्ष है । रुद्रनेत्र से समुत्पन्न होने के कारण इनको रुद्राक्ष कहा जाता है । शिव के सूर्यनेत्र से कपिलवर्ण के द्वादश, चन्द्रनेत्र से शुभ्र वर्ण के षोडश, अग्निनेत्र से कृष्णवर्ण के दस इस प्रकार कुल अष्टत्रिंशत् (३८) प्रकार के रुद्राक्ष होते हैं । ये रुद्राक्ष एक से चतुर्दशमुख वाले होते हैं । इनके धारण करने से रक्तचाप, हृदयविकार आदि भयानक रोग के निवृत्त होने का वैज्ञानिक प्रमाण प्राप्त होता है । रुद्राक्ष के शरीर पर रहने से किसी दुष्टशक्ति की दृष्टि का विपरीत प्रभाव हमारे ऊपर नही पड़ता है । रुद्राक्ष साधक के बाह्य तथा अन्तरंग की परिशुद्धि करके उसकी रक्षा करता है, अत: यह भी पञ्चम आवरण रूप है ।[340]

४.५.३.६ मन्त्र

---

[338] वी. शै. अ. वि. पृ. सं. V

[339] वही

[340] वही

छठा आवरण मन्त्र है । जिसके मनन से मनुष्य की रक्षा होती है वह मन्त्र है ।[341] शास्त्रों में मन्त्रों की संख्या ७ करोड़ है । वीरशैवमतानुसार इनमें पञ्चाक्षर मन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ है । इससे शिव-जीवैक्य ज्ञान भी साधक को प्राप्त हो जाता है । मन्त्र से साधक की रक्षा होने से यह भी आवरण रूप ही है ।[342]

४.५.३.७ पादोदक

सातवां आवरण पादोदक है । गुरु, लिङ्ग तथा जङ्गम के चरणामृत को ही पादोदक कहा गया है । पादोदक परमज्ञान को देनेवाला, दोषों का नाश करनेवाला, पुनर्जन्म को दग्ध करनेवाला तथा सर्वविध दुष्ट कर्मों का नाश करनेवाला होता है । जिस प्रकार जल के सिंचन से वृक्ष वृद्धि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार नित्य गुरु, लिङ्ग तथा जङ्गम के पादोदक सेवन से भक्ति की वृद्धि होती है । साधक के दोषों को हटाकर उसे सन्मार्ग में प्रवृत्त् करने के कारण पादोदक भी आवरण है ।[343]

४.५.३.८ प्रसाद

आठवां आवरण प्रसाद है । मन की प्रसन्नता ही प्रसाद कहलाता है । गुरु, लिङ्ग तथा जंगम को अर्पण करने के पश्चात् अवशिष्ट को भी प्रसा कहा गया है, उसके सेवन से मन प्रसन्न हो जाता है । प्रसादों के सेवन से मन भी परिशुद्ध हो जाता है । यह मन की शुद्धिकरण के द्वारा हमारी रक्षा करता है ।[344]

यह अष्टावरण बहिरंग तथा अन्तरंग भेद से द्विविध होता है । जो हमें परमज्ञान देता है तथा पाशबन्धन से मुक्त करता है वह बहिरंग गुरु है । उसके द्वारा प्राप्त नैतिक ज्ञान अन्तरंग गुरु है । जिस स्थल में यह चराचर जगत् लय को प्राप्त होता है तथा पुन: पुन: समुत्पन्न होता है वह शाश्वत ब्रह्म ही लिङ्ग है । यह त्रिविध होता है - इष्टलिङ्ग, प्राणलिङ्ग तथा भावलिङ्ग । इनमें इष्टलिङ्ग बहिरंग तथा प्राणलिङ्ग और भावलिङ्ग अन्तरंग आवरण है । शिव के प्रकाश से यह सम्पूर्ण विश्व भासमान है, जङ्गम महापुरुष के द्वारा प्रदत्त यह ज्ञान अन्तरंग चर या जङ्गम पद से अभिहित होती है । बहिरंग भस्म में भस्म, विभूति, भसित, क्षार तथा रक्षा इन पञ्चनाम से युक्त भस्म का तात्पर्य है - परिशुद्ध गोमय से उत्पादित विभूति । अन्तरंग भस्म महाभस्मरूपी शिव का मन में चिन्तन करना ही अन्तरंग चिद्भस्मधारण कहलाता है । रुद्र नेत्र से समुत्पन्न होने के कारण इनको बहिरंग रुद्राक्ष कहते हैं । रुद्रदृष्टि को

---

341 मननात् त्राणधर्माऽसौ मन्त्रोऽयं परिकीर्तित:, वी. शै. अ. वि. पृ. सं. V

342 वही

343 वही

344 वही

प्राप्त कर लेना अर्थात् सबमें रुद्रत्व का दर्शन करना अन्तरंग रुद्राक्ष है। पञ्चाक्षर या प्रणव की उपासना ही बहिरंग मन्त्र है। मन्त्र जप से होनेवाला ऐक्य ज्ञान ही अन्तरंग मन्त्र आवरण है। बहिरंग पादोदक में गुरु, लिङ्ग तथा जङ्गम की पादपूजा से प्राप्त जलविशेष होता है। जबकि अन्तरंग पादोदक में पाद का तात्पर्य परमानन्द तथा उदक का तात्पर्य ज्ञान है। बहिरंग प्रसाद का अर्थ है गुरु, लिङ्ग तथा जंगमों का भुक्तावशेष अन्न । उस प्रसाद सेवन के सेवन करने से जो मन में प्रसन्नता उत्पन्न होती है, वह अन्तरंग प्रसाद है।[345]

४.५.४ षड्स्थल

अद्वितीय, सच्चिदानन्दात्मक, परब्रह्मशिवतत्त्व को ही शिवाचार्य भक्तिपूर्वक स्थल अभिधान से व्यवहार करते हैं।[346] जो महत्, बुद्धि और अहंकार आदि समस्त मूल तत्त्व शिवात्मक परब्रह्म से प्रादुर्भूत होते हैं और प्रलयावस्था में उसी शिवतत्त्व में ही विलीन हो जाते हैं। अत: अद्वितीय, सच्चिदानन्दात्मक, परब्रह्मशिवतत्त्व को स्थल कहा जाता है।[347] प्रकृति और पुरुष के संयोग से आविर्भूत स्थावरजङ्गमात्मक जगत् स्थिति की अवस्था में शिवतत्त्व में ही निवास करता है और लयावस्था में पुन: उसी में लय को प्राप्त करता है अत: उस शिवतत्त्व को स्थल कहा जाता है।[348] स्थ का तात्पर्य स्थान तथा ल का तात्पर्य लय होता है। अत: सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारणभूत तत्त्व स्थल नाम से जाना जाता है।[349] चराचरात्मक समस्त जगत् के सृष्टि, स्थिति और लय का जो आधारभूत परमतत्त्व है, वह स्थल है।[350] समस्त शक्तियों का, समस्त ज्योतियों का, समस्त नक्षत्रादिकों का तथा समस्त जीवों का आधारभूत परापरात्मक शिवतत्त्व को विद्वानों के द्वारा स्थल कहा जाता है।[351] जो परब्रह्मात्मकशिवतत्त्व समस्त प्राणियों, निखिलसम्पदाओं का तथा यथावस्थित समस्त लोकों का आधारस्थल है, उस शिवतत्त्व को शिवाचार्य अक्षयस्थल कहते हैं। ।[352] उत्तममोक्ष के

---

345 सि. शि. म. स. पृ. सं.३६८-३८४

346 एकमेव परं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम्
शिवतत्त्वं शिवाचार्या: स्थलमित्याहुरादरात् ॥ अ. सू. २/२

347 सर्वेषां स्थानभूतत्त्वाल्लयभूतत्त्वतस्तत:
तत्त्वानां महदादीनां स्थलमित्यभिधीयते ॥ वही २/३

348 यत्रादौ स्थीयते विश्वं प्राकृतं पौरुषं तथा
लीयते पुनरन्ते च स्थल तत्प्रोच्यते तत: ॥ वही २/४

349 स्थकार: स्थानवाची स्याल्लकारो लयवाचक:
तयो: कारणभूतं यत् तदेव स्थलमुच्यते ॥ वही २/५

350 अधिष्ठानं समस्तस्य स्थावरस्य चरस्य च
जगतो यद् भवेत्तत्त्वं तद्धि वै स्थलमुच्यते ॥ वही २/६

351 आधारं सर्वशक्तीनां ज्योतिषामखिलात्मनाम्
यत् तत्त्वं भवति प्राज्ञै: स्थल तत्परिगीयते ॥ वही २/७

352 आलय: सर्वभूतानां लोकानां सर्वसम्पदाम्

अभिलाषी साधकों का जो उत्तमस्थान है ; उस अद्वैतपद को ही शिवज्ञान में तत्पर विद्वान् स्थल कहते हैं ।[353] परब्रह्मात्मकशिवतत्त्व से संयुक्त मायाशक्ति के क्षोभ के कारण पूर्वोक्त शिवात्मक स्थल दो प्रकार का होता है - लिङ्गस्थल तथा अङ्गस्थल ।[354] जैसे आकाशतत्त्व व्यापक होकर भी मठाकाश तथा घटाकाश के भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही शिवतत्त्वात्मक स्थल के लिङ्ग तथा अङ्ग दो भेद हो जाते हैं । उस परतत्त्वात्मक शिव स्थल की शिव, रुद्र इत्यादि संज्ञायें हैं । शिवतत्व उपास्य उपासक रूप से दो प्रकार का होता है ।[355] लिङ्गस्थल उपास्य तथा अङ्गस्थल उपासक कहा जाता है ।[356] जैसे स्थल द्विप्रकारक होता है, वैसे ही शक्ति भी दो प्रकार की होती है - लिङ्गस्थलाश्रिताशक्ति तथा अङ्गस्थलाश्रिताशक्ति । लिङ्गस्थलाश्रिता शक्ति को कला कहा जाता है तथा अङ्गस्थलाश्रिता शक्ति को संसारार्णवतारिणी भक्ति के नाम से जाना जाता है ।[357]

वीरशैवमत में षट्स्थलसिद्धान्त प्राणसदृश दृष्टिगोचर होता है । लिङ्गपुराण, पारमेश्वरागम तथा अनुभवसूत्र आदि ग्रन्थों में षट्स्थल सिद्धान्त का परिचय प्राप्त होता है । सिद्धान्त-शिखामणि में यह कहा गया है कि वीरशैवों के छ: भेद होते हैं ।[358] इसी ग्रन्थ में सर्वप्रथम षट्स्थल के अवान्तरभेदों का भी वर्णन दृष्टिगोचर होता है । इस सिद्धान्त में स्थूल जगत् से लेकर सूक्ष्म पर्यन्त सभी तत्त्वों का सम्यक् दिग्दर्शन होता है । श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव, आनन्द तथा समरसभक्ति से युक्त यह ज्ञान सङ्कुचित ज्ञान का निवारण करता है और क्रियाशक्ति की सहायता से जीवात्म का क्रमश: भक्त, माहेश, प्रसादी, प्राणलिङ्गी, शरण तथा ऐक्यरूप षट्स्थल के माध्यम से साक्षात् शिवत्व को प्राप्त कराता है या अनुभव कराता है । ये षट्स्थल हैं - भक्तस्थल, माहेश्वरस्थल, प्रसादिस्थल, प्राणलिङ्गिस्थल, शरणस्थल, ऐक्यस्थल ।[359] इनका क्रमश: संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है -

---

यद् भवेत्परमं ब्रह्म स्थल तत्प्राहुरक्षरम् ॥ अ. सू. २/८

353 परनिर्वाणनिष्ठानां यद् भवेत् परमं पदम्
तदाहु: स्थलमद्वैतं शिवज्ञानैकतत्परा: ॥ वही २/९

354 स्वशक्तिक्षोभमात्रेण स्थल तद् द्विविधं भवेत्
एकं लिङ्गस्थल प्रोक्तमन्यदङ्गस्थल स्मृतम् ॥ वही २/१०

355 लिङ्गोपाधिभेदेन द्विधा भिन्नं परस्परम्
महान् घटप्रभेदेन यथाकाश: प्रतीयते ॥
प्रतीयते तथा चैव स्थल लिङ्गाङ्गभेदत:
स्थल नाम परं तत्त्वं शिवरुद्रादिसंज्ञकम् ॥ वही २/११-१२

356 उपास्योपासकत्वेन स्वयमेव द्विधा भवेत्
लिङ्गस्थलमुपास्यं स्यादङ्गस्थलमुपासकम् ॥ वही २/१३

357 यथा स्थल द्विधाभूतं तथा शक्तिर्द्विधा भवेत् । वही २/१९
लिङ्गस्थलाश्रया शक्ति: कलारूपा प्रकीर्तिता ॥
अङ्गस्थलाश्रया शक्तिर्भक्तिरूपा भवापहा ॥ वही २/२२-२३

358 वीरशैवास्तु षट्भेदा: स्थलधर्मविभेदत:
भक्तादिव्यवहारेण प्रोच्यन्ते शास्त्रपारगै: ॥ सि. शि. म., ५/२२

359 आदौ भक्तस्थल प्रोक्तस्ततो माहेश्वरस्थलम्

४.५.४.१ भक्तस्थल[360]

यह बीजवृक्षन्यायस्थल कहा जाता है। परशिव के शक्तिपात के द्वारा शिवदीक्षित साधक में बीजरूप में समाविष्ट श्रद्धा नामक शक्ति शरीर के अभिमान को दूर करती है और अष्टावरण तथा पञ्चाचार में जीव की प्रवृत्ति प्रकटित करता है तथा उसका सम्पादन भी करता है। सृष्टि में जैसे मानव घृत की प्राप्ति के लिये दधि का मन्थन करता है, उसी प्रकार जीव भी स्वरूपज्ञान के लिये प्रेमरूप हो जाता है और यही श्रद्धा (प्रेम) ही भक्तस्थल है।[361] इस स्थल के पन्द्रह अवान्तर भेद कहे गये हैं -पिण्डस्थल, पिण्डज्ञानस्थल, संसारहेयस्थल, दीक्षाप्राप्तिरूपगुरुकारुण्यस्थल, लिङ्गधारणस्थल, विभूतिधारणस्थल, रुद्राक्षधारणस्थल, पञ्चाक्षरजपस्थल, भक्तमार्गक्रियास्थल, उभयस्थल (गुरुशिवलिङ्गपूजारूपोभयस्थल), त्रिविधसम्पत्तिस्थल, चतुर्विधसारायस्थल, सोपाधिदानस्थल, निरुपाधिदानस्थल तथा सहजदानस्थल। पुन: भक्तस्थल के गुण के अनुसार अवान्तर नवभेद और कहे गये हैं - दीक्षागुरुस्थल, शिक्षागुरुस्थल, प्रज्ञागुरुस्थल, क्रियालिङ्गस्थल, भावलिङ्गस्थल, ज्ञानलिङ्गस्थल, स्वयंस्थल, परस्थल तथा चरस्थल।[362]

४.५.४.२ माहेश्वरस्थल[363]

यह सलिलमुक्तान्यायस्थल है। जिस प्रकार स्वाती नक्षत्र में जलबिन्दु घनीभूत होकर नियतहरण काल में मौक्तिक हो जाते हैं, उसी प्रकार ईश्वराभिमुखी श्रद्धाभक्ति चित्तस्थैर्यरूप के द्वारा घनीभूत होकर निष्ठारूप में परिणत होकर दृढ हो जाती है। यही निष्ठा ही माहेश्वरस्थल है।[364] इस स्थल के नव अवान्तर भेद कहे गये हैं - माहेश्वरप्रशंसास्थल, लिङ्ग-निष्ठास्थल, पूर्वाश्रयनिरासस्थल, अद्वैतनिराकृतिर्स्थल, आह्वानवर्जनस्थल, अष्टमूर्तिनिरा-कृतिर्स्थल, सर्वगत्वनिरासस्थल, शिवजगन्मयस्थल तथा भक्तदेहिकलिङ्गस्थल। फिर

प्रसादिस्थलमन्यत्तु प्राणलिङ्गस्थल तत: ॥ सि. शि. म., ५/२४
भक्तो माहेश्वरश्चैव प्रसादी प्राणलिङ्गक:
शरण: शिवलिङ्गैक्य: स्थलषट्कं मम प्रियम् ॥ पा. आ., ६/८

360 शैवी भक्ति: समुत्पन्ना यस्यासौ भक्त उच्यते
तस्यानुष्ठेयधर्माणां मुक्तिर्भक्तस्थल मतम् ॥ सि. शि. म., ५/२६

361 गुरौ च जङ्गमे लिङ्गे तारतम्यविशेषत:
पूजयेत् त्रिविधं रूपं तद्भक्तस्थलमुच्यते ॥ पा. आ., ६/९

362 सि. शि. म., पृ. सं. २७६

363 केवले सहजे दाने निष्णात: शिवतत्पर:
ब्रह्मादिस्थानविमुखो भक्तो माहेश्वर: स्मृत: ॥ वही, १०/२

364 यो गुरुक्तेन मार्गेण लिङ्गपूजारत: सदा
जङ्गमानर्चयेच्छक्त्या स हि माहेश्वर: स्मृत: ॥ पा. आ., ६/१३

माहेश्वरस्थल के गुण के अनुसार अवान्तर नवभेद और कहे गये हैं - क्रियागमस्थल, भावागमस्थल, ज्ञानागमस्थल, सकायस्थल, अकायस्थल, परकायस्थल, धर्माचारस्थल, भावाचारस्थल तथा ज्ञानाचारस्थल ।[365]

४.५.४.३ प्रसादिस्थलम्[366]

यह अनलकाष्ठन्यायस्थल है । जिस प्रकार काष्ठ में व्याप्त अग्नि सम्पूर्ण काष्ठ को भस्मीभूत करता है, उसी प्रकार ईश्वर के प्रेम के द्वारा एकीभूय साधक के अन्त:करण को व्याप्त करके शब्दस्पर्शादि विषयों में स्रकचन्दनादि को रुद्ध करके उसमें प्रसन्नता को उत्पन्न करता है । तब उस साधक में मन: प्रसाद होता है ।[367] जिसका कारणस्वरूप ईश्वरावधान ही प्रसादी स्थल है । इस स्थल के सप्त अवान्तर भेद कहे गये हैं - प्रसादिस्थल, गुरुमाहात्म्यस्थल, लिङ्गप्रशंसास्थल, जङ्गमगौरवस्थल, भक्तमाहा-त्म्यस्थल, शरणकीर्तनस्थल तथा शिवप्रसादमाहात्म्यस्थल । पुन: प्रसादी स्थल के गुण के अनुसार नव अवान्तर भेद भी सिद्धान्तशिखामणि में कहे गये हैं - कायानुग्रहस्थल, इन्द्रियानुग्रहस्थल, प्राणानुग्रहस्थल, कायार्पितस्थल, करणार्पितस्थल, भवार्पितस्थल, शिष्यस्थल, सुश्रुषुस्थल तथा सेव्यस्थल ।[368]

४.५.४.४ प्राणलिङ्गिस्थल[369]

यह भ्रमरकीटन्यायस्थल है । जैसे कीट भ्रमर के संयोग से भ्रमर सदृश हो जाता है, वैसे ही भक्त शिव के साहचर्य से शिवसदृश हो जाता है । इस स्थल में भक्त शिवानुभवी होता है । यह अनुभव प्राणलिङ्गी स्थल है ।[370] इस स्थल के पाँच अवान्तर भेद कहे गये हैं - प्राणलिङ्गिस्थल, प्राणलिङ्गार्चनस्थल, शिवयोगसमाधि-स्थल, निजलिङ्गस्थल तथा अङ्गलिङ्गिस्थल । पुन: प्राणलिङ्गी स्थल के गुण के अनुसार नव अवान्तर भेद कहे गये हैं -

---

365 सि. शि. म., पृ. सं. २९९

366 लिङ्गनिष्ठादिभावेन ध्वस्तपापनिबन्धन:
मन:प्रसादयोगेन प्रसादीत्येष कथ्यते ॥ वही ११/२

367 योऽनार्पितं महेशानि नार्चयित्वापि जङ्गमान् ।
नाश्नाति न त्यजेन्मह्यमर्पितं कृच्छ्रगोऽपि वा ॥
सोऽयं प्रसादी कथित: सोऽहमेव न संशय: ॥ पा. आ., ६/१७-१८

368 सि. शि. म., पृ. सं. ३२६

369 लिङ्गं चिदात्मकं ब्रह्म तच्छक्ति: प्राणरूपिणी
तद्रूपलिङ्गविज्ञानी प्राणलिङ्गीति कथ्यते ॥ वही १२/३

370 यथा प्राणे तथा लिङ्गे यथा लिङ्गे तथा शिवे
प्राणलिङ्गशिवेष्वेकबुद्धिमान् प्राणलिङ्क: ॥ पा. आ., ६/२०

आत्मस्थल, अन्तरात्मस्थल, परमात्मस्थल, निर्दे-हागमस्थल, निर्भावागमस्थल, नष्टागम-स्थल, आदिप्रसादिस्थल, अन्त्यप्रसादिस्थल तथा सेव्यप्रसादिस्थल ।[371]

४.५.४.५ शरणस्थल[372]

यह सतिपतिन्यायस्थल है । यहाँ पर विद्यमान भक्ति आनन्दभक्ति कही जाती है । भक्त परमशिव के शरणागत होने से आनन्दित होता है तथा यह आनन्द ही शरण स्थल है ।[373] इस स्थल के चार अवान्तरभेद कहे गये हैं - शरणस्थल, तामस-निरसनस्थल, निर्देशस्थल और शीलसम्पादनस्थल । पुन: शरणस्थल के गुण के अनुसार अवान्तर द्वादश भेद भी सिद्धान्त-शिखामणि में कहे गये हैं - दीक्षापादोदकस्थल, शिक्षापादोदकस्थल, ज्ञानपादोदकस्थल, क्रियानिष्पत्तिस्थल, भावनिष्पत्तिस्थल, ज्ञाननिष्पत्तिस्थल, पिण्डाकाशस्थल, बिन्द्वाकाश-स्थल, महाकाशस्थल, क्रियाप्रकाशस्थल, भावप्रकाशस्थल तथा ज्ञानप्रकाशस्थल ।[374]

४.५.४.६ ऐक्यस्थल[375]

यह शिखिकर्पूरन्यायस्थल है । जिस प्रकार शिखी और कर्पूर केदल के संयोग मात्र से परस्पर एक होकर दग्ध तथा विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार शरणयुक्त जीव समरसभक्ति से विमुक्त होकर नदीसमुद्र न्याय से किञ्चित्कर्तृत्व से सर्वकर्तृत्व युक्त होकर परशिव के सदृश हो जाता है । इस स्थल के चार अवान्तर भेद हैं - ऐक्यस्थल, आचारसम्पत्तिस्थलम्, एकभाजनस्थल और सहभोजनस्थल । पुन: ऐक्यस्थल के गुण के अनुसार अवान्तर नवस्थल भेद सिद्धान्त-शिखामणि ग्रन्थ में कहा गया है - स्वीकृतप्रसादैक्यस्थल, शिष्टोदनस्थल, चराचरलयस्थल, भाण्डस्थल, भाजनस्थल, अङ्गालेपस्थल, स्वपराज्ञास्थल, भावाभावविनाशस्थल तथा ज्ञान-शून्यस्थल ।[376]

इन षट्स्थलों का सम्भवत: नामभेद के द्वारा वातुलशुद्धाख्यतन्त्र में भी निर्देश है । वहाँ शिवाङ्ग, भूताङ्ग, कूटाङ्ग, विद्यांग, शक्त्यंग तथा सामान्यांग की परिचर्चा दृष्टिगोचर

---

371 सि. शि. म., पृ. सं. ३५५

372 अङ्गलिङ्गी ज्ञानरूप: सती ज्ञेय: शिव: पति:
यत्सौख्यं तत्समावेशे तद्वान् शरणनामवान् ॥ वही, १३/२

373 ईषणात्रयनिर्मुक्तो नित्यमेकान्तसेवन:
मम ध्यानरतो नित्यं शरण: परिकीर्तित: ॥ पा. आ., ६/२३

374 सि. शि. म., पृ. सं. ३८५-३८६

375 प्राणलिङ्गादियोगेन सुखातिशयमेयिवान्
शरणाख्य: शिवेनैक्यभावनादैक्यवान् भवेत् ॥ वही, १४/२

376 वही, पृ. सं. ४२०-४२१

होती है ।[377] पारमेश्वरागम में यह निर्देश है कि षट्स्थल को जानकर मनुष्य साक्षात् शिवत्व को प्राप्त करता है । अत: दरिद्रों की निधि और स्त्रियों की योनि के सदृश इसकी रक्षा करनी चाहिये और दुर्जनों को कदापि नही देना चाहिये ।[378] इस सन्दर्भ में महेश्वर के षडङ्ग भी पारमेश्वरागम में द्रष्टव्य हैं - सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता, नित्यमलुप्तशक्ति तथा अनन्तशक्ति ।[379] इस प्रकार वीरशैवमत में अष्टावरण का अत्यधिक महत्त्व है । आचार से सभी प्राणियों का व्यवहारिक जीवन सुचारु रूप से चलता है । आचारहीन पुरुष तत्त्वज्ञान से युक्त होने पर भी लोक में निन्दित होता है -

आचार एव सर्वेषामलङ्काराय कल्प्यते ।
आचारहीन: पुरुषो लोके भवति निन्दित: ॥[380]

४.५.५ कर्म

वीरशैवमत ज्ञानकर्मसमन्वयवादी है । तदनुसार केवल ज्ञान और केवल कर्म से सम्पूर्ण अभ्युदय होना असम्भव है । इन दोनो का समन्वय ही वैश्विक अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त कर सकता है । यदि हमें औषधि का ज्ञान हो और हम उसका लेप अथवा भक्षण न करें तो रोग का निवारण नही हो सकेगा । अत: इन दोनो का समन्वय ही रोग को दूर कर सकता है । लिङ्ग (शिव) एवं अंङ्ग(जीव) में ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय भी सिद्धान्तत: आवश्यक प्रतीत होता है । कहा भी गया है-

ज्ञाने सिद्धेऽपि विदुषां कर्मापि विनियुज्यते ।
फलाभिसन्धिरहितं तस्मात्कर्म न सन्त्यजेत् ॥[381]

---

377 शिवाङ्गं चैव भूताङ्गं कूटाङ्गं च तथैव च
विद्याङ्गं चैव शक्त्यङ्गं सामान्याङ्गं तथैव च ॥
एतानि चाङ्गनामानि शिवाङ्गानि षडानन
एतेषां चैवमङ्गानां शिवाङ्गं पूर्णमुच्यते ॥ वा. शु. तं., ८/३-५

378 शृणु देवि प्रवक्ष्यामि स्थलषट्कस्य लक्षणम् ।
यज्ज्ञात्वा जायते सद्य: शिव एव न संशय: ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन दरिद्राणां यथा निधि: ।
यथा स्त्रियां तथा गोप्या स्वयोनिरिव सुव्रते ॥
शिवभक्तिविहीनाय दुराचाररताय च
नास्तिकाय न दुष्टाय वक्तव्य: षट्स्थलक्रम: ॥ पा. आ., ६/२-४

379 सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोध: स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्ति:
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा: षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥ वही, ६/३३

380 सि. शि. म. स., पृ. सं. ३९३

381 ब्र. सू. श्री. प्र. भा., भू., पृ. सं. १७९

आचार ही सभी विद्याओं का अलङ्कार है । आचारहीन पुरुष लोक में निन्दित होता है । सिद्धान्तशिखामणि (वीरशैवदर्शन के प्रमुख ग्रन्थों में से एक) भी पङ्ग्वबन्धन्याय से इस तथ्य का समर्थन करती है -

अन्धपङ्गुवदन्योन्य सापेक्षे ज्ञानकर्मणी ।
फलोत्पत्तौ विकारस्तु तस्माद्वयमाचरेत् ॥[382]

वीरशैवमतानुसार कर्म दो प्रकार के होते हैं- पशुकर्म तथा पतिकर्म । फलाकांक्षा से युक्त ज्योतिष्टोमादि कर्म पशुकर्म कहे जाते हैं तथा फल की आकांक्षा से रहित परब्रह्मशिव के ध्यानोपासनादिकर्म पतिकर्म माने जाते हैं । वीरशैवद्वैताद्वैतवादी अर्थात् ज्ञानकर्मसमन्वय-वादी सिद्धान्त है । पूर्वमीमांसा दर्शन में कर्म को प्राथमिकता और उत्तर मीमांसा दर्शन में ज्ञान को प्राथमिकता प्राप्त होती है किन्तु वीरशैवदर्शन इसका समन्वय प्रस्तुत करता है । इसके मतानुयायी षड्-स्थल, पञ्चाचार, अष्टावरण तथा पञ्चयज्ञादि के अनुष्ठान से ज्ञान और कर्म का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत करते हैं । "ज्ञानविज्ञानसहितं" को आज सम्पूर्ण विश्व भले ही आदर्श रूप में मान रहा है किन्तु सम्प्रति केवल इस विश्व को भौतिक उन्नति ही लक्ष्य मात्र प्रतीत हो रही है, जो कि वैश्विक अशान्ति का प्रमुख कारण है । हमें क्रियात्मक ज्ञान के अतिरिक्त उस ज्ञान के हानि-लाभ पर भी विचार करना होगा, जो विश्व के लिये चिन्ता का विषय है । वीरशैवमतानुयायी दासोऽहं की भावना से सम्पूर्ण विश्व के प्रति सेवा भावना रखते हैं । ये दासोऽहं से सोऽहं की यात्रा तय करते हैं, जिससे सम्पूर्ण दुर्गुणों का नाश हो जाता है और राष्ट्रप्रेम की भावना को प्रश्रय प्राप्त होता है । वीरशैवमतानुयायी जगत् को मिथ्या न मानकर सत्य मानते हैं । तदनुसार -

जीव: सत्यं जगत् सत्यं शिव: सत्यं स्वभावत: ।
तयोरभेद: सत्यं वा क्रिमिभ्रमरयोरिव ॥[383]

प्रत्येक कण में शिव तत्त्व को देखना न केवल मानव को मानव के प्रति अपितु मानव को ब्रह्माण्ड के प्रत्येक कण के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है । वीरशैवमत में परिश्रम बिना अन्न ग्रहण पाप माना जाता है । यह सिद्धान्त भी राष्ट्र के लिये आवश्यक प्रतीत होता है ।
जड़ के अपूर्व का जीव के द्वारा किये गये पुण्य और अपुण्य कर्म के अनुकूल फल दातृत्व का योग नही होता है । जार (राजा) और चोर आदि के कर्मों का भी उन-उन कर्मों के अनुसार फल के दातृत्व का दर्शन नही होता है । इसलिये धर्ममीमांसावाद (पूर्वमीमांसावाद) भी अविचारित विषय रमणीय है (अर्थात् विचार का विषय नही है) । इसी के द्वारा कपिल और

---

[382] ब्र. सू. श्री. प्र. भा., भू., पृ. सं. १७९

[383] सि. शि. म., ५/७

कणाद आदि के जड़ जगत्कारणवाद का भी निरसन हो जाता है (अर्थात् योगशास्त्र के प्रवर्तक कपिल प्रकृति को जगत् का कारण मानते हैं और वैशेषिकशास्त्र के प्रवर्तक कणाद मुनि परमाणु को जगत् का कारण मानते हैं तथा प्रकृति और परमाणु दोनों जड़ है । इस प्रकार जड़ जगत् का कारण नही हो सकता है और इस युक्ति के द्वारा जड़ जगत्कारणवाद का निराकरण हो जाता है) ।[384] जीवों के जन्मान्तर में किये हुये पुण्यात्मक और अपुण्यात्मक कर्म के अनुसार स्वामी के सदृश फल के प्रदाता ईश्वर है ; ऐसा निश्चित होता है ।[385]

४.५.६ कर्मकर्ता

वस्तुत: लीलाकर्ता तो परमेश्वर शिव हैं किन्तु सामान्यत: कर्मकर्ता जीव है । यह जीव स्थूल-चिदचिदात्मिकाचित्-शक्तिविशिष्ट है । यह स्थूलचित्-शक्ति किञ्चित्-ज्ञा है और किञ्चित्कर्तृ-त्वरूपा है । इस प्रकार जीव सर्वकर्तृत्व और सर्वज्ञत्व शिवात्मक सत्ता का अंश है ।[386] यह शिव का विशिष्ट अंश है ।[387] यद्यपि ज्ञान और क्रिया में स्वाभाविक ऐक्य है किन्तु सृष्टिदशा में ज्ञान और क्रियाशक्ति का परस्पर विभाग प्राप्त होता है । इस प्रकार से व्यवहार में ज्ञान क्रिया नही होता है और क्रिया ज्ञान नही होती है, इस प्रकार की तमोगुणात्मक भावना उद्भूत होती है । सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह इन पञ्चकृत्यों में ही सभी कर्म समाहित हो जाते हैं और इसके प्रमुख कर्ता शिव ही हैं । जैसा कि शिवदृष्टि की टीका में कहा गया है :-

सर्गसंहृतिकर्तारं प्रलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं वन्देऽहं भक्तवत्सलम् ॥[388]

४.५.७ कर्मफल

कर्मफल कर्म के अधीन होता है । जैसा कि कहा गया है कि कर्म करना ही कर्मफल को उत्पन्न करना है । किसी भी कर्म का फल निश्चित होता है । उस फल को भोग लेना ही उस कर्म की परिसमाप्ति है । जो भी हमने शुभ अथवा अशुभ कर्म किये हैं, उनको भोगना ही पड़ता है अत: यह आवश्यक होता है कि जो भी कर्म किये जाये, उनका फल भोगने के लिये भी प्रसन्न मन से तैयार रहना चाहिये । वीरशैवमत के अन्तर्गत कर्मफल ईश्वर के अधीन है । शिव ही

---

[384] जडस्यापूर्वस्य जीवकृतपुण्यापुण्यकर्मानुकूलफलदातृत्वायोगात्, जारचोरादिकर्मणामेव तत्तत्कर्मानुसारेण फलदातृत्वादर्शनाच्च धर्ममीमांसावादोऽप्यविचारितरमणीय: एतेन कपिलकणादादीनां जडजगत्कारणवादो-ऽपि निरस्त: ब्र. सू. श्री. प्र. भा., पृ. सं. ३४

[385] जीवानां जन्मान्तरकृतपुण्यापुण्यकर्मानुसारेण प्रभुवत् फलप्रदायकेश्वरोऽस्तीति निश्चीयते, वही

[386] अनाद्यविद्यासम्बन्धात्तदंशो जीवनामक: सि. शि. म., ५/२२

[387] अंशो नानव्यपदेशात् ब्र. सू. २/३/४०

[388] शिव. दृ., १/१९ सं. टी., पृ. सं. ८

कर्मों का फल निर्धारित करते हैं। कर्मवादी कर्म को ही प्रधान मानते हैं और उनके अनुसार कर्म के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी नियन्त्रित होते हैं।[389] तदनुसार शिव महादेव होते हुये भी भिक्षाटन करते हैं।[390]

४.५.८ कर्मफलप्रदाता

कर्मफलप्रदाता साक्षात् शिव हैं। वीरशैवमतानुसार उन्हीं के द्वारा प्रदत्त कर्मफल का उपभोग हम सभी करते हैं। वह सभी जीवों को उनके कर्मानुसार फल प्रदान करते हैं। वीरशैवमत में शिव को नित्यसिद्ध परमेश्वर कहा जाता है। वह स्वरूपत: चिदात्मक है और चित्-शक्ति-संपन्न हैं। उनमें एकात्मिका और विविधात्मिका सम्पूर्ण शक्तियाँ समाहित हैं। इन्हीं शक्तियों के द्वारा परमशिव कर्मफल को प्रदान करते हैं। शिवभक्तों के लिये उनकी कामना के अनुसार शिव अनुग्रहात्मक फल प्रदान करते हैं। वीरशैवमत में लिङ्गसामरस्य के प्रदाता भी वही है। उन्हीं की कृपा से सृष्ट्यादि सम्पूर्ण कृत्यों का सम्पादन होता है। अत: कर्मफलप्रदाता के रूप में वीरशैवमत में उनको ही स्वीकार किया गया है।

४.५.९ बन्धन

सृष्टि में इस भौतिक शरीर के लिये कुछ भी करना बन्धन है। सबकुछ शिवमय मानकर सेवा भाव से कर्म करना बन्धन से मुक्ति है। भारतीय संस्कृति त्यागपूर्वक भोग पर विश्वास करती है और इस सन्दर्भ में वीरशैवमत भी शिव को सबकुछ समर्पित करके ही उपभोग में विश्वास करता है। जब हम विषयों के प्रति आसक्त होते हैं तो वह बन्धन कहलाता है और जब उन्हीं विषयों के प्रति हमारा राग नही होता है तो वह वैराग्य कहलाता है। बन्धन में जीव माया के पञ्चकञ्चुकों से आवृत होकर अपने वास्तविक शिवस्वरूपत्व को विस्मृत कर देता है और इससे उसे अपने भौतिक शरीरात्मक जीवस्वरूप का आभास रहता है किन्तु शिव की साधना में निरन्तर रहने से उसे भी शिवसायुज्य की प्राप्ति होती है और इस प्रकार जीव शिव हो जाता है।

---

389 ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमतो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दसावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे
रुद्रो येन कपालपाणुपुटके भिक्षाटनं कारित:,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नम: कर्मणे ॥ नी. श., २/९५

390 स्वयं महेश: श्वसुरो नगेश:, सखा धनेश: तनयो गणेश: ।
तथापि भिक्षाटनमेव शम्भो बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा ॥ ब्र. सू. श्री. प्र. भा., भू., पृ. सं. १२

४.५.१० कैवल्य या मोक्ष

शिवसायुज्य अथवा शिवसामरस्य पद ही वीरशैमत में कैवल्य, मोक्ष, निर्वाण अथवा नि:श्रेयस का वाचक है । जीव जब माया के पञ्चकञ्चुकों से निवृत्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, वहीं अवस्था या ज्ञान शिवसायुज्य अथवा शिवसामरस्य पद से अभिहित होती है । लिङ्गसामरस्य अथवा शिवसायुज्य ही वीरशैवमतानुसार अङ्ग अथवा जीव के लिये सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है । पञ्चयज्ञ, षट्स्थल, अष्टावरण, और पञ्चाचारपूर्वक जीवन निर्वाह करता हुआ जीव शिवसामरस्य को प्राप्त करता है ।
इस धर्म में ज्ञान का अत्यधिक महत्व है । दान करना त्यागमय जीवन को प्रश्रय देता है जिसके सामाजिक बुराईयों का निराकरण होता है । इनके पञ्चाचारों में भृत्याचार भी यही दर्शाता है । सेवाभावना से जनमानस में व्याप्त ईष्या, द्वेष, आदि दुर्भावनाओं को समाप्त किया जा सकता है । प्रत्येक कण में परब्रह्मशिव की भावना न केवल मानव को मानव के प्रति अपितु मानव को प्रत्येक कण के प्रति सौहार्द्र को बढाती है, जिससे विश्वबन्धुत्व की भावना को प्रश्रय मिलता है । इस धर्म के करोड़ों अनुयायी आज भी भारत के विभिन्न प्रान्तों में हैं । कर्णाटक में वीरशैवमत के ८० लाख हिन्दु हैं तथा तमिलनाडु में भी इनकी संख्या लाखों में है । भारत की संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रहने के लिये इनके पञ्चज्योतिर्लिङ्गों कि स्थापना आपसी सौहार्द्र का अन्यतम प्रमाण है । भारतवर्ष में धार्मिक तीर्थस्थलों का अत्यधिक महत्व है । तीर्थस्थलों के माध्यम से देश के अन्तर्गत प्रत्येक कोने से कोने तक आवागमन बन जाता है, जो राष्ट्र की रक्षा तो करता ही है, परस्पर भ्रात्तृत्व को भी बढ़ाता है । वीरशैवमत के अनुयायी प्रकृति का पूर्णत: सम्मान करते हैं जो वेदों का निहितार्थ है । वेदों की सगुण तथा निर्गुण भावना दोनों का समावेश इस धर्म में प्राप्त है । शिव का विश्वमय तथा विश्वोत्तीर्ण होना इस तथ्य का अन्यतम प्रमाण है । वीरशैव के अनुयायी प्रकृति के प्रत्येक कण को देव तुल्य मानते हैं तभी तो नदी, वृक्ष, पर्वत, अन्न इत्यादि की पूजा करते हैं । फलत: एक ओर यह परम सत्ता स्थूलत: सभेद, सक्रम, सखण्ड तथा साकार है तो वही दूसरी ओर वह सूक्ष्मत: अद्वैत, अक्रम, अखण्ड तथा निराकार है । इस शक्तिविशिष्टाद्वैत की विशिष्टता और द्विविधता के कारण इसकी तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा और आचारमीमांसा अन्य दर्शनों से भिन्न है । इसको निम्नलिखित तालिका के माध्यम से सम्यक्तया अवबोध कर सकते हैं -

४.६ वीरशैवदर्शन और अन्य दर्शनों की भेदक तालिका[391]

अद्वैतवेदान्तदर्शन	वीरशैवदर्शन
ब्रह्म निर्विशेष	ब्रह्म सविशेष
ब्रह्मविवर्त जगत्	ब्रह्म का (अविकृत) परिणाम जगत्
जगत् का मिथ्यात्व	जगत् का सत्यत्व

[391] ब्र. सू. श्री. भा. प्र. भा. भू. पृ. सं. १२२

ज्ञान से मुक्ति	ज्ञान-क्रिया का समुच्चय ही मुक्ति का कारण
कैवल्य ही मुक्ति	सामरस्य मुक्ति
लकुलीशपाशुपत दर्शन	वीरशैवदर्शन
पति, पाश, योग, विधि और दु:खान्त	पति, पशु और पाश ये तीन पदार्थ
मिथ्याज्ञान, अधर्म, सक्तिहेतु, च्युति और पशुत्वमूल ये पञ्चमल है।	आणव, मायीय और कार्मरूप त्रिविध मल
मल के क्षय के उपाय हैं - पञ्चवास, चर्या, जप, ध्यान, सदारुद्रस्मृति और् प्रसाद	वेधा, मनु, क्रियारूपदीक्षा इन तीनों से मलत्रय का ध्वंस
क्राथन, स्पन्दन, मण्टन, श्रृङ्गारण, अपितत्करण, अपितद्भाषण आदि साधनमार्ग	अष्टावरण, पञ्चाचार आदि साधन मोक्ष के उपाय हैं।
आत्मा विभु	आत्मा शिवांश
विधियों के अनुष्ठान से पशु पतिस्वरूप को प्राप्त करता है।	षट्स्थलमार्ग के द्वारा शिवत्व की अभिव्यक्ति होती है।
मोक्ष सुखस्वरूप, पति का सर्वज्ञत्वादि-प्राप्तिरूप तथा शिवसाम्यरूप है।	नदीसमुद्रन्याय अथवा शिखिकर्पूरन्याय के द्वारा लिङ्गाङ्गसामरस्य मोक्ष है।
शैव तथा वैष्णवविशिष्टाद्वैत दर्शन	वीरशैवदर्शन (शक्तिविशिष्टाद्वैत दर्शन)
ब्रह्म सगुण	स्थल (ब्रह्म) सकल-निष्कल
श्रीकण्ठमतानुसार अन्तर्गणिकाभेद तथा रामानुजमतानुसार अपृथक्सिद्धिसंबंध है।	शिवशक्ति का अविनाभावसम्बन्ध और जीव शिवांश है।
शिवसारुप्य अथवा विष्णुसारूप्य मोक्ष है।	लिङ्गाङ्गसामरस्य मोक्ष है।
ब्रह्म और जीव के लिये भेदाभेद माना गया है	शिव-जीव का संसारदशा में स्वाभाविक भेद है किन्तु मुक्तिदशा में पारमार्थिक अभेद है।

पञ्चम अध्याय : भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में वीरशैवमत का पर्यालोचन

पूर्ववर्ती अध्यायों से स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन और संस्कृति में वीरशैवमत विशिष्ट है । भारतवर्ष की विविधता में इसका समावेश है । यह एक भारतीय विचारधारा है और पूर्णत: निगमागमवादी होने के कारण इसको वेदविरुद्ध कदापि नहीं कहा जा सकता । इसकी तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा और आचारमीमांसा में भारतीय संस्कृति निश्चयेन समाविष्ट है । वीरशैवमत में शिवतत्त्व मात्र देवविशेष का बोधक न होकर परब्रह्म का भी वाचक है । विपुल साहित्य के साथ इसके कोटि अनुयायी इस सिद्धान्त के उपासक हैं । यह ज्ञान केवल शास्त्रस्थ न होकर व्यवहार में भी उपयोगी है । यह अतिप्राचीन पाशुपत सम्प्रदाय का ही आधुनिक रूप है तथापि पाशुपत सम्प्रदाय की द्वैतता इसे स्वीकार्य नहीं है । इस दर्शन के क्रोड में वाद-विवाद का प्राय: अभाव दृष्टिगोचर होता है किन्तु यह अकारण नहीं है । वाद-विवाद से निश्चित रूप से एक स्वस्थ चिन्तनधारा का विकास होता है तथापि इसी वाद-विवाद के कारण ही सम्प्रदायवाद भी प्रादुर्भूत होता है । वीरशैवमत के शिवाचार्य ऐसा मानते हैं कि जो बुद्धि-व्यय हम वाद-विवाद करके किसी अन्य सम्प्रदाय के खण्डन तथा स्वयं के सिद्धान्त का मण्डन करने में लगाते हैं, वही बुद्धि-व्यय हम वास्तविक सत्य के अन्वेषण में लगाकर अत्यधिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं । प्राय: वाद-विवाद की प्रक्रिया में खण्डन-मण्डन प्रधान और सत्यान्वेषण दूर हो जाता है । साथ ही अनुचित तर्कों का समावेश होने से भी समाज में विकृतियां आती हैं । आप्त आचार्यों का ध्येय अन्य आचार्यों के सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन नहीं था । वे सत्यान्वेषण में अत्यधिक परिश्रम किया करते थे । प्राय: खण्डनप्रणाली एकाङ्गी हो जाती है और वह समग्रता की बाधिका हो जाती है ।

५.१ भारतीय तन्त्रशास्त्र

निगम और आगम भारतीय सनातन परम्परा के सर्वश्रेष्ठ चिन्तन कहे गये हैं । यह चिन्तनधारा पूर्णत: वैज्ञानिक और सार्वभौमिक रही है । आगमशास्त्र को तन्त्रशास्त्र के अपर अभिधान से भी जाना जाता है । आधुनिक समाज के मन में भले ही इस विद्या के प्रति अनेक भ्रान्तियाँ हो तथापि यह विद्या पूर्णरूपेण वैज्ञानिक पद्धति और सात्विक विचारधारा पर आधारित रही है । भारतीय तन्त्रशास्त्र को मुख्य रूप से त्रिविध विभक्त किया जाता है - ब्राह्मणतन्त्र, जैनतन्त्र और बौद्धतन्त्र । पुन: ब्राह्मणतन्त्र को शैवतन्त्र, वैष्णवतन्त्र और शाक्ततन्त्र में विभक्त किया जाता है । इनमें भी ब्राह्मणतन्त्र को वैष्णवतन्त्र, शैवतन्त्र और शाक्ततन्त्र के अन्तर्गत विभक्त किया जाता है । इन सम्पूर्ण तान्त्रिक या आगमिक सम्प्रदायों के आचार्यों के द्वारा अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है, जिनमें धर्मशास्त्र, वास्तुशास्त्र, भूगोल और विज्ञान आदि अनेक विद्यायें समाविष्ट हैं । भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के अन्तर्गत अनेक ज्ञानधारायें व्याप्त हैं । तन्त्रशास्त्र भी उसी विचारधारा का एक वैज्ञानिक रूप है ।

निगमागम परम्परा भारतीय संस्कृति का मूल स्तम्भ रही है। इसी चिन्तन के क्रोड़ में अनेक सम्प्रदायों का उद्भव हुआ है। विद्वानों ने आगम और निगम को पर्याय माना है[1] और इस तथ्य के पीछे उनका यह कथन है कि दोनों शब्दो में एक ही गम् धातु का प्रयोग किया गया है। आ और नि उपसर्गपरक इन शब्दों में से आगम को शब्द प्रमाण से अभिहित किया गया है और वेद भी शब्द राशि ही है। यह समन्वयवादी दृष्टिकोण ही उचित प्रतीत होता है तथापि कुछ विद्वान् आगम और निगम को भिन्न मानते हैं। उनका कथन यह है कि वेद दृष्ट हैं और आगम उपदिष्ट हैं।[2] आगम तन्त्रशास्त्र है और निगम वेद है। आगम शिव के द्वारा शक्ति को उपदेश दिया गया है और निगम का उपदेश शक्ति ने शिव को दिया है।[3] यह आगमों के प्रति उनके आचार्यों की निष्ठा का ही प्रतिफल है कि कहीं-कही आगम को पञ्चम वेद माना गया है[4] तो कहीं पर वेद को भी आगम का ही भाग माना गया है।[5] यह भी कहा गया है कि संहिता वैष्णवों के, आगम ग्रन्थ शैवों के और तन्त्रग्रन्थ शाक्तों के पवित्र शास्त्र हैं।[6]

आगम और तन्त्र पर्याय हैं इस विषय में भी विद्वानों के मध्य विविध विचार हैं। करपात्रीजी[7], आचार्य बलदेव उपाध्याय[8] तथा स्वामी नन्दानन्द[9] आदि विद्वानों के मत में आगम और तन्त्र एकार्थी हैं। विभिन्न सम्प्रदायों के आगम अनेक हैं। शैव, वैष्णव, बौद्ध और

---

[1] आ. तं., पृ. सं. ११

[2] Agama and Nigama are the two major sources of Indian culture (culture as manifest) Nigama (popularly known as Veda) is dristajnana (seen or realized knowledge) whereas agama is updista knowledge expounded by none other than Shiva and Parvati." Dr. Rajnish Mishra, Santas and Savants of the Sharada desh, p. 2. Published in Cultural Heritage of Kashmiri Pandits as "Abhinavagupta and the Shaivite Traditions of Kashmir", Editor, S. S. Troshkhani and Prof. K. Warikoo, Delhi, Pentagon Press, 2009.

[3] आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते ॥
निर्गतं गिरिजावक्त्राद् गतं च गिरिशश्रुतौ
मतं च वासुदेवस्य तस्मान्निगम उच्यते ॥ त. सा. स., पृ. सं. १

[4] शारदातिलकीयपरिभाषया तथा महर्षिहारीतवचनानुसारं "आगम: पञ्चमो वेद: कौलस्तु पञ्चमाश्रम:", आ. मी. वि. वे., पृ. सं. ii

[5] त्रिपुरारहस्ये वेदो ह्यागमभाग: स्याद् शब्दराशिरथागम: प्रोक्तं वचनमिदं समस्त: शब्दराशिरेव आगम इति प्रतिपादयति, वही

[6] "वस्तुत: संहिताग्रन्था: वैष्णवानाम्, आगमग्रन्था: शैवानाम्, तन्त्रग्रन्थाश्च शाक्तानां पवित्राणि शास्त्राणि" आ. मी. पृ. सं. १

[7] असल में आगम व तन्त्र दोनो पर्याय वाचक ही हैं वही, पृ. सं. ११

[8] तन्त्रों का दूसरा नाम आगम है, भा. द., पृ. सं. ५११

[9] आगमशास्त्र का ही दूसरा नाम तन्त्रशास्त्र प्रतीत होता है, आ. तं., पृ. सं. १९

जैन सम्प्रदाय के स्वतन्त्र आगम ग्रन्थ हैं किन्तु शाक्त, सौर्य और गाणपत्य सम्प्रदाय के स्वतन्त्र आगम नहीं है किन्तु इनके तन्त्रग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध हैं ।[10]
तन्त्र शब्द दो धातुओं "तनु" और "त्रै" से उद्भूत हुआ है । तनु का अर्थ है विस्तार और त्रै का अर्थ रक्षा करना है । इसी शाब्दिक रूपरेखा को ध्यान में रखते हुये तन्त्र शब्द की निम्नलिखित परिभाषा निर्मित हुयी है -

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् ।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥[11]

ऋग्वेद[12], अथर्ववेद[13], तैत्तिरीय ब्राह्मण[14] तथा पाणिनि[15] द्वारा तन्त्र शब्द का प्रयोग करघे के अर्थ में किया गया है । महाभाष्य में पतञ्जलि ने सर्वतन्त्र और द्वितन्त्र शब्दों का प्रयोग किया है ।[16] शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में सांख्य दर्शन को सांख्यतन्त्र और मीमांसा दर्शन को प्रथमतन्त्र कहकर सम्बोधित किया है । विष्णुधर्मोत्तर पुराण में पुराण को तन्त्र कहा गया है ।[17] तन्त्रशास्त्र को केवल शैव या शाक्त सम्प्रदाय तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता क्योंकि वैष्णव, सौर्य, गाणपत्य आदि के अनुसार भी तान्त्रिक पद्धतियाँ विकसित हुयी हैं । साथ ही बौद्ध और जैनतंत्र का भी स्वतंत्र विकास दृष्टिगोचर होता है ।

५.१.१ वीरशैवात्मक तन्त्रशास्त्र में भारतवर्ष का स्वरूप

वीरशैवमतानुसार आधुनिक समाज में भले ही तन्त्र शब्द का अर्थ जादू-टोना, भूत-प्रेत आदि अभिचार क्रियाओं का सम्पादन समझा जा रहा हो किन्तु तन्त्र एक ऐसी साधना पद्धति है जो विशुद्ध रूप से वैदिक और चतुर्विध पुरुषार्थों की प्रदात्री है । यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मरूप शैव अण्ड से प्रादूर्भूत है ।[18] इससे ही अण्डचतुष्टय का आविर्भाव होता है । अण्डचतुष्टय हैं - पार्थिवाण्ड, प्राकृताण्ड, मायीयाण्ड तथा शाक्ताण्ड । अण्ड एक प्रकार का आवरण होता है । इसके अन्तर्गत ही भुवन रूपी कार्य होते हैं । अण्ड कारणरूप होते हैं । इन चारों में आदि के

---

10 आ. तं., पृ. सं. ११-१२

11 वही, पृ. सं. २५

12 सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञाय:, ऋ. १०/७१/९

13 अथर्व., १०/७/४२

14 तै. ब्रा., २/५/५/३

15 अष्टा., ५/२/७०

16 आ. त. , पृ. सं. २७

17 वही

18 अभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित तंत्रा. के अष्टम आह्निक में सम्पूर्ण जगत् का भौगौलिक चित्र प्रस्तुत है

दो अण्ड (पार्थिवाण्ड और प्राकृताण्ड) असंख्यात रूप से विस्तारयुक्त हैं। सार्ध अर्थात् फट् से पार्थिवाण्ड और प्रकृत्यण्ड व्याप्त है। एक-एक से अर्थात् ह: और हुँ इन एकाक्षर पदों से पृथक् दो अण्ड अर्थात् मायाण्ड और शक्त्यण्ड व्याप्त हैं। यह अपरा विद्या का मन्त्र उक्त चार अण्डों को ही व्याप्त करता है। यह पूरा मन्त्र ह्री: हुँ फट् इस रूप में उद्धृत होता है। केवल स वर्ण में पार्थिवाण्ड, प्रकृत्यण्ड और मायाण्ड ये तीन अण्ड व्याप्त होते हैं।[19] पार्थिव अण्ड की शक्ति का नाम धारिका है। इसके अन्तर्गत कालाग्नि भुवन से लेकर वीरभद्र भुवन तक १६ भुवन हैं :- कालाग्नि नरकेश, कूष्माण्ड पातालेश, हाटक भूतलेश और ब्रह्मा मुनिलोकेश ये पाँच रुद्रभुवन हैं तथा साथ ही अन्य एकादश भुवन अनन्त, कपालीश, अग्नि, यम, नैऋत, बल, शीघ्र, निधीश्वर, विद्येश्वर, शम्भु तथा वीरभद्र भुवन हैं। इन्हें पुरुषोडशक भी कहते हैं।[20] इनमें से कालाग्नि का भुवन कटाह के ऊपर हैं। वह एक करोड़ योजन ऊँचा है। अन्य लोक उसकी दृष्टि से भस्म न हो जाय, इस कारण वह ऊपर नहीं देखता।[21] पाताल के ऊपर २० सहस्र भू कटाह हैं। इसमें मनुष्यों का निवास है। यहाँ तक ब्रह्माण्ड का आधा भाग है। यहाँ तक ब्रह्माण्ड के १ करोड़ कटाह, एक करोड़ कालाग्निपुर, दश करोड़ उसकी ज्वालायें, पाँच धूम, ३२ नरक, ९९ लाख कूष्माण्डपुर, पातालाष्टक अस्सी हजार, भू कटाह २० हजार हैं। ये मिलकर ५० करोड़ मान होता है।[22] इनके ऊपर एक लाख तिमिरपुर हैं। उसके ऊपर १४ लाख मान तक कुछ नहीं है। इस शून्यलोक के उपरान्त नागलोक है। इसके बाद भूमि का ऊर्ध्व (मध्य) भाग है और वही मेरु पर्वत है। मेरु पर्वत के मध्य भाग का ३२ हजार योजन विस्तार है। उसका ऊर्ध्व ८० हजार योजन है। स्वच्छन्द तन्त्र (१०/१२१-१२३) के अनुसार महामेरु उसी के मध्य में है और यह समस्त सुवर्णमय देवभूमि है। मध्य (वैष्णभाग, अष्ट कोणात्मक), ऊर्ध्व (रुद्रभाग वृत्ताकार) और अधोभाग (ब्रह्मभाग चतुष्कोणात्मक) से शोभित शिवलिङ्ग की आकृति है। पृथ्वी इसकी पृष्ठभूमि तथा सभी देवों का आलय है। पृथ्वी पर ही महामेरु प्रतिष्ठित है। मेरु के मध्य में ब्रह्मा की सभा का मण्डप है। उसके ईशान कोण में ज्योतिष्क शिखर स्फटिक श्रृंग से सुशोभित है। मेरु के पूर्वभाग में अमरावती (आठ स्वर्गों से सुशोभित) है जिसके अधीश्वर इन्द्र हैं। इसके वामभाग में विनायक, अग्निकोण में तेजोवती, दक्षिण में यमराज की संयमनी, पश्चिम में विश्वेदेव विश्वकर्मा और उनकी प्रजा, नैऋत्य कोण में कृष्णाङ्गार नगरी, पश्चिम में वरुण का आगार, वायव्य कोण में वायु की नगरी गन्धवह्या है। उसके उत्तर वसुओं और विद्याधरों के नगर, उत्तर दिशा में सोम की महोदया नगरी तथा ईशान कोण में ईशान की यशस्विनी नगरी यशोवती है। इसके ऊपर चारों ओर वृत्ताकार

---

[19] मा. वि. तं., ४/२३-२५

[20] वही, पृ. सं. ३५-३८

[21] कालाग्नेर्भुवनं चोर्ध्वे कोटियोजनमुच्छ्रितम् लोकानां भस्मसाद्भावभयानोर्ध्वं स वीक्षते ॥ तंत्रा. ८/२२-२३, पृ. सं. १९

[22] भूकटाहक इति मनुष्याधारभू: एवमियदन्तं ब्रह्माण्डस्यार्धं, तत्कटाह: कोटि:, कालाग्निपुरं कोटि:, तज्ज्वाला दशकोटय:, धूम: पञ्च, नरका द्वात्रिंशत्, कूष्माण्डपुरं नवनवतिलक्षाणि, पातालाष्टकमशीतिसहस्राणि, भूकटाहं विंशति: इत्येवं पञ्चाशत् कोटय: तंत्रा., पृ. सं. ३०

रुद्रों के आवास हैं । यही मेरु का क्षेत्र है ।[23] मेरु पृथ्वी का अवस्तम्भक है । यह इलावृत्त वर्ष में पड़ता है । मन्दर, गन्धमादन, विपुल और सुपार्श्व इन चार पाद पर्वतों की तात्कालिक पृष्ठभूमि मेरु से लगी हुयी थी । वे क्रमश: सित, पीत, नील और रक्त वर्ण के थे । उनपर चैत्ररथ, नन्दन, वैभ्राज तथा पितृवन नामक वन थे । पूर्व में अरुणोद, दक्षिण में मानस, पश्चिम में सितोद और उत्तर में महाभद्र नामक सरोवर थे ।[24]

मेरु के दक्षिण भाग में हिमाचल (हिमवान् पर्वत) के दक्षिण और लवण समुद्र के उत्तर भारतवर्ष अवस्थित है । इसका विस्तार ९ हजार योजन है । यह कर्मभूमि है । शुभ और अशुभ कर्म के अनुसार यहाँ फल की प्राप्ति होती है । इसमें स्वर्ग की अपेक्षा सुख की मात्रा अत्यल्प है ।[25] अन्य सभी आठ इलावृत्त वर्ष, केतुवर्ष, भद्राश्ववर्ष, कुरुवर्ष, हैरण्यवर्ष, रम्यकवर्ष, हरिवर्ष तथा किन्नरवर्ष भोगभूमि हैं किन्तु भारतवर्ष कर्मभूमि है ।[26] इन आठ वर्षों में युगत्रयी का कोई लक्षण नहीं दृष्टिगोचर होता है किन्तु भारतवर्ष में चतुर्युगी व्यवस्था अवलोकित होती है ।[27]

भारतवर्ष जम्बूद्वीप के सदृश नौ खण्डों में विभक्त है । जम्बूद्वीप आठ पर्वतों से नौ भागों में विभक्त होता है तो भारतवर्ष समुद्रों से विभक्त होता है ।[28] इन नव खण्डों के नाम हैं :- समुद्र से लेकर इन्द्र, कशेरु, ताम्राभ, गभस्तिमान्, नागीय, सौम्य, गान्धर्व, वाराह (वारुण) और कुमारी (कन्या कुमारी) ये नौ द्वीप हैं ।[29] इनके अन्तर्गत सात कुल पर्वतों (महेन्द्र, मलय,

---

23 तंत्रा., पृ. सं. ३२-३५

24 वही, पृ. सं. ३५-५२

25 तत्रैव दक्षिणे मेरोर्हिमवान्यस्य दक्षिणे
भारतं नवसाहस्रं चापवत्कर्मभूगभू: ॥ वही, ८/७८, पृ. सं. ५२
याम्ये हिमाचलेन्द्रस्य उत्तरे लवणोदधे:
भारतं नाम वर्षं तु तत्र चाल्प सुखं स्मृतम् ॥ स्व. तं., १०/२४०

26 इलावृतं केतुभद्रं कुरुहैरण्यरम्यकम्
हरिकिन्नरवर्षे च भोगभूर्न तु कर्मभू: ॥ तंत्रा., ८/७९, पृ. सं. ५३

27 स्थानान्तरेऽपि कर्मास्ति दृष्टं तच्च पुरातने
तत्र त्रेता सदा कालो भारते तु चतुर्युगम् ॥ वही, ८/८२, पृ. सं. ५६
नाष्टासु विद्यते काचिद्युगत्रयवती स्थिति:
चतुर्युगवती ज्ञेया भारताख्ये वरानने ॥ स्व. तं., १०/२४७

28 भारते नवखण्डं च सामुद्रेणाम्भसात्र च
स्थलं पञ्चशती तद्वज्जलं चेति विभज्यते ॥ तंत्रा., ८/८३, पृ. सं. ५७
नव भेदा: स्मृतास्तत्र सागरान्तरिता: प्रिये
एकैकस्य तु द्वीपस्य सहस्रं परिकीर्तितम् ॥
शतानि पञ्च विज्ञेयं स्थलं पञ्च जलं तथा ॥ स्व. तं., १०/२५१

29 इन्द्र: कशेरुस्ताम्राभो नागीय: प्राग्गभस्तिमान्
सौम्यगान्धर्ववाराहा: कन्याख्यं चासमुद्रत: ॥ तंत्रा., ८/८४, पृ. सं. ५९
इन्द्रद्वीपं कशेरुं च ताम्रवर्णं गभस्तिमत्
नागद्वीपं च सौम्यं च गान्धर्वं वारुणं तथा ॥

सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र) से सुशोभित कन्याकुमारी के पास वारुण समुद्र के मध्य में अवस्थित छ: उपद्वीप भी हैं :- अङ्ग, यव, मलय, शङ्कु, कुमुद तथा वाराह ।[30] तन्त्रालोक के मत में इन द्वीपों और उपद्वीपों के निवासी प्राय: अविकसित, वर्णाश्रमाचार से रहित म्लेच्छ हैं तथापि रत्न, सुवर्ण आदि समृद्धियों से सम्पन्न हैं । जिस स्थिति में हैं उसी में सुखी हैं ।[31] भारतवर्ष में कर्म से भुक्ति तथा मुक्ति दोनों की प्राप्ति होती है । यहाँ महाकाल, करोड़ों रुद्र, गङ्गादि ५०० नदियाँ हैं, अत: यहाँ जन्म होना दुर्लभ है ।[32]

तन्त्रों में कादि और हादि मत ५६ प्रदेशों में प्रसिद्ध थे । ये सब देश भारत के चारों ओर और मध्यभाग में अवस्थित थे । पूर्व में अंग, बंग, कलिंग, विदेह, कामरूप, उत्कल, मगध, गौड, सिलहट्ट और कैकट आदि । दक्षिण में केरल, द्रविण, तैलंग, मलयाद्रि, चोल, सिंहल आदि । पश्चिम में सौभार, आभीर, कोंकण, लाट, मत्स्य, सैन्धव आदि । उत्तर में काश्मीर, शौरसेन, किरात, कोशल आदि । मध्य में महाराष्ट्र विदर्भ, मालव, आवन्तक आदि । भारत के बाहर हैं वाहलीक, कम्बोज, भोट, चीन, महाचीन, नेपाल, हूण, कैकय, मद्र और यवन आदि । कादि और हादि मतों में नाना प्रकार के अवान्तर विभाग भी थे ।[33]

इस प्रकार शैव दर्शन के अन्तर्गत भारतवर्ष को कर्मभूमि माना गया है और कर्म के द्वारा भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति के सिद्धान्त अवलोकित होते हैं । तन्त्र का अर्थ एक नियम विशेष है, जिसके परिपालन से अभ्युदय तो होता ही है, व्यक्ति या राष्ट्र भी समुन्नति को प्राप्त होता है । स्वतन्त्र, परतंत्र और गणतन्त्र आदि पद में तन्त्र भी इसी नियम विशेष के द्योतक हैं । स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृंखलता नहीं अपितु स्वयं द्वारा निर्मित एक नियम विशेष होता है जिसका उल्लंघन वह स्वयं भी नहीं करता है । इसी प्रकार साधना पद्धति भी एक नियम विशेष का ही अपर अभिधान है और जिसके सम्यक् परिपालन से व्यक्ति इहलोक में भी आनन्दित होता हुआ अन्तत: मोक्ष को प्राप्त करता है ।

द्वीपं कुमारिकाख्यं च नवमं परिकीर्तितम् ॥ स्व. तं., १०/२५३

[30] कन्याद्वीपे च नवमे दक्षिणेनाब्धिमध्यगा:
उपद्वीपा: षट् कुलाद्रिसप्तकेन विभूषिते ॥
अङ्गयवमलयशङ्कु: कुमुदवराहौ च मलयगोऽगस्त्य:
तत्रैव च त्रिकूटे लङ्का षडमी ह्युपद्वीपा: ॥ तंत्रा., ८/८५-८६, पृ. सं. ६०

[31] द्वीपोपद्वीपगा: प्रायो म्लेच्छा नानाविधा जना:
मुक्ताकाञ्चनरत्नाढ्या इति श्रीरुरुशासने ॥ वही, ८/८७, पृ. सं. ६१

[32] भारते यत्कृतं कर्म क्षपितं वाप्यवीचित:
शिवान्तं तेन मुक्तिर्वा कन्याख्ये तु विशेषत: ॥
महाकालादिका रुद्रकोटिरत्रैव भारते
गङ्गादिकपञ्चशतिका जन्म तेनात्र दुर्लभम् ॥ वही ८/८८-८९, पृ. सं. ६३

[33] त. ध. द. प्र. भा. पृ. सं. २१२

५.२ वीरशैवमतानुसार शिक्षा का स्वरूप

भारतीय परम्परा शिक्षा को सर्वश्रेष्ठ मानती रही है । इसके द्वारा व्यवहार का समुचित सञ्चालन होता रहा है । चतुर्विध पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) की मूलाधारिणी शिक्षा न केवल गुरुओं की गुरु है अपितु इससे विहीन मानव इस पृथ्वी पर भारसदृश साक्षात् पशु हैं । शिक्षा के इसी महत्त्व का अवलोकन करते हुये भारतीय परम्परा में इसका समुचित अध्ययन किया गया है । तदनुसार श्रुति-परम्परा सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होती है । शिष्य अपने गुरु से श्रवण करता था और उसका सम्यक् उच्चारण करता था । यह भी कहा जाता था कि यदि पुस्तकस्थ विद्या है तो वह दूसरे के हस्त में स्थापित धन के समान है, जो आपत्तिकाल में आपका साथ नहीं दे सकता । यह परम्परा अनवरत विद्यमान थी । विद्यार्थी के लिये निम्नलिखित लक्षण ग्राह्य थे -

काकचेष्टा वकोध्यानं श्वान्निद्रा तथैव च ।
अल्पाहारी गृहत्यागी विद्यार्थी पञ्चलक्षणम् ॥[34]

काक जैसी चेष्टा विद्यार्थी में जिज्ञासा उत्पन्न करती थी । बगुले जैसा ध्यान शिष्य में शिक्षा के प्रति एकाग्रता का द्योतक था । श्वान् जैसी निद्रा आलस्य की परिहारिका एवं शीघ्रता की परिचायिका थी । अल्प आहार का ग्रहण भी आलस्य का अपवारण करने के लिये ही था । विद्यार्थी के लक्षण में गृहत्यागी का समावेश इसलिये हुआ क्योंकि गृहस्थ माता-पिता का स्नेह विद्यार्थी के समुचित अध्ययन का बाधक था । चूँकि उसे सम्पूर्ण जीवन का निर्वाह करना था अत: उसे जीवन के दु:खों का अनुभव कराने के लिये भिक्षाटन करवाया जाता था, जो वह अपने गृह पर रहकर नहीं कर सकता था । अत: उसका गृहत्याग भी आवश्यक ही था । न केवल शिष्य के ही अपितु गुरु के लिये भी कर्तव्य निर्धारित थे । तदनुसार विद्यार्थी के सम्पूर्ण मानसिक, शारीरिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिये गुरु ही उत्तरदायी होता था । इस प्रकार भारतीय सभ्यता में व्याप्त गुरुकुल के परिवेश, उसकी शिक्षा एवं उसके कर्तव्य के आधार पर ही भारत विश्व में जगद्गुरु पद पर प्रतिष्ठित था ।

५.२.१ वीरशैवमत में गुरुकुलीन शिक्षा

वीरशैवमतानुयायी शिव को परम गुरु मानते हैं । महर्षि पतञ्जलि के अनुसार स पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्[35] भी वह परम पुरुष (शिव) ही सभी गुरुओं का गुरु है । गुरु अज्ञान का विनाश करता है और ज्ञान का प्रकाशन करता है । वीरशैवमत में यह ज्ञान प्रवाह सम्प्रति विद्यमान है । इस ज्ञान प्रवाह को इस मत में ओघ अभिधान से जाना जाता है । आगमशास्त्र में यह ओघ दिव्यौघ, सिद्धौघ तथा मानवौघ क्रम से त्रिविध होती है । शिवोपदिष्ट ज्ञान को

---

[34] नी. शि., पृ. सं. ८

[35] यो. सू. १/२६

उनके निकटवर्ती गण एवं देव सर्वप्रथम श्रवण करते हैं। वे देव या गण सिद्ध पुरुषों को उस ज्ञान का उपदेश करते हैं और वें सिद्ध पुरुष उस ज्ञान का मानवों के लिये अनादि काल से निरन्तर उपदेश करते हैं। इस प्रकार ज्ञान की यह प्रवाहमान धारा आज भी विद्यमान है। आज भी वीरशैवमत के सहस्त्रों मठों, मन्दिरों और विद्यालयों में उस भारतीय संस्कृति की गुरुकुल परम्परा का श्रद्धापूर्वक निर्वाह किया जाता है। यह भारतवर्ष की विशिष्टता है कि छात्रों के शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास का सम्पूर्ण दायित्व गुरुकुल जैसे उन्नत शिक्षा-केन्द्रों पर रहता था किन्तु आधुनिक समय में इन गुरुकुलों पर विशेष ध्यान न होने और पाश्चात्य पद्धति का अन्धानुकरण करने से भारतीय संस्कृति का निश्चयेन ह्रास होता रहा है। आज हम अपनी बुद्धि की अपेक्षा यंत्रों पर अधिक निर्भर होते जा रहे हैं। गुरुजनों का सम्मान भी अल्प होता जा रहा है। उस समय गुरु यह निर्धारित करते थे कि कौन छात्र कैसा है। किस छात्र को किस दिशा में अग्रसर होना चाहिये। इस प्रक्रिया को निर्धारित करने के लिये उनके पास अनुभव था, जिसके द्वारा वह यह निर्णय कर लेते थे किन्तु आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति से प्रभावित शिक्षा प्रणाली में छात्र निर्धारित करता है कि कौन शिक्षक कैसा है ? छात्र सर्वदा अनुभवविहीन होता है और इसी अनुभवविहीनता के कारण वह यह कैसे निर्धारित कर सकता है कि गुरु कैसा पढ़ा रहा है ? वीरशैवमत में गुरु को परब्रह्म माना गया है। गुरु एक ऐसे कवच हैं जो छात्र के दोषों को मिटाकर उसमें सद्गुणों का सञ्चार करते हैं और इस अज्ञानरूपी अन्धकार को दूरकर ज्ञानरूपी प्रकाश प्रदान करने के कारण उन्हें अष्टावरण में प्रथम स्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार वीरशैवमतानुसार श्रीगुरु अष्टावरण के प्रथम सोपान हैं। गुरु की महत्ता सर्वत्र विद्यमान है। सन्त कबीरदास के मत में गुरु भगवान् से भी बढ़कर हैं।[36] वीरशैवमत के महात्मा बसवेश्वर ने भी कन्नड़ भाषा में कहा है शिवपथव नरिवडे गुरु पथवे मोदलु अर्थात् शिवस्वरूप को जानने के लिये गुरु के शरण में ही जाना पड़ता है।[37] सिद्धान्तशिखामणि के मत में गु का अर्थ है सत्त्वादिगुणातीत-त्व और रु का अर्थ है अशुद्धमायारूपरहितत्व[38] अर्थात् निर्गुण और निराकार परशिव-चैतन्य को जो उपदेश के द्वारा शिष्य को समझाता है वही गुरु कहलाते हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय में गुरुपरम्परा की कुछ विशेषता रहती है। वीरशैवमत की गुरु-परम्परा निम्नलिखित है -

मठस्थलसमुत्पन्न: शान्त: शैवागमार्थवित्।
अनूचान: प्रसन्नात्मा शिवदीक्षाभिषेचित: ॥[39]

---

[36] गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काकू लागूँ पाय
बलिहारी गुरु आपनो गोविन्द दियो मिलाय ॥ उद्धृत वी. शै. अ. वि., पृ. सं. ३

[37] वही

[38] गुणातीतं गुकारं च रूपातीतं रुकारकम्
गुणातीतमरूपं च यो दद्यात् स गुरु: स्मृत: ॥ सि. शि. म., १५/८

[39] क्रिया. सा., तृ. भा., पृ. सं. १३३

मठस्थलसमुत्पन्न: का तात्पर्य हिरेमठ, पुराणमठ, स्थावरमठ आदि उपाधिवाले जंगम-वंश में जिसका जन्म हुआ हो और जिसे वीरशैव परम्परा के अनुसार किसी एक गुरुवर्ग के मठ पर पट्टाभिषेक दिया गया हो तथाजिसे शिवाचार्य की उपाधि प्रदान की गयी हो उसे गुरु कहते हैं ।[40] गुरु एक होते हुये भी दीक्षा, शिक्षा और ज्ञानोपदेश करने के कारण दीक्षागुरु, शिक्षा-गुरु और ज्ञानगुरु अभिधान से अभिहित होते हैं । दीक्षागुरु वे होते हैं जो पाश बन्धन का नाश करके परम ज्ञान का उपदेश करते हैं ।[41] यह दीक्षा भी वेधदीक्षा, मन्त्रदीक्षा और क्रियादीक्षा अभिधान से त्रिविध होती है । शिक्षागुरु वे होते हैं जो दीक्षा के पश्चात् लिङ्ग-पूजा आदि के नियम और पद्धति को सिखलाते हैं ।[42] ज्ञानगुरु वे कहलाते हैं जो वीरशैव आगमों में प्रतिपादित विषयों को अपने अनुभव अथवा अनेक युक्तियों के द्वारा प्रतिपादित करके शिष्य के संशय को हटाकर जीवन्मुक्त हेतुभूत शिवाद्वैत ज्ञान का उपदेश करते हैं ।[43]

गुरुकुलीन शिक्षा पद्धति शिष्य के मौखिक उच्चारण पर निर्भर करती थी किन्तु आज विद्यार्थी जितना अधिक प्रतिशत अङ्क प्राप्त करता है वह विद्यार्थी उतना ज्ञानवान माना जाता है । गुरुकुलीन पद्धति मौखिक उच्चारण को प्राथमिकता प्रदान करती है तो पाश्चात्य पद्धति लिखित-परम्परा को महत्त्व देती है । आज हमारी निवर्तमान पद्धति भी लार्ड मैंकाले द्वारा निर्मित लिखित-परम्परा पर ही आधारित है जिससे भारतीय परम्परा का वास्तविक ह्रास हो रहा है । आज गुरुकुलों की संख्या भी अत्यल्प है और जो हैं उनपर भी सरकार का ध्यान अत्यल्प है । इस सन्दर्भ में केन्द्र सरकार ने वैदिक शिक्षा बोर्ड बनाकर संस्कृत-जगत् के गुरुकुलों के लिये महनीय कार्य किया है । आज अधिकांशत: विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर आदि के पास भी वो ज्ञान नहीं है जो ज्ञान उन गुरुकुल के आचार्यों के पास है । इस विषय में संस्कृत विश्वविद्यालयों ने मध्यस्थता का कार्य किया है और गुरुकुल और पाश्चात्य पद्धति के सामञ्जस्य को स्थापित करने का नवीन प्रयास किया है । संस्कृत विश्वविद्यालयों का इस दिशा में जो प्रयास हो रहा है उसका समर्थन प्रत्येक भारतीय को करना चाहिये क्योंकि गुरु शब्द भारतीय परम्परा का द्योतक है तथापि कुछ लोग शिक्षक दिवस को "गुरु-उत्सव" कहने पर राजनैतिक लाभ लेने का प्रयत्न करते हैं । वीरशैव परम्परा की गुरुकुलीन शिक्षा-पद्धति भी आज अधिकांशत: मन्दिर-मठों तक ही सीमित रह गयी है । सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में वीरशैवमत के कुछ ग्रन्थ पाठ्यपुस्तक के रूप में निर्धारित किये गये हैं तथापि सम्यक् उच्चारण करके उसके अर्थ को समझने की परम्परा का अब भी नितान्त अभाव है । इस दिशा में वीरशैव संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना करने का प्रयत्न वीरशैवमत के आचार्यों को करना चाहिये जिससे

---

40 वी. शै. अ. वि., पृ. सं. ४

41 दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम्
यथा दीक्षेति सा तस्यां गुरुर्दीक्षागुरु: स्मृत: ॥ सि. शि. म., १५/७

42 दीक्षागुरुरसौ शिक्षाहेतु: शिष्यस्य बोधक:
प्रश्नोत्तरप्रवक्ता च शिक्षागुरुरितीर्यते ॥ वही, १५/१

43 उपदेशोपदेष्टानां संशयच्छेदकारक:
सम्यग्ज्ञानप्रद: साक्षादेष: ज्ञानगुरु: स्मृत: ॥ वही,१५/११

आगमकाल से लेकर अब तक निरन्तर प्रवाहमान यह परम्परा भविष्य में अपने सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित हो सके।

५.३ वीरशैवमत से सम्बन्धित रामकथा

भारतीय संस्कृति विविध सम्प्रदायों की पोषिका रही है। यहाँ प्रत्येक दिवस आनन्दमय है तथा प्रत्येक कण ब्रह्मतुल्य है। तभी तो यह चार्वाक दर्शन जैसे स्थूल चिन्तन को भी आश्रय प्रदान करती है तथा वेदान्त जैसे सूक्ष्म चिन्तन को भी हृदयङ्गम करती है। यहाँ की सनातन परम्परा अपने विरोधियों को भी आत्मसात करने का प्रयत्न करती है और "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना का प्रत्येक जनमानस के हृदय में सञ्चार करती है। इस परम्परा की विविधता में भी अद्भुत एकता है जो विश्व के किसी भी धर्म में नहीं प्राप्त होती है। भारत की यह परम्परा विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ माने जानेवाले ऋग्वेद से प्रारम्भ होती है और इसकी निरन्तरता ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पुराण, रामायण तथा महाभारत जैसे अद्वितीय ग्रन्थों की पावन ज्ञानधारा के साथ आज भी विद्यमान है। रामायण लौकिक संस्कृत का आदिग्रन्थ है तथा तदनुसार महर्षि वाल्मीकि आदिकवि। विष्णु के दसावतारों में यदि किसी अवतार को सबसे अधिक जनमानस ने आत्मसात किया है तो वें हैं श्रीराम एवं श्रीकृष्ण। श्रीराम सनातन धर्म के संरक्षक मर्यादापुरुषोत्तम पितृभक्त, मातृभक्त तथा भ्रातृ-भक्त हैं। श्रीराम की कथा एक ऐसी कथा है, जिस कथा में नैतिकता, धर्मपालनतत्परता, त्यागभावना तथा सत्य की विजय आदि दृष्टिगोचर होते हैं । इस कथा के माधुर्य रस में प्रत्येक जनमानस स्वयं को आनन्दित समझता है क्योंकि यह चतुर्विध पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) की प्रदायित्री है। यह सर्वविदित तथ्य है कि शिव भी सनातन परम्परा के प्रभावशाली देवता है। आशुतोष जैसी उपाधि से अलङ्कृत महादेव को वेदों में रुद्र कहा गया है। शिवपुराण ने तो उन्हें परब्रह्म की संज्ञा प्रदान की है। यह ध्यातव्य है कि शिव पुराण में राम को उनका आराधक माना है तो रामायण में शिव राम की आराधना करते देखे जाते हैं।

५.३.१ महर्षि वाल्मीकि एवं गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार श्रीराम एवं शिव

सर्वप्रथम वाल्मीकि मुनि ने ब्रह्मा के उपदेश से संस्कृत में रामायण की रचना की थी तो संत तुलसीदासजी ने शङ्करजी के आदेश से जन-जीवन की भाषा में रामचरितमानस के नाम से रामायण की रचना की। जहाँ गोस्वामीजी ने शिव-पार्वती के समागम को देवताओं द्वारा नहीं होने देने की चर्चा नहीं की है, वहाँ वाल्मीकि ने देवताओं द्वारा शिव-पार्वती का सुरत क्रीड़ा से विमुख करना, शिव का वीर्य पृथ्वी पर गिरना, कार्तिकेय का जन्म, कृतिकाओं द्वारा उन्हें दूध पिलाना, पार्वती का देवताओं को शाप देने की घटना का भी उल्लेख किया है। वाल्मीकि ने गङ्गा को शङ्करजी का धारण करना, गङ्गा का सात धाराओं में विभक्त होना एवं शिव का विषपान करने का उल्लेख बालकाण्ड में किया गया है, वही तुलसीदास ने उपर्युक्त घटनाओं को छोड़ते हुये सीता का गौरी पूजन हेतु आना, पार्वती से रामजी के लिये प्रार्थना करना तथा पार्वती का सीता को आशीर्वाद देने का उल्लेख किया है, जिसका

वाल्मीकि ने उल्लेख नहीं किया है । रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में शिव-पार्वती का सम्वाद, काकभुशुण्डी के पूर्व जन्म की कहानियाँ, शिष्य द्वारा गुरु का अनादर करना, शिवजी का क्रोध करना, गुरु के द्वारा रुद्राष्टक करके शिव की स्तुति का वर्णन है, जबकि यह घटना वाल्मीकि रामायण में नहीं है ।[44] गोस्वामी तुलसीदास ने तो श्रीरामचरितमानस को ही शिव-पार्वती सम्वाद के रूप में भी प्रस्तुत किया है -

उमा कहेऊ मैं अनुभव अपना ।
सत् हरि भजन जगत् सब सपना ।[45]
सावधान मनि करि पुनि शङ्कर ।
लागे कहन कथा अति सुन्दर ॥[46]

शैवागमों में भी यही शैली दृष्टिगोचर होती है । कहीं शिव पार्वती से प्रश्न करते है, तो कहीं भैरव-भैरवी से तो कहीं रुद्र रुद्राणी से और यही संवादात्मक ज्ञान अष्टाविंशति आगमों का आकार ग्रहण कर लेता है, जो शैव दर्शन के आधार-स्तम्भ माने जाते हैं । महाकवि कालिदास रामकथा से सम्बन्धित रघुवंश महाकाव्य की रचना करते हैं । उसमें राम से सम्बन्धित सबसे अधिक सर्ग है, लेकिन मङ्गलचरण उनके द्वारा शिवात्मक ही होता है -

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये ।
जगत: पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ॥[47]

गोस्वामी तुलसीदास ने तो पार्वती-मङ्गल आदि काव्यों की रचना की है, साथ ही रुद्रावतार हनुमान की भी उन्होनें भक्ति दर्शायी है, लेकिन शिव की भी मनोरम उपासना को उन्होनें अपने मधुर भावों के माध्यम से अभिव्यञ्जित किया है -

यस्याङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके,
भाले व्याल, विधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट् ।
सोऽयं भूति विभूषण सुरवर: सर्वाधिप: सर्वदा,
शर्व: सर्वगत: शिव: शशिनिभ: श्रीशङ्कर: पातु माम् ॥[48]

---

44 रा. रा. अ., पृ. सं.१३

45 रा. च. मा. बा. का.

46 वही, सु. का.

47 र. वं., प्र. स., श्लो. सं. १

48 रा. च. मा., अ. का., श्लो. सं. १

उन्होनें न केवल शिव की ही वन्दना की है अपितु गणेश की भी वन्दना की है -

वर्णानामार्थसङ्घानां रसानां छन्दसामपि ।
मङ्लानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥[49]

श्रीरामचरितमानस के अनुसार परब्रह्मस्वरूप श्रीराम ब्रह्मा एवं महेश के साथ ही शेषनाग के द्वारा भी सेवित होते है -

शान्तं शाश्वतं प्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदं
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनीशं वेदान्तवेद्यं विभुं ।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं
वन्देऽहं करूणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिं ॥[50]

इस श्रीराम रूपी हरि को कुछ लोगो ने शिव भी कहा है -

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा: बुद्ध इति प्रमाणपटव: कर्तेति नैयायिका: ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता: कर्मेति मीमांसका:,
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरि: ॥[51]

इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि और तुलसीदास ने शिवस्वरूप का सगुण और निर्गुण द्विविध रूप का वर्णन अवश्य किया है । रामचरितमानस में वर्णित रुद्राष्टक में शिव को परब्रह्म कहा गया है तो महर्षि वाल्मीकि ने भी शिव की व्यापकता रामकथा के अन्तर्गत भलीभाँति दर्शाया है ।

५.३.२ अन्य ग्रन्थों में श्रीराम एवं शिव

रामानन्द यति कृत शिवरामाष्टकम् में उन्होनें स्वयं को राम का सखा माना है । तदनुसार जो शिव की भक्ति इस शिवरामाष्टक द्वारा करता है वह शिवसायुज्य को प्राप्त करता है, साथ ही वह राम एवं रमा दोनों के हृदय में भी स्थान प्राप्त करता है । इस स्तोत्र में शिव एवं राम दोनों की प्रार्थना साहचर्य रूप में प्रस्तुत की गयी है ।[52]

---

[49] रा. च. मा. बा. का., श्लो. सं. १

[50] वही, सु. का., श्लो. सं. १

[51] ह. ना. १/३

[52] ह. ह. म., पृ. सं. २३९

श्रीराम और शिव परस्पर आराध्य और आराधक है, इस तथ्य का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण वहाँ उपस्थित होता है, जहाँ श्रीराम ने अपने हस्त से शिवलिङ्ग की स्थापना की और उनको प्रणाम किया, लेकिन यहाँ भी देखा गया कि शिव ने आशीर्वाद न देकर स्वयं श्रीराम को ही प्रणाम कर लिया । तात्पर्य यह था कि वें परस्पर आराधक और आराध्य मान रहे थे । एक दूसरे के समक्ष स्वयं को छोटा मानना ही इन दोनों दिव्यशक्तियों की महानता का परिचायक है । शिवलिङ्ग का नामकरण हुआ "श्रीरामेश्वर"। श्रीराम ने इसकी व्याख्या की "श्रीराम के जो ईश्वर है वह श्रीरामेश्वर है", जबकि शिव ने इसकी मनोगत व्युत्पति बतलाई "श्रीराम ही जिसके ईश्वर है वह श्रीरामेश्वर है । इस प्रकार इन दोनों देवताओं ने परस्पर आराधक-आराध्य की ही भावना प्रकटित की है, हाँलाकि इस घटना का उल्लेख वाल्मीकिकृत रामायण में नहीं है, लेकिन अध्यात्म रामायण (अनुध्याय, ४३२), नृसिंह पुराण एवं कूर्मपुराणादि में इस घटना का मनोरम चित्रण उपस्थित होता है । श्रीराम द्वारा पिनाक धनुष को तोड़ने पर शिव ने लेशमात्र भी रोष प्रकट नहीं किया, अपितु रामायणानुसार उन्होनें धनुष टूटने पर श्रीराम को नमन ही किया, नहीं तो उनके ताण्डव नृत्य को कौन नहीं जानता है । वाल्मीकि रामायण के एक प्रक्षेप के अनुसार श्रीराम लङ्का से वापसी की यात्रा में सीता को सेतु दिखलाकर कहते है कि महादेव ने यहाँ मुझपर अनुग्रह किया था (अत्र पूर्वं महादेव प्रसादमकरोन्मम) ।[53] पद्मपुराण (अनुध्याय, ५८७) के अनुसार राम ने समुद्र के तट पर शिव से विनती कर उनसे अजगवगधनुष प्राप्त किया था और उस धनुष पर समस्त सेना ने समुद्र को पार किया था । तदतिरिक्त सरपुराण (अध्याय, ३०) में कहा गया है कि राम ने शङ्कर के प्रसाद से अपना विष्णुपद पुन: प्राप्त किया था । शिवमहापुराण (शतरुद्रसंहिता, अध्याय ३८) के अनुसार राम ने गोदावरी के तट पर शिवलिङ्ग स्थापित कर चार महीने तक उसकी आराधना की थी, जिस पर शिव ने उनको अपना धनुष प्रदान किया । शिवपुराण (अनुच्छेद, १७९) के अनुसार विष्णु ने शिव से आज्ञा लेकर ही रामावतार ग्रहण किया था एवं सत्योपाख्यान (उतरार्द्ध, अध्याय १९) में राम शिव से शिवभक्ति का वरदान मांगते हैं । श्रीराम ने विश्वामित्र के उपदेश से अनेक शिवास्त्र प्राप्त किये थे । माहेश्वर-उपपुराण के अनुसार श्रीराम लङ्का से लौटने के पश्चात् एक दिन अपने पितरों का श्राद्ध कर रहे थे, तभी शिव ब्राह्मण का वेष बनाकर आ पहुँचे । उनको भी ब्राह्मणों के साथ ही भोजन के लिये स्थान दिया गया लेकिन सारे ब्राह्मणों के भोजन कर लेने के पश्चात् भी शिव भोजन करते रहे । भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न के साथ-साथ सेवक गण भोजन लाकर परोसते जा रहे थे, लेकिन शिवब्राह्मण की उदर पूर्ति भला कैसे हो सकती थी ? श्रीराम को यह बात पता चल गयी, उन्होनें तत्काल अन्नपूर्णा का आवाह्म किया । पार्वती शीघ्र ही उपस्थित हो गयी । उनके द्वारा भोजन कराने से शीघ्र ही शिव रूपी ब्राह्मण की उदर पूर्ति हो गयी । उनको उठाने के लिये ब्रह्माण्ड की दो दिव्यशक्तियों ने साथ दिया- रुद्रावतार हनुमान् तथा शेषनागावतार लक्ष्मण । कुल्ला करते समय उन्होनें सीता पर ही कुल्ला कर दिया तब सीता बहुत ही प्रसन्न हो गयी । जनकनन्दिनी ने कहा कि आपने तो मुझे तार दिया, नहीं तो आपके श्रीमुख का जल भला किसे मिल पाता है । यह मेरा परमसौभाग्य है जो आपने मुझपर इतनी कृपा की । तत्पश्चात्

---

[53] रा. क. वि., पृ. सं.४७५

राम आकर उनके पैर दबाने लगे और सीता पंखा झलने लगी तब शिव ने कहा "मैं तो समझता था कि आप मेरे इस अटपटे व्यवहार से खिन्न होगें, लेकिन आपने तो इसे सौभाग्य समझा । यह आपकी महानता है ।" वरदान स्वरूप तभी से शिव श्रीरामकथा सुनाकर जनमानस का उद्धार करने लगे ।[54]

५.३.३ रामकथा में हनुमान् और शिव

शिव पुराण के अनुसार जब विष्णु के मोहिनी रूप को देखकर शिव कामातुर हो गये, तब उनका गिरा हुआ तेज सप्त ऋषियों ने अपने कानों में लेकर सुमेरु के राजा केसरी की पत्नी गौतम-पुत्री अञ्जना के गर्भ में ले जाकर स्थापित किया, जिसके फलस्वरूप चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को श्रीरामभक्त हनुमान् का जन्म हुआ ।[55] स्कन्दपुराण के अवन्तीखण्ड (अध्याय ७९), तथा रेवाखण्ड (अध्याय ८४), तथा महानाटक में हनुमान् को रुद्रांश बताया गया है । आनन्द रामायण के अनुसार समुद्र पर पुल बाँधने से पूर्व श्रीराम ने हनुमान से कहा कि तुम काशी चले जाओ और वहाँ शिवजी से शिवलिङ्ग माँगकर लेते आना । हनुमान को काशी पहुँचते देर न लगी और उनको शीघ्रता का अभिमान भी हो चला था । शिव ने शिवलिङ्ग देते हुये कहा कि मैं अगस्त्यजी को वचन भी दे चुका हूँ कि जब श्रीराम का आदेश होगा तभी मैं दक्षिण जाऊँगा । इस तरह हनुमानजी स्वयं को गौरवावान्वित समझ रहे थे कि उनके अतिरिक्त ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य कोई नहीं कर सकता । इधर श्रीराम उनके मनोगत विचारों को जान चुके थे, उन्होनें सुग्रीव को आदेश देकर बालू का ही शिवलिङ्ग निर्माण कर लिया । जब हनुमान आए तो उन्होनें कहा कि देखो मुहूर्त बीता जा रहा था इसलिये मुझे यह कार्य अतिशीघ्र करना पड़ा । यदि तुम अपनी पूँछ से इस बालूनिर्मित शिवलिङ्ग को उखाड़कर हटा दो तो फिर तुम्हारे द्वारा काशी से लाए गए इस शिवलिङ्ग की पुन: प्राणप्रतिष्ठा हो सकेगी । हनुमान तो अभिमानयुक्त थे अत: उन्होनें जैसे ही इस कार्य को सम्पादित करने की चेष्टा की, उनकी पूँछ ही दो टूकड़े में बँट गयी । तब जाकर उनको अपने अभिमान का आभास हुआ, उन्होनें शीघ्र ही क्षमा-याचना की और श्रीराम के आशीर्वाद से उनकी पूँछ पुन: यथावत् हो गयी । श्रीराम ने काशी से आनीत शिवलिङ्ग को पुन: यथास्थान पहुँचाने के लिये कहा तथा तभी अगस्त्य ऋषि ने वहाँ आकर रामेश्वर के आग्नेयकोण (दक्षिण-पूर्व कोण) में अगस्त्येश्वर नामक शिवलिङ्ग की स्थापना की । तत्पश्चात् उन दोनों शिवलिङ्गों में शिव का वास हुआ ।[56]

५.३.४ रामकथा में रावण और शिव

---

[54] ह. ह. म., पृ. सं. १८२-१८३

[55] वही, पृ. सं. १७९

[56] वही, पृ. सं. १८०-१८१

शिवपुराण (अनुध्याय, ३४८) के अनुसार दो शिवगण नारद के शाप के कारण रावण एवं कुम्भकर्ण बन गए थे। रामायण के उत्तर काण्ड में रावण ने शिव से चन्द्रहास खड्ग प्राप्त किया था (१६ सर्ग)। तदनुसार रावण एक सुवर्ण लिङ्ग सदा अपने साथ रखता था

यत्र यत्र च याति रावणो राक्षसेश्वर:।
जाम्बूनदयं लिङ्गं तत्र-तत्र स्म नीयते॥[57]

रावण शिव का परम भक्त था। शिव से प्राप्त वरदानों के कारण वह स्वयं को अमर ही मानने लगा था। उसने अपने सौतेले भाई कुबेर से उसकी लङ्का छीन ही ली थी, उसका पुष्पक विमान भी छीन लिया था। शिव की भक्ति करने के लिये वह अपने शीश भी काटने में नहीं झिझकता था। रघुवंश तथा दशावतारचरित के अनुसार रावण ने अपने नौ सिर शिव को समर्पित किये थे, किन्तु वरदान ब्रह्मा ने दिया था।[58] स्कन्दपुराण के माहेश्वरखण्ड, पद्मपुराण के उत्तरखण्ड (अध्याय, २६९), पाश्चात्य वृतान्त संख्या ३ आदि के अनुसार शिव ने रावण और उसके भ्राताओं को वरदान दिया था। आनन्द रामायण के अनुसार रावण ने अपने शरीर से एक वीणा बनाकर शिव की स्तुति गायी थी।[59] लिङ्गामृत (सर्ग, १०) के अनुसार रावण का कहना है कि शिव की पूजा करने के पुरस्कार स्वरूप राम विजय प्राप्त करने में समर्थ हुये। आशुतोष शिव ने स्वयं द्वारा निर्मित उसको लङ्का भी प्रदान कर थी, जिसके कारण उसका अभिमान और बढ़ गया था। रावणकृत शिवताण्डवस्तोत्र में उसकी विद्वता की अद्भुत झलक देखने को मिलती है। शैव सम्प्रदायों में वीरशैवसम्प्रदाय के संस्थापक पञ्चाचार्यों में साक्षात् शिवस्वरूप रेणुकाचार्य ने रावण के अधूरे सङ्कल्प को पूर्ण किया था। वें जब लङ्का में पधारे तब विभीषण ने उनका आगमन जानकर स्वयं को तथा लङ्का को धन्य समझा। उन्होनें शिव स्वरूप रेणुकाचार्य से प्रार्थना की कि आप मेरे भ्राता के सङ्कल्प को पूरा करें। रावण के सङ्कल्पानुसार नौ कोटि शिवलिङ्गों की स्थापना होनी थी, जिसमें से रावण ने छ: कोटि शिवलिङ्गों की स्थापना कर दी थी लेकिन अवशिष्ट तीन कोटि शिवलिङ्गों की स्थापना से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गयी। रेणुकाचार्य ने विभीषण की प्रार्थना को स्वीकार किया और तत्काल ही अवशिष्ट तीन कोटि शिवलिङ्गों की स्थापना करके उनमें प्रवेश किया। चूँकि रेणुकाचार्य शिव के पञ्चगणों में से एक थे एवं वें शिव के पञ्चमुखोद्भूत थे, अत: उन्होनें स्वभावत: ये दिव्य कार्य किया।[60] श्रीराम एवं शिव दोनो एक ही सत्ता के द्विविध रूप हैं और इनकी विद्यमानता भारतवर्ष में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में सनातन धर्म के रक्षक के रूप में समान रूप से ही है। शिव के मन्दिर में शिव की मूर्ति या लिङ्ग के साथ श्रीराम की मूर्ति स्थापित करने में सनातन परम्परा स्वयं को गौरवान्वित समझती है। यहाँ प्रत्येक कण में भगवान वास करते है-

---

[57] वा. रा. उ. का., ३१/४२

[58] र. वं. द. स.

[59] रा. क. वि., पृ. सं. ४२२

[60] सि. शि. म., पृ. सं. १८२

सीयाराममय सब जग जानी । करहु प्रनाम जोर जुग पानी ॥[61]
शिवशक्त्यात्मकं जगदिदं सर्वम् ॥[62]

इस सृष्टि में तो कोई ऐसी सत्ता अवश्य है, जो इतने विशाल ब्रह्माण्ड का सञ्चालन करती है , उसे हम राम कहे शिव कहे या फिर कोई अन्य नाम दे । भले उसे हम शब्दगत करे या फिर न करे लेकिन उपनिषदों के अनुसार "अस्तित्येवोपलब्धव्य:"[63] अर्थात् वह है । हममें उतनी योग्यता विकसित नहीं हो पाती, जिससे हम उसे इन्द्रियगत कर सके । फलत: कुछ लोग परम्परा को आँख मूंद कर ढोते रहते हैं, तो कुछ उसे आस्था और विश्वास का नाम देते हैं । जो लोग प्रत्येक परम्परा को यदि वैज्ञानिकता से जानने का प्रयत्न करते हैं, वही वास्तव में सत्य का ज्ञान कर पाते हैं । यही तथ्य रामकथा के साथ भी उपस्थित होता है । कुछ व्यक्ति उन्हें दशरथ का पुत्र मानते है, तो कुछ उन्हें परब्रह्म की भी संज्ञा देते हैं । सगुण परम्परा में भेद होना आवश्यक है, क्योंकि उसमें अंश और अंशी की भावना होती है, जबकि निर्गुण परम्परा में दोनों एक ही हो जाते हैं । जिस राम को लोग दशरथ का पुत्र मानते हैं, पद्मपुराणानुसार उनके बिना किसी भी काव्य का अस्तित्व नहीं है -

न तत्पुराणं नहि यत्र रामो
यस्यां न च तस्यां संहिता च ।
स नेतिहासो नहि यत्र राम:
काव्यं न तत्स्यान्नहि यत्र राम: ॥[64]

आनन्द रामायण (मनोहरकाण्ड, सर्ग १२), पद्मपुराण (पातालखण्ड, अध्याय४६, श्लोक संख्या २०) तथा रामलिङ्गामृत (सर्ग, १९) में राम तथा शिव की अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है और रामलिङ्गामृत के अनुसार राम ने युद्ध से पूर्व अपना शिव रूप दिखाया था । फलत: एक ओर से यह रामशिवादिविशिष्ट परम सत्ता स्थूलत: सभेद, सक्रम, सखण्ड तथा साकार है तो दूसरी ओर वह सूक्ष्मत: अद्वैत, अक्रम, अखण्ड तथा निराकार है ।

५.४ वीरशैवमत में राष्ट्रवाद

भारतवर्ष में संस्कृत वाङ्मय एक औषधि स्वरूप है जो केवल भाषामात्र न होकर अनन्त ज्ञान का भण्डार है । जहाँ इसके मन्त्रों के मनन मात्र से आध्यात्मिक परितुष्टि प्राप्त होती है, वही

---

61 रा. च. मा., बा. का.

62 ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू., पृ. सं. ३९

63 श्वेत. उ., ११

64 रा. म. का. प्र., पृ. सं.१९४

इसके व्यवहार से हमारा समाज भी अपने नैतिक कर्तव्यों का पालन करता है। इसके कलेवर में परस्पर भ्रातृत्व के साथ ही विश्वबन्धुत्व की भावना भी समाहित है। भारतीय संस्कृत-वाङ्मय सर्वदा ही विश्व का प्रेरणा स्त्रोत रहा है। यह न केवल भौतिक उन्नति का पोषक रहा है अपितु आध्यात्मिक उन्नति का भी परिचायक रहा है। इसकी शाखाओं एवं उपशाखाओं के प्रत्येक पत्र में ज्ञान का वह अथाह भण्डार है, जो चतुर्विध पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) का वैश्विक परिदृश्य में प्रख्यापन करता है। यह एक ऐसी ज्ञानराशि है जो विश्व अभ्युदय के लिये सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होती है।

राष्ट्र शब्द केवल किसी क्षेत्र विशेष का ही बोध नहीं कराता है अपितु वह वैश्विक परिदृश्य का भी परिचायक होता है। यह समूह विशेष का भी बोधक होता है किन्तु उस समूह विशेष में प्राणी हित का विचार भी समाविष्ट होता है। मानव ने केवल अपने व्यवहार को ही सुनियोजित करने के लिये इस व्यापक अर्थ की परिकल्पना नहीं की अपितु इस व्यापक चिन्तन से हम इस सृष्टि के प्रत्येक जीव के प्रति सौहार्द्रपूर्ण भावना रखें, यह इस चिन्तन का सार्वभौमिक रूप था। व्यक्ति की इस संकल्पना में ग्राम से लेकर राष्ट्र या विश्व पर्यन्त जो भीत्तिका उपस्थापित की गई वह व्यक्ति के आत्मविश्वास को बल देने के लिये की गयी न कि वह अपने गृह को ही अपना देश समझ ले। एक व्यक्ति यदि स्वयं को विश्व का नागरिक समझे तो संस्कृत वाङ्मय की वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना चरितार्थ हो जाये और प्रत्येक राष्ट्र की उपस्थापना के क्रोड़ में प्रधानतया यही उद्देश्य अवलोकित होता है।

इस राष्ट्र का प्राण तत्त्व धर्म होता है। धर्म का तात्पर्य कर्म से है। मानव या प्रत्येक प्राणी का सद्धर्म ही उसको नैतिक और अनैतिकता का अवबोध कराता है। आदिकाल से भारतवर्ष भी एक ऐसा ही धर्मपरायण राष्ट्र रहा है। यहाँ प्रत्येक दर्शन धर्मस्वरूप प्रतिष्ठित हैं, जहाँ कर्म और ज्ञान को समुचित प्राथमिकता प्राप्त होती है। कभी चिन्तन स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ता है तो कभी सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर, तदनुसार कणमात्र से ब्रह्माण्ड का आविर्भाव होता है और उसी कणमात्र में ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड लय को प्राप्त होता है। फलत: स्थूलता रूपान्तरित तथा सूक्ष्मता अनश्वर मानी जाती है।

दर्शन चिन्तन की वह सरणि है जो स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों ज्ञानधाराओं के समुचित विवेचन के लिये नियोजित है। इस प्रकार इसकी द्विविध दृष्टि अवलोकित होती है। बाह्य दृष्टि स्थूलता को प्राथमिकता प्रदान करती है तो आभ्यन्तर दृष्टि सूक्ष्मता को प्रश्रय देती है। एक कार्यात्मिका है तो अपरा कारणात्मिका। भारतीय परम्परा इन द्विविध ज्ञानधाराओं का प्रतिनिधित्व करती है। चार्वाक दर्शन जहाँ भौतिकता के चरमोत्कर्ष को दर्शाता है तो वही वेदान्त दर्शन आध्यात्मिकता के चरमोत्कर्ष का दिग्दर्शन कराता है।

आगम श्रुतिसम्मत ही है, भले वह वेदांश हो या वेदानुसारी तंत्र। दु:ख का विषय यह है कि आधुनिक समाज आगमों की विशुद्ध वैदिक साधनापद्धति को भूलकर प्राय: आसुरी तन्त्र का ही चयन करते हैं, फलत: सात्विक भावों को धारण करने वाले भक्त तथा साधक भी अनुचित आचरण करने लगते हैं। इस कारण से राष्ट्रवादी चिन्तन में आगमों का अध्ययन अत्यल्प होता जा रहा है। सामान्य जन आगमों या तन्त्र को जादू-टोना आदि समझ लेते हैं। फलत: इसके प्रति भय उत्पन्न हो जाता है, जबकि आगमों की पद्धति एक सामाजिक जीवन यापन की पद्धति है। इसके दैनिक, मासिक तथा वार्षिक क्रियाकलाप वैज्ञानिक हैं, जिनके

अनुपालन से प्रकृति के प्रति सद्भाव उत्पन्न होता है। राष्ट्र की प्राण प्रजा होती है। प्रजा का सम्यक् परिपालन ही राष्ट्राधिकारी का कर्तव्य होता है। इस प्रक्रिया में ज्ञान एवं कर्म दोनो की आवश्यकता होती है। यह सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये आवश्यक होता है कि वह राष्ट्र स्थान और काल के उचितानुचित का ज्ञान रखे और उस ज्ञान पर आधारित प्रयोग का अनुपालन करे। इस प्रकार ज्ञान एवं कर्म के समन्वय से ही राष्ट्र का सम्पूर्ण विकास सम्भव है।

वीरशैवदर्शन वेदान्त के ग्यारह शाखाओं के अन्तर्गत शक्तिविशिष्टाद्वैत दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित है। इसके करोड़ों अनुयायी सम्प्रति भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में हैं। आगमकाल की यह परम्परा अपने ज्ञान को विश्व में स्थापित करती चली आ रही है। तदनुसार केवल ज्ञान और केवल कर्म से सम्पूर्ण अभ्युदय होना असम्भव है। इन दोनो का समन्वय ही वैश्विक अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। यदि हमें औषधि का ज्ञान हो और हम उसका लेप अथवा भक्षण न करें तो रोग का निवारण नहीं हो सकेगा। अत: इन दोनो का समन्वय ही रोग को दूर कर सकता है। लिङ्ग (शिव) एवं अङ्ग(जीव) में ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय भी सिद्धान्तत: आवश्यक प्रतीत होता है। कहा भी गया है-

ज्ञाने सिद्धेऽपि विदुषां कर्मापि विनियुज्यते।
फलाभिसन्धिरहितं तस्मात्कर्म न सन्त्यजेत् ॥[65]

सिद्धान्तशिखामणिग्रन्थ भी पङ्गवबन्धन्याय से इस तथ्य का समर्थन करता है -

अन्धपङ्गुवदन्योन्य सापेक्षे ज्ञानकर्मणी।
फलोत्पत्तौ विकारस्तु तस्माद्वयमाचरेत् ॥[66]

वीरशैवों के अनुसार कर्म दो तरह के होते हैं- पशुकर्म तथा पतिकर्म। फलाकांक्षा से युक्त ज्योतिष्टोमादि कर्म पशुकर्म कहे जाते हैं तथा फल की आकांक्षा से रहित परब्रह्मशिव के ध्यानोपासनादिकर्म पतिकर्म माने जाते हैं। वीरशैवद्वैताद्वैतवादी अर्थात् ज्ञानकर्मसमन्वय-वादी सिद्धान्त है। पूर्वमीमांसा दर्शन में कर्म को प्राथमिकता और उत्तर मीमांसा दर्शन में ज्ञान को प्राथमिकता प्राप्त होती है किन्तु वीरशैवदर्शन इसका समन्वय प्रस्तुत करता है। इसके मतानुयायी षड्-स्थल, पञ्चाचार, अष्टावरण तथा पञ्चयज्ञादि के अनुष्ठान से ज्ञान और कर्म का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत करते हैं। "ज्ञानविज्ञानसहितं" को आज सम्पूर्ण विश्व भले ही आदर्श रूप में मान रहा है किन्तु सम्प्रति केवल इस विश्व को भौतिक उन्नति ही लक्ष्य मात्र प्रतीत हो रही है, जो कि वैश्विक अशान्ति का प्रमुख कारण है। हमें क्रियात्मक ज्ञान के अतिरिक्त उस ज्ञान के हानि-लाभ पर भी विचार करना होगा, जो विश्व के लिये चिन्ता का विषय है। वीरशैवमतानुयायी दासोऽहं की भावना से सम्पूर्ण विश्व के प्रति सेवा भावना

---

[65] ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू.पृ. सं. १७९

[66] वही

रखते हैं। ये दासोऽहं से सोऽहं की यात्रा तय करते हैं, जिससे सम्पूर्ण दुर्गुणों का नाश हो जाता है और राष्ट्रप्रेम की भावना को प्रश्रय प्राप्त होता है। वीरशैवमतानुयायी जगत् को मिथ्या न मानकर सत्य मानते हैं। तदनुसार -

जीव: सत्यं जगत् सत्यं शिव: सत्यं स्वभावत: ।
तयोरभेद: सत्यं वा क्रिमिभ्रमरयोरिव ॥[67]

प्रत्येक कण में शिव तत्त्व को देखना न केवल मानव को मानव के प्रति अपितु मानव को ब्रह्माण्ड के प्रत्येक कण के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है। वीरशैवमत में परिश्रम बिना अन्न ग्रहण पाप माना जाता है। यह सिद्धान्त भी राष्ट्र के लिये आवश्यक प्रतीत होता है। भारत सभ्यता और संस्कृति का देश है। यहाँ पर अनेकता में भी एकता का दिग्दर्शन होता है। विविध भाषाओं तथा वेशभूषाओं के होने पर भी यहाँ एक अद्भुत भ्रातृत्व अवलोकित होता है। यहाँ प्रत्येक धर्म एक दर्शन है क्योंकि प्रत्येक धर्म में लैकिक जीवन का सम्यक् परिपालन तथा उसके माध्यम से न केवल इस भूखण्ड पर आनन्दमय जीवन अपितु उसके सम्यक् परिपालन से परब्रह्म की भी प्राप्ति भी होती है। वीरशैव भी ऐसा ही धर्म है।
इस धर्म में दान का अत्यधिक महत्व है। दान करना त्यागमय जीवन को प्रश्रय देता है जिसके सामाजिक अशुद्धियों का निवारण होता है तथा भारतीय त्यागपूर्वक भोग की भावना को उचित स्थान प्राप्त होता है। इनके पञ्चाचारों में भृत्याचार भी यही दर्शाता है। सेवाभावना से जनमानस में व्याप्त ईष्या, द्वेषादि दुर्भावनाओं को समाप्त किया जा सकता है। इस धर्म के करोड़ों अनुयायी आज भी भारत के विभिन्न प्रान्तों में हैं। कर्णाटक में वीरशैवमत के ८० लाख लोग हैं तथा तमिलनाडु में भी इनकी संख्या लाखों में है। भारत की संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रहने के लिये इनके पञ्चज्योतिर्लिङ्गों कि स्थापना आपसी सौहार्द्र का अन्यतम प्रमाण है। भारतवर्ष में धार्मिक तीर्थस्थलों का अत्यधिक महत्व है। तीर्थस्थलों के माध्यम से देश के अन्तर्गत प्रत्येक कोने से कोने तक आवागमन बन जाता है, जो राष्ट्र की अखण्डता की रक्षा तो करता ही है, परस्पर भ्रातृत्व को भी बढ़ाता है। वीरशैवमत के अनुयायी प्रकृति का पूर्णत: सम्मान करते हैं जो वेदों का निहितार्थ है। वेदों की सगुण तथा निर्गुण भावना दोनों का समावेश इस धर्म में प्राप्त है। शिव का विश्वमय तथा विश्वोत्तीर्ण होना इस तथ्य का अन्यतम प्रमाण है। वीरशैवमत के अनुयायी प्रकृति के प्रत्येक कण को देव तुल्य मानते हैं तभी तो नदी, वृक्ष, पर्वत, अन्न इत्यादि की पूजा करते हैं। फलत: एक ओर यह परम सत्ता स्थूलत: सभेद, सक्रम, सखण्ड तथा साकार है तो वही वह सूक्ष्मत: अद्वैत, अक्रम, अखण्ड तथा निराकार है और यह भावना राष्ट्रवाद के लिये आवश्यक प्रतीत होती है। वीरशैवदर्शन प्राचीन होते हुये भी आधुनिक है। इसमें परम्परा के साथ आधुनिकता का सम्मिश्रण भी अवलोकित होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्म: भयावह:[68] स्वधर्म का परित्याग कदापि नहीं करना चाहिये। इसके अनेक ग्रन्थ जीवन के

---

[67] सि. शि. म., ५/७

[68] श्रीमद्भ., ५/७

प्रत्येक मार्ग की वैज्ञानिकता से परिपूर्ण होकर भलीभाँति व्याख्या करते है। ब्राह्मण ग्रन्थों के जटिल कर्मकाण्डों के विरोधक इस धर्म में जहाँ स्त्री और शूद्र को समान अधिकार प्रदान किया गया, वही इसके अनुयायियों ने समाज की अनेक कुरीतियों को समूल समाप्त कर दिया। आज जिसको हम विकास का नाम दे रहे हैं, वह केवल भौतिक विकास ही है। इस विकास से हमें कभी भी मानसिक एवं आध्यात्मिक शांति प्राप्त नहीं हो सकती। आज बुद्धिजीवी वर्ग में भी आत्महत्या की सम्भावना प्रबल होती जा रही है। इसका प्रमुख कारण है कि हम भौतिक सुख-सुविधाओं से अपनी रिक्तता को आवृत करना चाहते हैं किन्तु यह पूर्णरूपेण हमें आवृत नहीं कर पाता है। फलत: हम रिक्तता को दूर नहीं कर पाते और हमारा मन अशान्त रहता है। अशान्तस्य कुत: सुखम्[69] के अनुसार अशान्त मनुष्य सुखी नहीं रह सकता है। आधुनिक काल में द्रव्य मात्र अवशेष रह गया है। हम पाश्चात्य सभ्यता का बहुविध अनुकरण कर रहे है, जिससे हमारी वास्तविक परम्परा का ह्रास ही हो रहा है। हम केवल भौतिक उन्नति के साधनों को ही सर्वस्व मान बैठे हैं। इस प्रकार आज हमें आवश्यकता है ऐसे मार्ग की जो हमें सम्पूर्ण विकास की ओर अग्रसर करें। हमारी सनातन परम्परा जीवन के प्रत्येक पथ का नियोजन वैश्विक परिदृश्य के आलोक में करती हैं किन्तु आधुनिक भारतीय परम्परा पाश्चात्य का अनुकरण करके केवल स्वार्थता एवं लोलुपता का भला चाहती है। आज उन कर्मचारियों की संख्या अत्यल्प है जो अपने कर्तव्य का निर्वहण भलीभाँति करते है। उसके कार्य से भले ही पर्यावरण की क्षति हो, प्रकृति का ह्रास हो किन्तु उन्हें केवल द्रव्य मात्र का लाभ ही अवलोकित होता है जिसके कारण हमारा समाज अवनति को प्राप्त होता दिख रहा है। भौतिक सुख सुविधाओं से हम कदापि सुख नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि वह क्षणिक है। किसी भी राष्ट्र को (जो विकास की कामना रखता है) ऐसी भावनाओं से ओत-प्रोत होना चाहिये।

५.४.१ वीरशैवमत में राष्ट्रभक्ति

जिस प्रकार कामुक व्यक्ति का मन व्यभिचारिणी स्त्री में लगा रहता है और दरिद्र व्यक्ति का मन जैसे अकस्मात् प्राप्त खजाने में लगा रहता है उसी प्रकार जिस व्यक्ति का मन अन्य सारे कार्यों से पृथक् होकर केवल राष्ट्र की सेवा में लगा रहता है, वही सच्ची राष्ट्र भक्ति है।[70] जो व्यक्ति इस भक्ति से रहित होता है, उसके सम्पूर्ण प्रयत्न निष्फल होते हैं तथा उसे सद्गति नहीं प्राप्त हो सकती।[71] वीरशैवमत के अनुयायी अहिंसावादी प्रवृति के होते हैं, फलत: वे शाकाहार पसंद करते हैं। भस्म धारण से मस्तिष्क को केन्द्रित कर प्रकृति तथा जीव जन्तुओं के प्रति सम्मान की भावना रखते हैं। शिव का विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय होना सगुण तथा निर्गुण भावनाओं को प्रश्रय देता है। मूलत: परमसत्ता निराकार है तभी तो हम सुन्दर मूर्ति

---

[69] श्रीमद्भ., ६/८

[70] पा. आ., ६/४२

[71] वही, ६/४५

के समक्ष आँख मूंदकर उसकी सूक्ष्मता का अनुभव करने का प्रयत्न करते हैं । काली की भयानक मूर्ति में ममतामयी माँ का अवलोकन भी इसी तथ्य को दर्शाता है । मनुष्य के लिये प्रकृति का प्रत्येक कण देव तुल्य है, तभी तो हम नदी, पर्वत, वृक्ष एवं अन्न इत्यादि की पूजा करते हैं । इस सिद्धान्त से राष्ट्र का स्थान परब्रह्म की कोटि को प्राप्त करता है, जो भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है । यह सिद्धान्त न केवल विश्व को ही कुटुम्ब मानता है अपितु अपने राष्ट्र के प्रति भी अगाध श्रद्धा रखता है ।

५.५ वीरशैवमत में प्रमुख मातृकाओं का स्वरूप

भाषा के लिये व्यवहार में प्रयोग रूप में प्रचलित जो वर्ण या अक्षर हैं, उन्हें मातृका कहा जाता है । ये वर्ण या अक्षर ही भाषा को उत्पन्न करते हैं । भाषा को उत्पन्न करने के कारण इन्हें मातृका[72] कहा जाता है । बहुविध भाषा होने के कारण इन मातृकाओं के भी अनेक प्रकार हो जाते हैं । इसे प्रथमत: दो भागों में विभक्त किया गया है - आर्यमातृका और अनार्यमातृका । जिसमें स्वर और व्यञ्जन का स्पष्ट विभाग विद्यमान है वह आर्यमातृका है । यह चार प्रकार की है - ब्रह्ममातृका, अक्षमातृका, सिद्धमातृका और भूतमातृका । जिनमें स्वर और व्यञ्जन का विभाग पृथक्-पृथक् नहीं है, वें अनार्यमातृकायें हैं । इनमें स्वर और व्यञ्जन परस्पर तादात्म्यरूप में अवस्थित रहते हैं । यह अनार्यमातृकायें भी अनेक हैं किन्तु आर्यों ने अपने व्यवहार में एकमात्र होड़ामातृका नामक मातृका का ही ग्रहण किया है । फलत: उस होड़ामातृका भी निरूपण आर्यमातृकाओं के साथ ही किया जाता है । वर्ण के अतिरिक्त पद कुछ अन्य वस्तु नहीं होता और वर्ण तथा पद के अतिरिक्त वाक्य भी कुछ अन्य पदार्थ नहीं होता है । वर्ण मिलकर जब एक समूह बनते हैं तो वह पद कहलाता है और इस तरह वर्ण ही पद होते हैं । पदों का समूह वाक्य कहलाता है । पद स्वयं वर्णात्मक होते हैं । इसलिये इनका समूह भी वर्णात्मक ही होता है । पदों के भिन्न होने पर भी वर्णों की एकता समाप्त नहीं होती है । भिन्न-भिन्न वाक्यों में भी एक ही पद उपलब्ध होता है ।[73] शिष्टजनों और आगमों से

---

[72]सन्धिस्पर्शसुबन्ततद्धितितिङन्ताद्यै: कृदन्तादिभि-
वर्णाधैर्विविधैश्च सिद्धवपुषं सिद्धान्तमृक्सामगम्
हर्षादिक्षुधनु: सपुष्पविशिखं देवीं दधानाम्भजे
फुल्लाम्लानजपारुचिं त्रिनयनां कोट्यंशुमालिप्रभाम् ॥
अर्थात् सन्धि के माध्यम से सर्वस्पर्शमयी, सुबन्त, तिङन्त, तद्धित और कृदन्त प्रक्रियाओं द्वारा निष्पन्न विविध वर्णौघ अर्थ-शब्दराशि से सुशोभित सिद्धवपुष्मती माता, ऋग् और साम के सामरस्य से सरस सिद्धान्त सम्पन्न और सौन्दर्य की दृष्टि से काम के पञ्चबाणों से विभूषित इस महनीया मातृका के चरणों में स्वात्म का सश्रद्ध अर्पण कर रहा हूँ मातृकारूप यह विश्वमनोज्ञा माँ विकसितजपापुष्पोंकी कान्ति से कमनीय हैं कोटि-कोटि अंशुमाली सूर्यों की प्रभा से भास्वर त्रिनेत्रा माँ को यह भक्त विनम्र नमन कर रहा है व. बी. प्र. त. व. ध्या., श्लो. सं. ४५, पृ. सं. २२३

[73]अथ गौरित्यत्र क: शब्द:? गकारौकारविसर्जनया इति भगवानुपवर्ष: मीमांसाशाबरभाष्य,१/१/१
वाक्यस्थेषु खलु वर्णेषूच्चरत्सु प्रतिवर्णं तावच्छ्रवणं भवति श्रुतं वर्णमेकमनेकं वा पदभावेन प्रतिसन्धत्ते प्रतिसन्धाय पदं व्यवस्यति न्या. सू. भा, ३/२/६२

परम्परया प्राप्त शब्द साधु शब्द कहलाते हैं और ये धर्मसाधन होते हैं अर्थात् साधु शब्द के प्रयोग से धर्म होता है । इसके विपरीत अशिष्ट (साधारण) जनों से निष्पन्न केवल लौकिक वार्तालापों से प्राप्त शब्द असाधु शब्द कहलाते हैं । ये धर्म के साधन नहीं होते हैं । इतनी विपरीतता होते हुये भी अर्थबोध कराने में इन दोनो में कोई भेद नहीं होता । दोनो से ही समान अर्थावबोध होता है ।[74] वेदों को प्रणव से उत्पन्न माना गया है । इस नादात्मक प्रणव में वे सभी वेद अपने नाम-शाखा-स्वरादि भेद के बिना ही विद्यमान रहते हैं । ऐसी स्थिति में यदि कोई स्वरादि भेद है तो वह केवल पृथक् स्थिति का सूचक भर है ।

५.५.१ रुद्रमातृका

उपर्युक्त आर्यमातृकाओं के अन्तर्गत सिद्धमातृका को ही रुद्रमातृका कहते हैं । इसके अन्तर्गत वर्णों का क्रम निम्नलिखित है :-

अ इ उ ऋ । ए ओ ऐ औ । लृ ह य व र ल । ञ म ङ ण न । झ भ घ ढ ध । ज ब ग ड द । ख फ छ ठ थ । च ट त क प । श ष स ह ।

यह रुद्रमातृका का वर्ण अथवा अक्षरसमूह है । इन तैंतालीस (४३) वर्णों से माहेश्वरी वर्णमाला में अकार के अनन्तर अथवा सकार के अनन्तर अं अ:)(क)(प ये चार वर्ण तथा यमसंज्ञक वर्ण अधिक माने जाते हैं । र ल न म आदि जो सोष्म वर्ण हैं, उनका संस्कृत भाषा में उपयोग न होने से यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है । जो अन्त:स्थ ईषत्स्पृष्ट तथा दु:स्पृष्ट वर्ण हैं, वे उच्चारण के भेद से भाषा में प्रयुक्त होने पर भी फलरूप में प्राय: कोई विशेषता नहीं रखते । अत: उनकी पृथक् गणना नहीं की गई । उनकी गणना न होने पर किसी प्रकार के न्यूनता की आशङ्का नहीं करनी चाहिये । कुछ ऐसे भी वर्ण हैं, जो भाषा के व्यवहार में तो आते हैं किन्तु मातृकापाठ में नहीं पढ़े गये हैं और ऐसे कुछ वर्णों की मातृकापाठ में पढ़े गये वर्णों के साथ सवर्णता बतलायी जाती है । यदि वे वर्ण सर्वथा भिन्न होते तो अवश्य ही मातृकापाठ में उनका भी पृथक् निर्देश होता । जो मातृकापाठ में नहीं पढ़े गये हैं, वे पढ़े गये वर्णों के सवर्ण माने जाते हैं । यथा - अ इ उ ऋ इन चारों के प्रत्येक स्वरवर्ण के अट्ठारह प्रकार के अभीष्ट हैं । इन अ इ उ ऋ वर्णों का प्रथमत: ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद से तीन-तीन और फिर प्रत्येक के तीन उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद होने से नौ-नौ हो गये । तत्पश्चात् अनुनासिक और निरनुनासिक भेद से वे नौ के दुगुने अर्थात् अट्ठारह प्रकार के हो गये । लृ वर्ण का दीर्घ भेद नहीं होता, अत: दीर्घ के छ: भेद कम होने से वह बारह प्रकार का होता है । य व ल वर्ण से अनुनासिक और निरनुनासिक भेद से दो-दो प्रकार के हैं । स्वर, काल, स्थान, बल और अनुप्रदान ये पाँच यद्यपि वर्णों के गुण हैं किन्तु स्थान और बल या प्रयत्न की एकता ही वर्णों की सवर्णता का कारण है । इसलिये विवृत प्रयत्न वाले स्वरों की पूर्णस्पृष्ट या अर्धस्पृष्ट वाले व्यञ्जन के साथ सवर्णता नहीं होती । एकार तथा ओकार विवृततर प्रयत्नवाले

---

[74] शिष्टेभ्य: आगमात् सिद्धा: साधवो धर्मसाधनम् अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधव: ॥ वा. प., ब्र. का., २७

हैं तथा ऐकार और औकार विवृततम प्रयत्नवाले हैं। अत: इनका पृथक् ग्रहण किया गया है। जिनकी सवर्णता सिद्ध है उनका मातृकापाठ में पृथक् पाठ नहीं किया गया है क्योंकि उनमें एक का ग्रहण हो जाने से अन्य वर्णों का ग्रहण अनायास ही हो जाता है। स्थान और प्रयत्न के अतिरिक्त गुणों की समानता होने पर यद्यपि सवर्णता का तो अभाव रहता है किन्तु उसकी सधर्मता बनी रहती है।

पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में यही तैंतालीस (४३) वर्ण माहेश्वरप्रदत्त चतुर्दशसूत्र स्वरूप परिगणित हैं।[75] ये वर्ण पाणिनि व्याकरण के आधार हैं। महेश्वर से प्राप्त होने के कारण इन्हें माहेश्वरसूत्र कहते हैं।[76] नन्दिकेश्वरकारिका ने भी उपर्युक्त तथ्य का समर्थन किया है।[77] पाणिनिशिक्षा भी अक्षर समाम्नाय को महेश्वरकृत ही मानती है।[78] अ इ उ ण् आदि चौदह सूत्रों को अक्षर समाम्नाय या वर्णसमाम्नाय कहते हैं। पाणिनीय शिक्षासूत्रपाठ में सन्ध्यक्षरों का ह्रस्वपाठ स्वीकार नहीं किया गया है।[79] जहाँ से वर्णत्व प्राप्त होता है उसे शब्द कहते हैं।[80]

मातृकाचक्रविवेक नामक ग्रन्थ के अनुसार परा वाक् ऋकारलृकाररूपा है।[81] मातृका पद से वर्णात्मक मूलमन्त्र तथा मातृकाचक्र पद से उन वर्णों द्वारा प्रादुर्भूत चक्रात्मक अवस्थिति है, जिसके अन्तर्गत श्रीचक्र आदि का निरूपण होता है। ऐहिक, आमुष्मिक और लौकिक मन्त्रसमुदाय की प्रसवित्री उत्पादयित्री मातृका ही है।[82] मन्त्र ही समस्त ब्रह्माण्ड के बीजभूत हैं। शुद्ध निर्विकल्परूपा चिति की प्रथम ईक्षणरूपा प्रथम विमर्शशक्ति गगनविश्रान्तिरूपा परा वाक् है।[83] इस परावाक् का प्रथम विलास अकार है। यही अकार अत्यन्त परा, पश्यन्ती आदि रूपों में वर्णित है। यही विसर्ग, बिन्दुरूप सारा विश्व अन्तर्लीन है और इसी से निकलकर बाहर विलसित हो रहा है। श्रुति भी अकार को महत्त्व देते हुये अकारो वै वाक् तथा अकार: सर्ववर्णाग्र्य: प्रकाश: परम: शिव: भी कहती है।[84] यही अकार ज्ञान और

---

[75]अइउण् १ ऋलृक् २ एओङ् ३ ऐऔच् ४ हयवरट् ५ लण् ६ ञमङणनम् ७ झभञ् ८ घढधष् ९ जबगडदश् १०खफछठथचटतव् ११ कपय् १२ शषसर् १३ हल् १४ इति माहेश्वराणि सूत्राण्यादिसंज्ञार्थानि ल. सि. कौ., पृ. सं. ४

[76]इति माहेश्वराणि सूत्राणि .... महेश्वरादागतानीति विग्रह: आगतानि प्राप्तानीत्यर्थ:, वही

[77]नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् उर्द्धतुकाम: सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥ वही

[78]येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नम: ॥ वही

[79]सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति पा. शि. सू. पा., पृ. सं. १

[80]आकाशवायुप्रभव: शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नाद:
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति य: स शब्द: ॥ वही

[81]वाणी परा खलु ऋकारलृकाररूपा .... मा. च. वि. ३/२, पृ. सं. ४०

[82]मन्त्रोत्करस्य जननीं मनसा विशाम:। वही, १/२, पृ. सं. ३

[83]विश्रान्तमात्मनि पराह्वयवाचि सुप्तौ विश्वं वमत्यथ विबोधपदे विमर्श: ॥ मा. च. वि. ३/१, पृ. सं. ४०

[84]मा. च. वि. भू., पृ. सं. ५

क्रियारूप भेद से अन्तर्मुख और बहिर्मुख होकर बिन्दु और विसर्गरूप होता है । उसके बाद ईक्षणन्याय से ज्ञान, इच्छा आदिरूपों का प्रादुर्भाव होने पर इकार, उकार, ऋकार और लृकारों के विलास होते हैं, जो अ इ उ ऋ लृ (जीव) विसर्गपदविषयक सुषुप्ति आदि अवस्थात्रय से बिन्दुपद की पूर्वोक्त अवस्थाओं से चार त्रिकोण बनते हैं । उसके बाद प्रमेय और प्रमातारूप द्विविध सम्मिश्रण से सन्ध्यक्षरों को प्रमाणरूपता प्राप्त होती है । इनमें एकार विसर्ग का प्रमाता और अन्त:संसार (स्वप्न) है । ऐकार बाह्य संसार (जगत्) है । ओकार बिन्दुप्रमाता का अन्त:संसार (तुर्यस्वप्न) है और औकार बाह्य संसार (तुर्य जाग्रत्) है । बिन्दु और विसर्ग क्रमश: अजड़ और जड़ प्रमाता है । इस स्वरखण्ड में भी प्रमेय, प्रमाण और प्रमातारूप तीन कक्षायें हैं । इनमें दस ह्रस्वदीर्घ स्वर प्रमेयकक्षा के अन्तर्गत हैं । प्रमेयों को जड़ से समता होने के कारण वे चान्द्र माने गये हैं । मध्य के सन्ध्यक्षर प्रमाणकक्षा में आते हैं अत: वे मध्यस्थ रूप हैं । इन सन्ध्यक्षरों के जड़-अजड़रूप होने से उनकी वह्निरूपता मानी गयी है । बिन्दु और विसर्ग प्रमाता की कक्षा में आते हैं । उनका जड़, अजड़ और प्रकाशकत्व के साथ सारूप्य होने से वे सौर माने गये हैं ।

स्वरखण्ड की पूर्ति के अभिव्यञ्जक विवृत प्रयत्न के साम्य होने से यह विश्व की बीजभूत कला का व्यञ्जक है । अ इ उ ऋ लृ ये पाँच वर्ण ईषत् संकुचित होकर ईषत् संकोचरूप ईषत्स्पृष्ट प्रयत्नवाले अन्त:स्थ है जो पञ्च महाभूतों के शक्तिसंकोचात्मक कलादिकञ्चुकों के और प्रकृत्यादि वर्गसंकोच आकाशादि के बोधक हैं । वही स्वर-पञ्चक पूर्णतया संकुचित होकर कु चु टु तु पु इस प्रकार संकोचद्योतक स्पर्शप्रयत्नवान् होकर क्रमश: वर्गपञ्चकता प्राप्त करते हैं । वह वर्गपञ्चक ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, ज्ञेय कार्य वेद्य प्रकृत्यादि वर्ग का द्योतक है । पुन: वही वर्णपञ्चक बिन्दु की व्याप्ति होने पर ईषत्पूर्णतासूचक ईषद्विवृत प्रयत्नवाले हों तो वर्गचतुष्टय के सम्मिश्रणरूप होकर शुद्धविद्यादि के प्रतिपादक ईषद्विवृत प्रयत्नवाले ऊष्मवर्ण हो जाते हैं । विसर्गसहित क से क्ष पर्यन्त और लकार की द्विरुक्ति के साथ स्वरसहित ये ३६ बीज ही समस्त विश्व की बीजभूत कलायें और मायातत्त्व हैं । इनमें भी इकार मायाबीज और यकार मायास्थान है ।[85]

ये ३६ तत्त्व पशुपदक्रम से निर्दिष्ट होते हैं । मातृकाओं के अनुलोम पाठ से विसर्गव्याप्ति और विलोम पाठ से बिन्दुव्याप्ति प्रदर्शित की जाती है । इस प्रकार शिव-शक्ति और चित्-चैत्य का अन्योन्याभाव जब भी दिखलाया जाता है तो किसी भी खण्ड का उपक्रम करने पर विलोम और अनुलोम का आवर्तन होता है ।[86] मातृका महाभक्तमय संसार पार्थिव, प्राकृत और मायिक रूप से अष्टत्रयात्मक और भेदाभेदरूप है । यही संसार जागत्, स्वप्न, सुषृप्ति, तुर्या

---

[85]इच्छा सुषुप्तिरबहिर्जनित: प्रबोधो ज्ञानं क्रिया भवति जागरणं जडस्य
तुर्यस्थजागरत्पदादिसुषुप्तिसीमा इच्छादय: खलु दशास्त्वजडा: शिवस्य ॥
अन्तर्मुखी भवति बिन्दुर्गतिर्विसर्गस्योक्ता गतिर्गुरुजनेन बहिर्मुखीति
पूर्व: सुषुप्तिपदमध्यमुपैति जाग्रन् मध्यात्तमृच्छति परस्तु सुषुप्तिमध्यात् ॥
सुस्यादिजाग्रदधि त्रितथं दशानां जन्तो: प्रवृत्तिपुषोऽथ निवृत्तिमूर्ते: ॥ वही, १/२२-२३, पृ. सं. १८-१९

[86]अन्योन्यलीनवपुषोरिह चैत्यचित्यो: सुस्यादिषु त्रिषु पदेषु भवो द्विरूप:
श्लिष्ट: प्रवृत्तिविनिवृतिमयो विभाव्य: श्रीचक्रमूलमनुसंस्थितिदर्शनेन ॥ मा. च. वि., १/२१, पृ. सं. १७

और अतितुर्या दशाओं से संश्लिष्ट होता है । अन्तत: यह मनोविमर्श के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । अतएव इसमें पारमार्थिक भेद संभव ही नहीं है ।[87] ललितासहस्रनामभाष्य के अन्तर्गत भास्करराय ने भी मातृकावर्णरूपिणी की व्याख्या प्रदर्शित की है ।[88]

तान्त्रिक परम्परा के मत में मातृकाओं द्वारा आद्यरूप में वर्णात्मक बीजमन्त्रों का प्रणयन हुआ । ये गोपनीय होते हैं । बीजवर्ण बिजली के स्विच के सदृश होते हैं । जैसे ही स्विच को आन किया जाता है वैसे ही प्रकाश प्रसरित हो जाता है किन्तु उसको जैसे ही स्पर्श करते हैं तो वह विद्युत् आघात कर देती है । उसी प्रकार बीजमन्त्रों के उच्चारण करते ही शक्ति का स्फुरण हो जाता है और अनधिकारी व्यक्ति पर वह शक्ति-विद्युत् शीघ्र ही आघात कर देती है । तुलसीदास की सूक्ति "अमित अरथ अरु आखर थोरे" बीजमन्त्रों पर अवश्य ही चरितार्थ होती है । इसलिये तान्त्रिक ग्रन्थों में इन बीजमन्त्रों के मन्त्रोद्धार की प्रक्रिया भी अपनायी गयी है । अर्थभेद भाषा के स्वाभाविक गुण के रूप में ग्रहण किये जाते हैं । आगमिक सिद्धान्त के अनुसार "सर्व: सर्वार्थवाचक:" अर्थात् सभी शब्द भगवान् के मुखारविन्द से मकरान्दात्मक अमृतरूप हैं । अत: एक-एक वर्ण सभी अर्थों को व्यक्त कर सकते हैं । इसी उपक्रम में प्रत्येक वर्ण के स्वरूप को तन्त्रान्तरों में दर्शाया गया है, जो निम्नलिखित हैं -

अकार :- स्वर्णवर्णी सुनहले आकर्षक विग्रह में विराजमान, शूल, गदा आदि अस्त्र-शस्त्रों को अपनी आठों भुजाओं में धारण करनेवाले, चतुर्मुख समस्त कायात्मक आकृतियों को अतिक्रान्त करनेवाले और कच्छप के वाहनवाले अकाररूप अनुत्तर भैरववर्ण हैं ।[89]

आकार :- इनके हाथों में पाश और अंकुश नामक शस्त्र सुशोभित है । श्वेत कमल पर यह आसीन होते हैं । इनके वाहन हाथी है । तीस योजन तक इनकी रश्मियाँ प्रभावी हैं । मोती के आभूषणों से भूषित यह आकार है ।[90]

इकार :- इकार के पीले करकमल में स्थित वज्र और अंकुश निरन्तर शत्रुओं के नाश में संलग्न है । १२ योजन पर्यन्त इसका प्रभाव है । इकार का कच्छप वाहन है ।[91]

ईकार :- दीर्घ ईकार दशयोजनिका मानी जाती है । अनाहत विशेषण से विशिष्ट है । हंस इस देवीशक्ति का वाहन है । निरन्तर पुष्टि प्रदान करनेवाली महालक्ष्मी की रश्मिरूपा है । श्वेत

---

[87]जाग्रत्सुषुप्तिकृतदक्षिणवामभागां स्वप्नस्वभावपरिक्लृप्तजघन्यभागाम्
तुर्यातितुर्यघटिताननहृत्प्रदेशां प्राणेश्वरीं परशिवस्यपरामृशाम: ॥
स्पर्शस्वरोल्लिखितजागरसुष्प्यवस्थामन्त:स्थसूचितसुषुप्त्युदितप्रबोधाम्
ऊष्मोक्तजागरदशोदितसुष्प्यवस्थां मन्त्रोत्करस्य जननीं मनसा विशाम: ॥ मा. च. वि., १/१-२, पृ. सं. १-३

[88]वही, भू. पृ. सं. ६

[89]चामीकरनिभश्शूलगदाराजद्भुजाष्टक: चतुरास्योऽतिकायस्यादकार: कूर्मवाहन: ॥ व. बी. प्र. त. व. ध्या., श्लो. सं. १, पृ. सं. २१२

[90]पाशाङ्कुशकरा श्वेतपद्मसंस्थेभवाहना षष्ट्यर्द्धयोजनमिता स्यादामौक्तिकबूषणा ॥ वही, श्लो. सं. २, पृ. सं. २१२

[91]पीतङ्कराब्जकुलिशपरशुं वैरिनाशनम् द्वयेकयोजनमानं स्यादिकारं कच्छपस्थितम् ॥ वही, श्लो. सं. ३, पृ. सं. २१२

वर्ण की यह देवी मौक्तिकमाला से मनोहर है। इसके मुखारविन्द में स्मिति की छटा झलकती रहती है।[92]

उकार और ऊकार :- उ और ऊकार ये दोनों अक्षर उन्मेष और ऊर्मिबीज माने जाते हैं। इन दोनों का मान दो हजार योजन है। गदा और अंकुश इनके हाथों में विराजमान है। काक इन दोनों का वाहन है। ये दोनों कृष्णवर्णी आभूषण धारण करते हैं।[93]

ऋकार और ॠकार :- हाथों में पाश और शक्ति नामक अस्त्र सुशोभित हैं। इनका वर्ण लाल है। ये महत्त्वपूर्ण वर्ण अग्नि के बिम्ब की ज्वाला में उज्जवल दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी सवारी ऊँट है। ये काल के भी काल माने जाते हैं।[94]

लृकार और ॡकार :- समकोण चतुर्भुज में निर्मित कमलवत् आकृति से संवलित, हंसवाहन, पुष्पराग मणि के समान आकर्षक, हाथों में पाश और वज्र धारण करनेवाले, रौद्ररूप अनन्तरोधों का निराकरण करने में समर्थ लृ और ॡ वर्ण हैं।[95]

एकार :- चक्रवाक वाहनवाले श्यामवर्णी महान् वर्ण एकार का अपना विशिष्ट महत्त्व है। शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारणकरनेवाले और वनमाली के समान हार से विभूषित अनुत्तर और इच्छाशक्ति के स्वारस्य से सिक्त इनकी महत्ता और भी बढ़ जाती है।[96]

ऐकार :- नये खिले कुन्द के सदृश, शूल और वज्रधारी, घोड़े की सवारी करनेवाले कोटियोजन मानवाले ऐकाररूप बारहवें स्वर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके आराधन व ध्यान से कवित्व शक्ति का उल्लास होता है।[97]

ओकार :- चिन्मय मूर्तिरूप, अत्यन्त शान्त, दो हजार किरणों से उज्ज्वल, पीतवर्णी, साँढ़ की सवारी करनेवाले ओकार का ध्यान अर्धनारीश्वर के रूप में करना चाहिये।[98]

औकार :- औकार चतुर्दशधामवाला अनन्तेश्वर का प्रतीकवर्ण है। तपे हुये सोने की कान्ति के समान यह कान्तिवाला है। पाश, वज्र और अस्त्रों से यह सज्जित है। हजारों योजनान्त तक प्रभाव डालता है। इसे अमित तेजवन्त वर्ण कहते हैं।[99]

---

[92]दशयोजनदीर्घा सानाहताहंसवाहना ई स्यात्पुष्टिप्रदा मौक्तिकाढ्या स्मितानना ॥ व. बी. प्र. त. व. ध्या., श्लो. सं. ४, पृ. सं. २१२

[93] गदाङ्कुशकराङ्कवाहनं कृष्णभूषणम् योजनं द्विसहस्राणाम्मानमुद्वयमक्षरम् ॥ वही, श्लो. सं. ५, पृ. सं. २१३

[94]पाशशक्तिभुजं रक्तं वह्निबिम्बस्थितोष्ट्गम् उक्तप्रमाणं कालघमृॠवर्णद्वयं भवेत् ॥ वही, श्लो. सं. ६, पृ. सं. २१३

[95]चतुरस्राब्जहंसस्थं पुष्पराजसमप्रभम् पाशवज्रकरं रौद्रं लृयुग्मं स्यान्निरोधनम् ॥ वही, श्लो. सं. ७, पृ. सं. २१३

[96]गदाफलारिपद्माढ्यकरं हारविभूषणम् चक्रवाकस्थितं श्याममेकारं तु महद्भवेत् ॥ वही, श्लो. सं. ८, पृ. सं. २१३

[97]नवकुन्दनिभां शूलवज्रवाहा हयस्थिता कोटियोजनमाना स्यादैमूर्ति: कविताकरी ॥ वही, श्लो. सं. ९, पृ. सं. २१४

[98]चिन्मयं सर्वगं शान्तं द्विसहस्रकरोज्ज्वलम् पीतं गोवृषसंस्थं स्यादोकारं स्त्रीनरात्मकम् ॥ वही, श्लो. सं. १०, पृ. सं. २१४

अंकार :- नवल कुंकुमवर्णी, पद्मासन पर विराजमान, लाल वस्त्रों से विभूषित, चार भुजाओं वाले, श्री के प्रधान हेतु अंकार वर्ण के ध्यानमात्र से शत्रुओं का नाश हो जाता है।[100]
अ:कार :- स्वरों के अन्त में विसर्ग के होने के कारण इसे स्वरान्त कहते हैं। यह दो भुजाओं वाला स्वर माना जाता है। इसकी परिमिति हजारयोजन पर्यन्त है। अपने हाथों में वज्र और शूल धारण करता है। इसे नरवाहन मानते हैं। छोटे-मोटे कामों का फल शीघ्र प्रदान करता है।[101]
ककार :- कवर्ण की परिमिति दो हजार योजन है। यह भूबिम्ब का प्रतीक है। गज पर अवस्थित है। कुङ्कुम के समान लाल रङ्ग वाला यह वर्ण अपने हाथों में शूल और वज्र धारण करता है।[102]
खकार :- हाथों में पाश और तोमर धारणकरनेवाले, मेषवाहन, विघ्नों के निरोधक, हजार योजनतक प्रभावशाली और कृष्णवर्णी आभूषणों से भूषित खवर्ण आकाशबीज-रूप है।[103]
गकार :- गकारवर्ण पाश और अंकुश धारण करनेवाला है। सौ योजन तक इसकी परिमिति है। पद्म नामक सर्पराज पर यह सवारी करता है। अरुणवर्णी गकार अपनी प्रभा से सबको प्रसन्न करता है।[104]
घकार :- यह दो मुखों वाला विचित्रवर्ण है। यह ऊँट पर और ओखली पर सवारी करता है। गदा और वज्र इसके हथियार हैं। सहस्रयोजन परिमिति वाला यह घवर्ण है।[105]
ङकार :- ङकारवर्ण पचास लाख योजनतक अपनी परिमिति में सीमित है। अनुनासिक यह वर्ण जलती हुयी काली आभा में विचित्र लगता है। क्षुद्र फलप्रद यह वर्ण काकवाहन माना जाता है। इसकी दो भुजायें है।[106]

---

[99]तप्तहेमनिभा पाशावज्रबाहुर्विभूतिदा योजनानां सहस्रेण स्यादौवर्णामितौजसा ॥ व. बी. प्र. त. व. ध्या., श्लो. सं. ११, पृ. सं. २१४

[100]नवकुङ्कुमसच्छायपद्मस्थो रक्तभूषण: चतुर्भुजसस्यादंवर्ण: श्रीकरो रिपुनाशन: ॥ वही, श्लो. सं. १२, पृ. सं. २१४

[101]वज्रशूलकरं क्षुद्रफलदन्नरवाहनम् सहस्रयोजनमितं स्वरान्तन्द्विभुजं स्मरेत् ॥ वही, श्लो. सं. १३, पृ. सं. २१५

[102]भूबिम्बगजसंस्थ: स्यान्नवकुङ्कुमसन्निभ: शूलवज्रकर: कार्ण: सहस्रद्वयोजन: ॥ वही, श्लो. सं. १४, पृ. सं. २१५

[103]पाशतोमरहस्त: खो मेषसंस्थो निरोधन: योजनानां सहस्रेण मित: कृष्णविभूषण: ॥ वही, श्लो. सं. १५, पृ. सं. २१५

[104]पाशाङ्कुशकर: पद्मफणिसंस्थोऽरुणप्रभ: गकारस्सर्वभूष: स्याच्छतयोजनसंस्थित: ॥ वही, श्लो. सं. १६, पृ. सं. २१५

[105]उष्ट्रोलूखलसंस्थ: स्याद्घकारवज्रकरो मत: योजनानां सहस्रेण द्विमुखो घ: स्मितेतर: ॥ व. बी. प्र. त. व. ध्या., श्लो. सं. १७, पृ. सं. २१६

[106]कोटियोजनदीर्घार्द्धनास्यं कृष्णं ज्वलत्प्रभम् द्विभुजं काकवाहं स्यान्ङार्ण: क्षुद्रफलप्रदम् ॥ वही, श्लो. सं. १८, पृ. सं. २१६

चकार :- युग चार होते हैं। चार के लिये चतुर शब्द का प्रयोग होता है। इस संख्यावाची शब्द का पहला अक्षर च है इसलिये इसे युगाग्र कहते हैं। यह उसी आदि पद्म पर विराजमान रहता है। इसकी चार भुजायें भी हैं। सर्वदा मृदु मुस्कान से मनोज्ञ लगता है। यह कपर्दी शिव के समान है। इसके विग्रह से सुगन्धि का प्रसार होता है। करोड़ योजन इसकी परिमिति है।[107]

छकार, जकार और झकार :- श्वेतवर्णी, एक करोड़ योजन तक प्रभावपूर्ण, पद्मस्थ, चतुर्बाहु का छवर्ण है। ज औ झ वर्ण भी कोटिमान वाले हैं। ये भी चतुर्भुज और श्वेतवर्णी प्रसन्नमुख वर्ण हैं।[108]

ञकार :- ञवर्ण काले रंग का होता है। इसकी दो भुजायें मानी जाती है। यह वर्ण पारस्परिक विद्वेष में दक्ष है। एक हजार योजन तक इसकी परिमिति है। काक इसका वाहन है।[109]

टकार और ठकार :- क्रौञ्चवाहन, द्विभुज, नाग सर्प से आबद्ध या नागरूप हाथी पर सवारी करनेवाले, महाध्वनि करनेवाले वर्ण के रूप में टकार प्रसिद्ध है। इसी प्रकार ठवर्ण भी है। यह भी नागवाहन है किन्तु इसका वर्ण उज्ज्वल है। इसके भी दो हाथ है। धरा ही इसका सद्म अर्थात् घर है।[110]

डकार :- एकलाख योजन परिमाणवाले, विष के निराकरण में समर्थ, आठ भुजाओं से अष्टवर्णी रूप में आकर्षक डवर्ण के चारमुख हैं। यह समस्त सुन्दर आभूषणों से अच्छी तरह अलङ्कृत अक्षर है।[111]

ढकार :- ढवर्ण अपनी आग्नेय आभा से उज्ज्वल, अग्निबिम्बवत् प्रकाशमान, कमल पर विराजमान यह वर्ण एक हजार योजन मानवाला। इसका वाहन छाग है।[112]

णकार :- णवर्ण हजार योजन मानवाला, व्याघ्र की सवारी करनेवाला विचित्र वर्ण है। ६० वर्ष की अवधिवाले मदमत हायन पर सम्यक् प्रकार से अवस्थित रहता है। इसके चार बाहु है। अलङ्कारों से अच्छी तरह अलङ्कृत है।[113]

---

[107]युगाग्रपद्मसंस्स्याच्चतुर्बाहुस्सितप्रभ: च: कपर्द्दी सुगन्धाढ्य: कोटियोजनविस्तृत: ॥ व. बी. प्र. त. व. ध्या., श्लो. सं. १९, पृ. सं. २१६

[108]सितस्तावन्मित: पद्मचतुर्बाहुश्चवर्णक: जझौ च कोटिमानौ स्तश्चतुर्बाहु सितप्रभौ ॥ वही, श्लो. सं. २०, पृ. सं. २१६

[109]योजनानां सहस्रैस्स्यात्सम्मितं काकवाहनम् विद्वेषणकरं ञार्णं कृष्णवर्णं भुजद्वयम् ॥ वही, श्लो. सं. २१, पृ. सं. २१७

[110]क्रौञ्चस्थो द्विभुजष्ट: स्यान्नागबद्धो महाध्वनि: धरासद्मगजेन्द्रस्थष्ठवर्णो द्विकरोज्ज्वल: ॥ वही, श्लो. सं. २२, पृ. सं. २१७

[111]लक्षयोजनमानं स्याद्भरनाशकरो विभु: डवर्णोप्यष्टबाहुच्चतुर्वक्त्रस्स्वलङ्कृत: ॥ वही, श्लो. सं. २३, पृ. सं. २१७

[112]योजनानां सहस्रेण मित: कुवलये स्थित: अग्निबिम्बाजगो ढार्णो दशबाहुर्ज्वलत्प्रभ: ॥ वही, श्लो. सं. २४, पृ. सं. २१७

तकार, थकार और दकार :- हजार योजन मानवाला, सुगन्धियुक्त, कुंकुम की तरह लाल रंगवाला यह तवर्ण अत्यन्त मनोहर है। जहाँ तक थवर्ण का प्रश्न है, यह एक करोड़ मानवाला अष्टबाहु, चतुर्मुख, श्वेतवर्णी, वृष पर आरूढ़ और भयङ्करवर्ण है। दवर्ण महिष पर अवस्थित है। द्विमुख है। छः भुजाओंवाला है और एक करोड़ योजन उसका मान है।[114]

धकार और नकार :- सिंहवाहन, चतुर्भुज धवर्ण चारलाख योजन मानवाला माना जाता है। वही नवर्ण दो भुजाओंवाला और काकवाहन वर्ण माना जाता है। चार हजार मानवाला न पञ्चम अनुनासिक तवर्गी वर्ण है।[115]

पकार और फकार :- प बीस बाहुओं से समन्वित विचित्र आकृतिवाला वर्ण है। इसके दश मुख हैं। करोड़ योजन इसका मान है। यह बगुले की पीठ पर अवस्थित रहता है। फवर्ण दशकोटि योजन मानवाला माना जाता है। इसकी मात्र दो ही भुजायें हैं।[116]

बकार :- कण्ठीरव मदमत्त हाथी और सिंह दोनो अर्थों में प्रयुक्त होनेवाला यह शब्द है। यहाँ सिंह अर्थ लेना ही ठीक लगता है। बवर्ण श्वेतकमल पर अवस्थित, अत्यन्त चञ्चल श्वेतवर्णी आभा से युक्त है। यह षडानन है। द्विभुज और लालवर्ण वाला यह वर्ण दशकरोड़ योजन मानवाला है।[117]

भकार :- नीलकमलों से अलङ्कृत, हंसवाहन, पुष्टिप्रद तीन हाथ और तीन मुखों से मण्डित, व्याघ्रवाहन, भीषण आकृतिवाला है। दश लाख की परिमिति में सीमित भवर्ण धूम्र के समान आभा से भरा हुआ है। यह वर्ण अत्यन्त बलशाली है।[118]

मकार :- मकार चतुर्भुजवर्ण है। जहरीले विषधर सर्प के समान भयप्रद है। मुण्ड-मालाधारी यह वर्ण अष्टमी के चन्द्र को धारण करता है।[119]

यकार :- यवर्ण भी चतुर्भुज है। वायुबीज होने के कारण यह व्यापक माना जाता है। यह मृग पर प्रतिष्ठित है।[120]

---

[113]सहस्रमानं व्याघ्रस्थं योजनानां हि णं भवेत् षष्टिहायनसंस्थः स्याच्चतुर्बाहुस्स्वलङ्कृतः॥ व. बी. प्र. त. व. ध्या., श्लो. सं. २५, पृ. सं. २१८

[114]सहस्रमानो गन्धाढ्यः कुङ्कुमाभश्च ताक्षरः कोटियोजनमानं स्यादष्टबाहुश्चतुर्मुखः॥ सितवर्णो वृषारूढ थवर्णोऽपि भयङ्करः द्विमुखं षड्भुजङ्कोटिमानं दं महिषस्थितम्॥ वही, श्लो. सं. २६-२७, पृ. सं. २१८

[115]सिंहवाहश्चतुर्बाहुर्धश्चतुर्लक्षसम्मितः द्विभुजं काकवाहं नं तत्सहस्रैर्मितं भवेत् वही, श्लो. सं. २८, पृ. सं. २१८

[116]विंशद्भुजो दशास्यः पः कोटिमानो बकस्थितः दशकोटिमितः फार्णो योजनानां भुजद्वयः॥ वही, श्लो. सं. २९, पृ. सं. २१८

[117]कण्ठीरवसिताम्भोजनिषण्णश्चञ्चलः सितः षडास्यो द्विभुजो बस्स्याद्दशकोटिमितोऽरुणः॥ वही, श्लो. सं. ३०, पृ. सं. २१९

[118]नीलोत्पललसद्धंसवाहनः पुष्टिदायकः त्रिहस्तं त्रिमुखं व्याघ्रवाहनं भीषणाकृतिम्॥ दशलक्षमितं भार्णं धूम्राभं स्यान्महाबलम् व. बी. प्र. त. व. ध्या., श्लो. सं. ३१-३२, पृ. सं. २१९

[119]चतुर्भुजो मकारस्स्यात्सविषोरगसन्निभः॥ मण्डितो मुण्डमालाभिः शशिखण्डविराजितः॥ वही, श्लो. सं. ३२-३३, पृ. सं. २१९

[120]व्याप्तश्चतुर्भुजो धूम्रो यार्णः स्यान्मृगसंस्थितः॥ वही श्लो. सं. ३३, पृ. सं. २१९

रकार :- त्रिकोण आकृतिवाला, कमलासन पर विराजमान रहता है। मेष की सवारी करता है। इसकी भी चार भुजायें हैं। चतुरस्र, अजर, ऐरावत की पीठ पर विराजमान है।[121]
लकार और वकार :- यह केशर की आभा से भव्य लगनेवाला चतुर्भुज लवर्ण है। व समुद्रीय पद्म में अवस्थित वरुण का बीजवर्ण माना जाता है । व अमृतात्मक होने के कारण अमृतसिन्धुस्थ नक्र की सवारी करनेवाला है। यह दो भुजाओं वाला है और श्वेत रंग में शोभायमान है।[122]
शकार और षकार :- शवर्ण द्विभुज, अजवाहन और सोनरंगी माना जाता है तथा षवर्ण कर्मण्य, द्विभुज, कृष्णवर्णी और एक हजार योजन मानवाला माना जाता है।[123]
सकार और हकार :- सवर्ण एक करोड़ योजन मानवाला माना जाता है। श्वेतवर्णी, हंसवाहन और द्विभुज है। हवर्ण श्वेतवर्णी, त्रिभुज, सृष्टि में व्याप्त, शीतांशुशेखर अर्थात् चन्द्रशेखर है।[124]
ळकार और क्षकार :- अक्षरों की भेदमयी आकृतियों के वर्णन के सन्दर्भ में अन्तिम पचासवें क्षवर्ण के साथ ळवर्ण भी है। ळवर्ण पाश और अभयमुद्रावाला है। ळवर्ण श्वेतरंग का है और हाथी की सवारी करता है। क्षवर्ण भी पर्वतस्थ, दश बाहुवाला और मणिवत् शोभित है।[125]

यह रुद्र की विसर्गशक्ति का ही महाप्रभाव है स्वात्मरूप वर्णों के द्वारा विश्व वाङ्मय का विस्फार हो जाता है। इसलिये इसे वाङ्मयी शक्ति कहते हैं। मेय विश्व के वर्ण-पद और वाक्यरूपों में विभक्त स्थूल शब्दराशि के माध्यम से मान करने के कारण यह रुद्रमातृका विश्वमातृका कहलाती है। माता ही मेय का ज्ञान कराती है। अत: यह मातृका कहलाती है। मूलाधार की बीजशक्ति के रूप में यह गणेश की, स्वाधिष्ठान की बीजशक्ति के रूप में विष्णु की और मणिपूर की बीजशक्ति के कारण श्रीकण्ठ की कामपीठकलारूपा मानते हैं । ऐसे साधक जो भोग और मोक्ष उभय की सिद्धि के लिये साधना में रत रहते हैं, उन्हें पचास वर्णों वाली क्षोभरहित अष्टवर्गात्मिका इसी मातृका देवी का ध्यान करना चाहिये । दिव्य गुणसम्पन्न होने के कारण देवी, वात्सल्यमयी होने के कारण मातृका वाक् तत्त्व की स्वर-व्यञ्जनमयी मूर्त्ति होने के कारण वाङ्मयी और विश्व को वाणी का वरदान देनेवाली माँ होने के कारण इसे विश्वमातृका कहते हैं। गणेश, विष्णु, श्रीकण्ठ शिव द्वारा मान्य कामपीठमयी

---

[121]त्रिकोणाम्बुजमेषस्थो रार्णो बाहुचतुष्टय: चतुरस्राजदन्तीन्द्रपृष्ठोपरि विराजित: ॥ व. बी. प्र. त. व. ध्या., श्लो. सं. ३४, पृ. सं. २२०

[122]चतुर्भुजा लकारस्य मूर्ति: स्याद्घुसृणप्रभा अब्धिस्थपद्मनक्रस्थो द्विभुजो व: सित: स्मत: ॥ वही, श्लो. सं. ३५, पृ. सं. २२०

[123]करद्वयाजगा हेमवर्णा शार्णाकृतिस्तथा सहस्रमान: कृष्णाभो द्विभुज:कर्मणोऽथ ष: ॥ वही, श्लो. सं. ३६, पृ. सं. २२०

[124]कोटिमान: सितस्सस्स्याद्धंसगो द्विभुजान्वित: हार्ण: श्वेतबाहुस्स्यद्व्याप्त: शीतांशुशेखर: ॥ वही, श्लो. सं. ३७, पृ. सं. २२०

[125]पाशाभयकराळार्णमूर्त्ति: श्वेता गजस्थिता भूबिम्बशैलसंस्थ: क्षो दशबाहुर्मणिप्रभ: ॥ वही, श्लो. सं. ३८, पृ. सं. २२१

और सभी कलाओं की मूल यह महनीया सबके द्वारा इसी रूप में ध्यातव्य है। शीघ्र सिद्धि की इच्छा रखनेवालों साधकों के द्वारा इसी रूप का ध्यान करना चाहिये।[126] पचास वर्णों से समन्वित अनुपमेय रहस्यों से परिपूर्ण मातृका का अपने शरीर के अवयवों पर शास्त्रानुसार न्यास करने के उपरान्त इसी लिपि का जप विधान ही शास्त्र में प्रतिपादित है। यह अनन्त फलप्रद है।[127]

सिद्धान्तशैवों के अनुसार छत्तीस तत्त्वों के अवान्तर पदार्थों में प्रथम पदार्थ बिन्दु है। वह बिन्दु शिव शब्द तथा शिव शब्द की अपर पर्याय महामाया के द्वारा भी जाना जाता है। यह एक तथा नित्य है। शरीरांश में शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, विद्यारूप अवान्तर पदार्थ भी इसके ही परिणामभूत होता है। यह उन-उन भुवनेश्वरों की आराधना तथा दीक्षा से या स्वकार्यभूत शुद्धाध्व भुवन को प्राप्त ज्ञान और क्रिया को प्रकट करती है। यह कुण्डलिनी शब्द के द्वारा भी जानी जाती है। यह परशिव की परिग्रहण करनेवाली शक्ति के रूप में भी कही गयी है। यह परशिव की इच्छा के वशीभूत होने के कारण जड होने से स्वतन्त्र नहीं है। बिन्दु को केवल शुद्धसृष्टि के उपादान कारण के रूप में ही नहीं जानना चाहिये अपितु परिमित प्रमातृ उपाधि होने से अकारण भी जानना चाहिये। बिन्दु केवल मलस्वरूप नहीं है। शुद्धसृष्टि के उपादानस्वरूप होने पर भी मलस्वरूप बिन्दु का मोक्षविचार धारणकरनेवाले यति के सदृश घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। आणवमल के अपर पर्यायभूत पशुत्व मल के होने के कारण माया तथा कर्मरूप दो पाशों से विमुक्त पशु सर्वथा विमुक्त नहीं होता है। इसलिये यह मुक्ति अपर मोक्ष है। बिन्दु को परा शब्द के द्वारा भी कहा जाता है। इसी से ही सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी रूपा चतुर्विध वाक् का प्रादुर्भाव होता है। भर्तृहरि के मत में पश्यन्ती के ब्रह्मरूप होने के कारण पश्यन्ती का साक्षात्कार ही ब्रह्मसाक्षात्कार है। शिव और शक्ति शब्दों के द्वारा उच्चरित बिन्दु और नाद सिद्धान्तशैवों के द्वारा स्वीकृत छत्तीस तत्त्वों के अवान्तर पदार्थों में प्रथम और द्वितीय हैं।

५.५.२ नाद

नादरूप उपाधि की आवश्यकता के कारण इसका स्थापन किया जाता है। तदनुसार ज्ञान आत्मा में समवेत नहीं है अपितु उसकी उपाधिरूप नाद में समवेत है जो बिन्दु का परिणाम है। प्रत्यात्म से असङ्ख्य नाद अभिन्न हैं। परिमित आत्मा का उपाधिभूत नाद नामक तत्त्व बुद्धि का बीजरूप है। आत्मा के ज्ञानशक्ति विभिन्न सूक्ष्म शब्दरूप नादवृत्ति से संपृक्त होती हुयी मायीय सविकल्पक विषय के अवलोकन में प्रवृत्त होती है। नादरूप उपाधि के कारण उसका आभासन विचित्र ही होता है। भिन्न ज्ञान नादवृत्तिरूप ही हैं न कि बुद्धिवृत्तिरूप हैं

---

[126]मूर्त्तिभेदा यथार्णानां मयाऽक्त: प्रतिपादिता: एषेयं मातृका देवी वाङ्मयी विश्वमातृका ॥ गणेशविष्णुश्रीकण्ठकामपीठकलात्मिका ध्यातव्या साधकेन्द्रेण शीघ्रसिद्धिमभीप्सुना ॥ व. बी. प्र. त. व. ध्या., श्लो. सं. ३९-४०, पृ. सं. २२१

[127]पञ्चाशद्वर्णमूर्तिं तामेवं ध्यात्वा स्वविग्रहे स्थानेषु क्रमतो न्यस्य यथोक्तेषु जपेल्लिपिम् ॥ वही, श्लो. सं. ४१, पृ. सं. २२२ और कु. त. च. उ., श्लो. सं. ५२-१०७

जैसा कि सांख्यमतावलम्बी कहते हैं। वैयाकरण तो स्फोट नामक वस्तु को मानते हैं। उनका यही आशय है कि कैसे शब्द और वाक्य अर्थज्ञान को प्रकटित करते हैं ? वे इस पक्ष के समर्थक हैं कि शब्द के निर्माणकारी घटक अक्षर क्रमश: श्रुतिपथ में आते हैं तथा क्रमपूर्वक ज्ञान कराते हैं तथा उच्चारण क्षण के अनन्तर ही उनका नाश हो जाता है। वैसे ही अर्थ का शब्द के साथ सम्बन्ध शब्दघटक अक्षरों के उच्चारण क्षण के समनन्तर विनाशी होने के कारण अक्षरराशिस्वरूप शब्दों के तथा उसके द्वारा संघटित वाक्यों का प्रत्यक्षीकरण नहीं होने से अर्थज्ञान भी संभव नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि वह अर्थज्ञान शब्द के अन्तिम वर्ण के श्रवण से सम्भव है। जैसे गौ: इस शब्द में अन्तिम वर्ण विसर्ग है और नर: इस शब्द में भी अन्तिम वर्ण विसर्ग है। दोनों के अन्तिम वर्ण विसर्ग के श्रवण से नर और गाय का अर्थज्ञान सम्भव नहीं है। वैयाकरण इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार से देते हैं - तदनुसार पूर्व-पूर्व वर्ण संस्कारसहित अन्त्यवर्ण का अभिव्यङ्ग्य अन्य ही, अविनिर्मुक्त, मयूराण्डरस के सदृश, अनेक वर्ण का अभिव्यञ्जक, पदात्मा, पदव्यतिरिक्त, वाक्यस्वभाव या समस्त जगत् का युगपत् क्रम से अर्थ की प्रतीति के लिये व्यापक और नित्य स्फोट को जानना चाहिये। वही व्यवहार करनेवालों के लिये अर्थ को प्रकट करता है। स्फोटसिद्धान्त के अनुसार जहाँ से अर्थ स्फुटित होता है वह स्फोट है।[128]

सिद्धान्तशैव इस मत का निरसन इस प्रकार करते हैं - स्फोट स्वीकरणीय नहीं है क्योंकि उस वर्णव्यतिरिक्त (स्फोट) का अनुभव होता नहीं है। वह वर्णों के भिन्नाभिन्नत्व का प्रतिपादन करने में भी असमर्थ है। वह भिन्न भी नहीं है क्योंकि शशविषाण के सदृश उसकी उपलब्धि नहीं होती है। प्रत्यक्ष के निराकृत होने से उसका अनुमान भी सम्भव नहीं है। अभिन्न को स्वीकार करने पर "हस्त: कर:" के सदृश एक अर्थ का बोधक वर्ण ही स्फोट है और नहीं तो वहाँ से भेद के द्वारा अवस्थित होना पड़ेगा ; ऐसा भी नहीं है। विभु स्वीकार करने पर एक पुरुष के उच्चारित वर्णों की अभिव्यक्ति होने पर विशेष के अभाव के कारण देशान्तर में भी नित्य तथा कालान्तर में भी नित्य होने की स्थिति में प्रमाताओं के अर्थ की प्रतिपत्ति होगी। अत: नाद अक्षरबिन्दुरूप के आभ्यन्तर में स्थित सजल्प का कारण है। नाद के आभ्यन्तर में अवस्थित अक्षर-बिन्दु के अपर नाम सजल्प का कारण है और इस प्रकार नाद ही शब्दार्थ ज्ञान का कारण है ; जहाँ से (नाद के आभ्यन्तर से) सजल्प प्रकट होता है। शब्दार्थ के द्वारा बुद्धि बाह्यविषय के प्रतिबिम्ब के मध्य में स्थित होती है। बाह्य व्यक्तशब्द आन्तर सजल्प का बाह्याकार ही है। अत: परमार्थत: अर्थ बुद्धि का जनक नहीं है। असंख्य नाद हैं। इनमें से एक प्रत्येक परिमित आत्मा के द्वारा संबद्ध है। वह व्यक्तिविशेष के आभ्यन्तर में स्थित बाह्य विषय के सविकल्पक ग्रहण के समय सजल्प का उद्भावक होता है। सजल्प शब्द और अर्थ की एकरूपता का अपर अभिधान है। श्रूयमाण वर्ण श्रोतृनिष्ठ नाद की अभिव्यक्ति करते हैं। अभिव्यक्त नाद श्रोता के बुद्धि के समक्ष शब्दार्थ की ऐक्यात्मक आभ्यन्तर सजल्प की उपस्थापना करते हैं। श्रोता की बुद्धि शब्दार्थ के पृथक्करण रूप अध्यवसाय करके इसका यह अर्थ है ऐसा निश्चित करती है।[129]

---

[128] ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू., पृ. सं. १२२-१२८

[129] वही

ब्राह्मणादि और आगमादि ग्रन्थों के द्वारा विशुद्ध सात्विक ज्ञान के अवबोध करने का प्रयत्न करना ही समुचित है। इस मत के समर्थक ऋगर्थदीपिकाकार आचार्य वेंकटमाधव भी हैं।[130] तात्पर्य यह है कि हमें भारतीय दृष्टि को समझने के लिये प्रत्येक शास्त्र की समग्रता को अपनाना होगा।

५.६ पुराणों में वीरशैवमत विमर्श

वेद के द्विविध विभाग माने गये हैं - मन्त्र और ब्राह्मण।[131] वेदार्थ के अवबोध के लिये विभिन्न मार्गों में से पुराण भी एक विशेष मार्ग है। वेदार्थ के सम्यक् ज्ञान के लिये ही महर्षियों ने स्मृति, इतिहास तथा पुराण की रचना की है।[132] विशेषत: मन्त्रभाग की व्याख्या स्मृति और ब्राह्मणभाग की व्याख्या इतिहास तथा पुराण करते हैं। पुराणों का विषय मुख्य रूप से परमात्मप्राप्ति के साधनों की विवेचना करना है इसी उपक्रम में पुराणों के अन्तर्गत शिव की महिमा पूर्णरूप से व्याख्यायित है। लिङ्गपुराण, शिवपुराण, अग्निपुराण स्कन्दादि पुराणों में शिव को परब्रह्म माना गया है और उनके सगुण और निर्गुण द्विविध स्वरूप का वर्णन भलीभाँति किया गया है। जहाँ भी पाशुपतमत का वर्णन है, शिव को स्थलस्वरूप माना गया है, शिव को लिङ्गरूप माना गया है, वहाँ पूर्णत: वीरशैवमत व्याख्यायित होता है किन्तु जहाँ शिव का अन्य आख्यानों में वर्णन है, वहाँ भी वीरशैवमत अंशत: अवश्य ही वर्णित होता है। पुराणों के अन्तर्गत शिवस्वरूप प्रमथगणों का विचित्र स्वरूप वर्णित है। शिव के प्रमथ गण नानारूप धारण करने में समर्थ होते हैं। वे सभी ऐश्वर्य से सम्पन्न, जटायुक्त, ध्यानपरायण, संसार से विमुख, सिंहव्याघ्रादि के समान, अणिमादि सिद्धियों से युक्त, विचित्ररूपवाले, आकाशमार्ग में विचरण करनेवाले और नानाशस्त्रों को धारण करनेवाले होते हैं। तदनुसार ऐसी मान्यता है कि शिव के सम्पूर्ण गणों की संख्या ३६ करोड़ है।[133] न केवल लिङ्गपुराण में ही वीरशैवमत का वर्णन है अपितु अग्निपुराण के लिङ्गनिर्माण विधि से भी हम इस तथ्य को समझ सकते हैं।

---

130 शाकल्य: पाणिनिर्यास्क इत्यगमर्थ परास्त्रय: यथाशक्त्यनुधावन्ति न सर्वे कथयन्त्यमी ॥
संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातना: निरुक्तव्याकरणयोरासीद्येषां परिश्रम: ॥
अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारं कृतश्रमा: शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि ॥ ऋ. दी. ८/१/८

131 मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्, अ. पु. प्र., पृ. सं. १

132 वेदार्थो निश्चेतव्य: स्मृतीतिहासपुराणै:, वही पृ. सं. १

133 नानारूपधरा ये वै जटा चन्द्रार्धमण्डिता: ते सर्वे सकलैश्वर्ययुक्ता ध्यानपरायणा: ॥
संसारविमुखा: सर्वे यतयो योगतत्परा: सिंहव्याघ्रादिसारूप्या अणिमादिसमायुता: ॥
अपरे कामिन: शम्भो: सनर्मसचिवा: स्मृता: विचित्ररूपाभरणा जटाचन्द्रार्धमण्डिता: ॥
आकाशमार्गे गच्छन्तमनुगच्छन्ति नित्यश: ध्यानस्थं परिचर्यन्ति सलिलादिभिरीश्वरम् ॥
नानाशस्त्रधरा: शम्भोर्गणास्तु प्रमथा: स्मृता: अपरे गायनास्तालमृदङ्गपणवादिभि: ॥
नृत्यन्ति वाद्यं कुर्वन्तो गायन्ति मधुरस्वरम् षट्त्रिंशत्कोट्यश्चैते हरस्य सकलागणा: ॥
का. पु., सि. शि. म. स., पृ. सं. ३५
सि. शि. म., ५/१६

पुराणों के प्रणेता महर्षि वेदव्यास ने सभी पुराणों में शिव को यथोचित स्थान दिया है और कई कथाओं का वर्णन शिव और पार्वती के संवाद के रूप में भी प्रस्तुत किये हैं। अग्निपुराण के ३८२ अध्यायों में शिव का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। इसके ५३वें अध्याय में शिवलिङ्ग आदि के स्वरूप का वर्णन किया गया है। ५४वें अध्याय के अन्तर्गत शिवलिङ्ग के प्रमाण आदि तथा उनके व्यक्त एवं अव्यक्त आदि स्वरूप का वर्णन किया गया है। ७४ वें अध्याय के अन्तर्गत शिवपूजा वर्णन विधि तथा ७५वें अध्याय में शिव के पूजाङ्ग होम-विधि का वर्णन किया गया है। पुन: ९७वें अध्याय के अन्तर्गत शिव की प्राण-प्रतिष्ठा विधि का वर्णन किया गया है। १९२वें अध्याय में भी शिवरात्रि व्रत का वर्णन किया गया है। २९५ वें अध्याय में पञ्चाङ्ग रुद्रविधान का वर्णन समुपलब्ध होता है। ३२१वें अध्याय में पाशुपत शान्ति वर्णन तथा ३२३वें अध्याय के अन्तर्गत रुद्रशान्ति वर्णन दृष्टिगोचर होता है। इन सब अध्यायों में शिव-सम्बन्धी वर्णन पूर्णरूपेण उपलब्ध होता है जबकि अंशत: वर्णन ५०वें अध्याय में (चण्डी आदि देवताओं की मूर्तियों के स्वरूप निरूपण में), ७१वें अध्याय में (गणपति के पूजा विधान में) ११०वें अध्याय में (गङ्गा माहात्म्य वर्णन में), ११२वें अध्याय में (वाराणसी माहात्म्य वर्णन में) २६६वें अध्याय में (माहेश्वर स्नान एवं लक्षकोटि होम वर्णन) तथा ३२५ वें अध्याय में (गौरी आदि के पूजन वर्णन में) समुपलब्ध होता है। एतदतिरिक्त भी शिव का वर्णन प्रसङ्गानुसार अन्य कथाओं या वर्णन में भी प्राप्त होता है।

सृष्टि के स्वयंभू के सगुण रूप का वर्णन ही प्रमुखतया दृष्टिगोचर होता है। इसके अन्तर्गत द्विविध लिङ्ग का वर्णन किया गया है :- (१) साधारण लिङ्ग तथा (२) शिवलिङ्ग। साधारण शिवलिङ्ग के निर्माण के लिये चौकोर (चतुरस्र) प्रस्तर की लम्बाई को दो भागों में विभक्त करके पुन: आधे भाग को आठ भागों में विभक्त करके उसके तीन भाग को छोड़कर शेष पाँच भागों में चौकोर विष्कम्भ बनाएँ एवं उसकी चौड़ाई को छह भागों में विभक्त करके एक भाग, दो भाग तथा तीन भाग क्रम से विभक्त करें। इसमें प्रथम भाग ब्रह्मा का द्वितीय भाग विष्णु कातथा तीसरा भाग शिव का होता है। इसे ही वर्द्धमान कहते हैं।[134] जिस लिङ्ग की लम्बाई और चौड़ाई एक समान तीन भागों में विभक्त हो उसे विभासम लिङ्ग कहते हैं। वह उपासकों के सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करनेवाला होता है।[135] लिङ्ग के स्वरूप वर्णन के क्रम में अग्निपुराण के अन्तर्गत कहा गया है कि विद्वान् पुरुष को चाहिये कि वह सोलह अङ्गुल के लिङ्ग को छह भागों में इस तरह विभक्त करें कि उसका मध्य सूत्र ब्रह्म भाग एवं रुद्र भाग के मध्य से जाय। पिण्डिका के निर्माण होने के साथ इसको साधारण लिङ्ग कहा जाता है।

द्वितीय प्रकार के शिवलिङ्ग को बुद्धिवर्द्धक लवणजन्य तथा घृतजन्य कहा गया है। तत्काल वस्त्र से निर्मित शिवलिङ्ग समृद्धिकारक होता है। मिट्टी का बनाया हुआ लिङ्ग दो प्रकार का होता है पक्व तथा अपक्व। अपक्व की अपेक्षा पक्व लिङ्ग श्रेष्ठ होता है। उससे भी लकड़ी का तथा उससे भी श्रेष्ठ लिङ्ग पत्थर का होता है। चाँदी, ताम्बा तथा पीतल का बना हुआ शिवलिङ्ग भोग तथा मोक्ष प्रदान करने वाला होता है। पारद के निर्मित लिङ्ग के

---

134 अ. पु., ५३/१-३, पृ. सं. १०९

135 वही, ५३/७, पृ. सं. ११०

आभ्यन्तर में पारद और लोहा आदि (ताम्बा, रजत एवं सुवर्ण आदि) करके बनवाना चाहिये । सिद्ध पुरुषों के द्वारा स्थापित अथवा स्वयं उत्पन्न शिवलिङ्ग के विषय में प्रमाण आदि का कोई बन्धन नहीं है ।[136] बाण शिवलिङ्ग (नर्मदेश्वर) के सन्दर्भ में भी यह तथ्य अवलोकित होता है । उनके पीठ तथा प्रासाद की कल्पना अपनी इच्छानुसार कर लेना चाहिये । सूर्य बिम्ब में प्रतिष्ठित शिवलिङ्ग की पूजा दर्पण में प्रतिबिम्बित रूप से करनी चाहिये ।[137] शिव जी तो सर्वत्र पूज्य हैं किन्तु शिवलिङ्ग में उनकी पूजा पूर्ण होती हैं -

पूज्यो हरस्तु सर्वत्र लिङ्गे पूर्णार्चनं भवेत् ।[138]

पत्थर तथा लकड़ी के बने शिवलिङ्ग को एक हाथ ऊँचा होना चाहिये । चल शिवलिङ्ग को अङ्गुल के मान से निर्माण करना चाहिये तथा स्थिर शिवलिङ्ग के द्वार तथा गर्भगृह को हाथ के मान से निर्मित करना चाहिये । गृह में स्थापित शिवलिङ्ग की ऊँचाई एक अङ्गुल से लेकर पन्द्रह अङ्गुल पर्यन्त होनी चाहिये । श्रेष्ठ प्रमाण द्वारमान के अनुसार लिङ्ग तीन प्रकार के होते हैं और गर्भमान के अनुसार उन प्रत्येक के नव-नव भेद होते हैं । इस तरह लिङ्गों के सताईस भेद होते हैं पुन: गर्भमान के शुद्ध नव भेदों को मिलाकर लिङ्ग भेदों की संख्या छत्तीस हो जाती है । इन्हीं लिङ्गों की गृह में पूजा करनी चाहिये । मध्यमान के अनुसार भी लिङ्गों के (३६) छत्तीस तथा अधममान के अनुसार भी लिङ्गों के छत्तीस भेद होते हैं । इस प्रकार कुल मिलाकर लिङ्ग के भेदों की संख्या १०८ हो जाती है ।[139] एक अङ्गुल से लेकर पाँच अङ्गुल पर्यन्त लम्बे चल शिवलिङ्ग अधम कोटि के होते हैं । छह अङ्गुल से दस अङ्गुल पर्यन्त लम्बे चल शिवलिङ्ग मध्यम कोटि के होते हैं । ग्यारह अङ्गुल से पन्द्रह अङ्गुल पर्यन्त लम्बे चल शिवलिङ्ग उत्तम कोटि के होते हैं -

एकाङ्गुलादि पञ्चान्तं कनिष्ठं चलमुच्यते ॥
षडादिदशपर्यन्तं चललिङ्गं च मध्यमम् ।
एकादशाङ्गुल्लादि स्याज्ज्येष्ठं पञ्चदशान्तिकम् ॥[140]

शिवलिङ्ग के अङ्गुल परिमाण को निम्नलिखित तालिका से सरलतया अवबोध किया जा सकता है -

---

136 अ. पु., ५४/१-५, पृ. सं. १११

137 वही, ५४/६, पृ. सं. १११

138 वही, ५४/७, पृ. सं. १११

139 वही, ५४/८-११, पृ. सं. १११-११२

140 वही, ५४/११-१२, पृ. सं. ११२

उत्तम शिवलिङ्ग	मध्यम शिवलिङ्ग	अधम शिवलिङ्ग
एकादश से पञ्चदश अङ्गुल पर्यन्त	छह से दस अङ्गुल पर्यन्त	एक से पाँच अङ्गुल पर्यन्त

महारत्नों से बने शिवलिङ्गों को छह अङ्गुल, अन्य रत्नों से बने शिवलिङ्गों को नव अङ्गुल का हेमसार (सुवर्णभार) से बने शिवलिङ्ग को बारह अङ्गुल का तथा उससे भिन्न वस्तुओं से बने शिवलिङ्ग को पन्द्रह अङ्गुल का होना चाहिये । इसको निम्नलिखित तालिका से सरलतया अवबोध किया जा सकता है -

महारत्न से निर्मित शिवलिङ्ग	अन्य रत्नों से निर्मित शिवलिङ्ग	हेमसार (सुवर्णभार) से निर्मित शिवलिङ्ग	तद्भिन्न वस्तुओं से निर्मित शिवलिङ्ग
छह अङ्गुल	नव अङ्गुल	द्वादश अङ्गुल	पञ्चदश अङ्गुल

सिद्धान्तशिखामणि और पुराणादि के मत में स्थूल से सूक्ष्म सम्पूर्ण शिवलिङ्गों के सम्यक् अभिज्ञान के लिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह लिङ्गों को छह तथा अष्टोत्तरशत भागों में विभक्त करें -

लिङ्गानि घटयेद्धीमान्षट्सु चाष्टोत्तरेषु च ।[141]

वीरशैवमत में लिङ्ग को स्थल कहा जाता है और उस स्थल को परमशिव की संज्ञा प्रदान की जाती है । स्थल के षड् विभाग करके उसे षड्स्थल कहा जाता है और उस षड्स्थल के भेद प्रभेद मिलाकर अष्टशतोत्तर (१०८) होते हैं । इस प्रकार लिङ्ग (स्थल) के कुल १०८ भेद होते हैं ।[142] इस सिद्धान्त अग्नि-पुराण से सम्बन्धित है । वीरशैवमत के षट्-स्थल तथा अष्टशतोत्तर स्थल का विस्तार सिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ में देखा जा सकता है ।
स्थिर तथा दीर्घ प्रमाणों के द्वारा तीन मान होते हैं । इन्हीं मानों के आधार पर इन लिङ्गों के तीन नाम हैं - भागेश, जलेश तथा देवेश । विश्वकर्मा के अनुसार भी शिवलिङ्ग के बहुत से भेद प्राप्त होते हैं ।[143] ये परिमाण उन साधकों के लिये है जो उन्हें (शिव को) स्थूल रूप में देखते हैं । शिव का तीव्र शक्तिपात यदि हो तो किसी स्थूल वस्तु या परिमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती है । अत: किसी भी रूप में शिव (ईश्वर) की भावना को अग्निपुराण ने उत्तम माना है ।

---

141 अ. पु., ५४/२०, पृ. सं. ११२

142 सि. शि. म. प्र., पृ. सं. ११

143 अ. पु., ५४/२०-२१ और २८ पृ. सं. ११२-११३

शिव के स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा गया है कि वृष (बैल) पर सवार शङ्करजी मातृकाओं के आगे रहते हैं ।[144] अग्नि पुराण के चतु:सप्तति अध्याय के अन्तर्गत शिव-पूजा-विधि का कथन किया गया है । तदनुसार आचमन करके प्रणव के द्वारा अर्घ्य तथा शिव के साथ उनके द्वारपालों का भी पूजन करें । साथ ही उदुम्बर (गूलर) की शाखा के ऊपर गणेश, सरस्वती तथा लक्ष्मी का भी पूजन करना चाहिये । साथ ही नन्दी, गंगा, महाकाल तथा यमुना की भी पूजा करनी चाहिये । अस्त्रन्यास के साथ त्रिविध प्राणायाम (रेचक, पूरक तथा कुम्भक) विन्यास और ध्यान भी करना चाहिये । सकलीकरण करते हुये हृदयकमल के ऊपर भावपुष्पों के द्वारा शिव का आपादमस्तक पूजन करना चाहिये । होम तथा तर्पण भी करना चाहिये । षडङ्गन्यास तथा अष्टाङ्ग अर्घ्य तथा धेनु मुद्रा भी प्रदर्शित करनी चाहिये । धीर पुरुष को सदा स्नान, देवार्चन, होम, भोजन, याग, योग तथा आवश्यक जप के समय मौन रहना चाहिये -

स्नाने देवार्चने होमे भोजने यागयोगयो: ।
आवश्यके जपे धीर: सदा वाचं यमो भवेत् ॥[145]

सिंहासन के ऊपर शुक्ल वर्ण वाले पञ्चमुख शिव की स्थापना करनी चाहिये जो बत्तीस लक्षणों से युक्त हैं । आवहनी मुद्रा, कलाकान्ति मुद्रा, मुष्टि मुद्रा तथा लिङ्ग मुद्रा भी शिव को प्रसन्न करने के लिये प्रदर्शित करनी चाहिये । शिवजी के सिर पर न तो हाथ घुमाएँ और न तो उनके सिर को पुष्प से खाली रखें -

निर्माल्यर्घ्यं प्रदद्याच्च नोपरि भ्रामयेत्करम् ।
न शून्यमस्तकं लिङ्गं पुष्पै: कुर्यात्ततो ददेत् ॥[146]

दशांश अर्घ्य, स्तुति, प्रदक्षिणा करके भगवान् शिव को साष्टाङ्ग प्रणाम करना चाहिये । तदनन्तर पञ्चसप्तति अध्याय में शिव पूजा के उपरान्त होम का भी वर्णन अग्नि पुराण के अन्तर्गत किया गया है । इस पुराण के अन्तर्गत शिव को पूज्य मानते हुये उनके सगुण रूप का यथावत् वर्णन किया गया है । यह भी प्रदर्शित किया गया है कि शिव मात्र के पूजन से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पूजन हो जाता है । एतदर्थ शिव पूजन-विधान के अन्तर्गत सृष्टि के अन्य देवताओं का भी पूजन-विधान किया गया है ।

पूजा सगुण रूप की ही होती है और यह सर्वविदित है कि पूजा करने वाले व्यक्ति का मन सदैव प्रसन्न रहता है । मन उद्विग्न नहीं होता है अत: किसी भी देव की भावना करके पूजा

---

144 अ. पु., ५०/१७, पृ. सं. ११२

145 वही, ७४/३९, पृ. सं. १५४

146 वही, ७४/६८, पृ. सं. १५५

करनी चाहिये । शिव की पूजा सरलतया हो जाती है अत: शिव की पूजा का अधिकार स्त्री, शूद्र तथा अन्त्यज आदि सभी वर्णों को है ।[147] जिस सत्ता को आशुतोष, औढरदानी, महादेव तथा भूतभावन आदि अभिधानों से अलङ्कृत किया गया हो वह सत्ता निश्चय ही इहलौकिक और पारलौकिक द्विविध फलों की प्राप्ति शीघ्रतया तथा सरलतया करा सकती है क्योंकि एक ओर तो यह परमशिव अखण्ड, अरूप, अक्रम तथा अभेद हैं तो वही दूसरी ओर सखण्ड, सरूप, सक्रम तथा सभेद भी है ।

५.७ वीरशैवमत में नारीसम्बन्धी अवधारणा

वैदिक तथा आगमिक वाङ्मय में शिव-शक्ति तथा भैरव-भैरवी का अद्वैत दोनो मिलकर निगमागम की अद्वैतता की आधारभित्तिका उपस्थापित करते हैं । मननशील मनुष्य के अन्तर्गत स्त्री-पुरुष दोनों समाहित हैं । सूक्ष्मावस्था हो या स्थूलावस्था सर्वत्र शिव-शक्ति की व्यापकता ही वीरशैवदर्शन (शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन) के क्रोड़ में अवस्थित रही है । अर्धनारीश्वर के रूप में इन दोनों की अद्वैतता सर्वथा अवलोकित होती है । नारी[148] इस स्थूल सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ उपहार है । यह आद्या सृष्टि के साथ ही पालिका और पोषिका भी है । इसका स्थूल रूप आनन्ददायक है तो इसके सूक्ष्म रूप में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाहित है । फलत: इसका अपर अभिधान शक्ति भी है । शक्ति का एक स्वरूप ममता तथा करूणा से ओत-प्रोत है तो उसका द्वितीय स्वरूप क्रोधयुक्त दुर्गा तथा काली भी है । भारतीय परम्परा विविध सम्प्रदायों में अवस्थित होते हुये भी एकत्व का पूर्ण समर्थन करती है । यहाँ धर्म तथा दर्शन समकक्ष शब्द माने जाते हैं । दोनों ही व्यवहार का समुचित सञ्चालन करने के लिये प्रवृत्त होते हैं । पुरुष और नारी समाज के अभिन्न अंग हैं । नारी के बिना पुरुष तथा पुरुष के बिना नारी अपूर्ण है । दोनो का सम्मिलन ही एक नवीन सृष्टि की संरचना करता है, फलत: लौकिक व्यवहार में नारी का वामाङ्ग तथा पुरुष का दक्षिणाङ्ग शुभ माना जाता है । संस्कृत पद पुरुष का तात्पर्य है पुरि शेते इति पुरुष:[149] अर्थात् पुर (शरीर) में शयन करने वाला पुरुष पद से अभिहित होता है । आधुनिक अवधारणा के अनुसार पुरुष का अन्य ही अर्थ अवलोकित होता है, जो उसके मूलार्थ से अति दूर अवस्थित है । तदनुसार विविध भाषाओं में पुरुष का अर्थ एक शरीर विशेष है जो उसे अन्य शरीरों से व्यावर्तित करता है । आधुनिक पुरुष प्रधान समाज में नारी की स्थिति का दयनीय होना स्वार्थता का प्रतीक है, जो उसके महत्व को नहीं समझते हुये स्वत्वविनाश की ओर जा रहा है । स्थूलतया पुरुष के आभ्यन्तर में भी स्त्रीत्व है तथा स्त्री के आभ्यन्तर में भी पुरुषत्व है किन्तु सूक्ष्मतया सर्वत्र पुरुषत्व है क्योंकि इसका व्यापक अर्थ है, साक्षात् परब्रह्म ; जो तुरीयावस्था का सूचक है । शैव दर्शन में शक्ति बिना शिव शव होकर नाम धाम से रहित हो जाता है । जैसा कि कहा गया है -

---

147 नि. क. पू. प्र., पृ. सं. २७३

148 स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधू: । अ. को. म. व. २/२

149 सां. का. भू., पृ. सं. २

शक्तया बिना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते ।[150]

शैव दर्शन के प्रभेदों में वीरशैवदर्शन का अपर अभिधान ही शक्तिविशिष्टाद्वैत है । यहाँ शक्ति ही सभी कार्यों का सञ्चालन करती है । कही शिव शक्ति से प्रश्न करते हैं और शक्ति उसका उत्तर देती हैं तथा कभी शक्ति शिव से प्रश्न करती हैं और शिव उसका उत्तर देते हैं । उनके संवादस्वरूप ही स्थूल से सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान उद्घाटित होता है, जो रहस्यातिरहस्य तथा गोपनीयातिगोपनीय होता है । वह ज्ञानराशि अष्टाविंशति आगम का स्वरूप ग्रहण करती है ।

५.७.१ वीरशैवमत में नारी का महत्त्व

वेदों में पृथ्वी को माता माना गया है तथा स्मृतिग्रन्थों में तो यह भी कहा है कि जहाँ नारी की पूजा की जाती है, वही देवताओं का भी वास रहता है । भारतीय चतुर्विध आश्रमों में गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ माना गया है । गृहस्थाश्रमरूपी रथ के पति और पत्नी दो पहिये हैं । जहाँ एक पहिये में खराबी होने से रथ की गति में अवरोध उत्पन्न होता है, वहाँ यदि दोनो ही पहिये खराब हुये तो रथ का चलना ही कठिन हो जाता है । संयम एवं मर्यादा के पथ पर चलता हुआ गृहस्थरूपी रथ शीघ्र ही अपने गन्तव्य पर पहुँच सकता है । कहा भी गया है -

भार्या मूलं गृहस्थस्य भार्या मूलं सुखस्य च ।
भार्या धर्मफलायैव भार्या सन्तानवृद्धये ॥[151]

वीरशैवमत में नारी ही सम्पूर्ण सृष्टि है -

स्त्रियो देवा: स्त्रिय: सृष्टि : स्त्रिय: कल्याणकारिणी ।
स्त्रीरूपं महेशानि यत्किञ्चित्जगतीतले ॥[152]

आगमकाल से लेकर आधुनिक काल पर्यन्त भारत के विभिन्न प्रान्तों में जीवन्त वीरशैव परम्परा में स्त्री के दर्शनमात्र से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की पूजा हो जाती है । इस धर्म के मत में सम्पूर्ण चराचर नारीरूप ही है, अत: स्त्री भोग्या न होकर पूज्या है । उसके बिना सृष्टि का कोई भी कार्य अपूर्ण है । स्त्रियों का हरण करनेवाला तथा कन्याओं को मारनेवाला देवताओं

---

150 श. सं. त. का. ख., १/९८, पृ. सं. १२३

151 स्क. पु. ब्र. ख. स. अ.

152 श. सं. त. का. ख., ३/१४२-१४३ पृ. सं. ३९-४०

से शापित एवं सदा दरिद्र होता है । अर्द्धनारीश्वर की अर्चना करनेवाले स्त्रियों की निन्दा, उनपर प्रहार इत्यादि को सदैव त्यागने की बात करते हैं -

स्त्रीषु निन्दां प्रहारं च सर्वथा परित्यजेत् ।
परद्रव्यं परस्त्रीं च परान्नं च सर्वथा त्यजेत् ॥[153]

जिस ब्रह्मविद्या का अधिकार केवल पुरुषों तक ही सीमित हो गया था । कहा भी गया था स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्[154] उसको वीरशैवधर्म ने स्त्रियों के लिये भी अधिकृत किया । तदनुसार संसार का प्रत्येक प्राणी ब्रह्मविद्याधिकारी है -

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रास्त्रियश्चाधिकारिण: ।
गार्ग्यामपि स्त्रियां चैव सा यतो ब्रह्मचारिणी ॥[155]

लिङ्गपूजा में सबका स्थान समान है -

स्त्रीवाथ पुरुषष्षण्डचाण्डालो द्विजवंशज: ।
न जातिभेदो लिङ्गार्चास्सर्वै: स्मृता : ॥[156]

इस प्रकार वीरशैवधर्म में नारी को विशेष स्थान देते हुये उसे आदरणीय और पूजनीय माना गया है ।

५.७.२ वीरशैवमत में नारी का वैशिष्ट्य

वीरशैव पद के तात्पर्य में भी शक्ति अवस्थित है -

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका ।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मता : ॥[157]

---

153 श. सं. त. का. ख., ११/३२ पृ. सं. १२३

154 ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू., पृ. सं. ५६

155 क्रि. सा. प्र. भा. पृ. सं.३४ एवं रा. प्र. पृ. सं. ५६

156 ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू. पृ. सं. ३४

157 सि. शि. म., ५/१५

किसी भी शिक्षा का उद्देश्य व्यवहार का सम्यक् सञ्चालन करना होता है । व्यवहार के नियोजन में दर्शनशास्त्र के सूक्ष्म विचारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है । ये विचार प्राणियों के दैनिक जीवन से लेकर उनके शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के साधन होते हैं। फलत: भारतीय मनीषियों ने उनके निर्माण में भलीभाँति सावधानी बरती। किसी ने उसकी स्थूलता को प्राथमिकता दी तो किसी ने उसको सूक्ष्मता को। स्थूलता जहाँ परिवर्तित मानी गयी, वही सूक्ष्मता अनश्वर मानी गयी। साध्य एक होते हुये भी मार्गभेद होना स्वाभाविक था क्योंकि :-

मृग्याभेदेऽपि मार्गभेदस्य संभव: ।[158]

जिसका जितना ही व्यापक चिन्तन था, वह उतना ही प्रभावशाली हुआ। इन विचारों ने मानव समाज को भी प्रभावित किया। नारी के विषय में भी दर्शनशास्त्र के कुछ प्रमुख सम्प्रदायों के विचार द्रष्टव्य हैं :-

५.७.२.१ अद्वैतवेदान्तदर्शन के अन्तर्गत स्त्री सम्बन्धी विचार

इस दर्शन में नारी को माया का प्रतीक माना गया है, तथा ब्रह्मप्राप्ति के लिये उसका विनाश आवश्यक माना गया है। वह परमेश की शक्ति है किन्तु वह विवेक का नाश करती है और उसी के प्रभाव से जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर इस सृष्टि के बन्धन में उलझ जाता है। माया का ग्रहण बन्धन है तथा उसका विनाश मुक्ति है। यदि हम इस सिद्धान्त को व्यवहार से जोड़कर देखें तो हमें ज्ञात होता है कि नारी का साहचर्य जहाँ जनसामान्य के लिये भोग प्राप्ति का साधन है वही उसका परित्याग मोक्ष का साधन माना गया है। महात्मा बुद्ध इसके साक्षात् प्रमाण है, जिन्होने स्त्री को निर्वाण का उपदेश देना भी उचित नहीं समझा। नारी के साथ रहते हुये अत्यल्प व्यक्तियों को ही मोक्ष प्राप्त करते देखा गया है, नहीं तो अधिकांशत: को विवाहानन्तर उसका साथ छोड़ना पड़ा है या फिर आजीवन अविवाहित ही रहना पड़ा है। विषयों में सर्वप्रधान विषय है - पुरुष के लिये नारी तथा नारी के लिये पुरुष। इनमें नारी की अपेक्षा पुरुष प्राणी का चित्त अधिक दुर्बल है अत: उसका पतन शीघ्र हो जाता है (और उसके पतन में तो नारी का पतन है ही क्योंकि उसी के आधार से पुरुष का पतन होता है।) नारी का दर्शन-स्पर्श तो दूर रहा उसका श्रवण- कथन भी पुरुष को पतित करने के लिये पर्याप्त है। इसलिये विवाह के द्वारा एक स्त्री के साथ एक पति का संसर्ग सीमित करके शास्त्रों में उसे ऐसा नियमबद्ध कर दिया है कि जिससे उसके जीवन में कभी असंयम आ ही न सके। यह पवित्र बन्धन लौकिक अभ्युदय तथा नि:श्रेयस् की सिद्धि के लिये सम्पन्न होने वाला एक पवित्र धार्मिक संस्कार है। एतदतिरिक्त भोगानन्तर नारी को क्यों हेय माना जाता है ? वीरशैवदर्शन इसीलिये परब्रह्म शिव की शक्ति को सत्य मानता है। वह

---

158 ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू. पृ. सं. १

शिव के साथ नित्य है । जीवावस्था हो या फिर शिवावस्था दोनों (शिव और शक्ति) का साहचर्य सदैव बना रहता है । जिस प्रकार नारी भौतिक जीवन में प्राणी को आनन्दमय जीवन प्रदान करती हुयी उसे संयमित करती है, ठीक उसी प्रकार वह प्राणी का आध्यात्मिक जीवन भी प्रशस्त कर सकती है । यदि वह चतुर्विध पुरुषार्थों में प्रथम तीन धर्म, अर्थ तथा काम में अर्धभागिता निभा सकती है तो फिर मोक्ष में क्यों नहीं ? न केवल पत्नी रूप में ही इनकी अर्धभागिता है अपितु मातृरूप में भी इनकी उपादेयता है । वीरशैवज्ञान-कर्म समन्वयवादी है अत: वह केवल अर्चना में ही षोडश मातृका नहीं मानता है अपितु लौकिक व्यवहार में भी षोडश माताओं को प्राथमिकता प्रदान करता है, जो श्रुति सम्मत भी है -

स्तनदात्री गर्भदात्री भक्ष्यदात्री गुरुप्रिया ।
अभीष्टदेवपत्नी च पितु: पत्नी च कन्यका ॥
सगर्भजा या भगिनी पुत्रपत्नी प्रियाप्रसु: ।
मातुर्माता पितुर्माता सोदरस्य प्रिया तथा ॥
मातु: पितुश्च भगिनी मातुलानी तथैव च ।
जनानां वेदविहिता मातर: षोडश स्मृता : ॥[159]

अर्थात् स्तनपान कराने वाली, गर्भधारण करनेवाली, भोजन कराने वाली, गुरुपत्नी, इष्टदेवता की पत्नी, पिता की पत्नी (विमाता), पितृकन्या (सौतेली बहन), सहोदरा बहन, पुत्रवधू, सासु, नानी, दादी, भाई की पत्नी, मौसी, बुआ और मामी ये सोलह प्रकार की मातायें वेदविहित हैं । कहा भी गया है -

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।[160]

५.७.२.२ सांख्य-दर्शन के अन्तर्गत स्त्री-सम्बन्धी विचार

सांख्य मत में सृष्टि का निरीक्षण करते हुये दो प्रधान तत्त्व पाये गये - एक विविधरूपधारी जड़ तथा दूसरा एकरस चेतन । एक को उन्होनें प्रकृति माना तथा द्वितीय को पुरुष । प्रकृति शब्द स्त्रीलिङ्ग है तथा पुरुष शब्द पुलिङ्ग । इसी शाब्दिक भेद का उपयोग कर मनीषियों ने स्त्री को प्रकृति तत्त्व का प्रतिनिधित्व करने को कहा तथा पुरुष को पुरुष तत्त्व का । कुछ विचारकों ने इसे गम्भीर स्वरूप दिया तथा माना कि स्त्री संसारासक्त होती है, वह मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हो सकती । स्त्री को यदि मोक्ष प्राप्त करना है तो उसे दूसरे जन्म में पुरुष होना होगा । फलत: लौकिक व्यवहार में भी स्त्री को वैसा ही माना गया । (परपुरुष के निषेध के सन्दर्भ में) "नैषधीयचरितम्" नामक संस्कृत काव्य में तो दमयंती के महल में वायु का

---

[159] ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू. पृ. सं. २४३, ब्रह्मवै. पु., १५

[160] दु. स. दे., श्लो. सं. २

प्रवेश तक नहीं था क्योंकि वायु पुलिङ्ग है ।[161] सांख्य-मत में पुरुष और प्रकृति के संयोग से इस सृष्टि की उत्पत्ति हुयी है किन्तु यहाँ भी प्रकृति चेतन न होकर जड़ है । सांख्यकारिका के उदाहरण भी इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है । तदनुसार जिस प्रकार भर्ता के द्वारा स्त्री में दोष का दर्शन हो जाने के पश्चाद् वह उसको पुन: मोहित नहीं कर पाती है या फिर जिस प्रकार नर्तकी नृत्य के अनन्तर पुरुष के समक्ष से पलायित हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष स्वयं का प्रकाशन करके उससे विनिवर्तित हो जाती है -

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृति: ॥[162]

ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिये प्रकृति का मात्र सहारा लिया गया है, जबकि प्रत्येक कार्य की कुञ्जी तो पुरुष के ही हाथ में है । वीरशैवमत में इस जगत् की संरचना पुरुष (शिव) तथा प्रकृति (शक्ति) के संयोग से हुयी है और जबतक यह सृष्टि रहेगी तबतक यह सम्बन्ध बना रहेगा । शिव के संसर्ग से शक्ति ही समस्त प्राणिजगत् को, समस्त विकारों को और अखिल गुणों को उत्पन्न करती है । गीता में भी कहा गया है -

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥[163]

प्रकृति शक्ति है, पुरुष शक्तिमान् है । शक्ति के बिना शक्तिमान् का अस्तित्व नहीं और शक्तिमान् के बिना शक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है । शक्ति-शक्तिमान् का अविनाभाव सम्बन्ध है । नर पुरुष का तथा नारी प्रकृति की प्रतीक है । दोनों के कर्तव्य तथा कर्मक्षेत्र पृथक्-पृथक् होने पर भी वे एक ही शरीर के दक्षिण और वाम दो अङ्गों की भाँति एक ही शरीर के दो संयुक्त भाग हैं और दोनों के कार्य भी एक दूसरे के पूरक तथा एक ही शरीर की समृद्धि, सुव्यवस्थितता, पुष्टि और तुष्टि के कारण हैं । नारी नर की पत्नी होने पर भी नर नारी का सेवक, सखा और स्वामी है । इसी प्रकार नर नारी का पति होने पर भी नारी नर की स्वामिनी, सखी तथा सेविका है । स्त्री-पुरुष में एक ही पुरुष तत्त्व, जो चेतन है समानभाव से विराजमान है और दोनों के शरीर एक ही प्रकृति तत्त्व से बने हुये हैं । दोनों की संसारासक्ति और संसार-बन्धन समान है और मोक्ष का अधिकार भी दोनो को समान ही है ।

---

161 स्त्री. श., पृ. सं. १३

162 सां. का., श्लो. सं. ५९

163 श्रीमद्भ., १३/१९

५.७.२.३ चार्वाक-दर्शन में स्त्री-सम्बन्धी विचार

चार्वाक-दर्शन ने तो भौतिकता की अनैतिक चरमोत्कर्ष को दर्शाया है । तदनुसार नारी का आलिङ्गन चुम्बनादि से जन्य सुख ही पुरुषार्थ है ।[164] यहाँ उसको वस्तुरूप समझकर सामाजिकता को असंयमित करने का प्रयत्न किया गया है । चुँकि चार्वाक दर्शन अतिभौतिकतावादी होने के कारण सर्वदा ही आलोचना का पात्र रहा है अत: इस सिद्धान्त को अधिक गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है । किन्तु कुछ स्वार्थी लोग ऐसे भी होते हैं, जो इस प्रकार के अनैतिक तथ्यों को भी नीतिगत कहते हैं ।

५.७.२.४ वीरशैवदर्शन में स्त्री-सम्बन्धी विचार

वीरशैवमत में तो जिस प्रकार चन्द्र में स्थित ज्योति विश्ववस्तु को प्रकाशित करने का कार्य करती है, ठीक उसी प्रकार विमर्श नामधेया शक्ति प्रकाश रूपी ब्रह्म में स्थित है -

यथा चन्द्रे स्थिरा ज्योत्स्ना विश्ववस्तुप्रकाशिनी ।
तथा शक्तिविमर्शाख्या प्रकाशे ब्रह्मणि स्थिरा ॥[165]

यह सम्पूर्ण चराचर एक ही शक्ति का प्रतिफलन है । यहाँ पर शिव और जीव दोनों की शक्ति का अद्वैत ही इसे शक्तिविशिष्टाद्वैत पद से अभिहित करता है । वह एकात्मिका शक्ति स्वयं को द्विविध करती है - स्थूलचिदचिदात्मिका तथा सूक्ष्मचिदचिदात्मिका । इसमें जीव का सम्बन्ध स्थूलचिदचिदात्मिका शक्ति से है, जहाँ पर स्थूल चिद्, किञ्चिद्ज्ञत्व तथा स्थूल अचिद् किञ्चित्कर्तृत्व है । शिव सूक्ष्मचिदचिदात्मिका शक्तिविशिष्ट है, जिसमें सूक्ष्म चित् सर्वज्ञत्व तथा सूक्ष्म अचित् सर्वकर्तृत्व है । इस प्रकार जीव और शिव की स्थूल तथा सूक्ष्म चिदचिद-शक्ति का अद्वैत अथवा सामरस्य ही शक्तिविशिष्टाद्वैत है । कहा भी गया है -

एकैव शक्ति: परमेश्वरस्य भिन्नाश्चतुर्धा व्यवहारकाले ।
पुरुषेषु विष्णु: भोगे भवानी समरे च दुर्गा प्रलये च काली ॥[166]

जल में जल का न्यास अथवा वह्नि में वह्नि का न्यास इस न्याय से भी यह तथ्य सिद्ध होता है । क्रियासार में शक्ति की परिभाषा देते हुये उसे ब्रह्म का वैशिष्ट्य ही कहा गया है -

---

164 अङ्गनाद्यालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थ:, स. द. सं., चा. द., पृ. सं. ५

165 सि. शि. म., २०/४ पृ. सं. २०२

166 दु. प. भू., पृ. सं. १

यथा घट इति ज्ञाने घटत्वं स्यात् विशेषणम् ।
तथा ब्रह्मणि वैशिष्ट्यं शक्तिरित्यभिधीयताम् ॥[167]

आगम तथा श्रुतियों में भी इस तथ्य का प्रमाण मिलता है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी कहा गया है -

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रुयते स्वभाविकी ज्ञानबला क्रिया च ।[168]
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति: स्वगुणैर्निगूढाम् ।[169]

वह शक्ति परशिव की स्वभाविकी शक्ति है । वह शक्ति भी ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, क्रिया-शक्ति आदि भेद से बहुप्रकार की है । सिद्धान्तागम में भी कहा गया है -

मं शिवं परमं ब्रह्म प्राप्नोति स्वभावत: ।
मायेति प्रोच्यते लोके ब्रह्मनिष्ठा सनातनी ॥[170]

इस प्रकार से मं अर्थात् शिव को जो स्वभावत: प्राप्त करती है , वह माया ही शक्ति है । कैवल्योपनिषद् में परमेश्वर की उमा सहायिका मानी गयी है । सत् , चित् तथा आनन्दात्मिका यह परशिवशक्ति समस्त लोक के निर्माण के लिये परशिव ब्रह्म में विद्यमान रहती है । साहित्य में भी शिव-शक्ति का अभिन्नत्व देखा जा सकता है । महाकवि कालिदास कहते हैं -

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगत: पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ॥[171]

फलत: शिव तथा शक्ति का अभेद परमार्थत: कहा जाता है, जिसको योगी और तत्त्वचिन्तक ही अनुभव कर सकते हैं । वीरशैवदर्शन ज्ञान-कर्म समन्वयवादी है, इसलिये वह मात्र

---

167 क्रि. सा. प्र. भा., ९३-९६

168 श्वेत. उ., ६-७

169 वही, १-२

170 ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू., पृ. सं. ३८२

171 र. वं. प्र. स. १

ज्ञानार्जन नहीं करता है अपितु उस ज्ञानराशि को अनुभूत कर उस पथ पर चलने का प्रयास करता है । औषधि के ज्ञान मात्र होने से हम रोग का निवारण नहीं कर सकते अपितु उसका लेपन भी उतना ही आवश्यक है, जितना औषधि का ज्ञान । इसी तरह मात्र उनके ग्रन्थों में ही नारी के प्रति सम्मान या आदर नहीं है, अपितु वे इस मार्ग पर चलते भी हैं । वे केवल मन्त्र का जप करके उससे फलाकाङ्क्षा की कामना नहीं करते हैं, बल्कि वें अपनी दैनिक जीवन में भी उसका उपयोग करते हैं, जिससे उनकी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति होती है । एतदर्थ वें पञ्चयज्ञ (तप, कर्म, जप, ध्यान और ज्ञान), अष्टावरण (भस्म, रुद्राक्ष, लिङ्ग, गुरु, मन्त्र, चर, पादोदक तथा प्रसाद), पञ्चाचार (लिङ्गाचार, सदाचार, शिवाचार, भृत्याचार और गणाचार) तथा षट्स्थल (भक्त, माहेश्वर, प्रसादि, प्राणलिङ्ग, शरण तथा ऐक्य) की साधना करते हैं । इन कर्मों में पुरुषों और स्त्रियों को समान अधिकार है । इन कर्मों से नारी और पुरुष दोनों के आन्तरिक तथा बाह्य दोषों का निवारण होता है तथा उनके सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है । हमारा भारतवर्ष पितृसतात्मक माना जाता है । अत: अधिकांशत: पुरुष ही समाज के नेता रहे हैं । आधुनिक युग में सुधार तो हो रहा है किन्तु आज भी महिलायें पुरुषों की तुलना में अपने उचित स्थान को प्राप्त करने में असफल रही हैं । आज भी ग्रामीण लोग शिक्षा के अभाव में अल्पायु में ही अपने कन्याओं का विवाह करते हैं, जिसका परिणाम भयावह निकलता है । आज भी दहेज-प्रथा एक सामाजिक अवगुण के रूप में सबके समक्ष उपस्थित है । कई लोग आज भी दहेज लेना प्रतिष्ठा का विषय मानते हैं, जिसका वीरशैवविरोध करता है । प्रत्येक कण में परब्रह्मशिव-शक्ति की भावना न केवल मानव को मानव के प्रति अपितु मानव को प्रत्येक कण के प्रति सौहार्द्र को बढ़ाती है, जिससे विश्वबन्धुत्व की भावना को प्रश्रय मिलता है ।

५.८ भारतवर्ष में वीरशैवमत की स्थिति

सम्पूर्ण शैव सम्प्रदाय में वीरशैवका अपना विशेष महत्त्व है । प्रदेशान्तर में इसके विविध अभिधान शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन, लिङ्गायत सम्प्रदाय, अत्याश्रमी आदि प्रचलित हैं । यह मत आज भी पूर्णरूपेण जीवित अवस्था में है । न केवल धर्म के रूप में अपितु दर्शन के क्षेत्र में भी इसकी भलीभाँति व्याप्ति है । इसके ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन आज भी हो रहा है । वीरशैवदर्शन के साहित्य संस्कृत, कन्नड़, तमिल, मराठी, तेलगु, गुजराती, मलयालम, अंग्रेजी हिन्दी आदि भाषाओं में ग्रथित हैं । वीरशैवमतानुसार शिव या रुद्र की उपासना वैदिक काल से ही इस भारत भूमि में प्रचलित है । मानवीय दृष्टि की विभिन्नता के कारण शिव से सम्बन्धित मतों के प्रमुखतया त्रिविध विभाग रहे हैं - द्वैत(शिवतन्त्र), द्वैताद्वैत(रुद्रतन्त्र) तथा अद्वैत(भैरवतन्त्र) । प्रमुखरूप से पूर्वोक्त माहेश्वर मतों का प्रचार निम्नलिखित भिन्न- भिन्न प्रान्तों में है-

पाशुपत मत - गुर्जर(राजस्थान)
शैव सिद्धान्त मत - तमिलनाडु
वीरशैवमत - कर्णाटक

इसका अपरनाम लिङ्गायत है । तदनुसार शिव विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय दोनों है । विश्वोत्तीर्ण परब्रह्मस्वरूप शिव अनन्त तथा रूपशरीर विहीन है और अपरब्रह्मस्वरूप शिव विश्वमय है । सभी प्राणियों में आत्मायें होती हैं किन्तु मनुष्यशरीर ही कर्मों का भोग एवं मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ है । वीरशैव स्वर्ग तथा नरक को अस्थायी मानता है । प्रमुख परम्पराओं में ज्योतिष, आयुर्वेद, आरती, भजन, दर्शन, दीक्षा, मन्त्र, पूजा, सत्संङ्ग, विवाह, लिङ्गधारण, जङ्गमदान आदि प्रमुख हैं । वैदिक और आगमिक रीतियों से वीरशैवों के अन्तर्गर्भ तथा बहिर्गर्भ संस्कार भी होते हैं । इनकी साधना पद्धति में षट्स्थल (भक्त, महेश, प्राण, लिङ्ग, शरण तथा ऐक्य), पञ्चाचार (भृत्याचार, लिङ्गाचार, सदाचार, गणाचार तथा शिवाचार), पञ्चयज्ञ (तप, कर्म, जप, ध्यान और ज्ञान) और अष्टावरण [गुरु, लिङ्ग, (इष्ट, चर तथा स्थावर), जङ्गम, पादोदक, प्रसाद, विभूति, रुद्राक्ष, तथा मन्त्र] प्रसिद्ध हैं । प्रदेशान्तर्गत वीरशैवसाहित्य की अवस्थिति निम्नलिखित है :-

५.८.१ कर्णाटक प्रदेश में वीरशैवमत की स्थिति

कर्णाटक प्रदेश में वीरशैवधर्मदर्शन की स्थिति सर्वाधिक सुदृढ़ है । न केवल यह धर्म स्वरूप वहाँ पूजित है अपितु कर्णाटक राज्य की राजनीति भी इस लिङ्गायत मत से सर्वाधिक प्रभावित रही है । कन्नड़ भाषा में उपलब्ध वीरशैवमत के प्रमुख ग्रन्थों की सूची निम्नलिखित है -

अष्टावरणविवेक, ष. ब्र. शम्भुलिङ्ग शिवाचार्य, बीजापुर, १९२३ ई.

मणिकान्ति, डॉ. ज. च. नि., एस. एस.चित्तरगी, बागलकोट, १९२३ ई.

मणिमुकुर प्रभे, ताराग्रन्थ प्रकाशन, धारवाड, १९७६ ई.

महादेवियक्कन वचनगलु, कर्णाटक विश्वविद्यालय, धारवाड, १९७३ ई.

वचनगलल्लि वीरशैवधर्म, डॉ. एच. तिप्पे रुद्रस्वामी, डि. वि. के. मूर्ति, मैंसूर, १९६९ ई.

वीरशैवसाहित्य मत्तु इतिहास, भाग १ बी. शिवमूर्तिशास्त्री, शरणसाहित्यकार्यालय, बंगलोर, १९६२ ई.

वीरशैवसाहित्य मत्तु इतिहास, शरण साहित्य कार्यालय, रायचूर, १९७१ ई.

श्रीजगद्गुरु पञ्चाचार्यरे वीरशैवमतस्थापकरु, चन्द्रशेखरशास्त्री, रायचूर, १९७१ ई.

सिद्धराम शिवयोगि, कन्नड़ शोधप्रबन्ध, कर्णाटक विश्वविद्यालय, धारवाड, १९७५ ई.

---

[172] भा. द., पृ. सं. ३८५

सिद्धान्तशिखामणि सौन्दर्यदर्शन, डॉ. ज. च. नि. १९७६ ई.

हिन्दू दर्शनसार, निवासाचार्य, मैंसूर विश्वविद्यालय, मैंसूर, १९४० ई.

वीरशैव महात्मरु, शिवाधव शतक आदि ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं। पञ्चाचार्यों में से अन्यतम श्रीरेवणाराध्य ने कर्णाटक के बालेहोन्नूर स्थान में एक पीठ की स्थापना की जो सम्प्रति रम्भापुरी के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी एक रेणुकशाखा भी है। इसका सिंहासन वीर-सिंहासन कहलाता है। आप वीर गोत्रियों के आदिगुरु भी माने जाते हैं। रेणुकाचार्य ने सोमेश्वरलिङ्ग से प्रादूर्भूत होकर चौदह सौ वर्ष तक जीवित रहते हुये अनेक लीलायें की जिसमें विक्रम राजा को (जिनके नाम से विक्रम संवत् प्रारम्भ हुआ) विजयखड्ग प्रदान करना, काँची के विजयेन्द्र चोल भूपाल का अनुग्रह, कोल्हापुर (महाराष्ट्र) के गोरक्षनाथ का गर्वहरण, और जगद्गुरु आदि शङ्कराचार्य को चन्द्रमौलीश्वर लिङ्ग तथा रत्नगर्भ गणपति प्रदान करना आदि प्रसिद्ध है।[173] श्री जगद्गुरु आदि शंकराचार्य श्रृंगेरी से काञ्ची जाते समय अपने प्रथम शिष्य सुरेश्वराचार्य को बुलाकर श्रीरेवणसिद्ध महायोगी द्वारा प्राप्त चन्द्रमौली-श्वर लिङ्ग तथा रत्नगर्भ विनायक को देकर उनकी पूजा का भार सौंपकर चले गये।[174] इस प्रकार श्रृंगेरी पीठ में विराजमान यह चन्द्रमौलीश्वर लिङ्ग वीरशैवमत के संस्थापक श्रीरेव-णसिद्ध महायोगी से प्राप्त है। आचार्य बलदेव उपाध्याय भी हिन्दी शंकरदिग्विजय में लिखते हैं - "शारदा को हराया और उन्हें श्रृंगेरी में अपने साथ ले आये। शारदा की प्रतिष्ठा की और चन्द्रमौलीश्वर लिङ्ग, जिसे रेवणमहायोगी ने दिया था, रत्नगर्भ विनायक तथा शारदा की पूजा का भार सुरेश्वर पर रखकर वे काञ्ची पधारे।"[175]

५.८.२ महाराष्ट्र प्रदेश में वीरशैवमत की स्थिति

महाराष्ट्र में वीरशैवमत के प्राय: १ लाख अनुयायी रहते हैं। यह अनुयायी प्रदेश के विभिन्न शिवालयों में लिङ्गार्चना करते हैं। शैवागमों और वीरशैवसाहित्यपरक रचनाओं को प्राथमिकता प्रदान करना इनका लक्ष्य रहता है। वीरशैवमत के प्रचार-प्रसार में ये निरन्तर कार्यरत रहते हैं। मराठी भाषा में भी वीरशैवसाहित्य विपुल मात्रा में विद्यमान है। वीरशैवपरक संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद कार्य भी मराठी भाषा में हो रहा है। मराठी भाषा में सिद्धान्तशिखामणि का अनुवाद कार्य भी सम्पन्न हो चुका है तथा शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, वाराणसी से उसका प्रकाशन भी हो चुका है। श्री काशीनाथशास्त्री जी ने मराठी भाषा में वीरशैवरत्न नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है, इसका भी प्रकाशन जंगमवाड़ी मठ वाराणसी से १९५२ ई. में हो चुका है।

५.८.३ तमिळनाडु प्रदेश में वीरशैवमत की स्थिति

---

[173] वी. शै. अ. वि. उप., पृ. सं. XXIV

[174] सुसिद्धदत्तं सुसिद्धेन रेवणसिद्धमहायोगिना दत्तं श्रीचन्द्रमौलीश्वरलिङ्गम्, वही

[175] श. दि. प. शि. (क) पृ. सं. ५८८

तमिळनाडु में वीरशैवमत की स्थिति सुदृढ़ है। तमिळनाडु के वीरशैवमतानुयायी स्वयं को भारतवर्ष का सर्वाधिक प्राचीन मानव मानते हैं। तदनुसार भारतवर्ष के बाह्य प्रदेश से आये हुये लोग भी उनके साहचर्य से प्राप्त होकर लिङ्ग-पूजा करने लगे। लिङ्ग-पूजा उनके लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। एकेश्वरवाद उनके कण-कण में व्याप्त है। इनके सिद्धान्त में शिव सर्वश्रेष्ठ सत्ता हैं और उनके अन्तर्गत सृष्टि के अन्य विष्णु, ब्रह्मा आदि सत्ताये हैं। अत: न केवल वीरशैवों को अपितु प्रत्येक मानव अथवा प्राणी को सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ सत्ता लिङ्गात्मक परमशिव की उपासना करनी चाहिये। एतदर्थ तमिळनाडु के प्रत्येक क्षेत्र के अन्तर्गत अनेक शिवालय हैं, जहाँ लिङ्गोपासना वैदिक तथा आगमिक रीति से की जाती है।

५.८.४ केरल प्रदेश में वीरशैवमत की स्थिति

केरल प्रदेश में वीरशैवमतानुयायियों की संख्या लगभग २ लाख है। सम्प्रति इस प्रदेश के वीरशैवधर्म के सचिव के. वी. सीवन का व्यक्तित्व अद्भुत है। संस्कृत और मलयालम में वीरशैव साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। केरल राज्य में प्रतिवर्ष वीरशैवमतानुयायी अनेक प्रकार के मेले का आयोजन करके शिवसम्बन्धी नृत्यगीतादि का प्रदर्शन करते रहते हैं। यहाँ के विश्वविद्यालयों में इसमत का अध्ययन-अध्यापन भी होता है। इनके लिये वीरशैवमत के संस्थापक पञ्चाचार्य हैं। कुछ वीरशैवमतावलम्बी बसवेश्वर को भी वीरशैव का संस्थापक आचार्य मानते हैं।

५.८.५ आन्ध्रप्रदेश में वीरशैवमत की स्थिति

आन्ध्रप्रदेश में वीरशैवमतानुयायियों की संख्या लगभग १५ लाख है। श्रीजगद्गुरु रेवणाराध्य शिव के आदेशानुसार वीरशैवधर्म की स्थापना के लिये प्रत्येक युग में आन्ध्रप्रदेश के कोल्लिपाक क्षेत्र के सोमेश्वरलिङ्ग से अवतार लेते आये हैं। इनका नाम कृतयुग में एकाक्षर शिवाचार्य, त्रेतायुग में एकवक्त्र शिवाचार्य, द्वापर में रेणुक शिवाचार्य और कलियुग में रेवणाराध्य के रूप में प्रसिद्ध है। सिद्धान्तशिखामणि के अनुसार रेणुकाचार्य कोल्लिपाक के सोमेश्वरलिङ्ग से अवतार लेकर मलय पर्वत में विराजमान अगस्त्य महर्षि को वीरशैव-सिद्धान्त उपदेश करते हैं।[176] भगवान् शिव के आदेशानुसार श्रीशैल क्षेत्र में विराजमान श्रीमल्लिकार्जुन ज्योतिर्लिङ्ग से चारों युगों में क्रमश: कृतयुग में चतुरक्षर शिवाचार्य, त्रेतायुग में चतुर्वक्त्र शिवाचार्य, द्वापरयुग में धेनुकर्ण शिवाचार्य और कलियुग में पण्डिताराध्य शिवाचार्य के अभिधान से अवतरित हुये। स्वायम्भुवागम के वचनानुसार श्रीशैल में विद्यमान पीठ श्रीशैलपीठ अर्थात् सूर्यसिंहासन की स्थापना की। महर्षि दयानन्द पंचाक्षर-मन्त्रोच्चारण करके नरक के समस्त प्राणियों का उद्धार किया, इन्होंने इस पीठ के द्वापरयुग के आचार्य श्रीधेनुकर्ण शिवाचार्य से ही शिवतत्त्व को समझा था। सम्प्रति इसकी शाखा धेनुकर्ण और वृषभ गोत्र है। सम्प्रति इस पीठ के जगद्गुरु उमापति पण्डिताराध्य शिवाचार्य हैं।

---

[176] अथ त्रिलिङ्गविषये कुल्यपाकाभिधे स्थले सोमेश्वरमहालिङ्गात् प्रादुरासीत् स रेणुक:॥ सि. शि. म., ४/१

तत्पश्चात् इनके शिष्य जगद्गुरु चन्नसिद्धराम पण्डिताराध्य शिवाचार्य इस अधिकार को प्राप्त कर चुके हैं।[177]

५.८.६ हरियाणा प्रदेश में वीरशैवमत की स्थिति

हरियाणा प्रदेश के वीरशैवमतानुयायी सर पर मयूर पंख धारण करते हैं और उनकी छवि मनोहारी होती है। हरियाणवी भाषा में ढोलक आदि बजाकर मनमोहक गीत और नृत्य प्रस्तुत करते हैं। सम्पूर्ण गीत शिव को समर्पित होते हैं। हरियाणा प्रदेश के नाम में भी शिव सम्मिलित है। हरयाणा और हरियाणा शब्द भी इस तथ्य को द्योतित करता है। इस प्रदेश के इतिहास को भी यह मत प्रभावित करता रहा है। हरियाणा राज्य के कुरुक्षेत्र के पास पिहोवा क्षेत्र में स्थित जंगमवाड़ी मठ शिवलिङ्ग प्राणप्रतिष्ठापना सामूहिक शिवदीक्षा समारोह २०११ ई. में हुआ। हरियाणा जंगम समाज के अध्यक्ष श्री शिवचरण गौतम जंगम, उनके सहयोगी डॉ. रामनिवास जंगम, श्रीरामकुमार जंगम आदि वीरशैवधर्म के प्रचार प्रसार के लिये अधिक सक्रिय हैं। यह मठ सरस्वती नदी के तट पर अत्यन्त प्राचीन है। हरियाणा के जंगम समाज का इतिहास सात हजार वर्ष से भी प्राचीन है ; ऐसी मान्यता है। शिवज्ञान सम्पन्न ज्ञानी देश-विदेश में शिवकथा प्रवचन के लिये सुप्रसिद्ध हैं। यहाँ के जंगमलोग शिवकथा प्रवचन के लिये राजस्थान, गुजरात, कच्छ, काश्मीर, काबुल, कंधार और सिकन्द-राबाद तक जाते हैं। इन सभी स्थानों में जंगमवाड़ी मठ विद्यमान हैं। भारत-पाकिस्तान विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान में स्थित जंगमवाड़ीमठ यवनाक्रान्त हो गये हैं किन्तु अन्य स्थानों में अभी भी मठ विद्यमान हैं। मुगल शासन-काल में मुगल सम्राटों ने जंगमसमाज के प्रति अटूट श्रद्धा अभिव्यक्त की थी। काशी के जंगमवाड़ीमठ को भूदान देकर दानशासन लिख दिया गया है। काशी के जंगमपीठाधीश्वरों का प्रभाव केवल काशी में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण उत्तर भारत में तथा नेपाल तक इनका प्रभाव रहा है।[178]

५.८.७ राजस्थान प्रदेश में वीरशैवमत की स्थिति

राजस्थान के वीरशैवमतानुयायी राजस्थानी वेश-भूषा को धारण करते हैं। वहाँ के लोग अपने शिवतुल्य गुरु की प्रतिष्ठा तथा वीरशैव की समृद्धि के लिये ५६ प्रकार के भोगों तथा पुष्पमालाओं से शिवमन्दिर का श्रृङ्गार करते हैं। राजस्थानी भाषा में वीरशैवमत के लोग गीत भी गाते हैं तथा गीत-नृत्यादि प्रस्तुत करके भारतीय-संस्कृति की अभिवृद्धि करते हैं। राजस्थान जंगम समाज के लोग लिङ्गार्चना के लिये सदैव जनसमुदाय को उत्प्रेरित करते हैं तथा विशेष अवसरों में शिवाचार्यों के द्वारा प्रदत्त उपदेश शिवसम्बन्धी उपदेशों का श्रवण भी करते हैं।

५.८.८ मध्यप्रदेशमत में वीरशैवमत की स्थिति

---

177 वी. शै. अ. वि. उप., पृ. सं. XXXI

178 वही, पृ. सं. IX

भगवान् शिव की आज्ञा से शिप्रा नदी के तट पर वटक्षेत्र के सिद्धेश्वर लिङ्ग से कृतयुग में द्वयक्षरशिवाचार्य, त्रेतायुग में द्विवक्त्र शिवाचार्य, द्वापरयुग में दारुकाचार्य और कलियुग में मरुळाराध्य शिवाचार्य रूप में अवतरित हुये । स्वयाम्भुवागम के वचनानुसार इन्होंने धर्मप्रचार के लिये उज्जैन (मध्य-प्रदेश) में एक पीठ की स्थापना की जो कि उज्जयिनी पीठ के नाम से प्रसिद्ध है । सम्प्रति वह मध्यप्रदेश से कर्णाटक के बल्लारी जनपद के उज्जयिनी ग्राम में स्थानान्तरित हो गया है । द्वापरयुग के आचार्य श्री दारुकाचार्य ने दधीचि महर्षि को शिवतत्त्व का उपदेश किया था । इनका नन्दी गोत्र, सद्धर्म सिंहासन और दारुक शाखा है । इस पीठ के वर्तमान पीठाधीश्वर जगद्गुरु मरुळसिद्ध शिवाचार्य हैं ।[179]

५.८.९ छत्तीसगढ़ में वीरशैवमत की स्थिति

छत्तीसगढ़ में वीरशैवमत के लगभग १ लाख अनुयायी रहते हैं । ये अनुयायी प्रदेश के विभिन्न शिवालयों में लिङ्गार्चना करते हैं । शैवागमों और वीरशैवसाहित्यपरक रचनाओं को प्राथमिकता प्रदान करना इनका लक्ष्य रहता है । वीरशैवमत के प्रचार-प्रसार में ये निरन्तर कार्यरत रहते हैं । विभिन्न शिवालयों में लिङ्गार्चना करते है ।

५.८.१० गुजरात में वीरशैवमत की स्थिति

गुजरात प्रदेश में वीरशैवमत के प्राय: ५ लाख अनुयायी रहते हैं । ये अनुयायी प्रदेश के विभिन्न शिवालयों में लिङ्गार्चना करते हैं । इस सन्दर्भ में द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में परिगणित सोमनाथ का विशेष महत्त्व है । संस्कृत और गुजराती में वीरशैवसाहित्य प्रचुर मात्रा में विद्यमान है । शैवागमों और वीरशैवसाहित्यपरक रचनाओं को प्राथमिकता प्रदान करना इनका लक्ष्य रहता है । वीरशैवमत के प्रचार-प्रसार में ये निरन्तर कार्यरत रहते हैं ।

५.८.११ जम्मू-कश्मीर में वीरशैवमत की स्थिति

जम्मू-कश्मीर में वीरशैवमत की स्थिति प्राचीनकाल में अत्यन्त समृद्ध थी । वहाँ वीरशैवधर्म-दर्शनपरक साहित्य की भी रचनायें हुयी, जिनमें स्वप्रभानन्द शिवाचार्य विरचित शिवाद्वैत-मञ्जरी का प्रमुख स्थान है । शोधार्थी द्वारा उस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया गया है और काशी के जंगमवाड़ी मठ द्वारा प्रकाशनार्थ उसकी स्वीकृति भी प्राप्त हो गयी है । वीरशैवम-तानुयायी जम्मू-कश्मीर के विभिन्न प्रदेशों में लिङ्ग-प्रतिष्ठा का समर्थन करते थे और उसी उपक्रम में द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से एक सुप्रसिद्ध अमरनाथ हैं, इनकी यात्रा का आज भी अत्यधिक महत्त्व है । शिवखेड़ी भी जम्मू-कश्मीर में एक शिवभक्तों के लिये आह्लादक स्थान है । जम्मू-कश्मीर में प्रतिष्ठित प्रत्यभिज्ञा दर्शन से इसका अधिक विरोध नहीं रहा क्योंकि प्रत्यभिज्ञा ज्ञानपरक शास्त्र है और यह कर्म और ज्ञान द्विविध है । काश्मीर शैव परम्परा में

---

[179] तद्वन्मरुलसिद्धस्य वटक्षेत्रे महत्तरे सिद्धेशलिङ्गाज्जननं स्थानमुज्जयिनीपुरे ॥ स्व. आ., वी. शै. अ. वि., उप., पृ. सं. XXVII

सोमानन्द अभिनवगुप्त के गुरु कहे जाते हैं । अभिनवगुप्त प्रतिपादित ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी का काल १०१५ ई. माना गया है । उनके पूर्ववर्ती गुरु सोमानन्द ने शैवागमिक विचारधारा के आणव, शाक्त, शाम्भव, प्रत्यभिज्ञा नामक चतुर्विध उपायों में सबसे ऊपर और अन्तिम अनुपाय के अपर पर्याय प्रत्यभिज्ञा की स्थापना की । उन्होंने द्वैतशैव के प्रतिपादक अपने समकालिक अविदित आचार्य वसुगुप्त को महेश्वररूप यह प्रत्यभिज्ञा तथा मोक्षोपाय युक्तियों के द्वारा सिद्ध करके शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ में प्रकटित की । इसी कारण शिवदृष्टि में प्रतिपादित दर्शन प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहा जाता है । शिवदृष्टि की प्रतिबिम्ब भूत ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, उसके ऊपर वृत्ति नामक टीका और उसके ऊपर विवृत्ति नामक टीका सोमानन्द के शिष्य उत्पलाचार्य ने लिखी । अभिनवगुप्त ने उत्पलाचार्य के द्वारा रचित ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका और उसके विवृत्ति के ऊपर क्रमश: विमर्शिनी और विवृत्ति नामक दो प्रसिद्ध टीकाओं की रचना की । इस प्रकार शिवदृष्टि से लेकर प्रत्यभिज्ञा के प्रतिपादक यही ग्रन्थ हैं । अभिनवगुप्त द्वारा विरचित प्रत्यभिज्ञा को प्रतिपादित करनेवाला कोई भी मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है । अभिनवगुप्त द्वारा विरचित तन्त्रालोक में तीन अद्वैत शैव दर्शनों (कुल, क्रम और प्रत्यभिज्ञा) का प्रतिपादन किया गया है । प्रत्यभिज्ञा के अन्य प्रतिपादक ग्रन्थों में क्षेमराज (अभिनवगुप्त के शिष्य) कृत प्रत्यभिज्ञाहृदय (प्रत्यभिज्ञा दर्शन का संक्षिप्त ग्रन्थ), योगराज (१०६० ई.) कृत परमार्थसारटीका, जयरथ (११८० ई.) कृत तन्त्रालोक-टीका, भास्करकण्ठ (१७८० ई.) कृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञाटीका हैं । महादेवगिरि के पत्थरों पर उत्कीर्ण सोमानन्द से पूर्ववर्ती वसुगुप्त के द्वारा प्राप्त तथा प्रकाशित शिवसूत्र प्रत्यभिज्ञा के प्रतिपादक नहीं हैं । उनमें प्रत्यभिज्ञा नामक उपाय का नामोल्लेख तक नहीं है । शाम्भव, शाक्त तथा आणव इन तीनों मलों का ही तीन अध्याय के द्वारा शिवसूत्र में व्याख्यान हुआ है, अत: शिवसूत्र प्रत्यभिज्ञा के प्रतिपादक नहीं हैं क्योंकि ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका में उत्पलाचार्य ने प्रत्यभिज्ञा मार्ग को नवीन मार्ग कहा है ।[180] स्पन्दशास्त्र भी शाक्तोपाय का प्रतिपादक होने से प्रत्यभिज्ञा से भिन्न ही है । प्रत्यभिज्ञा दर्शन को स्वातन्त्र्यवाद, आभासवाद, संविदद्वयवाद, यथार्थप्रत्ययवाद, काश्मीरशैवाद्वैत कहा गया है । स्वातन्त्र्यवाद के अनुसार परमशिव महेश्वर स्वतन्त्र है । वह प्रकाशविमर्शात्मक संवित्स्वभाव परमशिव स्वातन्त्र्य से ही मन्त्र, मन्त्रेश, मन्त्रमहेश, अकल तथा सकल आदि विविधप्रमातृरूप के द्वारा सांसारिक विवेकदृष्टि से अतिरिक्त भासित होता अपने स्वरूप से आच्छादित नहीं होता हुआ, संविद्रूप के द्वारा आन्तरिक स्वान्त्र्य की महिमा का प्रकाशन करता है । भर्तृहरि काश्मीरशैवाद्वैत के स्वातन्त्र्य-वाद का ही केवल अनुसरण नहीं करते हैं अपितु अद्वैतशैवागमों के अनेक सिद्धान्तों का भी अनुसरण करते हैं ।[181] पाणिनि ने भी स्वातन्त्र्यवाद को माना है ।[182] इस प्रकार वीर-

---

180 इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो गुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रो यथा ॥ ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू., पृ. सं. ८०

181 न शिव: शक्तिरहितो न शक्ति: शिववर्जिता: तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव ॥
तत्स्वरूपत्वेनाव्यवहृता नित्या अपि यस्य कला: शक्त्य: ॥ वा. प. टी. वही, पृ. सं. ८२

182 स्वतन्त्र: कर्ता इस सूत्र द्वारा (पतञ्जलि के महाभाष्य में तथा उसके कैयटकृत प्रदीप टीका में) स्फुटित हुआ है

शैवमतानुयायी यह मानते हैं कि अभिनवगुप्तपादाचार्य ने प्रत्यभिज्ञा को प्रतिपादित करनेवाला कोई मूल ग्रन्थ नहीं लिखा।

५.८.१२ उत्तराखण्ड में वीरशैवमत की स्थिति

उत्तराखण्ड उत्तर प्रदेश का अंग था। सम्प्रति यह स्वतन्त्र राज्य के रूप में विद्यमान है। इस क्षेत्र में द्राक्षाराम क्षेत्र के अन्तर्गत श्रीरामनाथलिङ्ग से अवतरित कृतयुग में त्र्यक्षर-शिवाचार्य, त्रेतायुग में त्रिवक्त्रशिवाचार्य, द्वापरयुग में घण्टाकर्ण शिवाचार्य और कलियुग में एकोरामराराध्य अवतरित हुये । स्वायम्भुवागम के वचनानुसार हिमालय में इन्होंने वीरशैवधर्म की स्थापना के लिये केदारपीठ की स्थापना की। इसको वैराग्यसिंहासन कहा जाता है।[183] कृतयुग के त्र्यक्षरशिवाचार्य ने उस समय सूर्यवंश के महाराज मान्धाता को शिवसिद्धान्त का तत्त्वोपदेश किया था। इन्होंने अपनी अन्तिम आयु उस गुरुपीठ की सेवा में ही व्यतीत की। प्रतीक स्वरूप एक शिलामूर्ति केदारपीठ में सम्प्रति विद्यमान है। द्वापर युग के आचार्य घण्टाकर्ण शिवाचार्य ने समस्त शिवक्षेत्रों में भ्रमण करके शिवतत्त्व का प्रचार किया। शिव के अतिरिक्त किसी अन्य देवता का कानों में नाम न सुनायी पड़े, एतदर्थ इन्होंने अपने कानों में छोटी घण्टी को आभूषण स्वरूप धारण कर लिया था। फलत: उनका नाम घण्टाकर्ण शिवाचार्य हो गया। ये काशी में आकर गंगा के तट पर बहुत काल तक रहे। उन्होंने व्यास महर्षि को शिवतत्त्व का उपदेश किया। काशी में व्यासेश्वर शिवलिङ्ग मन्दिर में हाथ में शिवलिङ्ग रखकर पूजा में मग्न एक मूर्ति विराजमान है, उसे आज भी व्यास का गुरु कहते हैं। यह मूर्ति घण्टाकर्ण शिवाचार्य की ही मूर्ति है। उस मन्दिर के पास एक तालाब था जिसका नाम घण्टाकर्ण तालाब था। सम्प्रति वह तालाब नहीं है।[184]

कलियुग के प्रारम्भ में इस पीठ के जगद्गुरु एकोरामाराध्य थे। इनके समय में बाणासुर की पुत्री कुमारी उषा ने यहाँ रहकर शास्त्रों का अध्ययन किया। गुरुकृपा से वह विदुषी होकर उषादेवी के नाम से प्रसिद्ध हुयी। श्रीमती उषा देवी और उनके पति अनिरुद्ध ने बहुत दिन तक केदारपीठ में रहकर गुरु सेवा के रूप में एक भव्य मठ की स्थापना की जो कि उषामठ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वही मठ सम्प्रति ओखीमठ के नाम से जाना जाता है। ओखीमठ में राजा जन्मेजय का दिया गया भूमिदान का एक ताम्रशासन अद्यापि विद्यमान है।[185] यह दान महाराजा जन्मेजय ने मार्गशीर्ष अमावस्या सोमवार को युधिष्ठिर के राज्यारोहण के नवासी वर्ष बीत जाने पर प्लवंग नामक संवत्सर में किया। इस दानपत्र के आधार पर केदारेश्वर मन्दिर और ओखीमठ पाँच हजार वर्ष से अधिक प्राचीन सिद्ध होता है। टेहरी नरेश इस पीठ के शिष्य हैं। इस पीठ के जगद्गुरु को रावल कहा जाता है। टेहरी नरेश ही

---

183 द्राक्षारामे रामनाथलिङ्गाद्युगचतुष्टये एकोरामस्य जननमावासस्तु हिमालये॥ स्व. आ., वी. शै. अ. वि. उप., पृ. सं. XXVII

184 वी. शै. अ. वि. उप., पृ. सं. XVIII

185 वही

तिलकोत्सव समारोह में यह उपाधि प्रदान करते हैं। इस केदारपीठ के गुरुओं की अवच्छिन्न परम्परा अनादि काल से विद्यमान है। लगभग ३२४ जगद्गुरुओं के नाम और काल का पता इस पीठ में विद्यमान है। इस पीठ के ३२४वें रावल श्रीजगद्गुरु नीलकण्ठ शिवाचार्य ने ओखीमठ और गुप्तकाशी के मध्य उत्तराखण्ड विद्यापीठ नामक एक शिक्षण संस्था की स्थापना की है, जिसमें संस्कृत, हिन्दी, आयुर्वेद आदि विद्याओं का अध्ययन होता है। इस विद्यापीठ में उनके स्मरणार्थ रावल श्रीनीलकण्ठ शिवाचार्य की अमृतशिला की प्रतिमा स्थापित की गयी है। इन्होंने ही ब्रह्मसूत्र पर नीलकण्ठभाष्य की रचना की थी। सिद्धेश्वरलिङ्ग शिवाचार्य इस पीठ परम्परा के ३२७वें रावल व जगद्गुरु हो गये। वर्तमान में इस पीठ के ३२८वें जगद्गुरु श्रीभीमाशंकरलिङ्ग शिवाचार्य हैं। इस पीठ परम्परा के विशेष ज्ञान के लिये गढ़वाल का इतिहास और श्रीरामदास गौड़ लिखित हिन्दुत्व पुस्तक का अवलोकन करना चाहिये।[186]

५.८.१३ उत्तर प्रदेश में वीरशैव साहित्य

उत्तर प्रदेश भारतवर्ष का एक प्रमुख राज्य है। वाराणसी, अयोध्या, मथुरा, प्रयाग आदि धार्मिक तीर्थ स्थलों से विभूषित इस राज्य के अन्तर्गत वीरशैवसाहित्य की अवस्थिति निम्नलिखित है :-

काशी क्षेत्र के विश्वनाथ ज्योतिर्लिङ्ग से विश्वाराध्य का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होनें धर्म प्रचार के लिये काशी में एक पीठ की स्थापना की। उस ज्ञानपीठ को आज जङ्गमवाड़ी मठ के नाम से जाना जाता है। विश्वाराध्य स्कन्दगोत्र तथा पञ्चवर्णसूत्र के प्रतिपादक आचार्य माने जाते हैं। इनके सिंहासन को विश्वकर्ण शाखा सिंहासन तथा ज्ञानसिंहासन कहा जाता है। वाराणसी में विद्यमान यह मठ बहुप्राचीन माना जाता है। काशीनरेश जयनन्ददेव के द्वारा इस मठ को प्रदत्त दान पत्र के आधार पर इतिहासवेत्ता इसे ४००० वर्ष से भी अधिक प्राचीन मानते हैं। काशीनरेश जयनन्ददेव लिखित पृ. सं.अतीव जीर्ण हो जाने के कारण उन्हीं के वंशज प्रभुनारायणसिंह ने उसको पुन: ताम्रपत्र पर लिखवाकर मठ को प्रदान किया और यह दोनों पत्र आज भी इस मठ में अवस्थित हैं। एतदतिरिक्त हुमायूँ-अकबर-जहाँगीर-शाहजहाँ तथा औरंगजेब आदि मुगल राजाओं के भी दानपत्र इस मठ में उपलब्ध होते हैं। इस पीठ के ८५ वें पीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु-विश्वेश्वर-शिवाचार्य तथा सम्प्रति डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य हैं। इस जङ्गमवाड़ीमठ की एक शाखामठ नेपाल देश के भक्तपुर (भातगाँव) में है। सम्प्रति वहाँ भी नेपाल नरेश के द्वारा ६९२ विक्रमाब्द में प्रदत्त भूमिदानविषयक शिला विराजमान है। यह संस्थान वीरशैवधर्म दर्शन के लिये पूर्णत: समर्पित है। सम्प्रति यहाँ के पीठाधीश्वर डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी ने अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन इस संस्थान के माध्यम से करवाया है। केवल सिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ जो कि शिवयोगी शिवाचार्य विरचित है उसको भारतीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय १६ भाषाओं में उपनिबद्ध करवाकर इस मठ ने जो वीरशैवसाहित्य की प्रतिष्ठा विश्व के विद्वत् समाज में की है ; वह अतुलनीय है।

---

[186] वी. शै. अ. वि., पृ. सं. XXX

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश से प्रकाशित वीरशैवमत के ग्रन्थ :-

सिद्धान्त-शिखामणि (हिन्दी व्याख्या) :- इस ग्रन्थ के हिन्दी अनुवादक और व्याख्याकार प्रो. राधेश्याम चतुर्वेदी हैं। इसका प्रथम संस्करण शैवभारती शोध प्रतिष्ठान जंगमवाड़ी मठ से २००६ ई. में प्रकाशित हो चुका है।

सिद्धान्तशिखामणि (अवधी अनुवाद) :- अवधी भाषा हिन्दी की प्राचीन सहायक भाषा के रूप में ख्याति प्राप्त करती है। यह गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस की भाषा के साथ ही उत्तरप्रदेश की लोकभाषाओं में प्रमुख स्थान रखती है। इसीलिये सिद्धान्तशिखामणि का अवधी अनुवाद जंगमवाड़ी मठ द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसके अनुवादक प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी, काशी विद्यापीठ, वाराणसी में आचार्य हैं।

ईशावास्योपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित) :- (अनुवादक एवं सम्पादक) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई.

केनोपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित) :- (अनुवादक एवं सम्पादक) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई.

कैवल्योपनिषद् (सदाशिवभाष्यसहित) :- सदाशिवशिवाचार्य, (अनुवादक एवं सम्पादक) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गम-वाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.

पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यम् :- सिद्धनञ्जेश शिवाचार्य, (अनुवादक एवं सम्पादक) व्रज-वल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००४ ई.

मुण्डकोपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित) :- (अनुवादक एवं सम्पादक) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००४ ई.

श्रीमद्भगवद्गीतावीरशैवभाष्य :- (भाष्यकर्ता) डॉ. टी. जी. सिद्धाप्पाराध्य, प्रकाशक श्रीजगद्गुरुमल्लिकार्जुनमुरुघराजेन्द्रमहास्वामि, चित्रदुर्ग, श्री जगद्गुरु उरुघराजेन्द्र विद्यापीठ ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश प्रथम मुद्रण, १९६५ ई.

शिवाद्वैतमञ्जरी :- स्वप्रभानन्द शिवाचार्य, (सम्पादक) डॉ.चन्द्रशेखर शर्मा हिरेमठ, (प्रकाशक) संस्थान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण,१९८६ ई.

शिवाद्वैतदर्पण :- भगवत्पादशिवानुभव शिवाचार्य, (सम्पादक) वे. ब्र. श्री. सिद्धान्तसिद्धबसवशास्त्रि, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९९ ई.

श्वेताश्वतरोपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित) :- (भावार्थदीपिकाकार एवं सम्पादक) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.

सिद्धान्तसारावलि :- त्रिलोचन शिवाचार्य, (अन्वयार्थकार) मरुळसिद्धशिवाचार्य, (विस्तरार्थकार एवं सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.

सिद्धान्तप्रकाशिका :- सर्वात्मशम्भु, (सम्पादक) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई.

Siddhāntaprakāśikā :- Translated by T. Ganeshan, Saiva Bhāratī Sodha Pratiṣthān, Jangamvādi Math, Vārānasi, Uttar Pradesh

सिद्धान्तशिखोपनिषद् :- उमचिगिशङ्करशास्त्रिविरचित, (अनुवादक एवं सम्पादक) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.

<u>आगम</u>

कारणागम (क्रियापाद) :- (सम्पादक) प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.

चन्द्रज्ञानागम (क्रिया एवं चर्यापाद) :- (सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.

Candrajnānāgam :- Translated by Dr. Ramā Ghose, Saiva Bhāratī S odha Pratiṣthān, Jangamvādi Math, Vārānasi, Uttar Pradesh

देवीकालोत्तरागम :- (अनुवादक एवं सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००० ई.

पारमेश्वरागम :- (सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९५ ई.

Pārmeśvarāgam :- Translated by Dr. Ramā Ghose, Saiva Bhāratī Sodha Pratiṣthān, Jangamvādi Math, Vārānasi, Uttar Pradesh

मकुटागम (क्रियापाद एवं चर्यापाद) :- (सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.

Makuṭānāgam :- Translated by Dr. Ramā Ghose, Saiva Bhāratī Sodha Pratiṣthān, Jangamvādi Math, Vārānasi, Uttar Pradesh

सूक्ष्मागम (क्रियापाद) :- (सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.

अनुभवसूत्र :- मायिदेव, (सम्पादक) गजाननशास्त्रिमुसलगाँवकर, (प्रकाशक) शैव-भारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.

निगमागमसंस्कृतिदर्शनम् :- (सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९५ ई.

वातुलशुद्धाख्य तन्त्र :- (सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००४ ई.

श्रीकरभाष्यचतु:सूत्री :- जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, १९५६ ई.

शिवपञ्चविंशतिलीलाशतकम् :- वीरभद्रशर्मा, (सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (लीलासंग्राहक) डॉ. ददन उपाध्याय, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.

शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्श: (डी. लिट्. थिसिस) :- डॉ.चन्द्रशेखर शिवाचार्य, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई.

सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा :- (सम्पादक) राष्ट्रियपण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैव भारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण २००० ई.

शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त :- शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, १९३७ ई.

वीरशैवेन्दुशेखर :- जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, १९३२ ई.

लिङ्गधारणचन्द्रिका :- नन्दिकेश्वर शिवाचार्य, श्रीशिवकुमारशास्त्रिविरचितशरन्ना-मिटीकयासंवलित, सम्पादक, व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती भवन, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, द्वितीय संस्करण १९८८ ई.

सिद्धान्तशिखामणि समीक्षा :- डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य, शैवभारती भवन, जङ्गम-वाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, १९८९ । डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महा-स्वामीजी रचित यह ग्रन्थ संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से विद्यावारिधि हेतु उनका शोध प्रबन्ध है । संस्कृत में लिखित इस ग्रन्थ में षड् दर्शनों के साथ वीरशैवदर्शन की तुलनात्मिका प्रस्तुति की गयी है । साथ ही वीरशैवधर्म-दर्शन के अन्य तथ्यों पर भी विस्तृत प्रकाश डाला गया है । सम्प्रति इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद श्रीमती भुवनेश्वरी भारद्वाज (सहायक आचार्य, लखनऊ विश्वविद्यालय) के द्वारा हो चुका है ।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त वीरशैव अष्टावरण-विज्ञान (डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महा-स्वामीजी), निगमागमसंस्कृति (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी), निगमागमीयसंस्कृतिदर्शनम् (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी), श्रीगुरुगीता (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी), तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी), भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी), सांस्कृतिक राष्ट्रवाद (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी), तन्त्रागम-सार सर्वस्व (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी) धर्मों और संस्कृतियों का संघर्ष (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी), पाशुपतसूत्र (आचार्य चक्रपाणी त्रिपाठी) आदि ग्रन्थों का प्रकाशन, शैव भारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी से हुआ है । इस मठ द्वारा सर्वदा वीरशैवधर्म-दर्शन के कार्यक्रम आयोजित होते रहते हैं और विद्वत् परिचर्चा में जो नवीन तथ्य उद्भूत होते हैं उसका प्रकाशन भी होता है । सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत शक्तिविशिष्टाद्वैत दर्शन के रूप में वीर शैव-दर्शन का अध्ययन-अध्यापन होता है । संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश से प्रकाशित वीरशैवमत से सम्बन्धित ग्रन्थ :-

अनुभवसूत्र (तंत्र संग्रह भाग - १) :- संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, १९६० ई.

काशीस्थितिचन्द्रिका :- श्रीसदाशिवप्रणीता, सम्पादक श्री रमापद चक्रवर्ती

द्वैताद्वैतनिर्णय (शोध निबन्ध) :- सम्पादक डॉ. राजाराम शुक्ल

लुप्तागमसंग्रह : संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८३ ई.

शैवदर्शनबिन्दु :- डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संवत् २०२९

शिवपुराण :- संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८८ ई.

उत्तर प्रदेश के अन्य प्रकाशनों के अन्तर्गत वीरशैवमत से सम्बन्धित ग्रन्थ :-

अनुभवसूत्र :- मायिदेव, प्रत्यभिज्ञा प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८७ ई.

कन्नड़ साहित्य का सुबोध इतिहास :- काशीनाथ एम. हल्लीखेड़े, हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण १९७३

तान्त्रिक साहित्य :- म. म. पं. गोपीनाथ कविराज, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला २००, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन, हिन्दी भवन, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९७२ ई.

भारतीय दर्शन :- आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, पुनर्मुद्रित संस्करण २००१ ई.

लिङ्गमहापुराणम् :- महर्षिव्यासप्रोक्त, अनुवादक एवं सम्पादक, द्वारका मिश्र शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, २००८ ई.

वातुलशुद्धाख्यतन्त्र :- प्रत्यभिज्ञा प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८७ ई.

हिन्दी एवं कन्नड़ साहित्य की प्रमुख धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन :- डॉ. एम. एस. कृष्णमूर्ति, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी (उत्तर प्रदेश) प्रकाशन के वीरशैवसाहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थ :-

काशी का इतिहास :- डॉ. मोतीचन्द्र

काशी की पाण्डित्य-परम्परा :- पं. बलदेव उपाध्याय

शिवकाशी (पौराणिक परिप्रेक्ष्य एवं वर्तमान संदर्भ) :- डॉ. प्रतिभा सिंह, प्रा. प्रो. राणा पी. बी. सिंह

शिव की अनुग्रह मूर्तियाँ :- डॉ. शान्तिस्वरूप सिन्हा

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश के द्वारा प्रकाशित वीरशैवमत से सम्बन्धित ग्रन्थ :-

आगमतत्त्वविलास :- हिन्दी टीका सहित (प्रथम भाग)

आगमरहस्य :- शैवागमान्तर्गत । पं. श्री सरयू प्रसाद द्विवेदी विरचित । सुधा हिन्दी व्याख्या परिशिष्ट सहित, व्याख्याकार डॉ. सुधाकर मालवीय उत्तरार्द्ध

भारतीय तन्त्रशास्त्र और सिद्धान्त साधना :- हिन्दी व्याख्याकार डॉ. श्यामाकान्त द्विवेदी आनन्द

रुद्रपद्धति :- हिन्दी टीका सहित, रुद्रोपासना का सम्पूर्ण शास्त्रीय विवेचन, अनुवादक पं. दौलतराम गौड़

रुद्रचण्डीयागपद्धति :- पं. अशोक कुमार गौड़

रुद्रस्वाहाकारपद्धति :- पं. गोपालचन्द्र मिश्र

रुद्राध्याय :- आचार्य नारायणराम

रुद्रप्रतिष्ठाविधि :- हिन्दी टीका सहित, पं. अशोक कुमार गौड़

रुद्रयागविधि :- रुद्रभेद-कुण्ड-मण्डप-प्रायश्चित-पञ्चाङ्ग-वास्तुरुद्रार्चनावरण-महा-न्यास-होमान्यास-होमादियज्ञान्तस्नानसंवलित, डॉ. कैलाशचन्द दुबे

रुद्रयाग हवन विधि :- पं. वेणीराम शर्मा गौड़

रुद्रयागहवन मन्त्र विधि :- पं. वेणीराम शर्मा गौड़

रुद्रार्चन प्रदीप :- पं. सोहनलाल व्यास

रुद्राक्षधारणविधि :- हिन्दी टीका सहित

रुद्रोपासनपद्धति :- परिशिष्टसहित, पं. अशोक कुमार गौड़

लिङ्ग महापुराणम् :- (हिन्दी अनुवादक एवं सम्पादक) द्वारका प्रसाद मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, २००८ ई.

शिवगीता (पद्मपुराणोक्त) :- पं. ज्वाला प्रसाद मिश्र कृत हिन्दी टीका

शिवसंहिता :- हरि हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार पं. हरिहर प्रसाद त्रिपाठी

शिवसंहिता :- राघवीय भाषानुवाद सहित, राघवेन्द्र शर्मा

शिवसंहिता :- गो. श्रीरामचरणजी पुरी कृत हिन्दी टीका

शिवस्वरोदय :- हिन्दी टीका सहित. डॉ. सत्येन्द्र मिश्र

शिवस्वरोदय (ज्ञानस्वरोदय सहित) :- भाषा टीका सहित पं. अभय कात्यायन

शिवस्वरोदय (स्वरोदय शास्त्र) :- राघवीय भाषानुवाद सहित, राघवेन्द्र शर्मा

शिवस्वरोदय :- पं. मिहिरचन्दजी कृत हिन्दी टीका सहित

शिवशक्तियागरहस्य :- पं. अशोक कुमार गौड़

Linga Purana: - English translation only by J.L.Shastri, Chaukhamba Surbharati Prakashana, Varanasi, Uttar Pradesh.

Ling Purana: - Text with English translation by S. L. Nagar, Chaukhamba Surbharati Prakashana, Varanasi, Uttar Pradesh.

Sivasvarodaya :- Text with Sveta English Translation Edited by Goswami Prahlad Giri Vedantakeshari .

The Hindu Systems of Moral Science :- Kishori Lal Sarakar.

The Systems of Vedanta :- Dr. Paul Deussen.

अमर स्वामी प्रकाशन विभाग, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश से प्रकाशित वीरशैवमत से सम्बन्धित ग्रन्थ :-

शिवलिङ्ग पूजा क्यों :- लेखक श्रीराम आर्य (कासगंज निवासी), प्रस्तुत पुस्तक शिवपूजा के ऊपर लिखी गयी है। जिसमें माननीय डॉ. साहब ने पुराणों के प्रमाण एवं अन्य अनेक प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाणों के द्वारा शिवलिङ्ग पूजा की वास्तविकता से दिग्दर्शन कराया है। अपने विषय की यह उत्तम पुस्तक है। जो सज्जन शिवलिङ्ग पूजा में विश्वास रखते हैं ; उन्हें इस ग्रन्थ का अध्ययन अवश्य करना चाहिये। यह पुस्तक न्यायालयीय विवाद के उपरान्त निर्दोष सिद्ध हुयी है ; जिसका विवरण इस पुस्तक के अन्त में दिया गया है।

हरविजयम् :- राजानक रत्नाकर

इसके साथ ही भारतीय विद्या भवन, वाराणसी से सम्प्रति वीरशैवसे सम्बन्धित दो ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है :- वीरशैवदर्शन का उद्गम एवं विकास और वीरशैवदर्शन की तत्त्वमीमांसा। इस प्रकार उत्तर प्रदेश राज्य में वीरशैवसाहित्य का प्रणयन हुआ है किन्तु इस शास्त्र के अध्येताओं की संख्या अत्यल्प है। इस दिशा में अत्यधिक प्रयत्न की आवश्यकता है कि इस धर्म-दर्शन के साहित्य से छात्रों को परिचित कराया जाय ; जिससे कि भविष्य में इस मत के अध्येताओं की संख्या में वृद्धि हो सके।

५.८.१४ बिहार प्रदेश में वीरशैवसाहित्य

बिहार राज्य उत्तर प्रदेश का समीपवर्ती राज्य है। इस राज्य की सीमा नेपाल से भी सम्बद्ध है। वाराणसी से नेपाल तक का गमन बिहार राज्य होकर भी किया जाता है। वाराणसी में जङ्गमवाड़ी मठ और नेपाल में भाँतगाव वीरशैवमत से सम्बद्ध हैं। इस राज्य में वीरशैवसाहित्य का अभाव दृष्टिगोचर होता है ; तथापि इस राज्य से सम्बद्ध व्यक्तियों ने वीरशैवसाहित्य की सेवा की है। काशी के प्रख्यात विद्वान् पं. शिवकुमार शास्त्रीजी जो बिहार के दरभङ्गा मण्डल के निवासी थे ; उन्होंने वीरशैवदर्शन की पुस्तक लिङ्गधारण-चन्द्रिका की शरत् नाम्नी टीका का प्रणयन किया है। लिङ्गधारण चन्द्रिका के रचयिता नन्दिकेश्वर शिवाचार्य हैं और इसका द्वितीय संस्करण १९८८ ई. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी के सम्पादन में शैवभारती भवन जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी से प्रकाशित किया गया है। लिङ्गधारणचन्द्रिका की शरत् नाम्नी टीका में वीरशैवमत के लिङ्गधारणविधि के वैदिकत्व को सिद्ध किया गया है। जैसा कि नाम से ही प्रश्न उपस्थित होता है कि लिङ्ग धारण की जो चन्द्रिका है वह किस मास की है ? पं. शिवकुमार शास्त्रीजी ने इस चन्द्रिका को यथार्थत: प्रमाणपुरस्सर शरत् मास की चन्द्रिका सदृश प्रतिष्ठित किया है। बिहार राज्य के अन्तर्गत वीरशैवमत साहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थ -

तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त :- मं. म. पं. गोपीनाथ कविराज, अनुवादक पं. हंसकुमार तिवारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, बिहार, प्रथम संस्करण, १९७९। इस ग्रन्थ में अन्य सम्प्रदायों के साथ वीरशैवमत के सिद्धान्तों का भी वर्णन किया गया है। वीरशैवसम्प्रदाय आगमिक सम्प्रदाय है और आगम और तन्त्र अपर पर्याय हैं। इसी उपक्रम में वीरशैवसम्प्रदाय की आगमिकता उपर्युक्त ग्रन्थ में दर्शायी गयी है।

शैवमत :- डॉ. यदुवंशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, बिहार, १९८८ । डॉ. यदुवंशी रचित इस ग्रन्थ में अन्य सम्प्रदायों के साथ वीरशैवमत के सिद्धान्तों का भी वर्णन किया गया है । वीरशैवसम्प्रदाय शैव सम्प्रदाय है और शैव सम्प्रदाय के वर्णन के उपक्रम में इसका भी अध्ययन उपर्युक्त ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है ।

श्रीकरभाष्य : सिद्धान्त और प्रतिपक्ष (ब्रह्मसूत्र विरोधपरिहाराध्याय के सन्दर्भ में) :- डॉ. व्रजेश कुमार पाण्डेय, शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण २००८ ई. । शैवागमों पर आधारित वीरशैवदर्शन शैवपरम्परा में अपनी विशिष्ट उपासना एवं आचरण पद्धति के लिये ख्यात है । लिङ्गोपासना को सर्वाधिक महत्त्व देने एवं शिवदीक्षा के उपरान्त इष्टलिङ्ग को प्राणवत् धारण करने के कारण वीरशैवमतानुयायी "लिङ्गायत" भी कहलाते हैं । वीरत्व का तात्पर्य शारीरिक बलप्रयुक्ति से नहीं अपितु शिव में भक्ति की पराकाष्ठा एवं उत्साहातिरेक से है । वस्तुत: धारित लिङ्ग को यावज्जीवन शरीर वियुक्त नहीं करनेवाले तथा प्रसङ्ग उपस्थित होने पर परशिव के लिये अपने प्राण त्याग रूप वीरव्रत के परिपालन में तत्पर एवं विरोधभावनारहित होकर प्राणिमात्र से प्रेम करते हुये शिव-जीवैक्य बोधिका विद्या में रमण करनेवाले एकनिष्ठ शिवभक्त वीरशैव कहलाते हैं । दार्शनिक दृष्टि से यह मत ब्रह्म एवं जीव के मध्य अग्निस्फुल्लिङ्गवत् भेदाभेद संबंध को युक्तिसंगत मानता है । सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्वादि संपन्न शिव (शक्ति) एवं अल्पज्ञत्व, अल्पकर्तृत्वादि संपन्न (जीव द्वितीय शक्ति) का अद्वैत प्रतिपादन करने के कारण यह दर्शन शक्तिविशिष्टाद्वैत के नाम से भी प्रख्यात है । इस ग्रन्थ के कर्ता डॉ. व्रजेश कुमार पाण्डेय बिहार प्रदेश के सिवान जिले के मूल निवासी हैं और सम्प्रति वीरशैवके अन्तर्गत एम्. फिल्. और पीएच. डी शोधोपाधि प्राप्त कर कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल में सहाचार्य के पद पर कार्यरत हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रमुखतया वीरशैवमत को पुष्ट करने के लिये अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है । तदनुसार एकमात्र वीरशैव में ही सभी श्रुतियों का समन्वय स्थापित होता है । इनकी पीएच. डी. शोधोपाधि का विषय निम्नलिखित है :- वीर शैवमत में परमत खण्डन (पीएच. डी. थिसिस) दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन में जीव का स्वरूप :- डॉ. व्रजेश कुमार पाण्डेय, शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, २००८ ई. । स्व की जिज्ञासा से ही दर्शन का उद्भव हुआ है । इसलिये जीवन का स्वरूप-विमर्श दर्शन की प्रत्येक धारा का प्रतिपाद्य विषय है । जीव चैतन्य एवं कर्तृत्व का संयुक्त रूप है तथा इन्द्रियों से संयुक्त शरीररूपी पंजर का स्वामी भी । नानात्व, द्वंद्व और प्रपञ्च जीव से संपृक्त है किन्तु जीव जागतिक विषयों के साथ जो तादात्म्य का अनुभव करता है वह सत्य है कि मिथ्या । यही अंतर्द्वद्व जीव के वास्तविक स्वरूप को जानने की उत्कण्ठा उत्पन्न करता है । प्रस्तुत स्वल्पकाय ग्रन्थ शक्तिविशिष्टाद्वैत (वीर शैव) संप्रदाय की दृष्टि से जीव के स्वरूप को स्पष्ट करता है । प्रासङ्गिक रूप से विभिन्न दर्शनों में जीव विषयक मीमांसा का संक्षिप्त विवेचन किया गया है । डॉ. व्रजेश कुमार पाण्डेय विरचित इस ग्रन्थ में वीरशैवदर्शन के महत्त्वपूर्ण उपादानों की परिचर्चा की गयी है । वीरशैवदर्शन में जीव को अङ्ग और शिव को लिङ्ग अभिधान प्रदान किया है । इनका लिङ्गाङ्गसामरस्य ही मोक्ष पद को व्याख्यायित करता है । इसी उपक्रम में त्यागाङ्ग (स्थूल शरीर), भोगाङ्ग

(सूक्ष्म शरीर) और योगाङ्ग (कारण शरीर) की परिचर्चा यथास्थान की गयी है ; साथ ही वीरशैवदर्शन की संक्षिप्त परम्परा को भी दर्शाया गया है ।

शिवलीलार्णव महाकाव्य का सांस्कृतिक अध्ययन :- (पीएच. डी. थिसिस) भक्तिकर झा, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, बिहार (शोधरत)

वीरशैवदर्शन में तत्त्वमीमांसा का स्वरूप :- इस विषय पर प्रवीण कुमार द्विवेदी सम्प्रति विशिष्ट संस्कृत अध्यन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के शोध छात्र ने एम्, फिल्. (दर्शन-निष्णात) शोधोपाधि प्राप्त की है । प्रवीण कुमार द्विवेदी, बिहार प्रदेश के गोपालगंज के मूल निवासी हैं । इस लघु शोध-प्रबन्ध में इन्होंने वीरशैवदर्शन की परम्परा, वीरशैवदर्शन के मान्य छत्तीस तत्त्वों का लक्षण और वर्तमान समय में वीरशैवदर्शन की प्रासङ्गिकता को दर्शाया है ।

सिद्धान्तशिखामणि (भोजपुरी अनुवाद) :- बिहार की प्रमुख भाषा मैंथिली, मगही और भोजपुरी हैं । वीरशैवधर्म-दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ सिद्धान्तशिखामणि के भोजपुरी अनुवादक प्रवीण कुमार द्विवेदी सम्प्रति विशिष्ट संस्कृत अध्यन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के शोध छात्र हैं । भोजपुरी भाषा जन सामान्य की भाषा है और इस भाषा में वीरशैवग्रन्थ का अनुवाद होने से वीरशैवधर्म-दर्शन के विषय में भोजपुरी भाषी भी लाभान्वित होंगे ।

शिवाद्वैतमञ्जरी (हिन्दी अनुवाद) :- शिवाद्वैतमञ्जरी, स्वप्रभानन्द शिवाचार्य विरचित काश्मीर प्रदेश में वीरशैवमत का लिखित ग्रन्थ है । शिवाद्वैतमञ्जरी के हिन्दी अनुवादक प्रवीण कुमार द्विवेदी सम्प्रति विशिष्ट संस्कृत अध्यन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के शोध छात्र हैं ।

५.८.१५ दिल्ली प्रदेश में वीरशैवमत की स्थिति

दिल्ली भारतवर्ष की राजधानी है । यह भौगोलिक दृष्टिकोण से उत्तर भारत के अन्तर्गत आता है । राजधानी होने के कारण यहाँ पर प्रत्येक क्षेत्र के व्यक्ति मिलते हैं । वीरशैवमत के न केवल अनुयायी अपितु वीरशैवसाहित्य पर शोध कार्य करनेवाले विद्वान् यहाँ हैं । वर्तमान समय में दिल्ली विश्वविद्यालय के शोध छात्र श्री कुलदीप सिंह "श्रीकरभाष्य और पूर्णप्रज्ञभाष्य का तुलनात्मक अध्ययन" विषय पर शोध कार्यरत हैं । विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहलाल नेहरू विश्वविद्यालय के शोध छात्र श्री घनश्याम मिश्र ने भी अपने तत्त्वमसि आदि चार महावाक्यों के अर्थ निर्धारण क्रम में श्रीपति विरचित श्रीकरभाष्य सहित शिवाद्वैत परिभाषा आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे हैं । दिल्ली प्रदेश के अन्तर्गत वीरशैवसाहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं -

आगममीमांसा :- पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, श्रीलालबहादुरशास्त्रीसंस्कृतविद्यापीठ, नई दिल्ली-१६, प्रथम संस्करण १९८२ ई.

आगम और तंत्रशास्त्र :- पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम आवृत्ति, १९८४

ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य (भाग १-३) :- श्रीपतिपण्डितभगवत्पादाचार्य, (सं.) सी. हयवदना राव, अक्षय प्रकाशन, नई दिल्ली, पुन: प्रकाशित २००३ ई.

पाशुपतसूत्र पञ्चार्थभाष्य :- भासर्वज्ञकृतगणकारिकारत्नटीकासहित, सम्पादक एवं अनुवादक डॉ. आलोकमणि त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९९८ ई.

शिवज्ञानबोधोपन्यास :- निगमज्ञानदेशिक, (संपादक) टी० जानसन, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, लोकप्रिय साहित्य ग्रन्थमाला-२

शिवशतक :- गोकुलनाथ, (प्रधान संपादक) डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, जनकपुरी नई दिल्ली, संस्करण २०१०, लोकप्रिय साहित्य ग्रन्थमाला-२१ ।

साम्बपञ्चाशिका :- पेनमैंन प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९९ ई.

धर्म और समाज :- डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, सिलवर बैल प्रकाशक, दिल्ली-३२, प्रथम संस्करण, २०१२ ई.

पाशुपत शैवधर्म एवं दर्शन :- (भाग २, खण्ड ३) डॉ. आलोकमणि त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.

पाशुपतसूत्र पञ्चार्थभाष्य :- भासर्वज्ञकृतगणकारिकारत्नटीकासहित, सम्पादक एवं अनुवादक डॉ. आलोकमणि त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९९८ ई.

भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा :- प्रो. राममूर्ति शर्मा, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली, प्रथम संस्करण, २००८ ई.

लिङ्गपुराणम् :- (शिवतोषिणीसंस्कृतटीकासहित), संस्कर्ता जगदीशशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९८० ई.

वैदिक संस्कृति का विकास (मराठी से हिन्दी में अनुदित) :- तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी, मोरेश्वर दिनकर पराड़कर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५७ ई., पुनर्मुद्रण २००५ ई. तथा २००७ ई.

A Handbook of Vīraśaivisam:- S.C. Nandimath, Motilal Banarasidas, New Delhi, 1979

Saivism & Vīraśaivism:- S.C. Nandimath, Motilal Banarasidas, New Delhi, 1943

शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित वीरशैवमत से सम्बन्धित ग्रन्थ :-

प्राचीन मिथिला में शैवमत :- भास्करनाथ ठाकुर

Principals of Tantra (In Two Vols), A. A. Avalon (J. Woodroffe)

The Dance of Shiva, (Fourteen Indian Essays) :- by Ananda Kumar Swami

परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली के वीरशैवमत से सम्बन्धित ग्रन्थ :-

देवाधिदेव महादेव शिव : पुराणों के विशेष सन्दर्भ में :- शिप्रा बैनर्जी, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, २०१० ई.

पुराणों में संस्कृत शिव-कथा : एक अध्ययन : शिव पुराण के विशेष सन्दर्भ में, आशुतोष शुक्ला, अवध, २०००, पीएच. डी.

पुराणों में शिव-विवाह एक परिशीलन :- हरिमंगल त्रिपाठी, वाराणसी, पीएच० डी०, (शोधरत)

पुराणेषु शिवावतारतत्त्वम् :- (डॉ. श्रीमती मिनाती रथ, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, प्रथम संस्करण, २००८ ई.) इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में शिवावतारतत्त्व तथा अवतार का उद्देश्य, द्वितीय अध्याय में स्वरूपावतार (कायावतार), पूर्णावतार, अंशावतार, लीलावतार तथा योगावतार और तृतीय अध्याय में शिव के सौ अवतार का वर्णन किया गया है । जिसके लिये लिङ्ग पुराण के अनेक उद्धरण लिये गये हैं।

Ling Mahapurana (With an exhaustive Introduction Sanskrit Text, English Translation and Index of Verses) :- (Tr.) S. L. Nagar, Primal Publications, Delhi, First Edition, 2008

प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित वीरशैवमत से सम्बन्धित ग्रन्थ :-

- Synthesis of Buddhist Saiva & Sakta Tantras: - Surendra Jha, 2009

उत्तर प्रदेश, बिहार और दिल्ली में उपलब्ध लिङ्गपुराण की पाण्डुलिपियाँ[187]

लिङ्गपुराणम् :- पूर्ण, अधिगम संख्या ५१४३, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या ४२, देवनागरी लिपि, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, गंगानाथ झा परिसर, इलाहाबाद

लिङ्गपुराणम् :- पूर्ण, अधिगम संख्या ५१४२, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या १२१, देवनागरी लिपि, इलाहाबाद

लिङ्गपुराणम् :- अपूर्ण, परिग्रहण संख्या १७२, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या २६६, देवनागरी लिपि, कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, बिहार

लिङ्गपुराणम् :- अपूर्ण (जीर्ण-शीर्ण, नष्टप्राय), परिग्रहण संख्या ९०, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या २९८, देवनागरी लिपि, कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, बिहार

लिङ्गपुराणम् :- पूर्ण, परिग्रहण संख्या २६२७, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या २०५, मैंथिली लिपि, कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, बिहार

लिङ्गपुराणम् :- पूर्ण, परिग्रहण संख्या २६७१, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या २३३, देवनागरी लिपि, कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, बिहार

लिङ्गपुराणम् :- पेपर-अपूर्ण, संग्रह संख्या १०९९१, फोलियो की संख्या ३२७, साईज ३१x१५.३ एसेशन नम्बर ११८०२, देवनागरी लिपि, वृन्दावन शोध संस्थान, उत्तर प्रदेश

लिङ्गपुराणम् :- अपूर्ण, क्रम संख्या ७२०६८, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या २८१, देवनागरी लिपि, सरस्वती भवन, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

लिङ्गपुराणम् :- अपूर्ण, क्रम संख्या ७१८७०, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या १२, देवनागरी लिपि, सरस्वती भवन, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

[187] लिङ्ग पुराण की एक पाण्डुलिपि (तेलुगु लिपि) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश में भी संग्रहीत है

लिङ्गपुराणम् :- अपूर्ण, क्रम संख्या ७१८६२, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या १२७, देवनागरी लिपि, सरस्वती भवन, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

लिङ्गपुराणम् :- अपूर्ण, क्रम संख्या ७१६४८, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या २३, देवनागरी लिपि, सरस्वती भवन, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

लिङ्गपुराणं तंत्रशास्त्रञ्च: - पूर्ण, (लेखक) विनायक शर्मा प्राञ्जपे, क्रम संख्या- ६, अंक- २, जुलाई, १९६४ ई.

लिङ्गपुराणस्य कालनिर्णय: : - पूर्ण, (लेखक) विनायक शर्मा प्राञ्जपे, क्रम संख्या- २, अंक- १-२, जुलाई, १९६० ई.

लिङ्गपुराण में आयुर्वेद तत्त्व : - पूर्ण, (लेखक) मण्डनलाल, क्रम संख्या- १६, अंक- ६, दिसम्बर, १९७३ ई.

A Devi in the form of a Linga: - Purna, (Author) Bonazzali Giorgio, Vol. XVII, No.2, July 1975

Devilinga: A Note: - Purna, (Author) Bonazzali Giorgio, Vol. XX, No.1, January 1978

The Linga: Origin of its concept and worship: - Purna, (Author) N. Gangadharan Vol. XX, No.1, January 1978

Ling Purana Khand-1(MN/Devanagri):- Allahabad, 238,476, AM_032, AM_0274 to AM_0276, AM 357 (In IGNCA Library)

Ling Purana Khand-2 (MN/Devanagri):- Allahabad, 78,156, AM_032, AM_0277 to AM_0358, AM 358 (In IGNCA Library)

Lingsatakam (MN/Devanagri): - Allahabad, 2, 4, AM_038, AM_14, AM_0328, AM_592 (In IGNCA Library)

MN/Devanagri, Lingsatakam: - Allahabad, 2, 4, AM_038, AM_14, AM_0327, AM_593 (In IGNCA Library)

यह सर्वविदित है कि वीरशैव धर्म दर्शन का प्रचार-प्रसार उत्तर प्रदेश, बिहार और दिल्ली राज्य में अत्यल्प है तथापि इस प्रकार (अध्ययन के क्षेत्र में वीरशैवसाहित्य) की उपलब्धता यह सूचित करती है कि वीरशैवधर्म-दर्शन से इन क्षेत्रों का भले ही जन सामान्य अपरिचित है किन्तु इसकी प्रतिष्ठा विद्वत् समाज में पूर्णरूपेण है । विद्वत् समाज के अन्तर्गत शास्त्रार्थ प्रक्रिया में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की प्रणाली दृष्टिगोचर होती है । इस धर्म-दर्शन का प्रयोग दोनों प्रकार से हुआ है । महर्षि दयानन्द आदि ने इसको पूर्वपक्ष के रूप में खण्डित किया है तो अन्य आचार्यों ने इसका समर्थन भी किया है ।

इस धर्म-दर्शन को आज एक सम्प्रदाय विशेष से संयुक्त कर देखा जाता है जो कि उचित नहीं है । सामान्य जन भी यही अवबोध करता है कि यदि वीरशैवधर्म-दर्शन के ग्रन्थों का अध्ययन करना है तो उसे उस मत में दीक्षित होना पड़ेगा । जबकि ऐसी कोई बाध्यता नहीं है । यदि कोई भी व्यक्ति इन ग्रन्थों का अध्ययन धार्मिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक आदि दृष्टिकोण से करता है तो एक नयी जीवन्त भारतीय दृष्टि विकसित होती है । वीरशैवदर्शन के अनुसार रोग निवारण के लिये केवल औषधि का ज्ञान पर्याप्त नहीं होता है अपितु उसका भक्षण का लेप भी आवश्यक होता है । कर्म और ज्ञान रूपी सोपान से ही इस लोक में आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुये अन्तत: शिवसायुज्य या मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है । केवल द्वैत और केवल अद्वैत दोनों ही एक दूसरे के बाधक हैं । इन दोनों का सामञ्जस्य ही व्यवहार और मोक्ष का प्रतिपादन करने में समर्थ है । किसी भी धर्म का जिज्ञासु इन ग्रन्थों का अध्ययन कर सकता है । यह धर्म-दर्शन विश्वव्यापी शक्तिविशिष्टाद्वैत का संदेशवाहक है ; अत: इसके अध्ययन-अध्यापन की अत्यन्त आवश्यकता है ।

५.९ नेपाल राष्ट्र में वीरशैवमत

वीरशैव सनातन धर्म नेपाल मण्डल अथवा पशुपतिक्षेत्र में भी प्राचीन काल से एक उच्च शैव सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित है । इसका नेपाल और हिमालय प्रदेश में प्रतिनिधित्व करनेवाला केन्द्र “रावल मठ” के नाम से प्रसिद्ध है । नेपाल में वीरशैवमत का प्रारम्भ कब से हुआ इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है किन्तु चौथी सदी से बारहवीं सदी तक नेपाल मण्डल का राज लिच्छवी वंश के राजाओं ने सम्भाला था । उसी वंश के राजा श्रीनरेन्द्रदेव ने नवीं सदी में अनन्तलिङ्गेश्वर मन्दिर परिसर में स्थित शिलालेख में जङ्गम प्रतिष्ठान का वर्णन किया है । चौदहवीं सदी में भारत-बंगाल का सुल्तान समसुद्दीन मुहम्मद हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करते हुये नेपाल में स्थित पशुपतिनाथजी के मन्दिर में स्थित शिवलिङ्ग को नष्ट कर दिया । उस समय बनेपा के राजा जयवर्धन सिंह के राजगुरु श्रीपद आराध्य शर्मा वीरशैव जङ्गम थे । उनकी प्रमुख संलग्नता से उसके एक साल के बाद १३६० ई. में वर्तमान पशुपतिनाथ का लिङ्ग निर्माण करके स्थापित किया गया है । इस तथ्य को कर्णाटक

विश्वविद्यालय के प्रो. चिदानन्द मूर्ति ने "नेपाल कर्णाटक सांस्कृतिक सम्बन्ध" नामक कन्नड़ भाषा के ग्रन्थ में लिखी है ।[188] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पशुपतिनाथ का लिङ्ग वीरशैवमत के जङ्गम ने पुनर्स्थापित किया है और पूजा अर्चना विधि और पद्धति भी उन्हीं के द्वारा प्रणीत है । नेपाल के प्राचीन नगर भक्तपुर (वर्तमान में भातगांव) में जङ्गम मठ है । मठ के परिसर में नेपाल संवत् ६९२ (१५७२ ई.) का एक मल्लकालीन शिलालेख प्राप्त होता है । उस शिलालेख में उल्लेख है कि मल्लवंश के संस्थापक हरिसिंह मल्ल ने जङ्गम मठ का जीर्णोद्धार करवाया था । इस मठ में सन् १५७२ के बाद के ताम्रपत्र और शिलापत्र भी प्राप्त हुआ है । मठ के मूल रसोई परिसर में एक पत्थर के ऊपर चन्द्रवीर देवरु वि. सं. १६२८ (सन् १५७१) लिखा गया है जो कन्नड़ लिपि में है । प्राचीन और पूर्व प्राचीन नेपाल में वीरशैव-सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य शैव सम्प्रदाय का भी बाहुल्य था । जैसे पाशुपत, घण्टाकर्ण और कापालिक आदि । लेकिन आज उन शैव सम्प्रदायों का अस्तित्व समाप्तप्राय है । वर्तमान नेपाल में शैव शंकराचार्य का बाहुल्य होते हुये भी वीरशैवसम्प्रदाय का समाज में उचित स्थान है ।[189]

भारत में जिस प्रकार द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों की प्रसिद्धि है, उसी प्रकार नेपाल में चौसठ ज्योतिर्लिङ्गों की प्रसिद्धि है । उनमें आठ ज्योतिर्लिङ्ग मन्दिर के प्रशासकीय अधिकार भक्तपुर में स्थित जङ्गम मठ में ही है । कर्णाटकवंशीय राजा नान्यदेव ग्यारहवीं सदी के उत्तर भारत में राज्य विस्तार करके मिथिला प्रदेश के शासक हो गये । राजगुरु के रूप में वीरशैवधर्मावलम्बी जङ्गम साथ में थे । दो सौ चालीस वर्ष राज्य करने के उपरान्त हरिसिंहदेव नेपाल के राजा हो गये । नेपाल की राजधानी भक्तपुर में स्थापित करके साथ में इष्टदेवी तुलाभवानी की भी स्थापना किये । उस समय काठमाण्डु के लोग भक्तपुर के लोगों का अनुसरण किया करते थे । बौद्धों ने पशुपतिनाथ मन्दिर के निकट एक बुद्ध विहार स्थापित करके मन्दिर में पूजा-पाठ बन्द करवाकर ताला लगा दिया । उस समय वीरशैव के शिवभक्तों ने शिव की महिमा और शैवधर्म का प्रचार किया । इस मत की दीर्घकालीन प्रतिष्ठा के लिये प्रख्यात विस्केट नामक यात्रा का प्रारम्भ उसी समय में हुआ, जो आज तक चल रही है ।

प्राचीन नेपाल में विक्रम संवत्, ईसवी संवत् या शक संवत् नहीं था । राजकीय नेपाल संवत् ही चलता था । शिवाचार्यों ने विस्केट यात्रा की परिकल्पना करके विक्रम संवत् के अन्तिम दिन में शिवलिङ्ग को उठाकर लोगों को दर्शन करवाना और दूसरे दिन अर्थात् विक्रम संवत् के वर्ष के आरम्भ के दिन समापन करना । इस प्रकार एक बार शिवलिङ्ग का दर्शन करने के वर्ष पर्यन्त शिवलिङ्ग दर्शन का फल प्राप्त होता है । प्रारम्भिक यह द्विदिवसीय यात्रा सम्प्रति आठ दिवस तक चलती है । अस्सी फिट लम्बी लकड़ी के शिरभाग में श्रृंगार करके ५० फिट लम्बी दो शिवध्वज के साथ शिवलिङ्ग खड़ाकरके लोगों को दर्शन कराने की विधि शैवमत के प्रचार और विकास के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य है । लिङ्ग में विद्यमान विश्व में सबसे लम्बी

---

188 ने. वी. शै. ध. द. स्था., पृ. सं. ४

189 वही, पृ. सं. ५-६

इस ध्वजा को गिनिज बुक ऑफ वर्ल्ड में रिकार्ड कराने के लिये नेपाल के वीरशैवमतानुयायी प्रयासरत हैं।

इसी प्रकार नेपाल के वीरशैव वर्ष में आठ मास तक चलने वाला नवदुर्गा नृत्य, गौ यात्रा, नन्दी युद्ध, भैरव-रथयात्रा जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण परम्पराओं को प्रसन्नतापूर्वक निर्वहण करते हैं। मगङ्गलेश्वर, अनन्तलिङ्गेश्वर, वागेश्वर, किलेश्वर, धनेश्वर, भालेश्वर, गौखुरेश्वर और इन्द्रेश्वर इन आठ मन्दिरों में से पाँच मन्दिरों में जङ्गम अर्चक हैं, अवशिष्ट ब्राह्मण अर्चक हैं। भारत में विद्यमान उत्तराखण्ड स्थित केदारनाथजी का शिरोभाग श्रीडोलेश्वर महादेव मन्दिर भी जङ्गम मठ के अधीन है। इस मठ के मूल अर्चक और एक सहायक अर्चक जङ्गम हैं। यह पीठ नेपाल केदारनाथ धाम के रूप में विकसित हो रहा है। जून १६, २०१३ के प्राकृतिक प्रकोप से केदारनाथजी के क्षेत्र में बिडम्बना उपस्थित होने के कारण इस डोलेश्वर महादेव मन्दिर में केदारनाथजी के पूजन-पद्धति के अनुसार त्रिकाल पूजा हो रही है। ऐसा भी प्रमाण प्राप्त होता है कि पन्द्रहवीं सदी में जब उत्तराञ्चल में महाप्रकोप आया था तो नेपालस्थित जङ्गम मठ में ही केदारनाथजी की पूजा हुयी थी। इस मठ में मूल देवता के रूप में श्रीवीरभद्रजी, शक्ति के रूप में भद्रकाली देवीजी, विश्वनाथजी, उमामहेश्वर, रुद्रेश्वर, नन्दी, नीलकण्ठ, पशुपति और कोटिलिङ्गेश्वर स्थित है। भद्रकाली देवी के मन्दिर को छोड़कर अन्य सबके दर्शन सबके लिये सुलभ है।[190]

जङ्गम मठ वीरशैव धर्म दर्शन के केन्द्र मठ हैं। इस मठ को रावल मठ भी कहते हैं। इस मठ में रहनेवाले शिवाचार्य मठाधीश के काल और परिस्थिति के कारण सम्बोधन में परिवर्तन आया है। कुलपति, मठाधिपति, रावल तथा महन्त आदि नाम से मठाधीश का नाम परिवर्तित हुआ है।[191] कर्णाटकवंशीय राजा नान्यदेव के गुरु के रूप में जङ्गम सन् इसके छः शाखा-मठ हैं -

५.९.१ वागेश्वरी मठ

नेपाल के भक्तपुर नगर की उत्तर दिशा में रत्नाचुड़ पर्वतमाला के मध्य भाग में वागेश्वर नामक शिव-मन्दिर है। यही वागेश्वरी मठ है। इसके मन्दिर धर्मशाला और मठधर सब जीर्ण हो चुके हैं।[192]

५.९.२ अन्तलिङ्ग मठ

यह स्थान भक्तपुर नगर से ८ किलोमीटर दक्षिण की ओर स्थित है। लगभग ५०० एकड़ में प्रसरित वन क्षेत्र के मध्य भाग में अन्तलिङ्ग मठ है। प्राचीन काल का शिवालय नष्ट हो गया

---

190 ने. वी. शै. ध. द. स्था., पृ. सं. ८-११

191 वही, पृ. सं. १९

192 वही, पृ. सं. १६

है । उस स्थान पर एक सतल निर्मित है । मन्दिर के पश्चिम में प्रवाहित जल का पान शक्तिवर्धक माना जाता है । अप्राप्य जड़ी बूटी प्राप्त होनेवाला यह स्थान ऋषि आरण्ड्य के नाम से प्रसिद्ध था । ऐसी मान्यता है कि हनुमान् यही से सञ्जीवनी बूटी लेकर गये थे । इसे नेपाल का वृन्दावन भी कहा जाता है । इस मन्दिर में लिच्छवीवंशीय नरेन्द्रदेव का एक शिलालेख है । तदनुसार जङ्गम आचार्य को कुलपति कहा जाता था ।[193]

५.९.३ डोलेश्वर मठ

भक्तपुर नगर के आग्नेय कोण में अवस्थित डोलाशिखर पर्वतमाला के मध्य में एक प्राचीन शिवमन्दिर है । महाभारत की कथा के अनुसार जब पाँचों पाण्डव स्वर्ग जा रहे थे तो मार्ग में केदारनाथजी के उन्होंने दर्शन करने का निश्चय किया । केदारनाथजी ने स्वजनवध करके आये हुये पाण्डवों को दर्शन नहीं देने का विचार किया और भैंसे का रूप धारण करके वन में विचरण करने लगे । यह बात पाण्डवों को भी पता चल गयी और इसी उपक्रम में भीमसेन उनकी पूँछ पकड़कर खीचने लगे । उस समय भैसारूपधारी केदारनाथजी ने अपने शिर को पृथ्वी में प्रविष्ट कराकर धड़ और पूँछ को अलग कर लिया । इस अनर्थ स्थिति को देखकर पाण्डव भयभीत हो गये तो आकाशवाणी हुयी कि यदि मेरा दर्शन करना चाहते हो तो नेपाल चले जाओं, जहाँ मेरा शिर स्थित है । यह कथन पुराणों, महाभारत स्वर्गपर्व और शिवपुराण के कोटिरुद्र संहिता के १९वें अध्याय में वर्णित है । तदनुसार स्वर्गभूमि नेपाल ही है और सम्प्रति इसकी ख्याति वृद्धि को प्राप्त हो रही है ।[194]

५.९.४ धनेश्वर मठ

भक्तपुर नगर से प्राय: २० किलोमीटर की दूरी पर बनेपा नगर है, वहाँ से ३ किलोमीटर दूर दक्षिण-पूर्व में स्थित पर्वत के मध्य में धनेश्वर महादेव का मन्दिर है । इस मन्दिर में जो अनुपम स्वयम्भू शिवलिङ्ग है, उसके ललाट पर कोप स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है । धनद और पुत्रद के रूप में इस धाम की ख्याति है । पौष शुक्ल पूर्णिमा की रात में बहुत बड़ा यहाँ पर मेला लगता है । इस मन्दिर में केवल जङ्गम का प्रवेश है और अर्चक भी जङ्गम है ।[195]

५.९.५ पनौती मठ

---

193 ने. वी. शै. ध. द. स्था., पृ. सं. १६

194 वही, पृ. सं. १७

195 वही

पनौती यह एक नगर का नाम है । भक्तपुर से लगभग २७ किलोमीटर दूर अवस्थित इस नगर से पूर्व ओर त्रिवेणी है । इस त्रिवेणी की भूमि पर इन्द्रेश्वर महादेव का मन्दिर है । यह मन्दिर विश्वसम्पदा में सूचीकृत है । फ्रान्स सरकार ने १९९३ ई. में इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था । इस स्थान पर द्वादश वर्ष में एक बार मकर मेला लगता है । यह मेला एक मास लगता है । इस नगर में हर वर्ष ज्येष्ठ पूर्णिमा के दिन इन्द्रेश्वर, भैरव और भद्रकाली की रथयात्रा होती है । इन्द्रेश्वर के रथ में प्रमुख अर्चक को स्वयं शिव के रूप में बैठा के यात्रा कराने की परम्परा सम्प्रति विद्यमान है । इस मन्दिर के गर्भाशय में जङ्गम के अतिरिक्त किसी अन्य का प्रवेश निषिद्ध है ।[196]

५.९.६ धुलिलेख मठ

भक्तपुर नगर से प्राय: २८ किलोमीटर दूर धुलिलेख नामक प्राचीन नगर है । इस नगर से पूर्व की ओर गोखुरेश्वर महादेव मन्दिर है । लगभग सौ एकड़ वन क्षेत्र के मध्यभाग में गौखुरेश्वर मन्दिर अवस्थित है । मन्दिर के चारो ओर जङ्गमों का निवास है । गाय के खुर के आकार का शिवलिङ्ग होने के कारण इनका नाम गोखुरेश्वर महादेव है । इस स्थल से पूर्व-पश्चिम की ओर प्रसरित हिमालय श्रृंखला के प्राय: ५० किलोमीटर तक के दृश्य को देखा जा सकता है ।[197]

प्राचीन काल से स्थापित इस मठ के आर्थिक पक्ष को सबल बनाने के लिये पूर्वजों ने भूमि को महत्त्व देते हुये आवश्यक भूमि रखी थी । लगभग १०० एकड़ उर्वरा भूमि मठ की थी और उसी भूमि के द्वारा मठ का सब दायित्व पूरा होता था । आज से ३० साल पूर्व नेपाल सरकार ने गुठी एक्ट बनाकर मठ की भूमि पर किसानों का अधिकार स्थापित कर दिया । वर्तमान में भूमि से आय नहीं हो पाती है । आर्थिक दुरावस्था के कारण मठ के अधीनस्थ प्राय: सभी शिवालय स्थानीय समुदाय को सौंपने की योजना बन रही है । स्थानीय समुदाय के अधीन मन्दिर हो जाने से जङ्गम मन्दिर के अर्चक नहीं रह पायेंगे । वीरशैवों के लिये इस मन्दिर का हस्तानान्तरण कार्य दु:खपूर्वक हो रहा है । धर्म निरपेक्ष होने के कारण नेपाल सरकार किसी भी धर्म का संरक्षण नहीं करते हुये इस मठ का जीर्णोद्धार कराना नहीं चाहती है ।

वीरशैवमत के जङ्गमों के दो समूह हैं - केन्द्रीय मठ से सम्बन्धित और शाखा मठ से सम्बन्धित । नेपाल के सम्पूर्ण जङ्गम गृहस्थ है । इनके मध्य विवाह-संस्कार भी सम्पादित होते रहे हैं । अन्य जातियों से भी इनका विवाह होता है और वे उस जाति में परिवर्तित हो जाते हैं वह चाहे स्त्री हो या पुरुष । आज से तीस वर्ष पूर्व तक सिद्धान्तशिखामणि के विधि-विधान के अनुसार लिङ्गधारण की पद्धति चलती थी । इस पद्धति से लिङ्ग धारण करने-वाले सब जङ्गमलोग जनेऊ को ही शिवसूत्र मानकर लिङ्गधारण करते आ रहे हैं और

---

196 ने. वी. शै. ध. द. स्था., पृ. सं. १७-१८

197 वही, पृ. सं. १९

नेपाल के जङ्गम शिखा-सूत्र के साथ लिङ्ग रखने की परम्परा है। वर्तमान में चूड़ाकर्म के विधि के अनुसार जनेऊ के साथ शिवलिङ्ग धारण करते हैं। नेपाल में वीरशैवों की संख्या अत्यल्प है तथापि वीरशैवधर्मदर्शन को स्थापित किये हुये हैं।

प्राचीन समय से ही इनका मूल निवास क्षेत्र भक्तपुर नगर है। जहाँ वर्तमान में जङ्गम मठ है। शिवक्षेत्र विस्तार के उपक्रम में यह वीरशैवमतानुयायी नगर से बाहर भी चले गये। जहाँ-जहाँ शिवालय के सञ्चालन में ये अधिकृत हुये, वहाँ-वहाँ इनकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हुयी। भक्तपुर नगर, अन्तलिङ्ग, सिपाडोल, धनेश्वर, पनौती और धुलिखेल इन छः क्षेत्रों में वीरशैवमतानुयायी हैं। नेपाल में इन स्थलों में कुल ४६ परिवार और १२२ जङ्गम रहते हैं।[198] इनकी आर्थिक अवस्था ठीक नहीं है। प्राचीन काल में श्रुति-शिक्षा की विद्वत्-पद्धति को अत्यल्प महत्त्व प्राप्त होने के कारण ये लोग आज भी ५० प्रतिशत ही शिक्षित हो पाये हैं क्योंकि संस्कृत शिक्षा को नेपाल सरकार ने उपक्षित कर दिया है। इस धर्म-दर्शन को नेपाल में किस प्रकार संरक्षित किया जाय यह चिन्ता का विषय है। शैव सम्प्रदाय के विभिन्न मत जैसे पाशुपत, घण्टाकर्ण और कापालिक मत के विकृत रूप, वैष्णव सम्प्रदाय अतिक्रमण और बौद्ध सम्प्रदाय के दबाव के मध्य दक्षिण भारत में उत्पन्न इस शैव दर्शन ने हिमालय के केदार क्षेत्र जैसे पाशुपत क्षेत्र तक अपनी सीमा विस्तृत करके शिव क्षेत्र को ही धन्य कर दिया है।

५.१० वीरशैवमत में दीक्षा का स्वरूप

जिस प्रकार भौतिक जीवन के लिये शिक्षा का महत्त्व है उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन के लिये दीक्षा का महत्त्व है। सिद्धान्तशिखामणि के अनुसार जो शिवज्ञान प्रदान करती है और पाशबन्धन का नाश करती है उसे दीक्षा कहते हैं।[199] तदनुसार यह दीक्षा प्रथमतः त्रिविध (वेधा, मनु और क्रिया) और प्रत्येक के सात-साथ भेद होने से कुल २१ प्रकार की हो जाती है।[200] कारणागम (१/६९-११७) में भी इनका विस्तार से विवरण प्राप्त होता है। इस विषय में गोपीनाथ कविराज विरचित "भारतीय संस्कृति और साधना (प्रथम भाग)" में दीक्षारहस्य तथा "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि" में प्रकाशित दीक्षासम्बन्धी दो निबन्ध (पृ. सं.संख्या २७-३५ और पृ. सं.संख्या ३६-४१) विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। लुप्तागमसंग्रह (द्वितीय भाग, पृ. सं.संख्या १५४-१६२) में भी दीक्षा सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों को उद्धृत किया गया है। अनुभवसूत्र के मत में दीक्षा के दी पद का अर्थ है लिङ्गसम्बन्ध प्रदान करना और क्षा पद का अर्थ है कायिक, वाचिक और मानसिक त्रिविध पापों का क्षय करना।[201] तदनुसार यह दीक्षा

---

198 ने. वी. शै. ध. द. स्था., पृ. सं. २४

199 दीयते च शिवज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् यस्मादतः समाख्याता दीक्षेतीयं विचक्षणैः॥ सि. शि. म., ६/११

200 सि. शि. म., ६/१२-२१

201 दीयते लिङ्गसम्बन्धः क्षीयते च मलत्रयम् दीयते क्षीयते यस्मात् सा दीक्षेति निगद्यते॥ अ. सू., ५/३८, पृ. सं. ४२

तीन प्रकार की हो जाती है - वेधात्मिका, मन्त्रात्मिका और क्रियात्मिका । गुरु के द्वारा शिष्य को हस्त-मस्तकसंयोगपूर्वक दी जानेवाली दीक्षा वेधात्मिका दीक्षा है । गुरु के द्वारा शिष्य को मन्त्रोपदेशपूर्वक दी जानेवाली दीक्षा मन्त्रात्मिका है और गुरु के द्वारा शिष्य के हस्त में शिवलिङ्ग प्रदानकर उपदेशपूर्वक दी जानेवाली दीक्षा क्रियात्मिका है ।[202] यह दीक्षा पाशों के छेदन के लिये कर्तरी सदृशा है ।[203] इस प्रकार साधकों के लिये जैसी दीक्षा वैसी कला, जैसी कला वैसा भाव, जैसा भाव वैसा मन, जैसा मन वैसी दृष्टि और जैसी दृष्टि उसके अनुरूप स्थल होना चाहिये ।[204]

५.११ वीरशैवमतानुसारिणी दिनचर्या[205]

वीरशैवमतानुयायी को ब्राह्म मुहुर्त में उठना चाहिये । शिवस्मरण के साथ उठते हुये वीरशैव को इष्टलिङ्ग को हाथ में लेकर अपने दोनों नेत्रों से स्पर्श कराना चाहिये साथ ही धर्म और अर्थ की चिन्ता करते हुये माहेश्वरों को प्रणाम करना चाहिये । इष्टलिङ्गधारी शिवभक्त के प्रात: दर्शन से अभीष्ट की प्राप्ति और पाखण्डी, पतित, निर्दयी, भक्तिभावना से रहित, देवनिन्दक व्यक्तियों के दर्शन से अनिष्ट की प्राप्ति होती है । इसके बाद निवासस्थान से दूर जाकर उपवीत और पंचलिङ्गसूत्र को कण्ठ से पीठ की ओर कर अपना सिर ढँककर शौचक्रिया करे । मनशुद्धिपर्यन्त मिट्टी तथा जल द्वारा हस्त-पादादि की शुद्धि करे । कुल्ला करने के पश्चात् आत्म-तत्त्वाय स्वाहा, विद्यातत्त्वाय स्वाहा और शिवतत्त्वाय स्वाहा से त्रिविध आचमन करें । तत्पश्चात् आम्रादि काष्ठ द्वारा दन्तधावन करे । हस्त-पादादि प्रक्षालित करके पुन: आचमन करे । इसके बाद शिवतीर्थ का आवाहन करके प्रात:कालीन स्नान करे । संकल्प, सूक्तपाठ, मार्जन, अघमर्षण[206] और (देवता, ऋषि और यक्ष्मा का) तर्पण ये पाँच स्नान के अंग हैं । न बहनेवाली वापी, कूप, तालाब आदि के जल में स्नान, लिङ्गी ब्राह्मण का पाद-पूजन, गायत्री का जप और अर्घ्यदान ये सभी कार्य सूर्याभिमुख होकर करे । इसके बाद सूर्य को दिखलाकर धुले हुये वस्त्र धारण करे । पुन: आचमन, संकल्प और भस्मस्नान करे । शिवाग्नि से निर्मित अथवा कल्पविधि से निर्मित भस्म का उद्धूलन विधि से सर्वांग मे अथवा

---

[202] हस्तमस्तकसंयोगच्छलाद् वेधेति गीयते ॥ गुरुणोदिता कर्णे या सा मान्त्रीति कथ्यते शिष्यपाणितले दत्ता या दीक्षा सा क्रियोच्यते ॥ अ. सू., ५/४०-४१, पृ. सं. ४२

[203] पाशानशेषान् कर्तर्या छित्त्वा लिङ्गं समादिशेत् कर्तरी शिवदीक्षा स्याद्यया पाशान् च्छिनत्यसौ ॥ वही, ५/४२, पृ. सं. ४३

[204] यथा कला तथा भावो यथा भावस्तथा मन: यथा मनस्तथा दृष्टिर्यथा दृष्टिर्तथा स्थलम् ॥ वही, ५/४३ पृ. सं. ४३

[205] आह्निकं तु प्रवक्ष्यामि शाम्भवानामनुत्तमम् श्रुणुष्वावहितो भूत्वा भवपाशनिकन्तनम् ॥ म. आ., २/२, पृ. सं. ५

[206] ऋतं च सत्यं च (ऋ. १०/१९०)आदि अघमर्षण सूक्त के तीन मन्त्रों से उस जल को दाहिनी ओरसे अपने चारों ओर छोड़नेवाली क्रिया अघमर्षण कही जाती है ।

विभिन्न अंगों में त्रिपुण्ड के रूप में धारण करे । उत्तमांग (सिर), ललाट, दोनों कान, दोनों नेत्र, दोनों नासिका, मुख, कण्ठ, दोनों कन्धे, कूर्पर (कोहनी), मणिबन्ध (कलाई), हृदय, दोनों पसलियाँ, नाभि, दोनो गुह्यस्थान, दोनों उरु (जंघा), दोनो नितम्ब, दोनों घुटने, दोनों पिण्डलियाँ, दोनों पैरों अर्थात् बत्तीस उत्तम स्थानों में भस्म लगाने का विधान है । भस्मस्नान और त्रिपुण्ड धारणविधि को सम्पन्न करके पुन: संकल्प और तब रुद्राक्ष धारण की विधि सम्पन्न करनी चाहिये । शिखा[207] में १, सिर पर ३०, ग्रीवा में ३६, दोनों भुजाओं में १६-१६, कलाई पर १२, कन्धे पर ५०० रुद्राक्ष धारण करना चाहिये । जपयज्ञ के लिये १०८ रुद्राक्ष की माला निर्मित करनी चाहिये । सर्वदा रुद्राक्ष धारण करना चाहिये । १००० रुद्राक्ष धारण करना उत्तम, ५०० रुद्राक्ष धारण करना मध्यम और ३०० रुद्राक्ष करना कनिष्ठ कहा गया है । सिर पर ईशान मन्त्र से, मुख पर तत्पुरुष मन्त्र से, ग्रीवा में अघोर मन्त्र से, हृदय पर अघोर मन्त्र से, अघोर मन्त्र[208] से दोनों हाथों में और व्योमव्यापी मन्त्र[209] से ५० रुद्राक्षवाली माला उदर पर धारण करे अथवा केवल मूल पञ्चाक्षर मन्त्र से सभी रुद्राक्षों और मालाओं को धारण किया जा सकता है । भस्म और रुद्राक्ष धारण करने के बाद शरीरभूत सूर्य को तीन बार अर्घ्य तथा शिव और सावित्री देवी का एकाग्र मन से जप करना चाहिये । वह्नि शिव का घोरस्वरूप है । सुवर्णा, कनका, रक्ता, कृष्णा, सुप्रभा, बहुरूपा और अतिरिक्ता ये सप्त अग्नि की जिह्वा के नाम हैं । सुवर्णा पश्चिम में, कनका मध्य में, रक्ता उत्तर दिशा में, कृष्णा दक्षिण दिशा में, सुप्रभा पूर्व में, बहुरूपा ईशानकोण में और अतिरिक्ता का आग्नेयकोण में स्थान माना गया है । विवाह कनका जिह्वा में, उपनयन रक्ता जिह्वा में, पितृकर्म कृष्णा जिह्वा, काम्यकर्म सुप्रभा जिह्वा में शान्तिकर्म अतिरिक्ता जिह्वा में एवं उग्रकार्य के लिये बहुरूपा जिह्वा में हवन प्रशंसनीय माना गया है । इस प्रकार की शिवाग्नि[210] का ध्यान कर सायं और प्रात: उसमें आहुति समर्पित करे । अग्निकार्य की सम्पूर्ण विधि सम्पन्न करके अभिवादन करते हुये गुरु और जंगम की शरण में जाना चाहिये । अपने दाये हाथ में इष्टलिङ्ग की पेटिका ग्रहण कर निश्चल भाव से गुरु के पैरों के अंगूठों के नीचे बायां हाथ रखकर तीन बार नेत्रों से अंगूठों का स्पर्श करावे । इस विधि से गुरु और जंगम की शरण में जाना चाहिये ।

दिन के आठभागों में से प्रथम भाग में उपर्युक्त विधियों का अनुष्ठान करें । दिन के द्वितीय भाग में निगम और आग का अभ्यास करे, जप करे और शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन के साथ उन पर विचार-विमर्श करे । दिन के तृतीय भाग में समिधा, पुष्प, कुशा आदि पूजनसामग्री का संग्रह करे और पोष्य वर्ण के भरण-पोषण का उपाय करे । दिन के चतुर्थ भाग में स्नान और शुद्धि के लिये मिट्टी ले आवे और शिवतीर्थ का ध्यान करके मध्याह्न वेला का स्नान करे । पुन: भस्मस्नान करके त्रिपुण्ड धारण करे । निगमागम विहित मध्याह्न की सन्ध्याओं की

---

207 इस विषय में सि. शि. म. ७/५४-५८ भी द्रष्टव्य है ।

208 ईशान: सर्वविद्यानाम्, तत्पुरुषाय विद्महे, अघोरभ्योऽथ घोरेभ्य:, सद्योजातं प्रपद्यामि, वामदेवाय नम: (तै. आ., १०/४३-४७) ये पाँच मन्त्र शैवागमों में पंचब्रह्म के नाम से प्रख्यात हैं । म. आ., पृ. सं. ९

209 शैवागमों में व्योमव्यापिन् व्यापिन् इत्यादि इक्यासी पदों का उल्लेख प्राप्त होता है । वही, पृ. सं. ९

210 शिवाग्नि के स्वरूप के लिये शि. पु. वि. सं. (१८/६२-६९) भी द्रष्टव्य है ।

विधिपूर्वक उपासना कर गृहस्थ व्यक्ति प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान करे । शास्त्रोक्त क्रम से देवतर्पण, ऋषितर्पण, दिव्य और अदिव्य पितृतर्पण करे । इसके बाद वैश्वदेव की विधि को सम्पन्न करके मध्याह्न की पूजा सम्पन्न करनी चाहिये । महती, गुर्वी और लघ्वी त्रिविध पूजा सम्पन्न करनी चाहिये । शास्त्रनिर्दिष्ट षड्विध कालों में शिवपूजा अथवा तीनों सन्ध्याओं में करनी चाहिये । भोजन न करने पर अवसरा और भोजन करने पर अनवसरा पूजा विहित है । शिवभक्त षट्स्थल में निर्दिष्ट महापूजा का भी अनुष्ठान करे । भस्म की शय्या निर्मित करके वामपीठ में इष्टलिङ्ग का विन्यास करके उत्तर दिशा में मुख करके सावधानीपूर्वक भावना से परिपूर्ण होकर पूजन करना चाहिये । पूजा के अन्त में अतिथि, विद्वान् या जो कोई भी अभ्यागत हो उसे शिवस्वरूप मानकर सत्कार करना चाहिये । भोजनकाल, वाचनादि कालों में शिव का ध्यान करना चाहिये । प्रसाद को भोजनरूप में ग्रहण करना चाहिये । शिवस्तोत्रादि का पाठ करते हुये भुक्त अन्न का पाचन करे । इसके बाद सायंकाल पर्यन्त अपने लिये अर्थार्जन के लिये उद्योग करे । सायंकाल आग्नेयविधि से स्नान करके निगमागम विधि से द्विविध संध्योपासना पश्चिमाभिमुख होकर करे और हवन भी करे । सायंकालीन अवसरा पूजा के साथ बलि-वैश्वदेव कर्म सम्पन्न करे । इसके बाद अर्धरात्रि की पूजा का अनुष्ठान करके अतिथि का पूजन करे । इसके बाद सुखदायक शय्या पर विश्राम करे और पवित्र मन से शिव का ध्यान करते हुये सम्पूर्ण चिन्ताओं का परित्याग कर निद्रामग्न हो जाय । इस प्रकार की दिनचर्या सम्पन्न करनेवाले वीरशैव को शिवपद की प्राप्ति होती है ।[211]

५.१२ वीरशैवमत की वर्तमान समय में प्रासङ्गिकता

वीरशैवमत प्राचीन होते हुये भी आधुनिक है । यह प्राचीन पाशुपत सम्प्रदाय का ही आधुनिकतम रूप है । इसमें परम्परा के साथ आधुनिकता का सम्मिश्रण भी अवलोकित होता है । इसके अनेक ग्रन्थ जीवन के प्रत्येक मार्ग की वैज्ञानिकता से परिपूर्ण होकर भलीभाँति व्याख्या करते हैं । वीरशैवमतानुयायियों ने समाज की अनेक कुरीतियों को समूल समाप्त करने का भी सफल प्रयत्न किया है । आज जिसको हम विकास का नाम दे रहे हैं, वह केवल भौतिक विकास ही है । इस विकास से हमें कभी भी मानसिक एवं आध्यात्मिक शांति प्राप्त नहीं हो सकती । हम भौतिक सुख-सुविधाओं से अपनी रिक्तता को आवृत करना चाहते हैं किन्तु यह पूर्णरूपेण हमें आवृत नहीं कर पाता है । फलत: हम स्वयं की अपूर्णता रूपी रिक्तता को दूर नहीं कर पाते हैं और हमारा मन अशान्त रहता है । हम पाश्चात्य सभ्यता का बहुविध अनुकरण कर रहे हैं, जिससे हमारी वास्तविक निगमागम परम्परा का ह्रास हो रहा है । हम केवल भौतिक उन्नति के साधनों को ही सर्वस्व मान बैठे हैं । इस प्रकार आज हमें आवश्यकता है ऐसे मार्ग की जो हमें सम्पूर्ण विकास की ओर अग्रसर करें । हमारी सनातन परम्परा जीवन के प्रत्येक पथ का नियोजन वैश्विक परिदृश्य के आलोक में करती रही है किन्तु आधुनिक भारतीय परम्परा पाश्चात्य-सभ्यता का अनुकरण करने के कारण स्वदेशी विचारों से जनसामान्य को प्रभावित करने में पूर्णरूपेण सक्षम नहीं हो पा रही है । आज उन कर्मचारियों

---

[211] म. आ., २/३-५०, पृ. सं. ५-१५

की संख्या अत्यल्प हैं जो अपने कर्तव्य का निर्वहण भलीभाँति करते हैं । अधिकांशत: ऐसे कार्यों का प्रचलन बढ़ गया है, जिस कार्य से भले ही पर्यावरण की क्षति हो । प्रकृति का ह्रास हो किन्तु उन्हें केवल द्रव्य मात्र का लाभ ही अवलोकित होता है जिसके कारण हमारा समाज अवनति को प्राप्त होता दिख रहा है । भौतिक सुख सुविधाओं से हम कदापि सुख नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि वे क्षणिक हैं । जहाँ उनकी प्राप्ति हमारे लिये क्षणमात्र पर्यन्त सुखदायी होती है वही उनका वियोग हमारे लिये दु:खप्रद भी होता है । वीरशैवमत सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पृष्ठभूमि की प्रौढ़ता के कारण प्रशंसनीय है । व्यक्ति के सम्यक् व्यवहार सञ्चालन के लिये समाज भी उत्तदायी होता है । यदि समाज अच्छा हो तो व्यक्ति स्वयमेव ही अच्छा हो जाता है । समाज में प्रसरित कुरीतियों के कारण प्रत्येक व्यक्ति दु:खित होता है । अत: समाज का ये कर्तव्य होता है कि वह कोई भी नियम वैश्विक परिदृश्य के परिप्रेक्ष्य में ही निर्मित या उपस्थापित करे । वीरशैवमत के सन्दर्भ में इस मत की पुष्टि प्रो. के. आर. श्रीनिवास अय्यंगार तथा बसवनाल की निम्नलिखित पंक्तियां करती हैं :-

"Virasaivism was a healthy growth on the soil of Hinduism because it attempted many useful reforms, Neither sex, nor social status, nor caste disqualifies a person from attaining salvation & hence, in the eyes of a Virasaiva the Untouchable & the weaker sex are potentially the religious & social equals of the members of the highest castes, This means not merely welcome levelling of the castes (and hence eradication of Untouchability) but also a discountenancing of the five pollutions yet observed by other Hindus. The Virasaivas do not attach any importance the "pollutions" on account of the births, deaths, woman's monthly courses, etc. So long as the lingas worn on the body like a fire it burns away all impurities. Further from the Social point of view it is worthy of note that Basava discouraged mere Vagrancy & beggary as a means of living & extolled the simple dignity of labour."[212]

५.१२.१ जाति-प्रथा का विरोध

जाति प्रथा एक सामाजिक कुरीति है, जिसके कारण समाज में छोटे-बड़े और उच्च-निम्न वर्ग का भाव उत्पन्न होता है । वीरशैवमत जातिप्रथा का विरोध करता है । तदनुसार -

---

212 हि. क. सा. प्र. धा. तु. अ., पृ. सं.२३१

शिवसंस्कारसम्पन्ने जातिभेदो न विद्यते ।[213]
न जातिभेदो लिङ्गार्चास्सर्वै: स्मृता : ॥[214]

लिङ्गार्चा में जातिभेद करना महापाप समझा जाता है । यहाँ सबको अधिकार है अपने इष्ट की पूजा करने का । इस जातिभेद के कारण आधुनिक समाज में दरार पड़ती दिख रही है । लोग अपनी जातिवालों को प्राथमिकता दे रहे हैं । फलस्वरूप सबको समान अधिकार से वञ्चित रहना पड़ रहा है । प्राचीन काल में कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था थी । मनुस्मृति में भी कहा गया है - जन्मना जायते शूद्र: संस्काराद् द्विज उच्यते ।[215] अपने-अपने कर्म के अनुसार वह व्यक्ति उस जाति का माना जाता था । सम्पूर्ण मानव जाति का सम्मान किया जाता था क्योंकि समाज सबके कर्मों से प्रभावित था । सभी जातियों के कर्मों से ही समाज समुचित रूप से व्यवहृत होता था । ऐसे भी उद्धरण प्राप्त होते हैं कि एक पिता की ही चार सन्तान कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र थे । परवर्ती काल में यह व्यवस्था कर्मणा न होकर जन्मना हो गयी जिसके कारण समाज में अनेक प्रकार की कुरीतियों का प्रवेश हो गया । जिसका विरोध वीरशैवमतानुयायियों ने समय-समय पर किया है । इस सन्दर्भ में बसवेश्वर विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं । तदनुसार जाति-व्यवस्था में सबको शूद्र होना आवश्यक है क्योंकि जब तक सेवाभाव व्यक्ति के मन में उत्पन्न नहीं होगा तब तक वह किसी भी कार्य का सञ्चालन समुचित रूप से नहीं कर सकता । इस मत में तो अस्पृश्य की भावना है ही नहीं । जो कोई भी भगवान का भजन करता है वह भगवान का हो जाता है, वीरशैवमत इसी सिद्धान्त का पालन करता है । यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने कर्तव्य का समुचित रूप से पालन करें तो फिर समाज में अव्यवस्था आ ही नहीं सकती ।

५.१२.२ परिश्रम का महत्त्व

वीरशैवमत में कायक या कर्म को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है । लिङ्ग (शिव) तथा अंङ्ग(जीव) में ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय भी सिद्धान्तत: आवश्यक प्रतीत होता है । कहा भी गया है-

ज्ञाने सिद्धेऽपि विदुषां कर्मापि विनियुज्यते ।
फलाभिसन्धिरहितं तस्मात्कर्म न सन्त्यजेत् ॥[216]

---

213 ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू. पृ. सं. २३

214 वही, पृ. सं. ३४

215 मनु., ७/९

216 ब्र. सू. श्री. प्र. भा. भू. पृ. सं. १७९

वीरशैवमत में कर्म दो प्रकार के होते हैं - पशुकर्म तथा पतिकर्म । फलाकांक्षा से युक्त ज्योतिष्टोम कर्मादि पशुकर्म कहे जाते हैं तथा फलाभिसन्धिरहित परब्रह्मशिव के ध्यान तथा उपासना आदि कर्म पतिकर्म कहे जाते हैं । इन दोनों प्रकार के कर्म को वीर शैव प्राथमिकता देता है । तदनुसार श्रम किये बिना किसी को अन्न ग्रहण करने का अधिकार नहीं है । साधना करने के लिये साधक को संसार से पलायन करने की आवश्यकता नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति को स्व वृत्ति में ही रहकर साधना करनी चाहिये नहीं तो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है । यह मत निवृत्ति एवं प्रवृत्ति के मार्ग का बोधक न होकर सहजमार्ग का बोधक है । श्रम या श्रमिक को जो स्थान वीर शैव धर्म में प्राप्त हुआ है, सम्भवत: वह स्थान विश्व के किसी भी धर्म में नहीं है । वीरशैवमत में इसके लिये दासोऽहं[217] शब्द का प्रयोग किया जाता है । यह मत दासोऽहं से शिवोऽहं की यात्रा तय करता है । यह दासोऽहं की उद्भावना वीरशैवों के पञ्चाचार में से भृत्याचार के परिप्रेक्ष्य में है । भृत्यभाव तथा वीरभृत्यभाव रूप से यह आचार भी द्विविध होता है । सबकी सेवा करना भृत्यभाव तथा सर्वस्वसमर्पण वीरभृत्यभाव कहलाता है ।[218] तदनुसार प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह भाव उत्पन्न होना चाहिये कि मैं सम्पूर्ण विश्व का दास हूँ । इस प्रकार नर सेवा से नारायण सेवा स्वयमेव हो जाएगी । गाय उसको दूध नहीं देती जो उसकी पीठ पर बैठता है अपितु उसको दूध देती है जो उसके पैरों तले आता है । सेवाभावना से जनमानस में व्याप्त ईष्या, द्वेष, आदि दुर्भावनाओं को समाप्त किया जा सकता है । प्रत्येक कण में परब्रह्मशिव की भावना न केवल मानव को मानव के प्रति अपितु मानव को प्रत्येक कण के प्रति सौहार्द्र को बढाती है, जिससे विश्वबन्धुत्व की भावना को भी प्रश्रय मिलता है । वीरशैवमत के आचार्य बसवेश्वर के मत में पत्थर के नाग को हम दूध अर्पित करते हैं किन्तु यदि सत्य में ही नाग उपस्थित हो जाए तो उसे मारते हैं । जो पत्थर भोजन नहीं कर सकता, उसे हम भोजन कराते हैं और जो समक्ष क्षुधित व्यक्ति है, उसे भोजन कराने से कतराते हैं । तदनुसार आंधी में जो वृक्ष झुक जाते हैं, उनकी रक्षा हो जाती है किन्तु जो तनकर खड़े हो जाते हैं, वें टूट जाते हैं । ज्ञान होने के पश्चात् व्यक्ति को कर्म करना चाहिये न कि अहङ्कार के वशीभूत होकर शोषण करना चाहिये । कोई भी कार्य छोटा नहीं होता, यदि उसे भगवान के लिये समर्पण भाव से किया जाय । इस मत में रुढ़ि की अपेक्षा मानवता को, उपचार की अपेक्षा आत्मविकास को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है ।

५.१२.३ गुरु का महत्त्व

सभी धर्मों की तरह वीर शैव भी गुरु को परब्रह्म की श्रेणी में रखता है । तदनुसार -

गुरुमेव शिवं पश्येत शिवमेव गुरुस्तथा ।[219]

---

217 हि. क. सा. प्र. धा. तु. अ. पृ. सं. २२९

218 सि. शि. म. स., पृ. सं. ३८५-३९३

219 हि. क. सा. प्र. धा. तु. अ., पृ. सं. २२९

गुरु उत्प्रेरक होता है । संभवत: इसीलिये कहा गया है कि बिना गुरु के ज्ञान नहीं होता है । हमारे बाह्याभ्यन्तर में स्थित अज्ञान को दूर कर वह हमारे ज्ञान के मार्ग को प्रशस्त करता है । गुरु हमें ज्ञान से दीक्षित करके इहलोक और परलोक दोनों स्थलों में आनन्द प्रदान करवाता है । इस प्रक्रिया में भक्ति को सर्वश्रेष्ठ रूप में स्वीकार किया गया है, जिसका अवबोध निम्न-लिखित रूप में किया जाता है[220] :-

भक्ति								
बाह्य			आभ्यन्तर			बाह्याभ्यन्तर		
मानसिक	कायिक	वाचिक	मानसिक	वाचिक	कायिक	मानसिक	वाचिक	कायिक
तप	तप	तप	तप	तप	तप	तप	तप	तप
कर्म	कर्म	कर्म	कर्म	कर्म	कर्म	कर्म	कर्म	कर्म
जप	जप	जप	जप	जप	जप	जप	जप	जप
ध्यान	ध्यान	ध्यान	ध्यान	ध्यान	ध्यान	ध्यान	ध्यान	ध्यान
ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान

गुरु के साथ शिष्य का सम्बन्ध मित्रवत् होना चाहिये । इस तथ्य को श्रुति भी प्रतिपादित करती है । तदनुसार गुरु और शिष्य के आभ्यन्तर में परस्पर रक्षाभाव होना चाहिये । साथ ही भोजन करना चाहिये, साथ ही वीर्यार्जन करना चाहिये । अध्ययन-अध्यापन करते हुये तेजस्विता अर्जित करनी चाहिये किन्तु परस्पर द्वेष का भाव नहीं आना चाहिये । वीरशैवमत भी केवल गुरु के प्रति ऐसा सद्भाव प्रकटित ही नहीं करता अपितु उसको प्रायोगिक रूप भी प्रदान करता है ।

५.१२.४ वीरशैवमत के विषय में प्रमुख राजनेताओं के विचार

सम्पूर्ण राष्ट्र के सञ्चालन में राजनीति का महत्त्वपूर्ण स्थान है । संभवत: इसीलिये पाश्चात्य विचारक अरस्तू ने कहा था कि राजा को दार्शनिक होना चाहिये । वीरशैवमत भी प्रायोगिक रूप में अपने अनुयायियों को राजनीति में समाज कल्याण के लिये प्रेरित करता है । इस धर्म के विचार से राजनीति के अवांछनीय तत्त्वों का निवारण होता है । फलत: इस मत के विषय में तथा इसके प्रमुख सन्त बसवेश्वर के प्रति प्रमुख राजनेताओं एवं विद्वानों के विचार द्रष्टव्य हैं -

---

220 सि. शि. म. भू., पृ. सं. १९

डॉ. जाकिर हुसैन (भूतपूर्व राष्ट्रपति, भारत सरकार) - भारत के श्रेष्ठ ज्ञानी सन्तों की मण्डली में बसवेश्वर अपने सेवा कार्य तथा अपने मानवतावादी कार्यों के कारण न्यायपूर्वक यथोचित स्थान माँग सकते हैं।[221]

श्री वी. वी. गिरि (भूतपूर्व राष्ट्रपति, भारत सरकार) - वीरशैव के शान्ति और विश्व भ्रातृभाव के संदेश के प्रचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है । समारोहों का उद्देशित साङ्केतिक कदम, एकता और सौहार्द्र को भारतवासियों में ही नहीं, सभी मानवों में लाना है ।[222]

स्व. इन्दिरा गांधी (भूतपूर्व प्रधानमंत्री, भारत सरकार) - वीरशैव के सन्तों ने भक्ति और ज्ञान पर बल दिया, जिनमें बसवेश्वर ने अपने गम्भीर विचारों को जन सामान्य की भाषा में शक्ति और सौंदर्य से भरकर व्यक्त किया । उन्होनें अपने सृष्टिकर्ता की दृष्टि में मनुष्य की समानता पर बल दिया ।[223]

डॉ. एस. राधाकृष्णन् (भूतपूर्व राष्ट्रपति, भारत सरकार) - महात्मा बसवेश्वर श्रेष्ठ संत और समाज सुधारक थें । हमें केवल उनके उपदेशों को मानना ही नहीं, परंतु हमारे दैनिक जीवन में उन उपदेशों का आचरण भी करना चाहिये ।[224]

डॉ. बी. डी. जत्ति (भूतपूर्व उपराष्ट्रपति, भारत सरकार) - यह धर्म सहानुभूति में सबका आलिङ्गन करता है एवं दृष्टिकोण में विश्व व्यापकता को समाहित करता है । जाति भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रगति में बहुत बड़ी बाधा है । वह हिन्दुओं के परस्पर दायित्व में बाधा उत्पन्न करती है । जाति भाग्यवाद के आधार पर नहीं है, परन्तु वह मुक्त चुनाव के आधार पर है । वीरशैव के इन सिद्धान्तों को बसव जैसे महान् आत्मा ने पुन: जीवित कर समाज की कुरीतियों को समाप्त करने का सफल प्रयास किया, जिसमें उनके प्रमुख तीन हथियार थे - अहिंसा, अशोषण एवं भेंट का अस्वीकार ।[225]

श्री पी. बी. गजेन्द्रगढ़कर (भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश, सर्वोच्च न्यायालय, भारत सरकार) - बसवेश्वर ने उपनिषद् काल के हिन्दू दर्शनशास्त्र और आचरण के प्राचीन वैभव को बलवर्धन करने का काम किया । यदि वीरशैवदर्शन को ठीक समझा जाय और भारत के सामान्य स्त्री-पुरुष को उसकी व्याख्या सुनायें तो उससे सुख, सामाजिक समता और धार्मिक भलाई की खोज में भारत को आगे बढ़ने में मदद मिल सकती है ।[226]

डॉ. आर. आर. दिवाकर (भूतपूर्व राज्यपाल, बिहार सरकार एवं अध्यक्ष, गांधी शान्ति प्रतिष्ठान) - शङ्कर, मध्व तथा रामानुज उत्कृष्ट योग्यता के तत्त्वज्ञानी थे । उन्होंने तत्त्वज्ञान को समाज के लिये क्रियान्वित भी किया । मार्क्स एवं ईगल्स चिन्तशील व्यक्ति थे और लेनिन

---

221 ब. द., पृ. सं. १२७

222 वही

223 वही, पृ. सं. १२७

224 वही, पृ. सं. १२८

225 वही, पृ. सं. ३-७

226 वही, पृ. सं. ४३

और स्टालिन क्रियाशील व्यक्ति थे । चेतन जगत् एवं कर्म जगत् परस्पर सिद्धान्त और आचरण के समान भिन्न होते हैं । आचरण के बिना सिद्धान्त शून्य में लटकने के समान है । सांराश यह है कि जीवन क्रिया है, चिन्तन नहीं और यही बसवेश्वर अथवा वीरशैवमत की दृष्टि है ।[227]

श्री गोविन्दनारायण (भूतपूर्व राज्यपाल, कर्णाटक सरकार) - आध्यात्मिक भ्रातृभाव की स्थापना के साथ धार्मिक जीवन के सर्वोच्च स्तर का अनुसरण वीरशैवमत से ही संभव है । स्त्रियों का सम्मान, जाति-प्रथा का विरोध तथा अस्पृश्यता का परित्याग ही मानवता वास्तविक शिखर पर अवस्थित कर सकता है और इसके लिये बसव जैसे महान् वीरशैव मतानुयायियों की आवश्यकता है ।[228]

स्व. डॉ. डी. सी. पावटे (भूतपूर्व राज्यपाल, पञ्जाब सरकार) - वीर शैव ने कायक धर्म के द्वारा श्रम को महत्त्व प्रदान किया । तदनुसार कायक ही कैलास है । आज सारे देश में बसवेश्वर के जीवन और उपदेशों का परिचय कराना चाहिये । वीरशैव ने जाति-प्रथा, स्वार्थपरता और कपट के निर्मूलन के लिये किसी भी त्याग को कम नहीं समझा । इससे सारे दक्षिण भारत के जन-जीवन पर प्रभाव पड़ा है ।[229]

श्री एस. निजलिङ्गप्पा (भूतपूर्व मुख्यमंत्री, कर्णाटक सरकार) - वीरशैवमत ने स्त्री-पुरुषों में समानता, स्त्रीत्व का उद्धार, और सामाजिक एवं आर्थिक समता के लिये निरन्तर कार्य किया, जिसमें बसवेश्वर जैसे सन्त का नाम अग्रगण्य है । उन्होंने धर्म, जाति या जन्म के आधार पर होनेवाले शोषणों के विरुद्ध काम किया और वे किसी भी प्रकार के हिंसा के विरोधी थे ।[230]

स्व. डॉ. सी. डी. देशमुख (भूतपूर्व वित्तमंत्री, भारत सरकार) - बसवेश्वर उस प्रेरक वर्ग के हैं, जिसने भारत के धार्मिक विश्वास, सभ्यता और संस्कृति को समृद्ध किया । मेरे विचार में विशाल समुदाय को चाहे किसी भी जाति या वर्ग का हो, एक सामान्य विश्वास और सामान्य तत्त्व में अखण्ड रूप में बुनना ही उनकी महान साधना है ।[231]

स्व. के. एस. मुँशी (भूतपूर्व राज्यपाल, उत्तर प्रदेश सरकार एवं भूतपूर्व कुलपति भारतीय विद्यापीठ) - श्रम करना ही पूजा करना है । वीरशैवमत के उद्बोध हमारे देशवासियों के मन और हृदयों को उत्तेजित करते रहते हैं । बसवेश्वर के द्वारा प्रदत्त ऐसी आध्यात्मिक जागृति और नैतिक आदेश में विश्वास मात्र से ही प्राण, शक्ति, बल और सामर्थ्य हमारे देश के लिये प्राप्त हो सकते हैं ।[232]

स्व. टी. एन. मल्लप्पा (विश्रांति प्राप्त न्यायाधीश, कर्णाटक उच्च न्यायालय) - वीरशैवधर्म के प्रधान लक्षण है - लिङ्ग के रूप में शिव की आराधना करना, लिङ्ग धारण करना, शिवयोग

---

227 ब. द., पृ. सं. ४६

228 वही, पृ. सं. २२

229 वही, पृ. सं. १२८

230 वही, पृ. सं. १२९

231 वही

232 वही, पृ. सं. १३०

करना एवं वेदों से भी प्राचीन आचरण यज्ञों का विरोध करना । अत: पुरोहित रूपी दलालों की आवश्यकता मनुष्य और भगवान के बीच में नहीं है । सब अपनी भाषा में भगवान की उपासना कर सकते हैं ।[233]

स्व. डॉ. सी. पी. रामस्वामी अय्यर (तिरुवाङ्कुर राज्य के भूतपूर्व दिवान) - वीरशैव के पुनरुद्धारक बसवेश्वर हिन्दू समुदायों के उद्धार के लिये और उनको ऊपर उठाने तथा समानता देने के लिये सश्रम काम करने की वजह से हमेशा याद किये जाते हैं ।[234]

स्व. एल. बी. भोपटकर - बसवेश्वर ने वीरशैवमत को पुनरुज्जीवित किया और उसे पुन: प्रतिष्ठापित कर उसके लिये नयी व्याख्या और नये अर्थ दिये । दूसरे मतों के साथ वे नैतिक और सामाजिक सिद्धान्त, खासकर सामाजिक समता तत्त्व और समानता के महान बोधक के स्तुत्य पद पर आसीन रहे ।[235]

आर्थर मल्स (इन दि ल्याड आफ लिङ्गम से) :- बसव प्रथम भारतीय मुक्त चिन्तक थे । उन्हें भारत का लूथर कह सकते हैं । उनके उपदेशानुसार सभी मनुष्य जन्म से ही समान हैं ।[236]

प्रो. के. एस. श्रीकण्ठन् - वीर शैव के आचार्य बसव बुद्ध के समान दयालु, महावीर के समान सरल, जीसस के समान कोमल, मुहम्मद के समान धैर्यवान हमें अद्‌भुत सा दिख पड़ते हैं । उन्होंने अपने उपदेशों में अत्यन्त महान चिन्तक कार्ल-मार्क्स और महात्मा गांधी की पूर्व आशा की हैं ।[237]

दी टाइम्स आफ इंडिया (संपादकीय) :- वीरशैवमत में दीक्षित बसव ने धैर्य से समाज सुधार के समग्र कार्यक्रम को उसमें स्त्री-जाति को मुक्त करने और ऊपर उठाने की बात को निर्देशक बिन्दु बनाकर रूपित किया और उसपर कार्य किया ।[238]

एतदतिरिक्त श्रीकुमार स्वामीजी, श्री जयचामराजेन्द्र ओडेयार, डॉ. विनय कृष्ण गोकांक, एवं श्री सदाशिव ओडेयार आदि महान् आत्माओं ने वीरशैवमत के सद्विचार के लिये सहानुभूति प्रकट की हैं ।[239] आधुनिक राजनीति में भी लिङ्गायत सम्प्रदाय की महत्त्वपूर्ण भूमिका है । कर्णाटक विधानसभा के मंत्रियों में अधिकांशत: वीर शैत मत में दीक्षित हैं । माननीय शिवराज पाटिल, सुशील कुमार शिंदे, वीरप्पा मोइली आदि राजनेता वीरशैव मतानुयायी हैं । एतदतिरिक्त अनेक व्यक्ति इस मत के सूक्ष्म विचारों के माध्यम से उच्च पद पर आसीन होकर राष्ट्र और समाज की सेवा कर रहे हैं ।

भारत सभ्यता और संस्कृति का देश है । इसमें अनेकता में भी एकता का अवलोकन होता है । विविध भाषाओं और वेश-भूषाओं के होने पर भी यहाँ अद्‌भुत भ्रातृत्व अवलोकित होता है ।

---

233 ब. द., पृ. सं. ६४

234 वही, पृ. सं. १३०

235 वही, पृ. सं. १३१

236 वही

237 वही, पृ. सं. १३२

238 वही, पृ. सं. १३१

239 वही, पृ. सं. १२७-१३२

यहाँ प्रत्येक धर्म एक दर्शन है, क्योंकि प्रत्येक धर्म में लौकिक जीवन का सम्यक् परिपालन तथा उसके मार्ग से न केवल इस धरती पर आनन्दमय जीवन अपितु उसके सम्यक् परिपालन से परब्रह्म की भी प्राप्ति होती है । वीर शैव भी ऐसा ही धर्म है । इस मत में दान का अत्यधिक महत्त्व है । दान करना त्यागमय जीवन को प्रश्रय देता है जिससे सामाजिक अशुद्धियों का निराकरण होता है । इनके आचारों में भृत्याचार भी यही दर्शाता है । एकात्मक स्थिति में सृष्टि ही कुटुम्ब है इस प्रकार की भावना स्वयमेव ही आ जाती है और यह भावना त्यागपूर्वक जीवन का मार्ग प्रशस्त करती है । इस भावना के कारण पर्यावरण विशुद्ध होता है तथा प्रकृति के तत्त्वों का अत्यल्प दुरुपयोग होता है । वीरशैवमत में प्रकृति के प्रति सम्मान की भावना है । यह मत प्रकृतिपूजक है । तदनुसार प्रकृति के प्रति दास भावना रहनी चाहिये, न कि उस पर शासन करने की । आधुनिक समाज जिस भौतिकता के चरमोत्कर्ष को विकास का नाम दे रहा है ; वह विकास-भवन अनेक पर्वतों और नदियों के शवों पर अवस्थित प्रतीत होता है । लोभ की इस धारा में धनमात्र ही अवशिष्ट रह गया है । सम्बन्धों का विनाश हो ही रहा है । जन्मदाता माँ-पिता भी सम्प्रति गृह में अवशिष्ट पदार्थ समझे जा रहे हैं । जनमानस नगरों की ओर पलायन करने के लिये बाध्य है । भूकम्पादि की सम्भावनायें प्रबल होती जा जा रही है । वीरशैवमत ज्ञान-कर्म समन्वयवादी है । फलत: वह मात्र ज्ञानार्जन नहीं करता है अपितु उस ज्ञानराशि को अनुभूत कर उस पथ पर चलने का सफल प्रयत्न करता रहा है । औषधि के ज्ञान मात्र होने से हम रोग का निवारण नहीं कर सकते अपितु उसका लेप भी उतना ही आवश्यक है जितना औषधि का ज्ञान । इसी तरह मात्र उनके ग्रन्थों में ही नारी के प्रति सम्मान या आदर और जातिप्रथा का विरोध ही नहीं है अपितु वे इस मार्ग पर चलते भी हैं । वे केवल मन्त्र का जप करके उससे फलाकाङ्क्षा की कामना नहीं करते हैं अपितु वे अपनी दैनिक जीवन में भी उसका उपयोग करते हैं, जिससे उनकी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति होती हैं । एतदर्थ वे पञ्चयज्ञ (तप, कर्म, जप, ध्यान और ज्ञान), अष्टावरण (भस्म, रुद्राक्ष, लिङ्ग, गुरु, मन्त्र, चर, पादोदक तथा प्रसाद), पञ्चाचार (लिङ्गाचार, सदाचार, शिवाचार, भृत्याचार और गणाचार), तथा षट्स्थल (भक्त, माहेश्वर, प्रसादि, प्राणलिङ्ग, शरण तथा ऐक्य) की साधना करते हैं । इन कर्मों में पुरुषों और स्त्रियों को समान अधिकार हैं । इन कर्मों से नारी और पुरुष दोनों के आन्तरिक तथा बाह्य दोषों का निवारण होता है तथा उनके सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती हैं । हमारा भारतवर्ष पितृसतात्मक माना जाता है, अत: अधिकांशत: पुरुष ही समाज के नेता रहे हैं । आधुनिक युग में सुधार हो रहा है । आज भी ग्रामीण लोग शिक्षा के अभाव में अल्पायु में ही अपनी कन्याओं का विवाह करते हैं, जिसका परिणाम भयावह उपस्थित होता है । आज भी दहेज-प्रथा एक सामाजिक अवगुण के रूप में सबके समक्ष है । आधुनिक जनमानस में अनेक व्यक्ति आज भी दहेज लेना प्रतिष्ठा का विषय मानते है, जिसका वीरशैव विरोध करता है । सेवाभावना से जनमानस में व्याप्त ईष्या, द्वेष, आदि दुर्भावनाओं को समाप्त किया जा सकता है । प्रत्येक कण में परब्रह्मशिव-शक्ति की भावना न केवल मानव को मानव के प्रति अपितु मानव को प्रत्येक कण के प्रति सौहार्द्र को बढ़ाती है, जिससे विश्वबन्धुत्व की भावना को प्रश्रय मिलता है ।

५.१२.५ तीर्थ-स्थलों का महत्त्व

भारतीय संस्कृति की अक्षुण्णता के लिये इस मत के आचार्यों द्वारा पञ्चज्योतिर्लिङ्गों की स्थापना परस्पर सौहार्द्र का अन्यतम प्रमाण है । शिव के पञ्चमुखों (सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान) से उद्भूत पञ्चतीर्थ द्वादशज्योतिर्लिङ्गों के अन्तर्गत आते हैं जिनकी स्थापना शिवस्वरूप पञ्चाचार्यों (रेवण, मरुळ, एकोराम, पण्डित तथा विश्वाराध्य) ने की थी । भले ही ये पञ्च शिवलिङ्ग वीरशैवमत के आचार्यों द्वारा स्थापित हो किन्तु सम्पूर्ण सनातन परम्परा में इनको पृथक् नहीं माना जाता है । सम्पूर्ण सनातन धर्म में इन तीर्थों का अत्यधिक महत्त्व दृष्टिगोचर होता है । तीर्थस्थलों के माध्यम से देश के अन्तर्गत प्रत्येक कोने से कोने तक आवागमन बना रहता है, जो राष्ट्र की अखण्डता की रक्षा तो करता ही है, परस्पर भ्रातृत्त्व का भी वर्धन करता है । वीरशैवमत के तीर्थ स्थल भी भारत के विभिन्न प्रान्तों में हैं - रम्भापुरी सोमेश्वर, उज्जैनीपुरी सिद्धेश्वर, हिमवत्केदार रामनाथेश्वर, श्रीशैलपर्वत मल्लिकार्जुन, तथा वाराणसी विश्वेश्वर । एतदतिरिक्त गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, केरल और आन्ध्रप्रदेश आदि में भी इनके तीर्थस्थल हैं । भारतवर्ष में धार्मिक तीर्थस्थलों का अत्यधिक महत्व हैं । तीर्थस्थलों के माध्यम से राष्ट्र की संस्कृति प्रवाहमान रहती है । प्रत्येक कण को यदि हम शिवस्वरूप माने तो प्रकृति के प्रति प्रेम बढ़ेगा तथा पर्यावरण में होनेवाली मानव द्वारा दोहन प्रक्रिया भी नियंत्रित होगी । जहाँ पर सबकुछ अद्वैत हो जाएगा वहाँ पर क्रोध, मोह तथा लोभ आदि दुर्गुणों का अवश्य ही नाश हो जायेगा । फलत: गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा था क्रोध की होइहे द्वैत बिनु द्वैत की बिनु अज्ञान [240] वीरशैवमत के अनुयायी प्रकृति का पूर्णत: सम्मान करते हैं जो वेदों का निहितार्थ है । वेदों की सगुण तथा निर्गुण भावना दोनों का समावेश इस मत में प्राप्त है । इसलिये सभी श्रुतियों का समन्वय इस वीरशैवमत में माना जाता है । शिव-शक्ति का विश्वमय तथा विश्वोत्तीर्ण होना इस तथ्य का अन्यतम प्रमाण है । वीरशैवमत के अनुयायी प्रकृति के प्रत्येक कण को देव तुल्य मानते हैं तभी तो नदी, वृक्ष, पर्वत, अन्न इत्यादि की पूजा करते हैं ।

५.१२.६ वीरशैवमत सम्बन्धी शिक्षण एवं शोध संस्थान

वीरशैवमत से सम्बन्धित ऐसे भी स्थल हैं जहाँ पर इसकी शिक्षा तथा शोध कार्य को प्रश्रय मिलता है । इन स्थलो में जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी का प्रमुख स्थान है । जिसका पुस्तकालय इस विषय पर शोध कार्य करने वालों के लिये प्रसिद्ध है । यहाँ का शैव भारती शोध प्रतिष्ठान भी वीरशैव के शोधार्थियों एवं अध्येताओं के लिये अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन करके इसकी उपादेयता को उपस्थित करता है । इसी उपक्रम में इस मठ द्वारा समय-समय पर राष्ट्रीय और अन्ताराष्ट्रिय संगोष्ठियों का सम्मेलन करके इस मत का प्रचार-प्रसार किया

---

[240] रा. च. मा., उ. का.

जाता रहा है । इसी परिप्रेक्ष्य में सिद्धान्त शिखामणि के विविध आयामों पर विचार विमर्श नामक राष्ट्रिय-संगोष्ठी का आयोजन भी दिनाङ्क १५ अक्टूबर से १७ अक्टूबर १९९७ ई. को किया गया था । जिनमें भारत के प्रमुख विद्वानों ने वक्ता के रूप में भाग ग्रहण किया । जिनके सद्विचार सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा अभिधान से शैव भारती शोध प्रतिष्ठान से प्रकाशित है । वीरशैवागम से सम्बन्धित एक अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन का आयोजन जंगमवाड़ी मठ द्वारा किया गया । जंगमवाड़ी स्थित जंगमवाड़ी मठ में ९, १० तथा ११ नवम्बर २०१४ को अन्ताराष्ट्रीय वीरशैवशास्त्र संगोष्ठी (इन्टरनेशनल सेमिनार) में देश-विदेश के विद्वानों ने अपना बहुमूल्य शोधपत्रों को प्रस्तुत किया । इसमें हरियाणा, राजस्थान, बिहार, दिल्ली, गुजरात, केरल, महाराष्ट्र, तमिळनाडु, कर्णाटक, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, उत्तर-प्रदेश आदि राज्यों के अनेक विद्वानों ने सम्मेलन में वक्ता के रूप में भाग ग्रहण किया । साथ ही नेपाल और रूस आदि देश के विदेशी विद्वानों द्वारा भी वीरशैवमत सम्बन्धी शोधपत्र का वाचन हुआ । इसका सफल आयोजन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सहयोग से हुआ । काशी हिन्दू विश्विद्यालय, वाराणसी के धर्मागम विभाग के अन्तर्गत वीरशैवागम विभाग की भी स्थापना की गई है, जहाँ पर वीरशैव के प्रमुख ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन होता है । साथ ही संपूर्णानन्द संस्कृत विश्विद्यालय, वाराणसी में भी वीरशैव के ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन होता है । कर्णाटक राज्य में भी शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन पर क्रमिक शोध कार्य के लिये मेलकोट, जिला माण्ड्या में एक संस्था का निर्माण किया गया है ।[241] बसव समिति बेन्गलूरु ने भी वीरशैवमत के अध्ययन-अध्यापन में विशेष रुचि प्रकट करते हुये अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है, जो वीरशैव के मतों को पुष्ट करते हैं । तदनुसार यह समिति दिल्ली में बसव अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र के निर्माण का प्रस्ताव एवं मई १९७६ से बसव जर्नल त्रैमासिक का भी प्रकाशन कर रही है ।[242]

५.१२.७ वीरशैवमत का आधुनिक वैशिष्ट्य

जिस मत में परिश्रम को अत्यधिक महत्त्व दिया जाय ; उसको कभी भी आर्थिक तंगी का सामना ही नहीं करना पड़ेगा । वीरशैवमत के अनुयायी परिश्रमी होते हुये "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:" की वैदिक अवधारणा पर विश्वास करते हैं । इस सम्प्रदाय में दान का अत्यधिक महत्व है । सेवाभाव के कारण उन्हें आर्थिक अल्पता का सामना नहीं करना पड़ता है । जो इस मत के लिये प्रशंसनीय है । वीरशैवमत में परिश्रम के बिना अन्न ग्रहण करने का विधान प्राप्त नहीं होता है । वीरशैवदर्शन ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी है । यहाँ ज्ञान के साथ कर्म की उपादेयता भी अवलोकित होती है । इसकी तत्त्वमीमांसा में परिगणित छत्तीस तत्त्व वीरशैवदर्शन की व्यापकता को दर्शाते हैं । साध्य की प्रमुखता के कारण इस दर्शन में साधन अर्थात् प्रमाणमीमांसा पर अत्यल्प ध्यान अवलोकित होता है । इस दर्शन में सबसे अधिक

---

241 सं. अ. भा., पृ. सं. ६६

242 ब. द., पृ. सं. २३

आचरण पक्ष (आचारमीमांसा) पर ध्यान दिया गया है, जिसके कारण प्रत्येक वीरशैवमतानुयायी आचारवान होता है । कहा भी गया है कि ज्ञानी को आचारवान होना चाहिये । तदनुसार प्रकृति के प्रत्येक कण को परब्रह्मशिव स्वरूप सत्य मानकर उसके प्रति सम्मानपूर्वक भाव रखना चाहिये । वीरशैवमतानुयायी सर्वप्रथम जनसमुदाय की सेवा भावना से अपने हृदय में दासोऽहं की भावना जागृत करता है । तत्पश्चात् इस संसार की सगुण भावना का परित्याग कर शनैः शनैः शिवोऽहं को प्राप्त होता है । एतदर्थ वह पञ्चाचार, षड्स्थल, अष्टावरण एवं पञ्चयज्ञों का प्रतिदिन अनुपालन करता है, जिससे उसे आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव होता है । स्त्री-पुरुष की समानता, जाति-प्रथा का विरोध, गुरु का सम्मान, परिश्रम का महत्त्व, त्याग-भावना, सेवाभाव, प्रकृति के प्रति सम्मान आदि सद्गुणों के कारण वीरशैवमत आधुनिक समय में प्रासङ्गिक है । प्रकृति के प्रत्येक कण में परब्रह्म शिव की भावना से जीवन के सम्पूर्ण दुर्गुणों का विनाश स्वयमेव हो जाता है । अतः व्यक्ति को ऐसे धर्म का अनुपालन अवश्य करना चाहिये, जो विश्व के समस्त सद्गुणों को अपने आभ्यन्तर में सम्मिश्रित किये हुये हो ।

उपसंहार

संसार के किसी भी कार्य या कारण का यदि हम विचार करें तो यह तथ्य उपस्थित होगा कि इसका निर्माता कोई न कोई है । प्रकृति निर्मित एवं मानव निर्मित (कृत्रिम) वस्तुएँ हमारे चारो ओर दृष्टिगोचर होती हैं । जिन्हें हम मानव निर्मित या विज्ञान निर्मित वस्तुएँ मानकर उसके प्रति कृतज्ञ होते हैं, वस्तुत: वें मानव निर्मित या विज्ञान निर्मित न होकर प्रकृति निर्मित ही है । मानव भी प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं की रूप-रेखा में ही परिवर्तन करके नवीन वस्तु निर्मित करने का दावा प्रस्तुत करता है । प्रकृति भी क्या स्वयमेव इन वस्तुओं को प्रकट करती हैं या इसके पृष्ठ में कोई और शक्ति कार्य कर रही होती है ? जिन स्थूल वस्तुओं को हम इस सृष्टि के अन्तर्गत देखते हैं, वें वस्तुयें कुछ काल के पश्चात् परिवर्तित हो जाती हैं । स्थूल दृष्टि में इसका तात्पर्य है कि सृष्टि की प्रत्येक प्रक्रिया परिवर्तित एवं क्षणिक है । प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि यह परिवर्तन या क्षणिकता भी कही न कही जाकर समाप्त हो जाती होगी, अर्थात् कोई तो ऐसी वस्तु या सत्ता होगी जो परिवर्तित न होती होगी, जो सबका कारण तो होती होगी किन्तु उसका कारण कोई नहीं होता होगा । इस प्रकार जो प्रकृत्ति का आविर्भाव करके उसके प्रत्येक तत्त्वों का नियोजन करती है, जो अकारण है, जिसका ज्ञान हो जाने से किसी और ज्ञान की आवश्यकता नहीं रह जाती एवं जो सृष्टि के प्रत्येक कण-कण में विद्यमान है, उसी एकमात्र सत्ता को हमारे शास्त्रों ने परब्रह्म की संज्ञा प्रदान की है । उस परब्रह्म का भिन्न-भिन्न अभिधान अपने अपने मति के अनुसार प्रत्येक दर्शनों ने उपस्थित किया है । किसी ने नारायण को परब्रह्म कहा है, तो किसी ने शिव को । ईसाई धर्म में भी "GOD" तथा इस्लाम धर्म में अल्लाह इसके वाचक है । सम्पूर्ण मानव का एक ही धर्म होना चाहिए मानवता किन्तु क्षेत्र, काल एवं मति भिन्नता के मिथ्या आरोपण के कारण आज प्रत्येक मानव न केवल प्रकृति का अपितु स्वार्थ के लिए मानव मात्र का भी शत्रु बन बैठा है । प्रत्येक धर्म में मानव के धर्म का वर्णन किया गया है किन्तु वह धर्म उस मानवता के लिए कितना उचित और कितना घातक है, यह एकमात्र अनुभव से ही जाना जा सकता है । अनुभव: तु ह्यन्त्यं प्रमाणम् का परित्याग कर आज का शिक्षित मानव भी इन तथ्यों पर विश्वास नहीं कर रहा है । आधुनिक समाज में उसकी दृष्टि विकसित कही जाती है, जो आत्मा परमात्मा की बातें नहीं करता है । जो विदेशों से शिक्षा प्राप्त करके भारत की आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं नैतिक व्यवस्था का सञ्चालन करता है, उसे अच्छा शिक्षित माना जाता है । वह संसार को यह तो बताता है कि इस औषधि से ये लाभ हैं किन्तु उनसे हानियों का वर्णन नहीं करता । वों जानता है कि यदि हम इसके हानियों का वर्णन करेगें तो हमारा प्रभुत्व स्थापित नहीं हो पायेगा । हमारा वैदिक समाज इसलिए उन्नत था क्योंकि हम विदेशों में पढ़ने नहीं जाते थे । हम अपने गृह की समस्या का समाधान अपने गृह में ढूंढते थे । हम विदेशों के नियम अपने ऊपर नहीं लागू करते थे । हमारी नदियाँ विशुद्ध थीं । जहाँ नदियों को माँ का स्थान नहीं दिया जाता हो, वहाँ के लोग तो अपना मल नदी में प्रवाहित ही करेगें । यह हमारे राष्ट्र के लिए अत्यधिक दु:ख का विषय है कि हमने उनके प्रत्येक कार्यों

का अन्धानुकरण प्रारम्भ कर दिया है । जिससे भारत की प्रत्येक व्यवस्था की नींव हिलने लगी है । भारत का अपना अस्तित्व विदेशों के भौतिक विकास की कान्ति में धूमिल होता दिख रहा है । यह भी कहा जा सकता है कि हमारे ऊपर विदेशी आक्रमण हुए, जिसके कारण हमने उनकी सभ्यता को आत्मसात किया किन्तु अब तो हमें अपना अस्तित्व अन्वेषण करने की आवश्यकता है । जो भारत कभी एकता और अखण्डता का प्रतीक माना जाता था आज उसी देश में प्रतिदिन नए राज्य बनाए जाने की मांग बढ़ रही है । आगे चलकर यही राज्य पृथक् देश की भी मांग कर सकते हैं, जैसा की विदेशों के प्रतिनिधि चाहते हैं । आज भारत की सामाजिक व्यवस्था पर ग्रहण लगने जा रहा है । नगरों की ओर पलायनवादिता ने कुटुम्ब-जनों के महत्त्व को दूर कर दिया है । इन सभी समस्याओं से दु:खी होकर मनुष्य आध्यात्म की शरण में जाना चाहता है । एतदर्थ कोई कोई अरण्यवासी हो जाता है तो कोई पर्वतवासी तो कोई इसी समाज में रहकर दर्शन रूपी शस्त्र से इन समस्याओं को समाप्त करता है । वीरशैवभी ऐसा ही दर्शन (धर्म) है, जो परिश्रम के माध्यम से इन समस्याओं का समाधान अपने राष्ट्र या समाज के अन्दर ही ढूँढता है ।

यह परम्परा वैदिक होती हुई भी प्रमुखतया आगमिक है । इसने शक्तिविशिष्टशिव को ही परब्रह्म की संज्ञा प्रदान की है । इस परब्रह्म के दो स्वरूप दृष्टिगोचर होते है – प्रथम शिव निर्गुण, निराकार रूप में सृष्टि के प्रत्येक कण में व्याप्त शक्ति सहित है तो द्वितीय शिव पौराणिक आख्यानों की भाँति शाप और वरदान का दाता है । उसके ऐश्वर्य का वर्णन स्वर्ग की भाँति भी किया गया है । सिद्धान्त शिखामणि में शिव का जो स्वरूप वर्णन किया गया है, वह कही सगुण तो कही निर्गुण दृष्टिगोचर होता है । इसका कारण यह है कि सगुण भक्ति साधारण जन के लिए सरल पद्धति है किन्तु वें साधारण जन केवल सगुण को ही अन्तिम सत्य न मान लें इसलिए निर्गुण भक्ति का भी नियोजन किया गया है, जो विशुद्ध ज्ञान का प्रतीक है । निर्गुण भक्ति ही ज्ञान का चरमोत्कर्ष है । सिद्धान्त शिखामणि में जो शिव पार्वती सहित सिंहासन पर विराजमान हैं एवं जिनके शाप से शिवगण (शीघ्रतावशात् दारूक को लाङ्घने के कारण) उनके गण रेणुक को भूलोक पर अवतार लेना पड़ा । शिवस्वरूप वें रेणुक ही सिद्धान्त-शिखामणि के अनुसार वीरशैवके संस्थापक है । इस प्रकार इस शाप के प्रदाता शिव सगुण ही दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु सिद्धान्त शिखामणि के अन्य अध्यायों में जो उनके स्वरूप का वर्णन हैं, तदनुसार वें निर्गुण एवं निराकार है और वही उनका वास्तविक स्वरूप है ।

परम्परा में शिव के पञ्चमुखों (सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरूष एवं ईशान) से आविर्भूत इन पञ्चाचार्यों (रेवणाराध्य, मरूळाराध्य, एकोरामाराध्य, पण्डिताराध्य एवं विश्वाराध्य) ने ही वीरशैवमत की स्थापना की । तत्पश्चात् देवरदासिमय्य एवं बसवेश्वरादि शिवाचार्यों से लेकर डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य तक यह परम्परा अनवरत गतिमान है । इसमें श्रम को अत्यधिक महत्त्व, गुरु का सम्मान, प्रकृति के प्रत्येक कण को शिवतत्त्व मानना, जाति-प्रथा एवं दहेज-प्रथा जैसे कुरीतियों का उन्मूलन किया जाता है । इन सब समस्याओं ने आधुनिक समाज को प्रदूषित करने का यत्न किया है, अत: आधुनिक समाज में वीरशैवदर्शन प्रासङ्गिक है ।

वीरशैवमत का द्विविध अध्ययन हो सकता है - एक धार्मिक दृष्टिकोण से एवं द्वितीय दार्शनिक दृष्टिकोण से । धार्मिक दृष्टिकोण में शिव का सगुण स्वरूप उद्घाटित होगा किन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण में उसका तात्त्विक निर्गुण स्वरूप ही उद्घाटित होगा । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में शिव के तात्त्विक स्वरूप का वर्णन किया गया है । वह तात्त्विक शिव ही पञ्चकृत्यों (सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह एवं तिरोधान) के माध्यम से अपना ही विस्तार करता है और सम्पूर्ण छत्तीस तत्त्वों के जगत् का आविर्भाव होता है ।

वीरशैवमत में सृष्टि-प्रक्रिया का क्रम निम्नलिखित है :- शिवतत्त्व से शक्तितत्त्व का आविर्भाव होता है । यही शक्तितत्त्व सदाशिवतत्त्व का रूप लेकर उस तत्त्व को ईश्वर तत्त्व में परिणत कर देती है । इस ईश्वर तत्त्व से सद्विद्या तत्त्व का आविर्भाव होता है । इस प्रकार ये पञ्च तत्त्व शुद्धतत्त्व के अभिधान से अभिहित होते हैं, क्योंकि इनमें मलों एवं माया का लेशमात्र भी संसर्ग नहीं होता है । सद्विद्या ही माया का रूप लेकर पञ्च कञ्चुकों से युक्त हो जाती है, जिससे पुरुष का सर्वज्ञत्व किञ्चिज्ञत्व में (विद्या), नित्यत्व अनित्यत्व में (काल), पूर्णत्व अपूर्णत्व में (राग), व्यापकत्व अव्यापकत्व में एवं सर्वकर्तृत्व से किञ्चित्कर्तृत्व (कला) में परिणत हो जाते हैं । ये (माया, काल, नियति, कला, विद्या, राग तथा पुरुष) सप्त तत्त्व शुद्ध एवं अशुद्ध तत्त्व दोनो होते हैं, अत: इन्हें शुद्धाशुद्ध तत्त्व कहा जाता है । पुरुष से प्रकृति का आविर्भाव होता है एवं प्रकृति से शेष त्रयोविंशति तत्त्वों का उद्भव होता है । इस प्रकार प्रकृति से मन, बुद्धि एवं अहङ्कार ये तीन अन्त:करण, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, घ्राण तथा जिह्वा ये पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ ये पञ्च कर्मेन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध ये पञ्च तन्मात्रा, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी ये पञ्च महाभूत उद्भूत होते हैं । जिस प्रकार इनका क्रम से उद्भव होता है, उसी प्रकार क्रम से ही इनका तिरोधान भी हो जाता है । शिव से पृथ्वी पर्यन्त जिस सृष्टि का विस्तार होता है, पृथ्वी से शिव पर्यन्त उसी सृष्टि का सङ्कोच भी होता है । इस प्रकार सृष्टि शिवातिरिक्त और कुछ नहीं है, फलत: शिव की विकास और सङ्कोच रूपी सृष्टि वीरशैवमत में सत्य मानी जाती है, जिसका रूपान्तरण होता है, नाश नहीं । हमारी दृष्टि में रूपान्तरण भी शिव की लीला का ही प्रतिफलन है, क्योंकि परब्रह्म होने के कारण वही नियन्ता है । इस शिवतत्त्व को हम भले किसी भी रूप में अनुभूत करते है, उसके परब्रह्मत्व या शिवत्व का ह्रास नहीं होता है, क्योंकि तदतिरिक्त इस सृष्टि में कुछ भी नहीं है ।

आधुनिक समाज में इन सिद्धान्तों का अनुपालन करने की अत्यन्त आवश्यकता है । जिन सद्विचारों से पुरा काल में हमारे महर्षियों ने समाज को उचित दिशा-निर्देश दिया था, उन आदेशों का अनुपालन आज भी प्रासङ्गिक है । जब हमें यह अनुभव हो जाएगा कि सृष्टि का कोई भी कण हमसे पृथक् नहीं है तो फिर हमें सर्वत्र अपना रूप ही दृष्टिगोचर होने लगेगा, फिर हम किसी से भी द्वेषादि दुर्गुणों की भावना अपने मन में प्रकट नहीं होने देगें । हमें जाति-प्रथा, दहेज-प्रथा एवं भ्रष्टाचार जैसे सामाजिक दुर्गुणों से विजय प्राप्त करने में सहायता प्राप्त होगी । इन सिद्धान्तों के ज्ञान मात्र का होना ही आवश्यक नहीं है, अपितु उस ज्ञान का आचरण भी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि औषधि के ज्ञान के साथ ही उसका ग्रहण या लेप भी आवश्यक है तभी हम रूग्णता को समाप्त कर सकते है अन्यथा केवल ज्ञान या केवल कर्म लक्ष्य प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकता है । भौतिक उदाहरण में हम ज्ञान को पति एवं कर्म

का पत्नी मान सकते है, इन दोनो के साहचर्य से ही सम्पूर्ण जीवन आनन्दित होता है । कहा जाता है कि जिसको ज्ञान हो जाता है, वह सहज ही समाज में रहकर कर्म में प्रवृत्त हो जाता है और जनमानस में व्याप्त अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करता है । आचार्य शङ्कर, महात्मा बुद्ध, रामकृष्ण परमहंस, बसवेश्वर एवं विवेकानन्द जैसे विद्वान् इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं । जो विद्वान् होकर भी कर्म को हेय मानता है, उससे बड़ा अज्ञानी इस सृष्टि में नहीं है । बसवेश्वर का कहना था कि कोई भी कार्य छोटा या बड़ा नहीं होता, यदि वह कार्य भगवान के प्रति समर्पण भाव से किया जाय । आज प्रत्येक विषय पर अनेकों शोध हो रहे हैं किन्तु वें व्यवहार को कितना प्रभावित करते हैं, सम्प्रति यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है ।

जो हमारे दैनिक जीवन का नियोजन समुचित रूप से करता है, जिससे प्रकृति का अत्यल्प दुरुपयोग होता है, जिससे वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना स्वयमेव आ जाती है, जिससे हमारे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का निर्वाह सुचारू रूप से हो जाता है एवं जो त्याग एवं प्रेम की प्रतिमूर्ति है, यह अत्यधिक दु:ख का विषय है कि हम ऐसे ज्ञान या धर्म को प्राथमिकता न देकर उसे अध्ययन-अध्यापन से दूर रखना चाहते हैं । जिस विद्या का आविर्भाव पचास या सौ साल पहले हुआ है, उस ज्ञान के प्रति हमारी अत्यधिक श्रद्धा है और जो हजारों वर्षों की तपस्या का अनुभूत परिणाम है, उस ज्ञान को हम भूलना चाहते हैं । हम विदेशों के ज्ञान को ही प्राथमिकता प्रदान कर रहे हैं जो अत्यधिक चिन्ता का विषय है । युवा वर्ग देश का कर्णधार कहा जाता है । इस वर्ग में स्वराष्ट्र के प्रति जागरूकता का अभाव है । जन-समुदाय की सङ्कुचित भावना का प्राबल्य होता जा रहा है । आज व्यक्ति अपनी भूमि की सीमा को ही अपना राष्ट्र समझता है और उसके लिए अपने भ्राता एवं पिता आदि की हत्या जैसे कुकृत्य भी करने के लिए तत्पर रहता है । वीरशैवदर्शन के मतानुसार जब हमारे अन्त:करण में त्याग पूर्वक भोग की भावना जागृत होगी तभी हम इन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक आदि दुर्गुणों से स्वयं को या फिर समाज को बचा पायेगें । जब हमें यह ज्ञात होगा कि हमारे और वृक्ष में कोई अन्तर नहीं है, तब हम उसे काटेगें ही नहीं । प्रकृति के अत्यल्प दुरुपयोग से विश्व के समक्ष उपस्थित बड़ी से बड़ी समस्या का निदान हो सकता है किन्तु यदि हमने अपने को प्रकृति का नियन्ता मान लिया तो प्रकृति भी हमें अपनी स्थिति का भान अवश्य कराएगी । आधुनिक विज्ञान ने अत्यधिक उपलब्धि प्राप्त कर ली है किन्तु आज भी वह प्रकृति के इन रहस्यों को सुलझाने में असमर्थ है । केवल इतनी सी उपलब्धियों पर कई विद्वान् विज्ञान को भगवान की भी संज्ञा देते हुए वास्तविक भगवान के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न उपस्थित करते हैं, यह दु:ख का विषय है । शिवातिरिक्त कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता, जब तक जीव शिवत्व को प्राप्त नहीं होता तब तक वीरशैवमतानुसार वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता । दासोऽहं से शिवोऽहं तक की यात्रा में न केवल मानव जाति का कल्याण है अपितु सृष्टि के प्रत्येक कण के प्रति सम्मान भावना अभिव्यकत होती है । आवश्यकता है हमें आत्मज्ञान की । जिसका ज्ञान हो जाने पर सृष्टि के किसी और ज्ञान की आवश्यकता नहीं रह जाती है क्योंकि वही ज्ञान का चरमोत्कर्ष है ।

पाश्चात्य विद्वानों के मत में लिङ्ग-उपासना भारतवर्ष का एक कलङ्क है । विदेशीय समा-लोचक स्वाभाविक प्रेरणावश ही इस प्रकार की उपासना की भर्त्सना करते हैं । प्राचीन इतिहास से यह अभिज्ञात होता है कि अति प्राचीन सभ्य प्राणियों में लिङ्गोपासना प्रचलित

थी । मोहनजोदड़ों में प्राप्त सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय के लोग विशेष आकार के शिवलिङ्ग की पूजा करते थे । यह लिङ्गोपासना भारतवर्ष में श्रीशङ्कराचार्य प्रभृति असंख्य ज्ञानियों और असंख्य योगैश्वर्य सम्पन्न मनीषियों द्वारा अनुष्ठित होती रही है, अत: यह अश्लीलविषय नहीं है । बिना तीव्र-साधना के किसी भी तत्त्व का सम्यक् रूप से ज्ञान होना सम्भव नहीं है । नवकाय पवित्रचित्तवाले शिशु की दृष्टि में संसार में कुछ भी अश्लील नहीं देखा जाता है । यही बात ज्ञान-सम्पन्न परमहंस की दृष्टि में भी समझनी चाहिये । भगवान् की सृष्टि में अपवित्र कहलाने योग्य कोई भी वस्तु नहीं है किन्तु कलुषित हृदय द्रष्टा अपने आभ्यन्तर में कालिमा का आरोपण कर वस्तु-विशेष को अपवित्र समझ लेता है । शुद्ध चित्त से सर्वत्र उज्ज्वलमूर्ति देखकर हम आनन्दित हो सकते हैं । लिङ्ग और योनि ये दो तत्त्व सृष्टि के मूल रहस्य हैं । पुरुष और स्त्री के संयोग के बिना सृष्ट्यादि कार्य सम्पन्न नहीं होते हैं । शिव-शक्ति, ईश्वर-माया, पुरुष-प्रकृति प्रस्थानभेद जो भी हो, सर्वत्र दो मूल-शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष से सृष्टि कार सम्पन्न होते हैं । ईरानी, यहूदी तथा अन्य किसी भी भी प्राचीन धर्म में यही मौलिक द्वैत स्वीकृत हुआ है । जब तक द्वैत-जगत् का अतिक्रमण नहीं किया जाता, तब-तक इन दो शक्तियों को ही मूल-शक्ति मानना पड़ता है किन्तु वस्तुत: इनके मूल में अनुस्यूत भाव से अद्वैत-सत्ता ही है । ये दोनो एक होते हुये भी भिन्न हैं और भिन्न होते हुये भी एक हैं । अव्यक्तावस्था अलिङ्गावस्था है, जिसको निष्कल-अवस्था, महालिङ्गावस्था भी कहा जाता है । परिचायक चिह्न को लिङ्ग कहते हैं । जिसकी अभिव्यक्ति नहीं है उसका कोई भी निदर्शन नहीं दिखलाया जा सकता । इस अव्यक्त सत्ता से जो तेजोमय और ज्योतिर्मय तत्त्व स्वयं आविर्भूत होता है, वह स्वयम्भू है । यह अव्यक्तावस्था का परिचायक है अत: लिङ्ग है । तन्त्रशास्त्र में योनि को त्रिकोणरूप से एवं लिङ्ग को उसके केन्द्रस्वरूप या मध्यबिन्दुरूप बतलाया गया है । कम से कम बिना तीन सरल रेखाओं के किसी भी वस्तु को आवेष्टित नहीं किया जा सकता । तन्त्रशास्त्र में इसी को त्रिभुज या त्रिकोण को मूल त्रिकोण कहा गया है । इसी त्रिकोण का मध्यवर्ती बिन्दु विक्षुब्ध होकर ऊर्ध्वगतिशील ज्योतिर्मय रेखा के रूप में परिणत होता है, वहीं स्वयम्भू नामक ज्योतिर्लिङ्ग है । अन्तर्दृष्टि खुल जाने पर भीतर और बाहर सर्वत्र यह लीला प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ती है । बाइबिल और अन्यान्य धर्म-ग्रन्थों में जिस अग्नि-स्तम्भ (Pillar of fire) का वर्णन प्राप्त होता है, वह भी इस ज्योतिर्लिङ्ग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । योनि भी द्विविध है - एक ब्रह्मयोनि और एक मातृयोनि । तदनुसार त्रिकोण भी द्विविध ऊर्ध्वमुख और अधोमुख भेद से द्विप्रकारक है । दोनो के ही केन्द्र में बिन्दु विद्यमान है । बिन्दु विक्षुब्ध होकर जब रेखारूप में गतिशील होता है तब वह भी ऊर्ध्व और अधो भेद से द्विप्रकारक हो जाता है । इनमें एक का नाम ऊर्ध्वलिङ्ग और द्वितीय का नाम अधोलिङ्ग है । साधारण अवस्था में जगत् के यावत् जीव-जन्तु अधोलिङ्गविशिष्ट ही हैं किन्तु कुण्डलिनी शक्ति के प्रबुद्ध होने पर वे ऊर्ध्वलिङ्ग के रूप में आ सकते हैं । बिन्दु जब विसर्ग के रूप में परिणत होता है तो द्वैतजगत् का मूलद्वन्द्व आविर्भूत होता है । एक बिन्दु ऊपर और दूसरा नीचे गिर जाता है । इन दोनों बिन्दुओं की संयोजक रेखा ही अक्षरेखा अथवा ब्रह्मसूत्र है । ऊपर का बिन्दु एक त्रिकोण का मध्यबिन्दु है और नीचे का बिन्दु भी एक दूसरे त्रिकोण का मध्यबिन्दु

है । जब ऊर्ध्व त्रिकोण एवं तन्मध्यस्थ बिन्दु विक्षुब्ध होता है तब उस बिन्दु से अधोमुखी शक्तिधारा निकलती है । यही सृष्टि-अवस्था की सूचना है । इसी प्रकार जब अधस्थित बिन्दु और त्रिकोण विक्षुब्ध होते हैं तब उस बिन्दु से ऊर्ध्वमुख शक्तिधारा नि:सृत होती है । यह संहार की अवस्था है । जो शक्तिधारा सृष्टि के समा ऊर्ध्वबिन्दु से नीचे की ओर उतर जाती है, एक त्रिकोण क्षेत्ररूप से उसे अपने वक्षस्थल पर धारण कर लेता है । इसी से प्राकृतिक देहादि और अज्ञानमय-प्रपञ्च का आविर्भाव होता है । दूसरी ओर जब अधोबिन्दु ऊर्ध्वलिङ्ग अवस्था को प्राप्त होकर ऊर्ध्वमुखी शक्ति का सञ्चार करता है, तब द्वितीय त्रिकोण क्षत्रस्वरूप होकर उसको बीजरूप से धारण करता है । इसी से अप्राकृतिक देहादि और दिव्य-प्रपञ्च का आविर्भाव होता है । दिव्य-सृष्टि के मूल में प्राकृत-सृष्टि के संहार की आवश्यकता है और प्राकृत-सृष्टि के मूल में दिव्य-सृष्टि के तिरोभाव की आवश्यकता है । इस प्रकार सृष्टि और संहार दोनों के मूल में लिङ्ग एवं योनि का परस्पर संयोग विद्यमान है । हिन्दू, बौद्ध और जैन सभी सम्प्रदाय के उपासकगण किसी न किसी रूप में इस तथ्य को स्वीकार कर चुके हैं । वैदिक साधाना में कुण्ड को प्रकृति अथवा योनि और अग्नि को रुद्र या शिवज्योति कहा है । देहतत्त्वविद् योगियों द्वारा वर्णित आधार चक्र भी कुण्ड या योनिस्वरूप है । तन्मध्यस्थ ज्योति जब प्रकाशित होकर ब्रह्म-मार्ग पर सञ्चरण करती है, तब उसी को लिङ्ग कहते हैं । लिङ्ग एक होते हुये भी योनि अथवा आधारभेद से स्वयंभूलिङ्ग, बाणलिङ्ग, इतरलिङ्ग आदि असंख्यरूपों में विभिन्न प्रकार से विकसित होता है । एक दृष्टि से लिङ्ग भी एक है और योनि भी एक है और दूसरी दृष्टि से दोनों का ही वैचित्र्य अनन्त प्रकार का है । इस प्रकार लिङ्ग और योनितत्त्व क्षुद्रतम परमाणु से लेकर बृहत्तम ब्रह्माण्ड के संगठन में सर्वत्र विद्यमान हैं । पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी ये तीन प्रकार के शब्द ही त्रिकोण की तीन रेखाओं के रूप में कल्पित है । यही इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति हैं तथा निम्न स्थर में सत्त्व, रज और तम हैं । मध्यस्थ बिन्दु परा-वाक् है और शब्द की तुरीयावस्था का निदर्शन है । यह परावाक् सम्मिलित रूप से चतुर्विध वाक्-तत्त्व की समष्टि है, अर्थात् शब्दब्रह्मस्वरूप है । इस पर यथार्थ अधिकार होने से शब्दातीत, अप्रमेय, निष्कल, निरंजन और तत्त्वातीत सत्ता का साक्षात्कार होता है । इसको ऊँकार या प्रणव कहा जाता है ।[1]

भारतीय संस्कृति की सनातन परम्परा में शिव और विष्णु दो प्रमुख देवता रहे हैं । इन दोनों का सम्बन्ध वेद से रहा है । वैदिक विष्णु और वैदिक रुद्र अथवा पशुपति का जो स्वरूप है वह पौराणिक पूर्णतया नहीं है । पुराणों में विविध आख्यानों के माध्यम से इन द्विविध देवताओं को चित्रित किया गया है । विष्णु का अवतारवाद जितना प्रसिद्ध हुआ, उतना प्रसिद्ध शिव का अवतारवाद नहीं हुआ । राम जितने प्रसिद्ध हुये, उतने परशुराम प्रसिद्ध नहीं हुये तथापि शिव की तुलना में विष्णु की प्रसिद्धि शैवमत में उतनी नहीं हुयी । विष्णु काम के देवता है, जबकि शिव कामसंहारक है । विष्णु वैभवशाली और ऐश्वर्यशाली रूप में चित्रित हुये हैं तो शिव को भिक्षाटन करते हुये मस्त योगी की भाँति दिखाया गया है । शिव-परिवार विविधता में भी एकता को समेटे हुये है । शत्रुता में भी मित्रता दृष्टिगोचर होती है । मयूर और सर्प का साथ रहना, व्याघ्र और वृषभ का साथ रहना आदि रूप इस तथ्य के उदाहरण हैं । विष्णु

[1] भारतीय संस्कृति और साधना, लिङ्गरहस्य, पृष्ठ संख्या ५०७-५१२

अमृत का वितरण करते हैं तो ब्रह्माण्ड के रक्षार्थ शिव विष का पान करते हैं। शिव-पूजन की सामग्री सहज ही उपलब्ध हो जाती है। सृष्टि की सभी विद्याओं का सम्बन्ध शिव से साक्षात् है। शिव शब्द ही कल्याण का द्योतक है। अत: लोककल्याण ही उनकी कामना है। वे सृष्टि के अतिप्राचीन देव हैं। अरण्यों में आदिवासियों से लेकर विश्व के विशाल शिवालयों में पूजे जानेवाले मूर्ति और लिङ्गस्वरूप शिव प्राणिमात्र के देव हैं। लिङ्गस्वरूप कारणात्मक अवधारणा को बल देता है। यही कारण ही प्रत्येक जीव का सर्जक है, अत: वह पूज्य और श्रद्धेय है। उसके प्रति श्रद्धा ही भक्तिरूप में परिणत हो जाती है और यही भक्ति जब अतिशयता को प्राप्त होती है तो उसमें वीरत्व का अवबोध होने लगता है। शिव के प्रति सर्वस्व समर्पणभाव ही वीरता है। जब तक हम अपने इष्ट को सर्वस्व समर्पित नहीं करते हैं, तब तक हमारे आभ्यन्तर में भौतिक स्व का भाव बना रहता है और यही भौतिक स्व का भाव हमें पाप-पुण्य, अपना-पराया, तेरा-मेरा आदि भेदों में बाँटकर लीला करवाता है, जिससे हम सुखी और दु:खी होते हैं।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में शिव को देवों का देव कहा जाता है, इन्हें महादेव, भोलेनाथ, शंकर, महेश, रुद्र, नीलकंठ आदि अन्य अभिधानों से भी जाना जाता रहा है। शिव हिन्दू धर्म के प्रमुख देवता है। वेद के अन्तर्गत इनका नाम रुद्र है। पुराणों के अन्तर्गत इनकी अर्धाङ्गिनी (शक्ति) का नाम पार्वती है। इनके पुत्र कार्तिकेय और गणेश हैं तथा पुत्री अशोकसुन्दरी है। शिव अधिकांशत: योगी के रूप में चित्रित किये जाते हैं और उनकी पूजा शिवलिङ्ग तथा मूर्ति द्विविध रूप में की जाती है। इनके जन्म का कोई भी प्रमाण प्राप्त नहीं होने से ये स्वयंभू होते हुये सम्पूर्ण सृष्टि के रचयिता, संहारकर्ता हैं। इनके शीश पर चन्द्रमा तथा जटाओं में गंगा का निवास है। विश्व की रक्षार्थ इन्होंने विष का पान किया था, जिसके कारण इनका नाम नीलकण्ठ पड़ गया था। ग्रीवा में नाग और हाथ में डमरु विराजमान है। उनका निवासस्थान कैलास माना गया है। शिव के ग्रीवा में नरमुण्डमाला होती है, सम्पूर्ण शरीर पर भस्म रहती है, व्याघ्रचर्म ओढ़े हुये होते हैं, इनका वाहन नन्दी नामक वृषभ है। इनका विशेष अस्त्र धनुषाकार पिनाक है, जिसके कारण इन्हें पिनाकी कहा जाता है। इनके अन्य धनुष का नाम अजगव और दण्ड का नाम खट्वाङ्ग है। पापियों के लिए इनके पास पाश हैं। इनके पास एक पाशुपतास्त्र था जिसे तप करके अर्जुन ने इनसे प्राप्त किया था। इन्होंने कामदेव को अपने क्रोधाग्नि से जलाकर भस्म कर दिया था। इनके अहि भूषण, कामारि, गङ्गाधर, नीलकण्ठ, त्रिपुरारि, पञ्चानन, पुरारि, मन्मथजयी, महेश, रुद्र, शम्भु आदि अनेक नाम हैं। भूत-प्रेत इनके गण हैं।[2] संहारक देव के रूप में विख्यात होने पर भी इनकी सौम्याकृति और रौद्ररूप दोनो विख्यात हैं। शिव में सभी देव समाविष्ट हो जाते हैं तथापि त्रिदेव में ये संहार के देवता माने गये हैं। शिव अनादि होते हुये सृष्टि-प्रक्रिया के आदिस्रोत हैं। ये महाकाल होते हुये कालगणना ज्योतिषशास्त्र के आधार हैं। शिव का अर्थ यद्यपि कल्याणकारी कहा गया है किन्तु वे सर्वदा मृत्यु, लय एवं प्रलय के देवता के रूप में प्रसिद्ध हैं। शिव में परस्पर विरोधीभावों का भी सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। शिव के शीश पर एक ओर चंद्र तो दूसरी ओर महाविषधर सर्प उनके ग्रीवा की शोभा का वर्धन

---

[2] शिव-पुराण, रुद्र संहिता, सती खण्ड, अध्याय ३२/३६-३७

करता है । शिव अर्धनारीश्वर होते हुये भी कामजित हैं । गृहस्थ होते हुये भी श्मशानवासी और वीतरागी हैं । सौम्य तथा आशुतोष होते हुये भी भयानक रुद्र हैं । शिव-परिवार के अन्तर्गत भी ऐसे तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं । इनके परिवार में भूत-प्रेत, नंदी, सिंह, सर्प, मयूर और मूषक इन सबका समभाव प्रत्यक्ष है । शिव स्वयं द्वन्द्वरहित हैं, अत: उनसे सम्बन्धित सभी तथ्य द्वन्द्वरहित है । शिवपूजन में बिल्वपत्र, धतूरा और भांग का विशेष महत्त्व है । शिवपूजन में पार्थिवलिङ्ग का विशेष महत्त्व है । भारतीय सनातन परम्परा में महामृत्युञ्जय-मन्त्र जप तथा वैदिक रीति के षोडशोपचार के द्वारा शिव का विधिवत् रुद्राभिषेक किया जाता है । श्रावणादि मास में शिवलिङ्ग पर कांवर द्वारा गंगाजल लाकर दूर से चढ़ाने की प्रथा अद्भुत भक्ति और श्रद्धा का सञ्चार करती है । ज्योतिषशास्त्र के अनुसार शिव का त्रिशूल और डमरु की ध्वनि का सम्बन्ध मंगल और गुरु आदि ग्रहों से है । उनके शीश पर विद्यमान चन्द्रमा की उज्जवलता से अनंताकाश में जटाधारी महामृत्युञ्जय भी प्रसन्न होते हैं और मंगल तथा बुधादि ग्रह समभाव में सहायक होते हैं । शिव के द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग भी प्राचीनकाल से ही भारत की सनातन परम्परा का विस्तार करते रहे हैं । जो सौराष्ट्र-प्रदेश (काठियावाड़) में श्रीसोमनाथ, श्रीशैल पर श्रीमल्लिकार्जुन, उज्जयिनी में श्रीमहाकाल, ऊँकारेश्वर और अमलेश्वर, परली में वैद्यनाथ, देवघर में डाकिनी नामक स्थान में श्रीभीमाशंकर, सेतुबंध पर श्रीरामेश्वर, दारुकावन में श्रीनागेश्वर मंदिर, द्वारका वाराणसी में श्रीविश्वनाथ, गौतमी (गोदावरी) के तट पर श्रीत्र्यम्बकेश्वर, हिमालय पर केदारखण्ड में श्रीकेदारनाथ, शिवालय में घुश्मेश्वर और कश्मीर में श्रीअमरनाथ विद्यमान हैं ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची (Selected Bibliography)

(A)प्रारम्भिक स्रोत (Primary Source) :-

(a) साक्षात् स्रोत (Direct Source) :-

अष्टशतोतरोपनिषत्सु शैव-उपनिषद: :- (सं.) अ. महादेव शास्त्री, ओरियन्टल बुक सेन्टर, दिल्ली (भारत), प्रथम संस्करण, २००८ ई.

ईशावास्योपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित) :- (अनु. एवं सम्पा.) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई.

केनोपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित) :- (अनु. एवं सम्पा.) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई.

कैवल्योपनिषद् (सदाशिवभाष्यसहित) :- सदाशिवशिवाचार्य, (अनु. एवं सम्पा.) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.

पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यम् :- सिद्धनञ्जेश शिवाचार्य, (अनु. एवं सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००४ ई.

ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य (भाग १-२) :- श्रीपतिपण्डितभगवत्पादाचार्य, ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट्, मैसूर, कर्णाटक, प्रथम संस्करण, १९७७ ई.

ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य (भाग १-३) :- श्रीपतिपण्डितभगवत्पादाचार्य, (सम्पादिका) सी. हयवदना राव, अक्षय प्रकाशन, नई दिल्ली, पुन: प्रकाशित २००३ ई.

मुण्डकोपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित) :- (अनु. एवं सम्पा.) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००४ ई.

लुप्तागमसंग्रह :- संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८३ ई.
शिवागमसंग्रह :- पं. काशीनाथ मिश्र, श्री पञ्चाचार्य इलेक्ट्रिक प्रेस, मैसूर, प्रथम संस्करण, १९४२ ई.
श्रीमद्भगवद्गीतावीरशैवभाष्य :- (भाष्यकर्ता) डॉ. टी. जी. सिद्धाप्पाराध्य, प्रका. श्रीजगद्गुरुमल्लिकार्जुनमुरुघराजेन्द्रमहास्वामि, चित्रदुर्ग, श्री जगद्गुरु उरुघराजेन्द्र विद्यापीठ ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प, प्रथम मुद्रण, १९६५ ई.
शिवाद्वैतमञ्जरी :- स्वप्रभानन्द शिवाचार्य, (सम्पा.) डॉ. चन्द्रशेखरशर्मा हिरेमठ, (प्रका.) संस्थान जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९८६ ई.।
शिवाद्वैतदर्पण :- भगवत्पादशिवानुभव शिवाचार्य, (सम्पा.) वे. ब्र. श्री. सिद्धान्तसिद्ध-बसवशास्त्रि, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९९ ई.
श्वेताश्वतरोपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित) :- (भावार्थदीपिकाकार एवं सम्पा.) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.
सिद्धान्तसारावलि :- त्रिलोचन शिवाचार्य, (अन्वयार्थकार) मरुळसिद्धशिवाचार्य, (विस्तरार्थकार एवं सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.
सिद्धान्तप्रकाशिका :- सर्वात्मशम्भु, (सम्पा.) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई.
सिद्धान्तशिखोपनिषद् :- उमचिगिशङ्करशास्त्रिविरचित, (अनु. एवं सम्पा.) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.
सिद्धान्तशिखामणि :- शिवयोगिशिवाचार्य, (हि. व्या.) प्रो. डॉ. राधेश्याम चतुर्वेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.

आगम

कारणागम (क्रियापाद) :- (सम्पा.) प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.

कामिकागम :- श्री चे. स्वामिनाथाचार्य, दक्षिणभारतार्चक सङ्घ, तम्बुच्चेटी वीथी, मद्रास, १९७५ ई.

चन्द्रज्ञानागम (क्रिया एवं चर्यापाद) :- (सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.

देवीकालोत्तरागम :- (अनु. एवं सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००० ई.

पारमेश्वरागम :- (सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गम-वाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९५ ई.

मकुटागम (क्रियापाद एवं चर्यापाद) :- (सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.

मृगेन्द्रागम :- एन. आर. भट्ट, इन्स्टीट्यूट् फ्रेन्सिस इन्डोलोजी, पुदुच्चेरी, १९६२ ई.

सूक्ष्मागम (क्रियापाद) :- (सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.

(b) असाक्षात् स्रोत (Indirect Source) :-

अनुभवसूत्र :- मायिदेव, (सम्पा.) गजाननशास्त्रिमुसलगाँवकर, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.

अनुभवसूत्र :- मायिदेव, प्रत्यभिज्ञा प्रकाशन, वाराणसी उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८७ ई.

अष्टप्रकरण :- संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८८ ई.

अर्थसंग्रह :- लौगांक्षि भास्कर, (हिन्दी व्याख्याकार) स्व० डॉ. वाचस्पति त्रिपाठी, चौखम्बा पब्लिशर्स, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, षष्ठम संस्करण, २००२ ई.

एकलिङ्गमाहात्म्य :- प्रेमलता शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७६ ई.

क्रियासार :- नीलकण्ठ शिवाचार्य, मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९५४ ई.

कृत्यसागर :- श्रीरत्नपाणि, (भूमिका) महाप्रभुलालगोस्वामी, मिथिला अनुसन्धान समिति, १९७७ ई.

गणकारिका :- आचार्य भासर्वज्ञ, ओरियन्टल् इन्स्टीट्यूट् बड़ौदा, द्वितीय संस्करण, १९६६ ई.

तंत्रालोक (१-३ भाग) :- अभिनवगुप्त, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १९८६ ई.

तर्कसंग्रह :- अन्नम्भट्ट, डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, १९७१ ई.

दुर्गाभक्तितरङ्गिणी :- विद्यापति ठक्कुर, (सम्पा.) काशीनाथ मिश्र, कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर, दरभङ्गा, बिहार, प्रथम संस्करण २००१ ई.

तन्त्रागम सार सर्वस्व :- व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००५ ई.

तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन (खण्ड१-२) :- व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २०००-२००१ ई.

तन्त्रसार :- अभिनवगुप्त, (अनु.) हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती, वाराणसेय संस्कृत संस्थान, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८६ ई.

तन्त्रराजतन्त्र :- लक्ष्मणशास्त्री एवं आर्थर अवलान, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १९२६ ई.

धर्मों और संस्कृतियों का संघर्ष :- व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.

निगमागम संस्कृति :- (सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) वीरशैव अनुसन्धान संस्थान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, विक्रम संवत् २०४९

न्यायमञ्जरी :- जयन्त भट्ट, अनु. सिद्धेश्वर भट्ट-शशिप्रभा कुमार, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली-९४, प्रथम संस्करण २००१ ई.

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् :- क्षेमराज, (अनु.) जयदेव सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय संशोधित संस्करण १९८३ ई.

प्रत्यभिज्ञाप्रदीप :- रङ्गेश्वरनाथमिश्रमथुरेश, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.

पाशुपतसूत्रम् :- (अनु.) चक्रपाणि द्विवेदी, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००९ ई.

ब्रह्मसूत्रशक्तिभाष्य :- पञ्चानन तर्करत्न भट्टाचार्य, (भूमिकालेखक) गोपीनाथ कविराज, प्रथम भाग, परिमल प्रकाशन, नई दिल्ली-२, संस्करण २००५ ई.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य (१-५ भाग) :- अनु. यतिवर भोलेबाबा, भूमिका डॉ. रामकरण शर्मा, प्राक्कथन- प्रो. राममूर्ति शर्मा, भारतीय विद्या प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२००९ ई.

ब्रह्मसूत्राणुभाष्य (१-४ भाग) :- वल्लभाचार्य, (गोस्वामिपुरुषोत्तमभाष्यप्रकाशसहित), अक्षय प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, २००३ ई.

रुद्राध्याय :- आनन्दसंस्कृताग्रन्थावलि, १९९७ ई.

लिङ्गधारणचन्द्रिका :- नन्दिकेश्वर शिवाचार्य, (सम्पा.) आचार्य श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८८ ई.

वातुलशुद्धाख्यतन्त्र :- प्रत्यभिज्ञा प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८७ ई.

वातुलशुद्धाख्यतन्त्र :- (सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००४ ई.

वीरशैवचन्द्रिका :- मरितोण्डदार्य, मरूसा वीरमठ प्रकाशन, हुबल्ली, प्रथम संस्करण, १९३६ ई.

वीरशैवसदाचारसंग्रह :- बारदमल्लप्पवसप्पा प्रकाशन, सोलापुर, प्रथम संस्करण १९५० ई.

वीरशैव-अष्टावरणविज्ञान :- डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य, शैवभारती शोधप्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, द्वितीय संस्करण, २०११ ई.

वेदान्तवीरशैवचिन्तामणि :- निरूनञ्जणार्य, बारदमल्लप्पवसप्पा प्रकाशन, सोलापुर, प्रथम संस्करण १९८८ ई.

शिवदृष्टि :- सोमानन्द, (सम्पा.) राधेश्याम चतुर्वेदी, वाराणसेय संस्कृत संस्थान, वाराणसी, तृतीय संस्करण, २०१३ ई.

शिवसंहिता (योगशास्त्र) :- (भाषानुवादक) राघवेन्द्र शर्मा राघव, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, पुनर्मुद्रित संस्करण, २०११ ई.

शिवसूत्र :- वसुगुप्त, शिवोऽहं सागर ग्रन्थमाला प्रकाशन खेड़ा, गुजरात, प्रथम संस्क-रण, १९८४ ई.
शिवसूत्रम् :- श्रीवसुगुप्त, निदेशक श्री कृष्णानन्द सागर, श्री माधवानंद आश्रम, गुज-रात, प्रथम संस्करण, १९८४ ई.
शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त (वीरशैवधर्मदर्शन) :- ष. ब्र. डॉ. महादेव शिवाचार्य, श्रीगुरुपा-देश्वर बृहन्मठ प्रकाशन केन्द्र, बबलेश्वर, कर्नाटक प्रथम संस्करण, २००१ ई.
श्रीशिवस्तोत्ररत्नावली :- उत्पलदेवाचार्य, (सम्पादित हिन्दी व्याख्या) स्वामी लक्ष्मण जू महाराज ईश्वराश्रम ट्रस्ट, श्रीनगर, संस्करण, २००० ई.
शिवपञ्चविंशतिलीलाशतकम् :- वीरभद्रशर्मा, (सम्पा.) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (लीलासंग्राहक) डॉ. ददन उपाध्याय, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.
शिवरहस्य :- (सम्पा.) वे. स्वामिनाथ आत्रेय, तञ्जुपुरी सरस्वती महालय ग्रन्थमाला संख्या-१३५
शिवतत्त्वरत्नाकर :- केलवदीबसवराज, बेनगल रामराव मद्रास प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९३६ ई.
शक्तिसंगमतन्त्र (प्रथम भाग काली खण्ड) :- (सम्पा.) यशवंत गणेश सुखटणकर, बड़ौदा ओरियन्टल् इन्स्टीट्यूट् १९३२ ई.
शिवपुराण :- संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८८ ई.
शिवज्ञानबोधोपन्यास :- निगमज्ञानदेशिक, (संपादक) टी० जानसन, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, लोकप्रिय साहित्य ग्रन्थमाला-२
शिवशतक :- गोकुलनाथ, (प्रधान संपादक) डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, जनकपुरी नई दिल्ली, संस्करण २०१०, लोकप्रिय साहित्य ग्रन्थमाला-२१
साम्बपञ्चाशिका :- पेनमैन प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९९ ई.
सौरसंहिता :- राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, आन्ध्रप्रदेश, प्रथम संस्करण, २००० ई.
संक्षेपशारीरकभाष्य :- सर्वज्ञात्म मुनि, (रामस्वामितीर्थविरचितान्वयार्थप्रकाशिका-टीकासहित), (सम्पा.) पं. भगुशास्त्री वझे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, द्वितीय संस्करण, १९९२ ई.

संस्कृत वाङ्मय में वीरशैव साहित्य :- (मूल कन्नड़ लेखक) षण्मुखय्या अक्कूरमठ, (हिन्दी रूपान्तरण एवं परिवर्धन) डॉ. प्रभुनाथ द्विवेदी, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, २००३ ई.

Siva Sūtras (The yoga of Supreme Identity) :- Jaideva Singh, Motilal Banarasidas Publishers, Delhi, 13th Reprint, 2012

(B) द्वितीयक ग्रन्थ (Secondary Source):-

(a) स्वतन्त्र ग्रन्थ (Independent Text):-

आगममीमांसा :- पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, श्रीलालबहादुरशास्त्रीसंस्कृतविद्यापीठ, नई दिल्ली-१६, प्रथम संस्करण १९८२ ई.

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की चार धारायें :- डॉ. नरेश प्रसाद तिवारी, प्रका. बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण, दिसम्बर २०१३

आगम और तंत्र :- डॉ. ब्रजबिहारी निगम, रंजन पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, २००७ ई.

दर्शनशास्त्रस्येतिहास: :- डॉ. शशिबाला गौड़, (सम्पा.) ज्वाला प्रसाद गौड़, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००४ ई.

दर्शन दिग्दर्शन :- पं. राहुल सांकृत्यायन, किताबमहल इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, २००१ ई.

दाम्पत्य जीवन का आदर्श :- गीताप्रेस गोरखपुर, ३५वाँ पुनर्मुद्रण, २०११ ई

धर्म और समाज :- डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, सिलवर बैल प्रका., दिल्ली-३२, प्रथम संस्करण, २०१२ ई.

नारी शिक्षा :- गीताप्रेस गोरखपुर, ५९वाँ पुनर्मुद्रण, २०११ ई.

नेपाल में वीरशैव धर्म-दर्शन का स्थान :- भारतमणि जङ्गम, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, प्रथम संस्करण, २०११ ई.

प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास :- डॉ. विमल चन्द्र पाण्डेय, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.

प्राचीन भारतीय संस्कृति :- डॉ. वीरेन्द्र कुमार सिंह, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, २००२

बसव दर्शन :- स्व. टी. एन. मल्लप्पा, (अनु.) डॉ. टी. जी. प्रभाशङ्कर 'प्रेमी', बसव समिति, बेन्गलूर-१, प्रथम संस्करण, १९८३ ई.

भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग ५) :- डॉ. एस. एन. दासगुप्त, (अनु.) सुश्री पी. मिश्रा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-४, प्रथम अनुदित संस्करण, १९७५ ई.

भारतीय दर्शन :- आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, पुनर्मुद्रित संस्करण २००१ ई.

भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा :- प्रो. राममूर्ति शर्मा, चौखम्बा ओरियन्टा-लिया, दिल्ली, प्रथम संस्करण, २००८ ई.

भारतीय दर्शन की रूपरेखा :- एच. पी. सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, २००९ ई.

भारतीय दर्शन आलोचना एवं अनुशीलन :- चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी-दास, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १९९६ ई.

भारतीय दर्शन :- वाचस्पति गैरोला, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९६६ ई.

भारतीय दार्शनिक चिन्तन :- डी. आर. भण्डारकर, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, नई दिल्ली, २००२ ई.

भारतीय संस्कृति और साधना (प्रथम एवं द्वितीय भाग) :- गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, बिहार, चतुर्थ संस्करण, २००९ ई.

भारत का सांस्कृतिक इतिहास :- डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, तृतीय संस्करण, २००२ ई.

भारतीय संस्कृति का स्वरूप :- अमित कुमार शर्मा, कौटिल्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, २००६ ई.

भारतीय संस्कृति :- डॉ. प्रीतिप्रभा गोयल, राजस्थानी ग्रन्थागार प्रकाशन, जोधपुर राजस्थान, प्रथम संस्करण, २००८ ई.

भारतीय संस्कृति की प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि :- डी. एच. गार्डन, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, प्रथम संस्करण, १९७० ई., द्वितीय संस्करण, १९९२ ई.

भारतीय संस्कृति : विविध आयाम : - सम्पादिका डॉ. शशिप्रभा कुमार, विद्या-निधि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९९६ ई.

भारतीय संस्कृति के नये आयाम :- प्रणेता, आचार्य श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, श्रीलालबहादुरशास्त्रिराष्ट्रीयसंस्कृतविद्यापीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९९७ ई.

भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप (निबंध-संग्रह) :- आचार्य श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००२ ई.

वैदिक संस्कृति का विकास (मराठी से हिन्दी में अनुदित) :- तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी, मोरेश्वर दिनकर पराड़कर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५७ ई., पुनर्मुद्रण २००५ ई. तथा २००७ ई.

वामकेश्वरी मत :- आचार्य कृष्णानन्द सागर, शिवोऽहं सागर ग्रन्थमाला प्रकाशन वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८७ ई.

विज्ञान का इतिहास :- प्र. ना. जोशी, अनु., किशोर दिवसे, संवाद प्रकाशन, मुम्बई, प्रथम संस्करण फरवरी २००८ ई.

वैदिक संस्कृति और सभ्यता :- डॉ. मुंशीराम शर्मा, ग्रन्थम रामबाग, कानपुर, प्रथम संस्करण, १९८७ ई.

शैव दर्शन बिन्दु :- डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९७७ ई.

शिवस्तोत्ररत्नाकर :- गीताप्रेस गोरखपुर, २३वाँ पुनर्मुद्रण, २०११ ई.

श्रीकरभाष्य : सिद्धान्त और प्रतिपक्ष (ब्रह्मसूत्र विरोधपरिहाराध्याय के सन्दर्भ में) :- डॉ. व्रजेश कुमार पाण्डेय, शिवालिक प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण २००८ ई.

श्रीगुरुगीता (श्रीगुरुपादकापञ्चकयुता) :- (सम्पा. और भाष्यकार) आचार्य श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९९ ई.

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप :- भक्ति वेदान्त ट्रस्ट, मुम्बई १९९० ई.

शिव महापुराण :- (सम्पा.) शशिकांत, नूतन पाकेट बुक्स, ईश्वरपुरी, मेरठ-२

षड्दर्शन रहस्य :- पण्डित रङ्गनाथ पाठक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् , पटना, बिहार, प्रथम संस्करण १९५८ ई., द्वितीय संस्करण १९८९ ई.

सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा :- (सम्पा.) राष्ट्रियपण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैव भारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण २००० ई.

संस्कृत एवं अभिनव भारत : - रामकृष्ण शर्मा, नाग प्रका., दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९८९ ई.

स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति :- डॉ. राजदेव दूबे, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १९८८ ई.

संस्कृतं, संस्कृति: संस्कारश्च :- सम्पादिका डॉ. शशिप्रभा कुमार, विद्यानिधि प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण २००९ ई.

संस्कृति वर्चस्व और प्रतिरोध :- पुरुषोत्तम अग्रवाल, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९९५ ई.

संस्कृति समस्या और सम्भावना :- गोविन्द चातक, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.

सांस्कृतिक विरासत व शिक्षा :- डॉ. सत्या के. शर्मा, बाल भवन एंग्लो एकेडमी, उदयपुर, प्रथम संस्करण, २००५ ई.

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद (निबन्ध-संग्रह) :- व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००४ ई.

सौन्दर्यलहरी और तन्त्र विद्या :- डॉ. अनुजा तिवारी, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, राजस्थान, प्रथम संस्करण २००३ ई.

हिन्दू दर्शन-एक सामाजिक दृष्टि :- डॉ. कर्ण सिंह, भारतीय ज्ञान प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण २००१ ई.

हिन्दी एवं कन्नड़ साहित्य की प्रमुख धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन :- डॉ. एम. एस. कृष्णमूर्ति, जवाहर पुस्तकालय मथुरा, २००१ ई.

Introduction to Srikarabhasya :- C. Hayavadana Rao, Karnataka, 1938.

The Stanzas on Vibration :- Mark S.G. Dyczkowski (New York), Dilip Kumar Publishers, Varanasi, First Edition 1994.

Tantras their Philosophy & Occult Secrets :- D.N. Bose, Eastern Book Linkers, New Delhi, First Edition, 2001.

(b) शोध-प्रबन्ध (Research):-

शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्श :- (डी. लिट्. थिसिस) डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान,जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई.

सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा :- (पी. एच. डी. थिसिस) डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य, (प्रका.) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण १९८९ ई.

A Study of Sivyoga as preached & practiced by Veersaiva Mystics :- (Ph. D. Thesis), V.S. Kambi, Karnataka University, 1968.

Satsthal in Virshaivism, A Philosophical Study :- (Ph. D. Thesis) (V.S. Kambi), Karnataka University, 1975.

Virashaiva Concept of Shakti :- (Ph. D. Thesis) N. G. Mahadevappa, University of Mysore, 1978.

(c) पत्र-पत्रिकायें (Journals & Magazines):-

Heritage of Kashmiri pundits as “Abhinavagupta and the Shaivite traditions of Kashmir” :- Saints and Savants of the Saradadesa :- Dr. Rajnish Mishra, Published in Pentagon Press, 2009.

कल्याण (मासिक पत्रिका) शिवोपासनाङ्क :- सम्पा. राधेश्याम खेमका, संवत् २०७१, नवाँ पुनर्मुद्रण, गीताप्रेस गोरखपुर, जनवरी १९९३ ई.

ब्रह्मविद्या (द अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन) :- चेन्नई, २००८-२००९ ई.

भावन (त्रैमासिक) :- गुरुकुल, उत्तराखण्ड, २०११ ई.

भारती (त्रैमासिक) :- भारतीय भवन, जयपुर, राजस्थान २०११ ई.

लोकसंस्कृतम् (त्रैमासिक) :- संस्कृत कार्यालय, अरविन्दाश्रम, पुदुच्चेरी,२००७ ई.

सागरिका (त्रैमासिक) :- हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, २००९ ई.

सम्बोधि (मासिक) :- एल. डी. इन्स्टीट्यूट आफ इन्डोलोजी, अहमदाबाद,२०१० ई.

(d) शब्दकोश एवं विश्वकोश (Dictionary & Encyclopaedias):-

अमरकोश :- अमरसिंह, (सम्पा.) प्रो. सत्यदेव मिश्र, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, प्रथम संस्करण २००५ ई.

पारिजात कोश (संस्कृत-हिन्दी शब्दार्थकोश) :- पं. ईश्वरचन्द्र, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, २००५ ई.

बृहत् हिन्दी कोश :- ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, मार्गशीर्ष संवत्, २०३०

भारतीय दर्शन बृहत्कोश :- बच्चूलाल अवस्थी, शारदा पब्लिशिंग हाउस, २००४ ई.

वाचस्पत्यम् (छः भाग) :- चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थ संख्या-१३, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, १९६९ ई.

वैदिक कोश (१-३ भाग) :- पं. चन्द्रशेखर उपाध्याय एवं अनिल कुमार उपाध्याय, नाग प्रकाशक , दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९९५

शब्दकल्पद्रुम (पाँच भाग) :- चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थ संख्या-१३, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, १९६७ ई.

संस्कृत वाङ्मय कोश (प्रथम खण्ड) :- (सम्पा.) डॉ. श्रीधर वर्णेकर, भारतीय भाषा परिषद्, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८८ ई.

संस्कृत हिन्दी कोश (छात्र संस्करण) :- वामन शिवराम आप्टे, नाग प्रका.,दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण, १९९१ ई.

A Critical Survey of Indian Philosophy :- Chandradhar Sharma, Motilal Banarasidas Publisher's private limited, Delhi, Reprint 2000.

English-Sanskrit Dictionary :- Moniar Williams, Munshiram Manoharlal, Delhi, 1976.

Encyclopaedia of Indian Philosophies :- Karl H. Potter, Section-ii, Motilal Banarasidas, New Delhi, First Edition, 1970.

Oxford English-English Hindi Dictionary :- (Ed.) Dr. Suresh Kumar & Dr. Ramnath Sahai, Oxford University Press, 2008.

The Concise Sanskrit English Dictionary :- Vasudeo Govinda Apte, Motilal Banarasidas Publications, Delhi, Reprint, 1968.

(e) अन्तर्जाल (Internet) :-

www.encyclopedia.com
www.pustak.org/bs/home.ph?bookid=6335
www.hiwikipedia.org/wiki/शैव
www.hiwikipedia.org/wiki/वीरशैव
www.veershaivlingayat.com
www.lingayat.com
www.en.wikipedia.org/wiki/lingayatism
www.Lingayatmatch.com
www.lingayat.in
www.lingayat.tripad.com/veershaiv.html
www.itpindia.org/historical-studyofshaivsidhantaintamilnadu.html

(f) साक्षात्कार (Interview) :-

डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य :- (श्रीकाशी जगद्गुरु) जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश
डॉ. सिद्धराम शिवाचार्य :- (श्रीशैल जगद्गुरु) आन्ध्रप्रदेश
डॉ. वाहिद नसारू :- सहाचार्य (संस्कृत), (सी. सी. ए. एस.) काश्मीर विश्वविद्यालय
डॉ. ओमप्रकाश स्वामी :- जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
नारायनन (सम्पा., संहिता) :- कोयम्बटूर, तमिलनाडु
डॉ. भरत जंगम :- नेपाल न्यूज चैनल के रिपोर्टर ("नेपाल में वीरशैव धर्म-दर्शन का स्थान" नामक पुस्तक के लेखक)
श्री बच्चूलाल जंगम :- केदारनाथ (डोलेश्वर महादेव) मंदिर (नेपाल) के प्रधान पुजारी

परिशिष्ट (क) :- पारिभाषिक शब्दावली

अघोर-स्वरूप :- तृतीय मुख के रूप में अघोर-स्वरूप का वर्णन किया गया है। इनका स्वरूप घने काजल के समान भयङ्कर, जटामुकुटालङ्कृत, चतुर्मुख, चतुर्बाहु, द्वादश नेत्र से संयुक्त, लम्बी डाढ़ों वाला, व्याघ्र चर्म वस्त्रधारी, यज्ञोपवीतधारी, पादनुपुरालङ्कृत, सर्वाभरण-भूषित, दिव्यगन्ध से तथा दिव्य पुष्प से अलङ्कृत, दक्षिण हस्त में टङ्क तथा शूल एवं वाम हस्त में वर एवं अभय मुद्रा से सुशोभित, सर्वाङ्ग सुन्दर तथा सर्वशुभ लक्षणों से सम्पन्न है।[1]

अङ्ग :- वीरशैवमत में जीव का अपर अभिधान अङ्ग है। जैसा कि अनुभव सूत्र में कहा गया है :-

अमिति ब्रह्म सन्मात्रं गच्छतीति गमुच्यते।

रूप्यतेऽङ्गमिति प्राज्ञैरङ्गतत्त्वविचिन्तकै: ॥[2]

अर्थात् अं का अर्थ है परब्रह्म शिव और उसकी प्राप्ति का इच्छुक जीव अङ्ग कहलाता है। वीरशैवमत में स्थल शब्द परब्रह्म का वाचक है।[3]

अतिव्याप्ति दोष :- लक्षण की व्यापकता यदि दूसरे स्थल में भी हो जाए जो लक्षित नहीं किया गया हो तो वह अतिव्याप्ति दोष कहलाता है। जैसा कि शिवदृष्टि की संस्कृत टीका में कहा गया है :- अलक्ष्ये लक्षणपतनमतिव्याप्ति:[4]। जैसे :- शृंगत्वम् गोत्वम् अर्थात् जिसके पास सींग है वह गाय है। यह लक्षण भैंस आदि प्राणियों पर भी घटित होता है अत: यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से युक्त है।

अर्थवाद :- प्रतिपाद्य विषय का यत्र-तत्र प्रशंसा करना ही अर्थवाद है। यह लिङ्गषट्क में पञ्चम स्थान प्राप्त करता है। शिवाद्वैतमञ्जरीकार ने सृष्टि, स्थिति, लय, प्रवेश और नियम इन स्थानों को पञ्च अर्थवाद कहा है :- सृष्टिस्थितिलयप्रवेशनियम-स्थानानि पञ्चार्थवादा:।[5]

अनवस्था :- अनवस्था बाधक तत्त्व है। जैसे घट की जाति घटत्व है और घटत्व की जाति घटत्वत्व होगी पुन: घटत्वत्व की जाति घटत्वत्वत्व होगी। इस प्रकार यह प्रक्रम यदि अनन्त

---

[1] वा. शु. त., ७/४६-४९

[2] अ. सू., ४/४

[3] वही, २/४-५

[4] शि. दृ., २/४५, सं. टी. पृ. सं. ५५

[5] शि. म., पृ. सं. ५६

पर्यन्त चलता रहेगा तो अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। इस लिये इसे जाति के छ: बाधक तत्त्वों में परिगणित किया गया है :-

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थिति: ।
रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रह: ॥[6]

अनुव्यवसाय :- सविकल्पक ज्ञान के पश्चात् जब यह अनुभव होता है कि घटो मया ज्ञात:(मैने घट को जान लिया) यह अनुव्यवसाय कहते हैं। अनुव्यवसाय के अनन्तर ही व्यवहार आरम्भ होता है।

अनुग्रह :- शिव महापुराण के विद्येश्वर संहिता के दसवें अध्याय के अनुसार संसार के सर्गादि से मुक्ति ही अनुग्रह है। परशिवलिङ्ग के ईशान (प्रसादलिङ्ग) मुख के द्वारा सदाशिव को अनुग्रहात्मक कर्म के लियेअधिकृत किया जाता है :- ईशानेन प्रसादलिङ्गेन सदाशिवस्य अनुग्रहात्मकबन्धमोचनकर्मणि नियुक्तत्वात्।[7]

अनुभव :- यह ज्ञान का एक प्रकार है। इसके लक्षण के अनुसार अवस्थितव्यवहार-जनकत्वे सति ज्ञानत्वमनुभवस्य लक्षणम्।[8] जो समक्ष में उपस्थित व्यवहार के जनक होने का ज्ञान है वही अनुभव है।

अभ्यास :- मध्य में प्रतिपाद्य विषय का बार-बार प्रतिपादन करना अभ्यास है। यह लिङ्गषट्क में प्रथम द्वितीय स्थान रखता है। शिवाद्वैतमञ्जरीकार ने तत्त्वमसि[9] को अभ्यास माना है।

अपूर्वता :- प्रतिपाद्य विषय का किसी दूसरे प्रमाण का विषय नहीं बनना ही अपूर्वता है। यह लिङ्गषट्क में तृतीय स्थान रखता है। शिवाद्वैतमञ्जरीकार ने अपूर्वता के विषय में कहा है :- मानान्तरागम्यमहदैश्वर्यमपूर्वत्वम्।[10]

अमूर्तसादाख्य (ईश) :- आदिशक्ति (शान्ति) के दशांश से अमूर्तसादाख्य तत्त्व का समुद्भव होता है। यह कलारहित, सूर्य के सदृश प्रकाशमान, लिङ्गतत्त्व के समान तथा ज्योतिस्तम्भस्वरूप है।[11]

---

[6] त. सं., पृ. सं. १६

[7] मु. उ. वी. शै., पृ. सं. ७७

[8] शि. प., पृ. सं. ९

[9] छान्द. उ., ६/७/८

[10] शि. म., पृ. सं. ५७

अव्याप्ति दोष :- लक्षणस्य लक्ष्यैकदेशपतनमतिव्याप्ति: लक्षण का लक्ष्य के एक स्थल में ही सीमित हो जाना अव्याप्ति दोष कहा जाता है । जैसे गलकम्बलत्वम् गोत्वम् । जो गलकम्बलयुक्त हो वह गाय है । इस उदाहरण में गलकम्बल गाय के शरीर के एक प्रदेश विशेष को ही सूचित कर रहा है अत: सम्पूर्ण गाय (लक्ष्य) पर इसकी व्याप्ति नहीं हो रही है अत: यह अव्याप्ति दोष से युक्त है ।

अविद्या :- अविद्या अज्ञान का अपर पर्याय है । वेदान्तसार के अनुसार अज्ञान का लक्षण निम्नलिखित है :- अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चित् वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात्[12] अर्थात् अज्ञान सत् और असत् से अनिर्वचनीय, सत्त्व, रज और तमरूपात्मक, ज्ञान का विरोधी, भावरूप तथा यह कुछ है इस रूप में अनुभव का विषय होता है ।

अष्टावरण :- गुरु, लिङ्ग, जङ्गम, विभूति, रुद्राक्ष, मन्त्र, पादोदक और प्रसाद वीरशैवमत में ये अष्टावरण प्रसिद्ध हैं । चन्द्रज्ञानागम के क्रियापाद के अनुसार :-

गुरुलिङ्गं जङ्गमश्च तीर्थं चैव प्रसादक: ।

भस्मरुद्राक्षमन्त्राश्चेत्यष्टावरणसंज्ञिता: ॥[13]

अस्मत्-प्रत्यय :- अहं (मैं) इस प्रकार के ज्ञान को अस्मत् प्रत्यय पद से अभिहित किया जाता है ।

अहङ्कार :- अहं ममेदमित्यभिमानसाधनमहङ्कारतत्त्वं भवति ।[14] अर्थात् प्रकृत्ति तत्त्व से अहं ममेदम् (यह मैं हूँ, यह मेरा है) एतादृक् अभिमान के उद्भावक साधन अहङ्कार की सृष्टि होती है । जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक मणि जपाकुसुम के साथ संयुक्त होने पर लाल रङ्ग का हो जाता है, उसी प्रकार अहङ्कार के सम्बन्ध से आत्मा भी देहाभिमानी हो जाता है :-

जपायोगाद्यथा राग: स्फटिकस्य मणेर्भवेत् ।

तथाऽहङ्कारसम्बन्धादात्मनो देहमानिता ॥[15]

---

[11] वा. शु. त., १/४८-५२

[12] वे. सा., पृ. सं. १४

[13] च. आ. क्रि., २/१-२

[14] शि. म., पृ. सं. ३५

[15] सि. शि. म., १८/८, पृ. सं. ३५७

आणव मल :- इच्छाशक्ति की सङ्कुचित अवस्था का नाम आणव मल है। कहा भी गया है :- अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः सङ्कुचिता सती अपूर्णम्मन्यतारूप-माणवमलम् ।[16] अर्थात् इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता सदा अवबाधित रहती है, किन्तु उसमें जब सङ्कोच का अवभास होने लगता है। तत्पश्चात् वह सङ्कुचित जीवात्मा स्वयं को अपूर्ण मानने लगता है। यह स्थिति आणव मल के अभिधान से जानी जाती है।

आनन्द :- आनन्द (भूमा) सुखस्वरूप होता है :- आनन्द कः ? सुखस्वरूपः ।[17]

ईश्वर :- शक्तितत्त्व अपनी क्रियाशक्ति से प्रकट अवस्था में आने पर निर्मित वस्तु के रूप में अङ्कुरित बीज के समान, अपने इदन्ता रूप को अपनी अहन्ता से आच्छादित कर वर्तमान विश्व का स्फुरण कराने वाला ईश्वर तत्त्व बन जाता है। यह ईश्वरतत्त्व (महेश तत्त्व) सकल रूप में जाना जाता है ।[18] यह तत्त्व शक्तितत्त्व का पुरुष भावात्मक रूप होता है तथा यह लीला स्वरूप नारायणादि नाम से प्रचलित है ।[19] जैसा कि पञ्चवर्णसूत्रमहाभाष्य में कहा गया है :- अथ तच्छक्तितत्त्वमेव स्वक्रियाशक्त्युद्रेकदशायां प्रविष्टं सत् कृतवस्तुवदङ्कुरित-मिदन्तारूपं स्वाहन्तयाच्छाद्य स्थितविश्वस्फूर्तिमयमीश्वरतत्त्वं भवति ।[20]

ईशान-स्वरूप :- पञ्चम मुख के रूप में ईशान-स्वरूप का वर्णन किया गया है। यह मूर्ति स्फटिक के सदृश श्वेत वर्ण, जटामुकुटालङ्कृत, चतुर्मुख, चतुर्बाहु, द्वादश नेत्र से संयुक्त, चारों हाथों में टङ्क, शूल, वर तथा अभयमुद्रा से सुशोभित है। यह भी दिव्यगन्ध एवं दिव्यपुष्पों से सुवासित है।[21]

उपाधि :- जो अपने गुणों को अपने निकटवर्ती पदार्थ में संक्रमित कर दें। जैसे जपाकुसुम स्फटिक में अपनी लालिमा प्रतिबिम्बित कर देता है यद्यपि स्फटिक वस्तुतः लाल नहीं होता। अतः यह जपाकुसुम उपाधि है। जैसा कि उदयनाचर्य ने कहा है :-

उप समीपवर्तिनि आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्ममित्युपाधिः ।[22] जाति पदार्थ से साक्षात् सम्बन्धित होती है उपाधि परम्परया सम्बन्धित होती है :- साक्षात्सम्बद्धमखण्डसामान्यं

---

[16] प. सू. म., पृ. सं. १६

[17] त. बो., ३६

[18] वा. शु. त., १/१६

[19] शि. म., पृ. सं. ३३

[20] प. सू.म., पृ. सं. ९

[21] वा. शु. त., ७/५४-६.

[22] त. सं., व्या., पृ. सं. १४६

जाति: परम्परया सम्बद्धं सखण्डसामान्यमुपाधि: ।[23]

उपक्रम-उपसंहार :- प्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थ का उस के आदि में प्रतिपादन करना ही उपक्रम है । प्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थ का उस के अन्त में प्रतिपादन करना ही उपसंहार है । ये लिङ्गषट्क में प्रथम स्थान रखते हैं । शिवाद्वैतमञ्जरीकार ने सदेव सोम्येदमग्र आसीत्[24] (उपनिषद्-वाक्य) को उपक्रम और ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि[25] (इस उपनिषद् वाक्य को) को उपसंहार कहा है ।

उपपत्ति :- प्रतिपाद्य विषय को सिद्ध करने के लिये प्रयोग की गयी युक्ति ही उपपत्ति है । लिङ्गषट्क में यह छठवाँ स्थान प्राप्त करती है । शिवाद्वैतमञ्जरीकार ने उपपत्ति के सम्बन्ध में कहा है :- मृदादिदृष्टान्ता उपपत्तय: ।[26]

कर्तृसादाख्य (ईश्वर) :- ज्ञानशक्ति (प्रतिष्ठा कला) के दशांश से कर्तृसादाख्य तत्त्व की उत्पत्ति होती है । ज्ञानशक्ति का अधिकरण होने के कारण इसको कर्तृसादाख्य तत्त्व नाम दिया गया है । सभी शोभन अवयवों से तथा सभी प्रकार के आभरणों से सुशोभित यह ईश्वर लिङ्ग कर्तृसादाख्य के नाम से प्रसिद्ध है ।[27]

कर्मसादाख्य (ईशान) :- क्रियाशक्ति (निवृत्ति कला) के दशांश से कर्मसादाख्य तत्त्व का प्रकटीकरण होता है । शिव तत्त्व पर आश्रित शिव सादाख्य तत्त्व होता है । शिवसादाख्य तत्त्व पर अमूर्तसादाख्य तत्त्व तथा अमूर्तसादाख्य पर मूर्तसादाख्य तत्त्व आश्रित होता है । मूर्तसादाख्य तत्त्व पर कर्तृसादाख्य तत्त्व तथा कर्तृसादाख्य तत्त्व पर कर्मसादाख्य तत्त्व आश्रित होता है । अत: पञ्चतत्त्वात्मक कर्मसादाख्य तत्त्व सभी तत्त्वों का आधार माना गया है । इसको पिण्डकाय भी कहते है । पाँचों सादाख्य तत्त्वों के रूप में विद्यमान यह पिण्ड पञ्चतत्त्वों का स्वरूप धारण करता है । इन विभिन्न देहों को धारण करने से गुणभेद के आधार पर यह पञ्चानन (पञ्चब्रह्मस्वरूप) हो जाता है ।[28]

---

[23] त. कि., पृ. सं. २२, त. सं., पृ. सं. १६

[24] छान्द. उ., ६/२/१

[25] वही, ६/८/७

[26] शि. म., पृ. सं. ५७

[27] वा. शु. त., १/५८-६४

[28] वा. शु. त., १/६५-८५

कञ्चुक :- शङ्करशासनादपरिच्छिन्नस्वस्वरूपावरणहेतुत्वात् कञ्चुकमित्यागमेषू-च्यते ।[29] अर्थात् परब्रह्मशिव के शासन से पुरुष के अपरिच्छिन्न स्वरूप को आवृत्त करने के कारण ही इनका नाम आगमों में कञ्चुक रखा गया है ।

कलादिपञ्चक :- कला, विद्या, काल, राग और नियति ये कलादिपञ्चक कहे जाते हैं । इन्हें पञ्चकञ्चुक भी कहा जाता है ।

कला :- अस्य पुरुषस्य महेश्वराद् विभक्तत्वेन मायापहृतैश्वर्यत्वात् असङ्कुचिततत्कर्तृ-ताशक्तिरेव किञ्चित्कर्तृतालक्षणकलातत्त्वं भवति ।[30] अर्थात् इस पुरुष (संसारी या जीव) का महेश्वर से विभाग कराने के कारण तथा माया के द्वारा इसके ऐश्वर्य का हरण कराने के फलस्वरूप वह असङ्कुचित पुरुष की कर्तृता शक्ति ही किञ्चित्कर्तृता शक्ति (लक्षणात्मिका) कलाशक्ति तत्त्व कहलाती है । इस प्रकार पुरुष की सर्वकर्तृता शक्ति किञ्चित्कर्तृताशक्ति में परिणत हो जाती हैं ।

काल :- नित्यता ह्यनित्यतां प्राप्य भूतभविष्यद्वर्तमानरूपक्रमाकरकालतत्त्वं भवति ।[31] अर्थात् नित्यता तथा अनित्यता को प्राप्त करके भूत, भविष्यद् एवं वर्तमान रूप के क्रम में नियोजित करनेवाला काल तत्त्व रूप कञ्चुक कहलाता है । परिणामत: नित्य पुरुष अनित्यता की श्रेणी में काल तत्त्व नामधेय कञ्चुक के कारण ही प्रवेश करता है ।

कार्म मल :- क्रियाशक्ति की सङ्कुचित अवस्था का नाम कार्म मल है । कहा भी गया है :- क्रियाशक्ते: क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वाप्ते: कर्मेन्द्रियरूपसङ्कोच-ग्रहणपूर्वमत्यन्तं परिमिततां प्राप्तं शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्ममलम् ।[32] अर्थात् क्रियाशक्ति में सङ्कोच होने के कारण सर्वकर्तृत्व-शक्ति किञ्चित्कर्तृत्व-शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है । तदुपरान्त वह कर्मेन्द्रियों के रूप में सङ्कुचित होकर अत्यन्त परिमित स्थिति में पहुँच जाती है । यह सङ्कोच शुभ और अशुभ कर्मों में प्रवृत्त कराने के कारण कार्म मल अभिधान से जाना जाता है ।

चित् :- चित् ज्ञानस्वरूप होता है :- चित् किम् ? ज्ञानस्वरूप: ।[33]

---

[29] शि. म., पृ. सं. ३५

[30] शि. म., पृ. सं. ३४

[31] वही, पृ. सं. ३५

[32] प. सू. म., पृ. सं. १६

[33] त. बो., ३५

ज्ञान :- शिवाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान एक शक्तिविशेष है ; जिससे जीव विशिष्ट होता है । जैसा कि शिवाद्वैतपरिभाषा में कहा गया है :- जीवात्मन: स्थूलचिदचिद्रूपशक्त्यन्तर्गता चिच्छक्तिरेव ज्ञानशक्तिपर्यायेणोच्यते । अत: शक्तिविशेष एव ज्ञानम्, न तु ज्ञानविशेष एव शक्तिरिति शिवाद्वैतसिद्धान्तस्थिति: ।[34] यह ज्ञान अनुभव, स्मृति, संशय और विपर्यय के भेद से चार प्रकार का होता है :- तच्च ज्ञानं चतुर्विधम्, अनुभव-स्मृति-संशय-विपर्ययभेदात् ।[35]

त्यागाङ्ग-स्थल :- जीव का पाञ्चभौतिक शरीर त्यागाङ्ग होता है क्योंकि उसका त्याग करना पड़ता है । यह त्याग के योग्य होता है, अत: इसको त्यागाङ्ग कहते हैं । अनुभव सूत्र के अनुसार यह शरीर स्थूल शरीर, जाग्रतावस्था, स्थूल द्रव्य तथा विश्व का बोधक है ।

तत्पुरुष-स्वरूप :- चतुर्थ मुख के रूप में तत्पुरुष-स्वरूप वर्णित है । तत्पुरुष का स्वरूप कुंकुम के सदृश पीतवर्ण का है । जटामुकुटालङ्कृत, चतुर्मुख, चतुर्बाहु, द्वादश नेत्र से संयुक्त, सर्वाङ्गसुन्दर, पीताम्बरधारी, सर्वाभरणभूषित, दक्षिण हस्त में टङ्क एवं अभय मुद्रा से तथा वाम हस्त में शूल एवं वादमुद्रा, दिव्यगन्ध एवं दिव्यपुष्पों से इनका स्वरूप सुशोभित है ।[36]

त्रिक्षणावस्था-नियम :- नैयायिक ज्ञान के लियेत्रिक्षणावस्था मानते हैं । ज्ञान प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण में वह रहता है और तृतीय क्षण में वह विनष्ट होता है ।

दिवान्ध :- जिस प्राणी को केवल दिन में ही दृष्टिगोचर नहीं होता (उलूक आदि) ।

नञर्थ :- नकारार्थक भाव नञर्थ पद से अभिहित होता है । यह दो प्रकार का होता है जिनमे पर्युदास सदृशात्मक और पर्युदास निषेधात्मक होता है :-

द्वौ नञर्थौ समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ ।
पर्युदास: सदृशग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥[37]

नामधेयपञ्चक :- सद्योजात, वामदेव, तत्पुरुष, अघोर और ईशान ये शिव के पञ्चवक्त्र होने से शिव के नामधेयपञ्चक हैं ।

नित्यानित्यवस्तुविवेक :- केवल एक अद्वितीय ब्रह्म नित्य और तदतिरिक्त अन्य सभी अनित्य हैं । यही नित्यानित्यवस्तुविवेक है । जैसा कि कहा गया है :-

---

[34] शि. प., पृ. सं. ९

[35] वही

[36] वा. शु. त., ७/५.-५३

[37] यो. सू. १/८,व्या. भा. यो. हि. व्या., पृ. सं. ३७

नित्यवस्त्वेकं ब्रह्म तद्व्यतिरिक्तं सर्वमनित्यम् ।
अयमेव नित्यानित्यवस्तु विवेक: ॥[38]

नियमन :- शिव महापुराण के विद्येश्वर संहिता के दसवें अध्याय के अनुसार संसार के परिवर्तन का नाम तिरोधान है। परशिवलिङ्ग के तत्पुरुष (चरलिङ्ग) मुख के द्वारा ईश्वर को नियमन कर्म के लिये अधिकृत किया जाता है :- तत्पुरुषेण चरलिङ्गेन ईश्वरस्य नियमनकर्मणि नियुक्तत्वात् ।[39]

नियति :- व्यापकता ह्यव्यापकता प्राप्य ममेदं कर्त्तव्यमिति नियमहेतुभूतनियतितत्त्वं भवति ।[40] अर्थात् व्यापकता ही अव्यापकता को प्राप्त करके पुरुष यह मेरा कर्त्तव्य है ऐसी प्रतीति करने लगता है । इस नियम का कारण भूत नियति तत्त्व नामक कञ्चुक होता है । नियति तत्त्व रूप कञ्चुक के कारण ही पुरुष की व्यापकता सङ्कुचित होकर अव्यापकता को प्राप्त होती है ।

प्रकृति :- अथौन्मुख्यगर्भितेच्छाशक्तिरेव प्रतिस्फुरणगत्या स्वगतज्ञानक्रियान्योन्याभावलक्षणमायाप्रतिस्फुरणरूपसुखदु:खमोहप्रदसत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थालक्षणमहङ्कारादिभूम्यन्तत्रयोविंशतितत्त्वमूलकारणं प्रकृतितत्त्वं भवति ।[41] अर्थात् गर्भ से बाह्य होने को उत्सुक इच्छाशक्ति ही जब अग्निस्फुलिङ्गन्याय[42] से बाहर निकलती है, तब वह आभ्यन्तर में स्थित क्रिया और ज्ञान शक्ति का अन्योन्याभाव हो जाने पर मायाशक्ति के प्रतिस्फुरण से सुख दु:ख मोहात्मक सत्त्व, रज और तम नामक तीनों गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति तत्त्व में परिणत हो जाती है । यह प्रकृति तत्त्व अहङ्कार से लेकर भूमि पर्यन्त तेईस तत्त्वों की मूल कारण है ।

पञ्चाचार :- लिङ्गाचार, सदाचार, शिवाचार, भृत्याचार, और गणाचार ये पञ्चाचार कहे जाते हैं ।

पञ्चकृत्य :- सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह ये पञ्चकृत्य कहे जाते हैं । जैसा कि शिवदृष्टि की टीका में कहा गया है :-

सर्गसंहृतिकर्तारं प्रलयस्थितिकारकम् ।

---

[38] त. बो., ४

[39] मु. उ. वी. शै., पृ. सं. ७७

[40] शि. म., पृ. सं. ३५

[41] वही, पृ. सं. ३४

[42] मु. उ. वी. शै., २/१/१

अनुग्रहकरं देवं वन्देऽहं भक्तवत्सलम् ॥[43]

प्रत्यक्ष :- जो प्रमा का साक्षात् करण हो तथा स्मृति से भिन्न हो वैसा साधन प्रत्यक्ष कहलाता है । जैसा कि शिवाद्वैतपरिभाषा में कहा गया है :- साक्षात्कारिप्रमिति-तत्करणत्वम्, ज्ञानकरणज्ञानान्यत्वे सति स्मृतिभिन्नत्वं वा प्रत्यक्षस्य लक्षणम् ।[44] नित्य और अनित्य के भेद से यह दो प्रकार का होता है, जिसमें ईश्वर का प्रत्यक्ष नित्य तथा शेष हमलोगों का प्रत्यक्ष अनित्य प्रत्यक्ष है :- प्रत्यक्षं द्विविधम्, नित्यानित्य-भेदात् । ईश्वरप्रत्यक्षं नित्यम्, अस्मदादि-प्रत्यक्षं त्वनित्यम् ।[45]

पदस्वार :- वाक्यविवेचन के क्रम में अनेक पद प्रयुक्त किये जातें हैं, जो अपने अर्थ को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य रखते हैं, उन्हें पदस्वार कहा जाता है ।

प्रमाता :- यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के ज्ञाता को प्रमाता कहा जाता है । शक्तिविशिष्टाद्वैत दर्शन के अन्तर्गत छ: प्रकार के प्रमाता होते हैं :- सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर प्रमाता हैं ।[46]

प्रमाण :- प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं अर्थात् यथार्थ ज्ञान के असाधारण कारण को प्रमाण कहते हैं । जैसा कि शिवाद्वैतपरिभाषा में कहा गया है :- प्रमितिस्तत्करणत्वं वा प्रमाणस्य लक्षणम् ।[47]

प्रमेय :- जो प्रमा का विषय हो वह प्रमेय पद से जाना जाता है ।

प्रमिति/प्रमा :- यथार्थ ज्ञान को प्रमिति या प्रमा कहा जाता है । जैसा कि शिवाद्वैतपरिभाषा में कहा गया है :- यथावस्थितव्यवहारजनकत्वे सति ज्ञानत्वं प्रमाया लक्षणम् ।[48]

पुरुष :- माया शक्ति के अधीन वह प्रकाश यदा प्रतिबिम्ब के रूप में प्रविष्ट होता है, तो वह पुरुष तत्त्व कहलाता है । माया शक्ति से आक्रान्त होने के कारण यह प्रकाश परतन्त्र हो जाता है क्योंकि वह महेश्वर से विलक्षण स्वरूप का हो जाता है । विष्णुसहस्रनाम के शाङ्करभाष्यानुसार पुरुष का निर्वचन इस प्रकार है :- सर्वस्मात् पुरा सादनात् सर्वपापस्य

---

[43] शि. दृ., १/१९ सं. टी., पृ. सं. ८

[44] शि. प., पृ. सं. १

[45] वही

[46] शि. म., पृ. सं. २१

[47] शि. प., पृ. सं. १.

[48] वही, पृ. सं. ९

सादनात् वा पुरुष: । शयनाद् वा पुरुष: ।[49] कैवल्योपनिषद् (मन्त्र २.) में पुरुष शब्द का सदाशिव भाष्य इस प्रकार है :- पुरि शरीरे पुरीतति नाड्यां वा शयनाद् पुरुष: आत्मेष्टलिङ्गरूपशिव:, समस्तचेतनाचेतनप्राणिदेहान्तर्वर्ति पुरुषशब्दवाच्य: शिवलिङ्गरूप: परमेश्वर इत्यर्थ: ।[50] अर्थात् पाशमुक्त तथा मल से रहित पुरुष साक्षात् शिव ही कहा गया है । चितिसङ्कोचचित्तविशिष्टो जीव:[51] के अनुसार चिच्छक्ति के सङ्कोच के कारण सङ्कुचित चित्त से विशिष्ट तत्त्व जीव कहलाता है । ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य के मत में पुरुष षोडश कला का द्रष्टा है :- एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष: । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमा: षोडश कला: ।[52] तदनुसार सुख दु:खादि के भोक्तृत्व में कारण है :- पुरुष: सुखदुखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।[53]

फल :- अभ्यास का जहाँ-तहाँ श्रवणगोचर प्रयोजन ही फल है । यह लिङ्गषट्क में चतुर्थ स्थान रखता है । शिवाद्वैतमञ्जरीकार ने फल के सम्बन्ध में कहा है :- येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्[54] इत्याद्येकविज्ञाने सर्वविज्ञानं फलम् ।[55]

बाह्यमुखपञ्चक :- शिव के बाह्यमुख पञ्चक में सद्योजात, वामदेव, तत्पुरुष, अघोर और ईशान का नाम सम्मिलित है ।

बुद्धि :- निश्चयहेतुर्बुद्धितत्त्वं भवति ।[56] अर्थात् निश्चय की अवस्था को प्राप्त कराने वाली स्थिति का कारण बुद्धितत्त्व होती है । यह प्रकृति की द्वितीय उद्भावना रूप है । यह बुद्धितत्त्व विवेकी विषयों के प्रति विरक्त आत्मा में अनुरक्त मनुष्य की बुद्धि संसारदु:ख को नष्ट करने के लियेप्रवृत्त होती है :-

विवेकिनो विरक्तस्यविषयेष्वात्मरागिण: ।

संसारदु:खविच्छेदहेतौ बुद्धि: प्रवर्तते ॥[57]

---

[49] कै. उ., प्र., पृ. सं. २४

[50] वही, पृ. सं. २४

[51] सि. शि. म., १./६८-६९, पृ. सं. २..

[52] ब्र. सू. श्री. द्वि. स., पृ. सं. १.८

[53] वही, पृ. सं. ११६

[54] छान्द. उ., ६/१/३

[55] शि. म., पृ. सं. ५७

[56] वही, पृ. सं. ३४

[57] सि. शि. म., ५/ ७६, पृ. सं. ९.

ब्रह्मातिरेक :- ब्रह्म की विशिष्टता ब्रह्मातिरेक पद से अभिहित होती है।

भ्रमा :- अनुभव के दो भेद हैं :- भ्रमा और प्रमा। जो वस्तु वैसी नहीं है तथापि उसमें उस मिथ्या वस्तु की अनुभूति होने लगती है वही भ्रमा पद से अभिहित होती है। जैसा कि शिवाद्वैतपरिभाषा में कहा गया है :- अयथावस्थितव्यवहाराजनकत्वे सति ज्ञानत्वं भ्रमाया लक्षणम्[58]।

भोगाङ्ग-स्थल :- जीव का पञ्चकञ्चुकावृत शरीर भोगाङ्ग है। इस शरीर में भोग करने की इच्छाएँ अवशिष्ट रह जाती हैं, अत: इसको भोगाङ्ग कहा गया है। अनुभव सूत्र के अनुसार यह शरीर सूक्ष्म शरीर, स्वप्नावस्था, प्रविविक्त द्रव्य तथा तैजस् का बोधक है।

मनस् :- स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सङ्कल्पविकल्पसाधनं मनस्तत्त्वम्।[59] अर्थात् यह स्थाणु है या पुरुष इस प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प के साधन का नाम मनस् तत्त्व है। यह प्रकृति तत्त्व की तृतीय उद्भावना है। अन्त: करण में परिगणित मन उभयात्मक (सङ्कल्प- विकल्पात्मक) होता है। मनोलिङ्ग अथवा महालिङ्ग मन को मानस व्यापार के लियेप्रेरित करता है। मन रूपी अन्त:करण का अधिष्ठाता या प्रेरक मनोलिङ्ग या महालिङ्ग कहा गया है। हृदयाङ्गे महालिङ्गम्[60] उपर्युक्त कथन में यह वचन प्रमाण है

माया :- माया पञ्चकञ्चुकों के द्वारा शिव को त्रिविध मलों से आविष्ट कर लेती है और फिर शिव अपने स्वरूप को विस्मृत कर जीव हो जाता है। इसकी शब्द की निरुक्ति के आधार पर कहा गया है कि जो मं (म् = परब्रह्मरूपीशिव एवं अम् = जाना) रूपी परब्रह्मशिव को स्वभावत: प्राप्त कर लेती है, उस ब्रह्मनिष्ठ सनातन शक्ति का नाम लोक में माया है -

मं शिवं परमं ब्रह्म, प्राप्नोति स्वभावत:।

मायेति प्रोच्यते लोके, ब्रह्मनिष्ठा सनातनी॥[61]

मायीय मल :- ज्ञानशक्ति की सङ्कुचित अवस्था का नाम मायीय मल है। कहा गया है :- ज्ञानशक्ते: क्रमेण सङ्कोचाद् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिज्ञत्वाप्तेरन्त:करणबुद्धीन्द्रियतापत्ति-पूर्वमत्यन्तसङ्कोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीय मलम्।[62] अर्थात् ज्ञानशक्ति के सङ्कोच के क्रम में भेद-ज्ञान उपस्थित होने से एवं सर्वज्ञता का सङ्कोच के क्रम में भेद-ज्ञान के प्रकट

---

[58] शि. प., पृ. सं. ९

[59] शि. म., पृ. सं. ३४

[60] के. उ. वी. शै., १/२, पृ. सं.१२

[61] ब्र. सू. श्री., पृ. सं. ३८२

[62] प. सू. म., पृ. सं. १६

हो जाने से (सर्वज्ञता का सङ्कोच हो जाने पर) त्रिविध अन्त:करण और पञ्चविध ज्ञानेन्द्रियों के रूप में जीव में अल्पज्ञता प्रवेश कर जाती है। इसके कारण जो भेदबुद्धि पैदा होती है, उसे मायीय मल कहा जाता है।

मूर्तसादाख्य (ब्रह्मेश) :- इच्छाशक्ति (विद्या) के दशांश से मूर्तसादाख्य तत्त्व प्रकटित होता है। इच्छाशक्ति के गुणों के कारण इसको मूर्त कहते है। कला एवं रूप से संयुक्त यह एक मुख से सुशोभित, दिव्य लिङ्ग जैसी आकृति वाला तत्त्व मूर्त सादाख्य कहलाता है।[63]

युष्मत्-प्रत्यय :- त्वं (तुम) इस प्रकार के ज्ञान को युष्मत् प्रत्यय पद से अभिहित किया जाता है।

योगाङ्ग-स्थल :- यह परब्रह्म शिव और जीव के मध्य योग का सबसे महत्त्वपूर्ण शरीर माना जाता है, अत: इसका नाम योगाङ्ग है। जीव का मायावृत प्राथमिक शरीर कारण शरीर होता है। अनुभव सूत्र के अनुसार यह शरीर कारण शरीर, सुषुप्त्यावस्था, आनन्द द्रव्य तथा प्राज्ञ का बोधक है।

राद्धान्त :- सिद्धान्त पक्ष की उपस्थापना राद्धान्त पद से होती है अर्थात् सिद्धान्त पद राद्धान्त को ही अभिव्यक्त करता है।

राग :- पूर्णताशक्तिरेवापूर्णतां प्राप्य स्रक्चन्दनवनितादिविषयासक्तिलक्षणं रागतत्त्वं भवति।[64] अर्थात् पूर्णता शक्ति ही अपूर्णता को प्राप्त करके स्रक्, चन्दन तथा वनिता आदि विषयों में पुरुष को आसक्त करने के कारण राग तत्त्व रूप कञ्चुक हो जाती है। फलत: पुरुष अपनी पूर्णता को विस्मृत कर विषयों की ओर आकृष्ट होने के कारण अपूर्ण हो जाता है।

लिङ्गषट्क :- उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वताफल, अर्थवाद और उपपति ये लिङ्गषट्क कहे जाते हैं। परब्रह्म शिव और जीव के अभिन्न स्वरूप का दिग्दर्शन कराने के कारण इनको लिङ्ग पद से अभिहित किया जाता है।

लिङ्ग :- परब्रह्म शिव को लिङ्ग कहा गया है। लिङ्ग शब्द का तात्पर्य सिद्धान्त शिखामणि में वर्णित किया गया है :-

लयं गच्छति यत्रैव जगदेतच्चराचरम्।

---

[63] वा. शु. त., १/५३-५७

[64] शि. म., पृ. सं. ३५

पुन: पुन: समुत्पत्तिं तल्लिङ्गं ब्रह्म शाश्वतम् ॥[65]

अर्थात् जिसमें यह सम्पूर्ण चराचर जगत् लय को प्राप्त होता है और बार बार उससे ही समुत्पन्न होता है उसे नित्य ब्रह्म को लिङ्ग कहा गया है।

व्यवसाय :- शब्द व्यापार को व्यवसाय पद से अभिहित किया जाता है। इसको सविकल्पक ज्ञान भी कहा जाता है। जैसे :- अयं घटोऽस्ति (यह घट है)।

वामदेव-स्वरूप :- यह शिव का द्वितीय मुख वामदेव-स्वरूप है। जपापुष्प के सदृश रक्तवर्ण वाला, जटामुकुटालङ्कृत, चतुर्मुख, चतुर्बाहु, द्वादशनेत्रसंयुक्त, सर्वाङ्गसुन्दर, रक्तवस्त्रधारी, दक्षिण हस्त में टङ्क एवं अभय तथा वाम हस्त में वरमुद्रा तथा शूल धारी, लालचन्दन से लिप्त शरीर वाला एवं लाल पुष्पों की माला धारण किया हुआ वामदेव का स्वरूप है।[66]

विषयवाक्य :- जिस वाक्य की विवेचना करनी हो उसे विषय वाक्य कहते हैं।

विपर्यय :- विरुद्ध कोटि का ज्ञान विपर्यय कहलाता है। जैसा कि शिवाद्वैतपरिभाषा में कहा गया है :- विरुद्धोपस्थितिमात्रजनकत्वे सति ज्ञानत्वं विपर्ययस्य लक्षणम्।[67]

विद्या :- ज्ञातृताशक्तिरेव किञ्चिज्ज्ञत्वलक्षणविद्यातत्त्वं भवति।[68] अर्थात् पुन: पुरुष की ज्ञातृता शक्ति ही स्वयं को किञ्चित्ज्ञातृता में परिणत करने के कारण विद्या तत्त्व कहलाती है। फलत: पुरुष सर्वज्ञ से किञ्चित् जानने वाला हो जाता है।

शब्दस्वार :- वाक्यविवेचन के क्रम में अनेक शब्द आते हैं, जो अपने अर्थ को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य रखते हैं, उन्हें शब्दस्वार कहा जाता है।

शिव :- छत्तीस तत्त्वों में शिव प्रथम तत्त्व है। पञ्चवर्णसूत्रभाष्य में शिव का निम्नलिखित लक्षण भी ध्यातव्य है :- सिद्धसर्वज्ञं सर्वैश्वर्यसम्पन्नं सर्वानुग्राहकं सर्वकर्मसमाराध्यनिरस्त-समस्तदोषकलङ्कं निरतिशयमाङ्गल्यगुणरत्नाकरं स्वभावनिर्मलदृक्क्रिया लक्षणशक्तिविशिष्टं शिवतत्त्वमभिधीयते।[69] अर्थात् यह शिवतत्त्व सर्वज्ञ, सभी ऐश्वर्यों से सम्पन्न, सब पर अनुग्रह करनेवाला, सभी प्रकार के कर्मों से समाराधनीय, सभी प्रकार के दोषरूपी कलङ्क से

---

[65] सि. शि. म., ६/१६, पृ. सं. ९३

[66] वा. शु. त., ७/४२-४५

[67] शि. प., पृ. सं. ९

[68] शि. म., पृ. सं. ३५

[69] प. सू. म., पृ. सं. ४

अस्पृष्ट, अनन्त प्रकार के मङ्गलमय कल्याण गुणों के समुद्र, स्वभावत: निर्मल दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्ति से सम्पन्न हैं।

शिवसादाख्य (सदाशिव) :- पराशक्ति (शान्त्यातीता) के दशांश से शिवसादाख्य तत्त्व प्रादुर्भूत होता है। यह सूक्ष्मरूप एवं ज्योतिरूप है। आकाश में विद्युत् इव सर्वत्र प्रत्यक्ष रूप से भासमान तथा समस्त तत्त्वों का आलय है।[70]

शक्ति :- परशिव में यह निष्ठित शक्ति जगत् का उपादान कारण है। शिवाद्वैत परिभाषा के अनुसार भी उपादानत्वम्, अपृथक्सिद्धधर्मत्वं वा शक्तेर्लक्षणम्[71] यही सिद्ध होता है। शिवाद्वैतमञ्जरी के अनुसार भी शक्ति की उपादानता अवलोकित होती है :-स्वेच्छाशक्तेर्बहिरङ्गरूपक्रियांशप्रविष्टोद्योग एव भाविविश्वोपादानकारणं शक्तितत्त्वं भवति।[72] अर्थात् शिव की स्वाभाविकी शक्ति से बहिरङ्ग रूप में सृष्टि-क्रिया के लियेअंश रूप में उपस्थित, भविष्य के विश्व की उपादान कारणभूत सृष्ट्यादि-उद्योग में प्रविष्ट सत्ता शक्तितत्त्व पद से अभिहित होती है। इसी शक्ति का पुरुष भावात्मक विलास नारायण है। शक्ति के बिना शिव नाम धाम से रहित हो जाता है :- शक्तया बिना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते।[73] शक्ति एवं शिव एक दूसरे के पूरक हैं। शक्ति के बिना न शिव का अस्तित्व है और शिव के बिना शक्ति का भी अस्तित्व नही है :- न शिवेन बिना शक्तिर्न शक्तिरहित: शिव:।[74] श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार शिव की शक्ति उन्हीं में विविध रूप में समाहित है :-

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,

स्वभाविकी ज्ञानबला क्रिया च।[75]

षट्स्थल :- भक्त, माहेश्वर, प्रसादि, प्राणलिङ्गि, शरण तथा ऐक्य ये षट्स्थल कहे जाते हैं।

स्थल :- वीरशैवमत में स्थल शब्द परब्रह्म शिव का वाचक है। अद्वितीय एवं सच्चिदानन्दात्मक परब्रह्म शिवतत्त्व को ही शिवाचार्य भक्तिपुरस्सर स्थल नाम से व्यवहृत करते हैं।

एकमेव परं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम्।

---

[70] वा. शु. त., १/४४-४७

[71] शि. प., पृ. सं. ६

[72] शि. म., पृ. सं. ३३

[73] श. सं. त. का. ख. १/९८, पृ. सं. १२३

[74] वी. शै. च., पृ. सं. ७

[75] श्वेत. उ., श्लो. सं. ६/७-८

शिवतत्त्वं शिवाचार्या: स्थलमित्याहुरादरात् ॥[76]

महत्, बुद्धि तथा अहंकारादि समस्त मूलतत्त्व शिवात्मक परब्रह्म से उत्पन्न होते हैं और प्रलय अवस्था में उसी शिवतत्त्व में लीन हो जाते हैं। इस हेतु अद्वितीय सच्चिदानन्दात्मक परब्रह्म शिवतत्त्व को स्थल कहते हैं।[77] प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से उत्पन्न स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् स्थिति अवस्था में उसी शिवतत्त्व में रहता है और लय प्रक्रिया में पुन: उसी में लय को प्राप्त होता है। अत: शिवतत्त्व को स्थल कहते हैं।[78] स्थ अर्थात् स्थान और ल का तात्पर्य लय है। इस हेतु स्थिति और लय के कारणभूत तत्त्व को स्थल कहा जाता है।[79] चराचरात्मक समस्त जगत् का अर्थात् सृष्टि-स्थिति और लय का जो आधारभूत परमतत्त्व होता है, उसे ही स्थल इस अभिधान से अभिहित किया जाता है।[80] इस कारण भी स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त जगत् के आधारभूत शिवतत्त्व को स्थल कहा जाता है। समस्त शक्तियों के समस्त ज्योतियों के अर्थात् समस्त नक्षत्रादिकों के और सम्पूर्ण जीवों के आधारभूत परापरात्मक शिवतत्त्व को विद्वान् अर्थात् शिष्टजन स्थल कहते हैं।[81] जो परब्रह्मात्मक शिवतत्त्व समस्त प्राणियों के निखिल सम्पदाओं के और यच्चयावत् समस्त लोको के आधारस्थान है। उस शिवतत्त्व को शिवाचार्य अक्षर स्थल कहते हैं।[82] उत्तम मोक्ष के अभिलाषी साधकों का जो परमपद अर्थात् उत्तमस्थान है, उस अद्वैत शिवतत्त्व को ही शिवज्ञान में तत्पर विद्वान् स्थल कहते हैं।[83] परब्रह्मात्मक शिवतत्त्व से संयुक्त मायाशक्ति के क्षोभ से अर्थात् सत्त्व-रज-तम स्वरूप गुणों के चलन से पूर्वोक्त शिवात्मक स्थल दो प्रकार का हो जाता है, जिनमें एक को लिङ्गस्थल तथा द्वितीय को अङ्गस्थल कहा जाता है।[84] जैसे विभु होने पर आकाश उपाधिभेद से घटाकाश तथा महाकाश इत्यादि प्रकार से प्रतीत होता है, उसी प्रकार शिवतत्त्वात्मक स्थल लिङ्ग एवं अंग इन दो उपाधियों से लिङ्गस्थल तथा अङ्गस्थल कहा जाता है। उस परतत्त्वात्मक शिवस्थल के शिव रुद्र इत्यादि संज्ञाएँ अर्थात् नाम हैं।[85]

---

[76] अ. सू., २/२

[77] वही, २/३

[78] वही, २/४

[79] वही, २/५

[80] वही, २/६

[81] वही, २/७

[82] वही, २/८

[83] वही, २/९

[84] वही, २/१.

[85] वही, २/११

शिवतत्त्व स्वयं ही उपास्य तथा उपासक रूपेण दो प्रकार का हो जाता है, जिनमें लिङ्गस्थल को उपास्य (जिसकी उपासना की जाती है, उसे उपास्य कहते हैं) एवं अङ्गस्थल को उपासक (जो उपासना करता है, उसे उपासक कहते हैं) ये संज्ञाएँ हैं ।[86] अद्वितीय शिवतत्त्व उपास्य तथा उपासक दोनो हैं । पूर्वोक्त उपास्य-उपासकात्मक भेद उस अविनाशी आत्मा की सहज लीला से उत्पन्न हुआ है ।[87] यह उपास्य-उपासक भेद उस परम आत्मतत्त्व की स्वशक्ति से अकस्मात् क्रमश: स्वयं प्राप्त हुआ है । अशिव जीव को अनेक कोटि जन्मों में भी शिवोपासना का लाभ प्राप्त नही होता । शिव जीव को ही शिवोपासना का लाभ प्राप्त होता है । एतद्विषयक अनेक श्रुतियाँ प्रमाणरूप में हैं । वह परशिवात्मक स्थल सत्-चित् और आनन्दात्मक लक्षणवाला है । इस प्रकार पूर्वोक्त शिवस्थल लिङ्ग, अङ्ग, शिव और जीव (आत्मा) के भेद से चतुर्विध हो जाता है । जैसे चैतन्य शिव और जीव भेद से दो प्रकार का हो जाता है, तथैव वह परात्मक शिवस्थल लिङ्ग और अङ्ग भेद से दो प्रकार का हो जाता है । स्थल चित् मात्र है, लिङ्ग साक्षात् शिव है और जीव अङ्गस्थल है, इस प्रकार वीरशैव-सिद्धान्त की स्थिति है ।[88]

वीरशैवदर्शन के स्थलात्मक ब्रह्म के परिप्रेक्ष्य में शिव तथा जीव का स्वरूप निम्न तालिका से स्पष्ट हो पाता है[89] :-

<table>
<tr><td colspan="12">स्थल (परब्रह्मशिव)</td></tr>
<tr><td colspan="6">लिङ्गस्थल (ईश)</td><td colspan="6">अङ्गस्थल (जीव)</td></tr>
<tr><td colspan="2">भावलिङ्ग-स्थल (ईश्वर)</td><td colspan="2">प्राणलिङ्ग-स्थल (हिरण्यगर्भ)</td><td colspan="2">इष्टलिङ्ग (विराट्)</td><td colspan="2">योगाङ्ग-स्थल (प्राज्ञ)</td><td colspan="2">भोगाङ्ग-स्थल (तैजस)</td><td colspan="2">त्यागाङ्ग-स्थल (विश्व)</td></tr>
<tr><td>महालिङ्ग-स्थाल</td><td>प्रसाद-लिङ्ग-स्थल</td><td>चर-लिङ्ग-स्थल</td><td>शिव-लिङ्ग-स्थल</td><td>गुरु-लिङ्ग-स्थल</td><td>आचार-लिङ्ग-स्थल</td><td>ऐक्य-स्थल</td><td>शरण-स्थल</td><td>प्राणलिङ्गि-स्थल</td><td>प्रसादि-स्थल</td><td>महेश-स्थल</td><td>भक्त-स्थल</td></tr>
</table>

स्थिति :- शिव महापुराण के विद्येश्वर संहिता के दसवें अध्याय के अनुसार संसार के स्थापन का नाम स्थिति है । परशिवलिङ्ग के वामदेव (गुरुलिङ्ग) मुख के द्वारा चतुर्भुज नारायण को

---

[86] अ. सू., २/१२

[87] वही, २/१३

[88] वही, २/१४-१८

[89] शि. म., पृ. सं. ३८

स्थिति कर्म के लिये अधिकृत किया जाता है :- वामदेवेन गुरुलिङ्गेन विष्णो: स्थितिकर्मणि नियमितत्वात् ।[90]

स्मृति :- अनुभव से उत्पन्न होने के पश्चात् जो ज्ञान है वह स्मृति है । जैसा कि शिवाद्वैत-परिभाषा में कहा गया है :- अनुभवजन्यत्वे सति ज्ञानत्वं स्मृतेर्लक्षणम्[91] ।

संहार :- शिव महापुराण के विद्येश्वर संहिता के दसवें अध्याय के अनुसार संसार के विनाश का नाम संहार है । परशिवलिङ्ग के अघोर (शिवलिङ्ग) मुख के द्वारा कालरुद्र को संहार कर्म के लियेअधिकृत किया जाता है :- अघोरेण शिवलिङ्गेन कालरुद्रस्य संहारकर्मणि नियमितत्वात् ।[92]

संशय :- परस्पर दो विरुद्ध कोटि के ज्ञान की उपस्थापना करने वाला जो ज्ञान है वह संशय है । जैसा कि शिवाद्वैतपरिभाषा में कहा गया है :-परस्परविरुद्धकोटिद्वयोपेस्थापकत्वे सति ज्ञानत्वं संशयस्य लक्षणम्[93] ।

सत् :- जो तीनों काल में समान रहे वह सत् है :- कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति सत् ।[94]

सद्विद्या :- सद्विद्या का लक्षण निम्नलिखित है :- अथ क्रियाप्रधानेदन्तायाः संविद्रूपाहन्ताऽन्त-र्गतत्वेन भासमानत्वाद् विभागनिबन्धनभेदघटितसागरतरङ्गन्यायेनाहन्तेदन्तयोरैक्यप्रति-पत्तिर्ब्रह्मापरपर्यायशुद्धविद्यातत्त्वं भवति ।[95] अर्थात् वही शक्तितत्त्व क्रियाशक्तिप्रधान इदन्ता के संवित्स्वरूप अहन्ता के अन्तर्गत भासित होने पर विभागावस्था की कारणस्वरूप भेददशा के व्यक्त हो जाने पर सागर-तरङ्ग न्याय से अहन्ता और इदन्ता में जब एकात्मकता की प्रतिपत्ति होने लगती है, तो यही स्थिति शुद्धविद्या तत्त्व के नाम से जानी जाती है । यह तत्त्व ब्रह्म का अपर पर्याय भूत है तथा गुरु के द्वारा प्राप्त निर्मल संवित्ति तक ही शुद्धविद्या रहती है ।[96]

---

[90] मु. उ. वी. शै., पृ. सं. ७७

[91] शि. प., पृ. सं. ९

[92] मु. उ. वी. शै., पृ. सं. ७७

[93] शि. प., पृ. सं. ९

[94] त. बो., ३४

[95] प. सू. भा., पृ. सं. ९-१.

[96] शि. म., पृ. सं. ३३

सद्योजात-स्वरूप :- शिव के पञ्चमुखों में प्रथम मुख के रूप में सद्योजात-स्वरूप की गणना की जाती है । यह गोक्षीर और शङ्ख के समान श्वेत वर्ण, जटामुकुटालङ्कृत, चतुर्मुख, चतुर्बाहु, द्वादश नेत्र से संयुक्त तथा सर्वाभरण से संयुक्त हैं ।[97]

सदाशिव :- पञ्चवर्णसूत्रभाष्य के अनुसार सदाशिव का लक्षण निम्नलिखित है :- अथैवंविध-शक्तितत्त्वमेव स्वेच्छाशक्त्यन्तरङ्गभूतज्ञानशक्त्युद्रेकावस्थाप्रविष्टं सद् जलाधिवासितचणका-दिवत् पूर्वावस्थावैलक्षण्येनाङ्कुरायमाणेदन्ताप्रथनरूपं गर्भावरकवत् स्वाहन्तयाऽऽच्छाद्य वर्तमानविश्वस्फुरणरूपं सादाख्यरुद्रतत्त्वं (सदाशिवांशीभूतम्) भवति ।[98] अर्थात् यह शक्तितत्त्व अपनी इच्छाशक्ति के अन्तरङ्ग स्वरूप ज्ञानशक्ति में प्रकट अवस्था में जब प्रविष्ट होता है, तो उस समय जल में भिगोये चने के बीज के समान पूर्व अवस्था से विलक्षण अङ्कुरोन्मुख अवस्था में प्रविष्ट होकर, इदन्ता रूपी अवस्था को गर्भावस्था के समान अपनी अहन्ता से आच्छादित कर वर्तमान विश्व का गर्भावस्था के समान अपनी अहन्ता से आच्छादित कर वर्तमान विश्व का स्फुरण कराने के लिये सादाख्य रुद्रतत्त्व (सदाशिव तत्त्व) हो जाता है । यह सदाशिव तत्त्व सकल-निष्कलात्मक होता है ।[99]

सदान्ध :- जिस प्राणी को सर्वदा कुछ भी दृष्टिगोचर नही होता ।

सृष्टि :- शिव महापुराण के विद्येश्वर संहिता के दसवें अध्याय के अनुसार संसार के आरम्भ का नाम सृष्टि (सर्ग) है । परशिवलिङ्ग के सद्योजात (आचारलिङ्ग) मुख के द्वारा चतुर्मुख ब्रह्मदेव को सृष्टि कर्म के लियेअधिकृत किया जाता है :-सद्योजाताऽपरनामकाचारलिङ्गेन चतुर्मुखस्य सृष्टिकर्मणि नियमितत्वात् ।[100]

---

[97] वा. शु. त., ७/४.-४१

[98] प. सू. भा., पृ. सं. ९

[99] वा. शु. त., १/१६

[100] मु. उ. वी. शै., पृ. सं. ७७

परिशिष्ट (ख) :- वीरशैवीय-तात्विक-वृक्ष

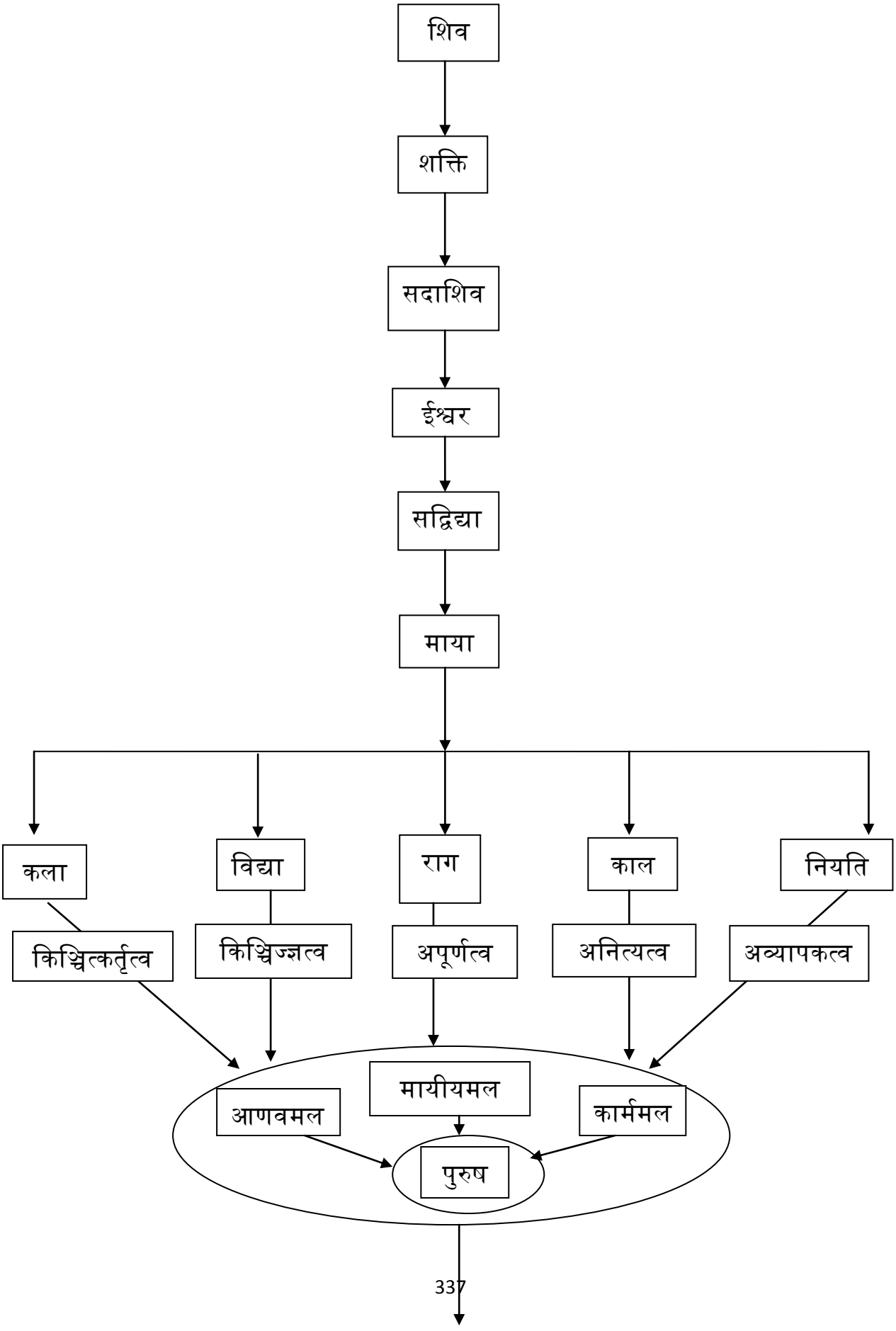

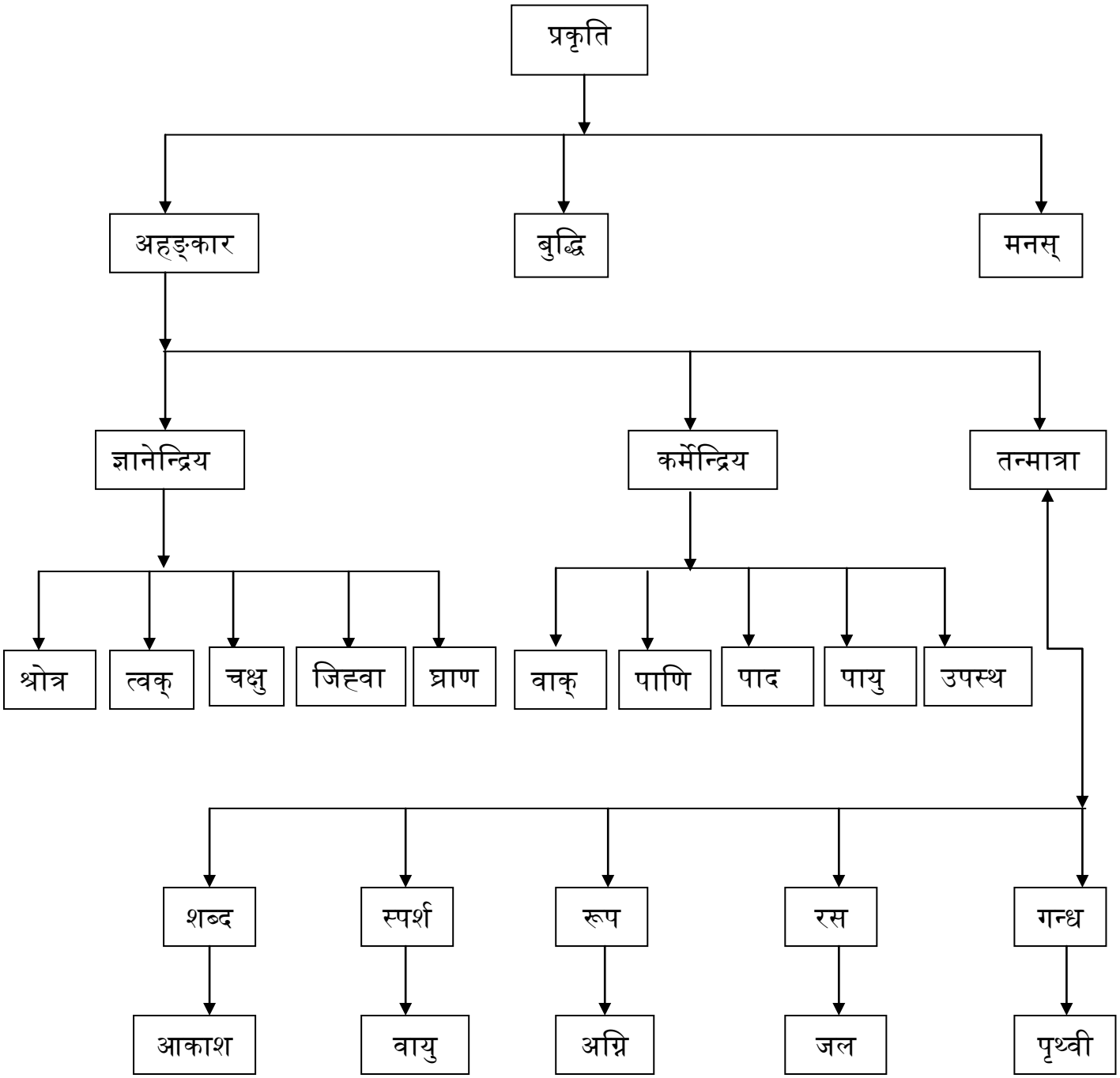
प्रकृति
अहङ्कार
बुद्धि
मनस्
ज्ञानेन्द्रिय
कर्मेन्द्रिय
तन्मात्रा
श्रोत्र
त्वक्
चक्षु
जिह्वा
घ्राण
वाक्
पाणि
पाद
पायु
उपस्थ
शब्द
स्पर्श
रूप
रस
गन्ध
आकाश
वायु
अग्नि
जल
पृथ्वी